Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222 ISSN-2250-2335

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

देवेश ठाकुर

रचना-यात्रा : अल्पविराम के बाद...

जीवन के ९० वसंत पूरे करने के उपलक्ष्य में

● वर्ष- 16 ● अंक 36 ● जुलाई - सितंबर 2023 ● पूर्णांक 74 ● मूल्य 100 रुपए

36

● संपादक - डॉ. सतीश पांडेय

ISSN-2250-2335 Reg. No. MAHHIN/2008/26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की त्रैमासिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

पीयर रिव्यूड व यू. जी. सी. केयर लिस्ट में सम्मिलित जर्नल

प्रबंध संपादिका :
डॉ. रोहिणी शिवबालन
संस्थापक :
डॉ. देवेश ठाकुर
संपादक :
डॉ. सतीश पांडेय
संयुक्त संपादक :
डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट
संपादकीय सहयोग :
डॉ. अनंत द्विवेदी
डॉ. ज्योत्सना राम

संपादकीय-संपर्क :
बी-23, हिमालय सोसाइटी,
असल्फा, घाटकोपर (प.),
मुंबई-400 084.
Email: sameecheen@gmail.com
website-www.http//:
sameecheen.com

विशेष :
'समीचीन' में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचार संबद्ध रचनाकारों के हैं। संपादक-प्रकाशक की उनसे सहमति आवश्यक नहीं है। सभी विवादों का न्याय-क्षेत्र मात्र मुंबई होगा। सभी पदाधिकारी पूर्णरूप से अवैतनिक।

परीक्षक विद्वत मंडल : (Peer Review Team)
1) डॉ. राम प्रसाद भट्ट
भारत-विद्या विभाग,
हैम्बर्ग विश्वविद्यालय, हैम्बर्ग, जर्मनी
2) प्रो. (डॉ.) देवेन्द्र चौबे
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली
3) प्रो. (डॉ.) वशिष्ठ अनूप
हिन्दी विभाग, काशी हिंदू विवि.,
वाराणसी, (उ. प्र.)
4) डॉ. नरेन्द्र मिश्र
प्रो. हिंदी, मानविकी विद्यापीठ, इग्नू मैदानगढ़ी,
दिल्ली110068
5) प्रो. (डॉ.) करुणाशंकर उपाध्याय
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मुंबई विश्वविद्यालय,
मुंबई
6) प्रो. (डॉ.)अनिल सिंह
अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन मंडल, मुंबई
विश्वविद्यालय, मुंबई
7) प्रो. (डॉ.) सदानंद भोसले
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, सवित्रीबाई फुले पुणे
विद्यापीठ, पुणे
8) प्रो. (डॉ.) शरेशचंद्र चुलकीमठ
पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, कर्नाटक
विश्वविद्यालय, धारवाड़
9) डॉ. अरुणा दुबलिश
पूर्व प्राचार्य, कनोहरलाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ (उ. प्र.)

स्वामी, मुद्रक, प्रकाशक : डॉ. सतीश पांडेय ने प्रिंटोग्राफी सिस्टम (इंडिया) प्रा. लि., 13/डी, कुर्ला इंडस्ट्रियल एस्टेट, नारी सेवा सदन रोड, नारायण नगर, घाटकोपर (प.) मुंबई-400 086 में छपवाकर बी-23, हिमालय सोसाइटी, असल्फा, घाटकोपर (प.), मुंबई-400084 से प्रकाशित किया।

• वर्ष-16 • अंक 36 • जुलाई-सितंबर-2023 • पूर्णांक 72 • मूल्य 100 रुपए
सहयोग : एक प्रति रु. 100/-, वार्षिक रु. 400/-, पंच वार्षिक रु. 2000/-

सीधे समीचीन के खाते में भेजने के लिए : खातेधारक का नाम : **समीचीन** / sameecheen
A/C No. 60330431138, Bank of Maharashtra,
Dr. Ambedkar Road, Dadar, Mumbai. IFSC : MAHB0000045

अनुक्रमणिका

1. अपने तईं- अल्पविराम के बाद 07-08
2. डॉ. देवेश ठाकुर / जीवन वृत्त 09-14
3. पुरानी यादों के साथ-साथ कुछ नए लम्हे - डॉ. आभा नागराल 15-18
4. पिता के साथ बिताए कुछ पल - डॉ. आरती प्रसाद 19-21
5. जीवन-संध्या में भी प्रकाशवान - डॉ. रोहिणी शिवबालन 22-25
6. डॉ. देवेश ठाकुर : एक सतत ऊर्जस्वी व्यक्तित्व - विजय कुमार 26-30
7. सजग रचनाकार ही नहीं बेहतर इंसान भी - डॉ. आशा नैथानी दायमा 31-33
8. प्रकाश बिंदु से प्रकाश पुंज की सार्थक पहल - 'जंगल के जुगनू - डॉ. सचिन गपाट 34-39
9. 'जंगल के जुगनू' : स्त्री का एकाकी संघर्ष - डॉ. जाकिर हुसैन गुलगुन्दी 40-44
10. संघर्षरत स्त्री का समाजबोध : जंगल के जुगनू - डॉ. प्रीति सोनी 45-49
11. 'जंगल में जुगनू' में जीवन की सार्थकता - डॉ. उमेश कुमार 50-53
12. 'जंगल के जुगनू' और 'कातरबेला' उपन्यास में स्त्री मुक्ति का संघर्ष - सूर्जलेखा ब्रह्म 54-58
13. निम्नवर्गीय बालक की संघर्ष कथा : 'जीवा' - डॉ. इंदु बाली 59-67
14. जीवा' में व्यक्त समकालीन सामाजिक यथार्थ - डॉ. ममता पंत 68-74
15. अब भी बनाई जा सकती हैं जगहें रहने के लायक - वैशाली खेडकर 75-80
16. देवेश ठाकुर के उपन्यासों में यथार्थ चित्रण : विशेष सन्दर्भ 'कातर बेला' - डॉ. नीलाक्षी जोशी 81-87
17. कातर बेलाः स्त्री पुरुष-संबंधों का आख्यान - डॉ. दीपिका विजयवर्गीय 88-91
18. 'कातर बेला' उपन्यास में चित्रित पारिवारिक घुटन - डॉ. शर्लिन 92-96
19. 'कातर बेला': आधुनिक नारी के एकाकीपन की व्यथा-कथा - शारदा कहार (शोधार्थी)/ डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट (शोध निर्देशक) 97-100
20. जीवन-संध्या में जिजीविषा और संकल्प की अनूठी कथा : संध्याछाया - डॉ. वसुधा सहस्त्रबुद्धे 101-105
21. देवता का गुनाहः दैहिकता की कथा - कला जोशी 106-110
22. नकाबियों को बेनकाब करता : देवता के गुनाह - डॉ. श्यामसुंदर पांडेय 111-116
23. स्वप्न दंश : फिल्मी दुनिया का कड़वा सच - डॉ. दिनेश पाठक 117-121
24. 'व्यक्तिगत' में व्यक्त संवेदनाओं का स्वर - डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट 122-128
25. मारिया : अंर्तद्वन्द से ग्रस्त युवती की कहानी - डॉ. बसुंधरा उपाध्याय 129-139
26. 'मारिया' उपन्यास की मूल संवेदना - डॉ. शरेशचन्द्र चुलकीमठ 140-145

27. उच्च शिक्षा की जमीनी हकीकत - डॉ. महेश दवंगे 146-152
28. उच्च शिक्षा व्यवस्था की परतें खोलता उपन्यास-
'कैम्पस कथा'- डॉ. आरिफ शौकत महात 153-159
29. स्मृतियों के कोलाज में व्यक्त संवेदना - डॉ. रूपा चारी 160-163
30. बाजार का दबाव और चिकित्सा जगत का सच :
ऐसा भी होता है - डॉ. सतीश पांडेय 164-170
31. बहुस्तरीय लड़ाई का सच : तीसरी लड़ाई - श्यामसुंदर पांडेय 171-176
32. देवेश ठाकुर के साहित्य में वर्णित स्त्री विमर्श
- डॉ. डी. एस. भण्डारी 177-180
33. देवेश ठाकुर के परवर्ती उपन्यासों में विमर्श के विविध
आयाम -डॉ. राठोड बाळु भोपू 181-185
34. देवेश ठाकुर का उपन्यास साहित्य - डॉ. दिलीप मेहरा 186-194
35. देवेश ठाकुर के उपन्यासों में शिक्षा जगत की विसंगतियाँ
- डॉ. मोटवानी संतोष 195-198

कहानी-साहित्य का मूल्यांकन :

36. फैसला तथा अन्य कहानियों में मनोवैज्ञानिक संघर्ष
- डॉ. राम बिनोद रे 199-203
37. फैसला तथा अन्य कहानियाँः मानवीय संवेदनाओं के
विविध आयाम - रीना सिंह 204-209

आत्मकथा-जीवनी :

38. यों जिए देवेश (संदर्भ : देवेश ठाकुर की आत्मकथा
'मैं यों जिया') - डॉ. माधवी बागी 210-220
39. देवेश ठाकुर : एक संघर्ष-गाथा -प्रो. डॉ. मोहसिन
अली खान - डॉ. नरेंद्र विजय पाटील 221-234
40. बुद्ध-गाथा : डॉ. देवेश ठाकुर की कलम से
डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे 235-238

सामयिक :

41. आजादी की आधी सदी और आम आदमी की व्यथा कथा
- डॉ. अरुणा दुबलिश 239-244
42. आम आदमी के इतिहास का रचनात्मक दस्तावेज
- डॉ. सतीश पांडेय 245-247

शोध-समीक्षा :

43. हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में डॉ. देवेश ठाकुर का योगदान
- डॉ. प्रशांत देशपांडे 248-254
44. समीक्षा का स्वररूप और उत्तरदायित्व : देवेश ठाकुर के संदर्भ में :
डॉ. अनन्त द्विवेदी 255-265

45. समीक्षक डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में हिंदी कहानी
- डॉ. सत्यवती चौबे 266-270
46. आलोचक देवेश ठाकुर की दृष्टि में 'तीसरा सप्तक': एक अवलोकन - डॉ कोयल विश्वास 271-277
47. साहित्य की सामाजिक भूमिका - डॉ. अर्चना रामजीत दुबे 278-282
48. साहित्य की सामाजिक भूमिका का सवाल और देवेश ठाकुर
- डॉ. भगवती प्रसाद उपाध्याय 283-289
49. मैला आँचल' की रचना प्रक्रिया पर देवेश ठाकुर
- डॉ. गीता संतोष यादव 290-293
50. मैला अँचल की रचना प्रक्रिया - वृषाली चौघुले 294-303

शोध :

51. साहित्य और मानवतावाद (सन्दर्भ : आधुनिक हिंदी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ) - डॉ. तबस्सुम खान 304-309
52. साहित्येतिहास लेखन की एक नई दृष्टि और अंतरानुशासन
- डॉ. सतीश पांडेय 310-319

अपने तईं

प्रख्यात कथाकार-समीक्षक और 'समीचीन' के संस्थापक-संपादक देवेश ठाकुर के 90 वर्ष पूरे करने के उपलक्ष्य में 'समीचीन' परिवार की ओर से कृतज्ञता स्वरूप यह अंक उनकी सन् 2000 के बाद की रचनाओं पर केन्द्रित है। एक लंबे समय तक उनसे गहरे जुड़ाव के कारण मेरे लिए देवेशजी के व्यक्तित्व पर कुछ लिखना कठिन हो जाता है। ढेर सारी घटनाएँ यादों की पूँजी में भरी पड़ी हैं। क्या छोड़ें और क्या लिखें। उनसे पहला परिचय एम.ए. करने के दिनों में हुआ था। ढीली शर्ट और पैंट पहने हल्की-सी दाढ़ी और बेपरवाही के साथ छितराए हुए केश और एक नफीस लेखकीय अंदाज वाले एक सुदर्शन व्यक्ति। हिन्दी प्राध्यापकों की भीड़ में उनका एक अलग व्यक्तित्व लगा था। फिर शोध कार्य के दौरान एक गंभीर, अनुशासनप्रिय, अध्ययनशील और वस्तुपरक दृष्टि से साहित्य-समीक्षा में निष्णात, निडर, स्पष्टवादी, अक्खड़ किन्तु उतना ही स्नेह करने वाले देवेश ठाकुर से परिचय हुआ जो हर बार मिलने पर नया कुछ पढ़ने-लिखने की प्रेरणा देने वाले लगे। मित्रों के गहरे मित्र किन्तु विरोधियों को दोटूक और खरी-खरी सुनाने वाले। वे कहा करते हैं कि जीवन में 'ना' कहना आना चाहिए। 'ना' कह पाना दृष्टि संपन्नता, आत्मविश्वास, स्पष्टवादिता और प्रतिरोध-क्षमता का परिचायक है। देवेशजी का अपना जीवन तमाम संघर्षों और प्रतिरोधों के बीच ही गुजरा है लेकिन यही उनकी रचनाशीलता के लिए ऊर्जा का कार्य करता रहा है।

20वीं सदी के आठवें दशक में अपने उपन्यासों के कथ्य और शिल्प की विविधता के लिए बहुचर्चित कथाकार देवेश ठाकुर जी उपन्यासों की वस्तुगत नवीनता के साथ आज भी हिंदी जगत के उन गिने-चुने साहित्यिकों में से एक हैं, जो शोध-समीक्षा के साथ-साथ रचनात्मक लेखन के क्षेत्र में भी समान अधिकार रखते हैं। अपने पहले उपन्यास भ्रमभंग (1975) के प्रकाशन से पूर्व ही समीक्षा के क्षेत्र में अपनी निष्पक्षता, वस्तुपरकता, प्रगतिशील मानवीय दृष्टि एवं बेबाक टिप्पणियों के कारण वे समीक्षा जगत में पहले ही चर्चित हो गए थे। 'प्रसाद के नारी चरित्र', 'आधुनिक हिंदी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ', 'नई कविता के सात अध्याय', 'हिंदी कहानी का विकास' आदि शोध और समीक्षा ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। अब तक लगभग इक्कीस उपन्यास लिख चुके देवेश जी जीवन के 90 वसंत पार कर चुके हैं और आज भी वे निरंतर लिख रहे हैं। उनके पहले उपन्यास भ्रमभंग में निम्न मध्यवर्गीय युवक के संघर्ष और जिजीविषा का चित्रण हुआ है। 'प्रिय शबनम' युवा बुद्धिजीवी की विडंबना व्यक्त करता है जो भिन्न मानसिकता वाली लड़की से विवाह कर जीवन भर पछताता है। 'काँचघर' में महानगरीय जीवन की विसंगतियाँ एक ही होटल के अलग-अलग मेजों की कहानी के रूप में चित्रित हुई है। 'इसीलिए' आदिवासी जीवन के अभाव और संघर्ष तथा स्त्री पुरुष संबंधों की कथा डायरी शैली में कही गई है। 'जनगाथा' कैंसर की मरीज शकुन की कथा के साथ-साथ विभाजन की त्रासदी एवं समसामयिक राजनीति चर्चा का बयान करती है। 'गुरुकुल', 'शिखर पुरुष' एवं 'कैंपस कथा' शिक्षा जगत में व्याप्त विसंगतियों और भ्रष्टाचार को उजागर करते हैं। 'शून्य से शिखर तक' तथा 'देवता के गुनाह' छद्म बुद्धिजीवियों का

पर्दाफाश करते हैं तो 'अपना अपना आकाश' 'अंततः' 'कातर बेला' और 'व्यक्तिगत' जैसे उपन्यासों में स्त्री-संघर्ष और नारी चेतना वाले उपन्यास हैं। 'जीवा', 'जंगल के जुगनू' और 'तीसरी लड़ाई' सामाजिक हितों के लिए सजग चरित्रों की संघर्ष गाथा है। 'संध्या छाया' और 'स्मृतियों के कोलाज' में वृद्ध जीवन का एकाकीपन, संघर्ष और जिजीविषा का अद्भुत चित्रण हुआ है। 'स्वप्न-दंश' में फिल्मी जीवन की विडंबनाएँ तथा 'ऐसा भी होता है' में चिकित्सा के क्षेत्र में प्रविष्ट व्यवसायिकता जन्य अमानवीयता और जाति-धर्म के बंधनों से मुक्त सच्चे प्रेम की उदात्तता की संवेदनशील अभिव्यक्ति हुई है। कुछ वर्ष पूर्व उनकी रचनाधर्मिता के 50 वर्ष पूर्ण होने पर उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करते हुए 'अल्पविराम' शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। समीचीन के इस अंक में 'अल्पविराम के बाद' सन् 2000 के बाद की उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करने का प्रयास है। कुछ आलेख पहले की रचनाओं पर तो कुछ संस्मरणात्मक लेख भी हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व और कृतित्व का समुचित और स्पष्ट रूप उभर सके। आशा है, यह अंक भी पाठकों और साहित्यिकों के बीच उपयोगी एवं चर्चित हो सकेगा।

उम्मीद है कि आदरणीय देवेश ठाकुर जी की लेखनी इसी तरह चलती रहेगी और वे स्वस्थ एवं सक्रिय बने रहेंगे। जिन लेखकों ने अपने महत्वपूर्ण आलेख लिखकर इस अंक को उपयोगी बनाया है, उन सबके प्रति हम आभारी हैं। अस्तु।

- सतीश पांडेय

देवेश ठाकुर

जीवन वृत्त :

समकालीन हिन्दी कथा साहित्य और समीक्षा के समर्थ हस्ताक्षर डॉ. देवेश ठाकुर पिछले छह दशकों से रचना और विचार दोनों स्तरों पर अपनी बौद्धिक और रचनात्मक ऊर्जा के साथ लगातार सक्रिय हैं। उपन्यास उनकी रचनात्मक ऊर्जा की प्रधान विधा रही है लेकिन समीक्षा और शोध के माध्यम से भी उन्होंने अपने समय के साहित्यिक-सामाजिक परिदृश्य में सशक्त हस्तक्षेप किया है। उनके समीक्षात्मक लेख एवं संपादकीय अथवा नियमित स्तम्भों में लिखी गई टिप्पणियाँ इतनी विचारोत्तेजक रही हैं कि कई बार विवाद भी उत्पन्न होते रहे हैं लेकिन ये विवाद किसी दुराग्रह या कृत्रिम सनसनी पैदा कर चर्चा में बने रहने के उद्देश्य से उत्पन्न न होकर एक नयी विचार सरणी निर्मित करते हुए मूल्यांकन की नई जमीन तलाशने में कारगर सिद्ध होते हैं।

23 जुलाई 1933 को अपने नानी के गाँव पैठानी (अल्मोड़ा उत्तराँचल) में जन्मे देवेश ठाकुर का आराम्भिक जीवन बड़ा ही कठिन एवं संघर्षमय रहा है। उनकी आरंभिक शिक्षा श्रीनगर (गढ़वाल), पैठानी के बटूलिया चाँदपुर (बिजनौर), नगीना (बिजनौर) में हुई। तत्श्चात देहरादून के डी. ए. वी. कॉलेज से बी. ए और एम. ए. किया। सन् 1951 से 1955 तक का काल उनके आर्थिक संकट के सबसे कठिन दिन थे। इस दौरान अपना खर्च जुटाने के लिए उन्होंने ईंट के भट्ठों, कॉलेज के साइकिल स्टैंड और होटल में नौकरी की। दस-दस, पंद्रह-पंद्रह रुपयों की ट्यूशनें तथा कोचिंग क्लास में शिक्षण करने के बावजूद उधार, उपवास, अपमान और उपेक्षा भरा जीवन व्यतीत किया ।

शिक्षा समाप्त कर हरगनपुर (बुंदकी के निकट) गाँव के चौधरी के जूनियर स्कूल में नौकरी के लिए गए लेकिन एक हफ्ते बाद ही अयोग्य घोषित हो गए। उसी दिन यह संकल्प लिया कि अब केवल अध्यापक ही बनना है। तत्पश्चात नजीबाबाद के एक (प्राइवेट) पब्लिक हाई स्कूल में चालीस रु. माहवार पर मास्टरी शुरू कर दी। अक्टूबर 1955 में देवेश जी की डिफेंस सर्विसेज के टैस्ट ऑडिट विभाग में टैस्ट ऑडिटर के रूप बम्बई के कार्यालय में नियुक्ति हुई लेकिन मन के अनुकूल काम न होने के कारण मई 1956 को डिफेंस सर्विसेज से इस्तीफा दे दिया। जुलाई 1956 में बंबई के सरकारी सिडनहम कॉलेज में सहायक प्राध्यापक के रूप में नियुक्ति हो गई। सितम्बर 1958 को सागर विश्वविद्यालय में पं. नन्ददुलारे वाजपेयी के निर्देशन में पी-एच. डी. की उपाधि के लिए पंजीकृत किया। अक्टूबर 1959 में बम्बई विभाजन के बाद इनका तबादला गुजरात के धर्मेंद्र सिंह जी कॉलेज में हो गया। जून 1960 में धर्मेंद्र सिंह जी कॉलेज से इस्तीफा देने के पश्चात फिर से बम्बई लौटना हुआ और एक बार फिर से नौकरी की खोज में जुट गए। जून 1960 में इनकी नियुक्ति मुंबई के प्रसिद्ध महाविद्यालय रामनारायण रुइया कॉलेज में हिंदी प्राध्यापक के रूप में हुई। जून 1961 में सागर विश्वविद्यालय से पी-एच. डी. पूर्ण की। इसी वर्ष पंडित जी की प्रेरणा से उनके ही सुपरविजन में डी. लिट्. के लिए पंजीकृत किया। सन् 1971 में सागर विश्वविद्यालय से इन्हें डी. लिट्.

की उपाधि मिली। अपने सेवा काल में इन्होंने चौदह शोधार्थियों को पी-एच. डी. उपाधि के लिए तथा तीन विद्यार्थियों को एम. फिल. की उपाधि के लिए सफल निर्देशन किया।

12 अक्टूबर 1961 को लेडी हार्डिंग हॉस्पिटल, दिल्ली में सिस्टर-इन-चार्ज के रूप में कार्यरत सुशीला डंग से मेरठ में विवाह किया। 31 दिसम्बर 1962 पहली बेटी आभा का जन्म मेरठ में हुआ। 11 दिसम्बर 1963 में दूसरी बेटी आरती का जन्म बम्बई में हुआ। आभा आज देश के शीर्ष डॉक्टरों में से एक हैं। आरती मुंबई के ही एक कॉलेज में प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।

देवेश ठाकुर बहुआयामी प्रतिभा वाले रचनाकार हैं। उन्होंने समीक्षा, शोध तथा रचनात्मक विधाओं में, विशेष रूप से उपन्यास लेखन में विशिष्ट स्वीकृति और ख्याति पाई है। यद्यपि अन्य अनेक रचनाकारों की भाँति उन्होंने आरंभ में कविताएँ भी लिखीं लेकिन कालांतर में उन्होंने लेखन को अपने समीक्षा और शोध-ग्रंथों में ही गंभीरता से लिया और समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद वे कथा साहित्य, विशेष रूप से उपन्यास लेखन की ओर प्रवृत्त हुए।

समीक्षा के क्षेत्र में 'नयी कविता के सात अध्याय', 'नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया', 'साहित्य की सामाजिक भूमिका', 'हिन्दी कहानी का विकास', 'साहित्य के मूल्य', मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' आदि में प्रस्तुत वस्तुपरक और प्रखर समीक्षा-दृष्टि के कारण ही आलोचना के क्षेत्र में इनकी एक विशिष्ट पहचान बनी है। इसी बीच इनके 'प्रसाद के नारी पात्र', 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ' और 'साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन' जैसे वृहद् शोध-ग्रंथों ने शोध की भी नई दिशा निर्मित की है।

शोध और समीक्षा के साथ-साथ देवेश ठाकुर के अब तक लगभग दो दर्जन उपन्यास तथा दो कहानी संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने हिन्दी कहानी का समुचित स्वरूप प्रस्तुत करते हुए श्रेष्ठ हिन्दी कहानियों के संकलन के रूप में दो खंडों में 'कथा-क्रम' तथा 'कथा-वर्ष' के अनेक खंडों का विस्तृत भूमिकाओं के साथ कुशल संपादन भी किया है। इतना ही नहीं, इन्होंने आजादी के बाद की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों का चिंतनपरक लेखा-जोखा 'आजादी की आधी सदी और आम आदमी' को तीन-तीन खंडों में प्रस्तुत किया है। बुद्ध की जीवनी 'बुद्ध-गाथा' तथा तीन खंडों में प्रकाशित आत्मकथा 'मैं यों जिया' इन्हें एक वस्तुपरक जीवनीकार-आत्मकथाकार के रूप में प्रतिष्ठित करती है। 'विचार' और 'समीचीन' के संपादक के रूप में साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में इनके अवदान को नकारा नहीं जा सकता। अपनी साहित्यिक यात्रा के आरंभिक वर्षों में इन्होंने बाल साहित्य-लेखन भी किया है। उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त इन्होंने पाँच विशिष्ट पुस्तकों का अनुवाद भी प्रस्तुत किया है। इस प्रकार ये रामचंद्र शुक्ल , हजारी प्रसाद द्विवेदी और मुक्तिबोध आदि हिन्दी के उन रचनाकारों की श्रेणी में आते हैं, जिन्होंने समीक्षक, शोधकर्ता, रचनाकार और अनुवादक चारों रूपों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। यही कारण है कि अब तक इनके साहित्य पर देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों से चौदह शोधार्थियों को पी-एच. डी. तथा लगभग इतने ही विद्यार्थियों को एम.फिल. की उपाधि प्राप्त हो चुकी है और अभी भी अनेक शोधार्थी

उनके साहित्य पर शोध करने में लगे हैं। शोध के अतिरिक्त इनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर स्वतंत्र रूप से आठ समीक्षा-ग्रंथ भी प्रकाशित हो चुके हैं। सन् 1993 में इनकी रचनावली 6 भागों में प्रकाशित हुई थी। बाद में सोलह खंडों में इसका परिवर्धित रूप सन् 2018 में प्रकाशित हुआ। इसके बाद भी इनके चार उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और अभी भी वे निरंतर रचनारत हैं।

विश्वविद्यालयीन गुटबाजी और साहित्यिक मठाधीशों की उपेक्षा के बावजूद इन्होंने अपनी प्रगतिशील मानववादी दृष्टि के तहत अपने रचनाकार मन की संवेदनाओं को निरंतर अभिव्यक्ति और विस्तार दिया। यह सच है कि ये अनेक बिंदुओं पर मार्क्सवाद से प्रेरित रहे हैं लेकिन अपने कृत लेखन में इन्होंने मार्क्सवाद से उतना ही ग्रहण किया जितना अपनी रचनाधर्मिता के लिए इन्होंने आवश्यक समझा। उनकी 'मार्क्सवादी' दृष्टि में मानवीय मूल्यों का सुखद समन्वय है।

लेकिन इतना सब होने पर भी देवेश ठाकुर हमेशा विवादों के घेरे में घिरे रहे हैं किन्तु अजीब बात यह है कि उनका विरोध करने वाले अधिकांश आलोचक या तो मार्क्सवादी खेमे के हैं या वे लोग हैं जो इनकी प्रगति के प्रति ईर्ष्यालु हैं। इस विरोध के लिए इनकी मुखर स्पष्टवादिता, अपने विरोधियों के प्रति प्रखर शब्दावली का प्रयोग, मौसमी लेखकों और समीक्षकों के प्रति स्पष्ट उपेक्षा तथा साहित्य में प्रवेश कर गए गुटबाज और खेमेबाज मठाधीशों के प्रति क्रूर आक्रामकता का भाव ही अधिक उत्तरदायी है। मजे की बात यह है कि इस सब के साथ-साथ उनके आत्मीय साहित्यिक मित्रों-पाठकों, प्रशंसकों तथा शुभचिंतकों की संख्या भी कम नहीं है। इन्हीं दो ध्रुवों के बीच अपना लेखन-कार्य सम्पन्न करते हुए देवेश ठाकुर का व्यक्ति और रचनाकार अपनी प्रौढ़ि में आज भी अपनी साधना में रत है।

देवेश ठाकुर रचनाधर्मी लेखन का वैशिष्ट्य कथ्य की नवीनता के अतिरिक्त शिल्पगत विविधता और प्रयोगधर्मिता विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी में शायद ही कोई ऐसा रचनाकार हो, जिसने उनके जितने शिल्प-प्रयोग किए हों। भाषा पर पूर्ण अधिकार, नयी सूक्तियों का सौष्ठवपूर्ण गठन तथा शिल्प की नितांत नवीन, मोहक और स्पष्ट प्रयोगशीलता ने उनके कथा- साहित्य को एक नयी ताजगी और प्रवाह प्रदान किया है।

इन्होंने 1972 में 'विचार' पत्रिका (त्रैमासिक) का प्रकाशन और संपादन किया किन्तु यह चार अंकों के बाद बंद करनी पड़ी। पुनः इन्होंने सन् 1986 से समीचीन (त्रैमासिक/अर्धवार्षिक/वार्षिक) पत्रिका का प्रकाशन और सम्पादन आरंभ किया जो अब तक प्रकाशित हो रही है।

1975 में उत्तर प्रदेश शासन के हिन्दी संस्थान द्वारा इनके डी. लिट्. के शोध प्रबंध पर इन्हें विशिष्ट 'तुलसी पुरस्कार' से सम्मानित किया गया। महाराष्ट्र राज्य हिन्दी अकादमी द्वारा भी ये तीन बार 'जैनेन्द्र कुमार पुरस्कार' से सम्मानित हो चुके हैं। समय-समय पर देश की अन्य विभिन्न संस्थाओं द्वारा भी इन्हें दर्जन भर पुरस्कारों-सम्मानों से सम्मानित किया जा चुका है।

इनकी प्रकाशित पुस्तकों की सूची इस प्रकार है :

काव्य : 1. मयूरिका, 2. अंतरछया, 3. अवकाश के क्षणों में, 4. कविताएँ (संपूर्ण कविताओं का संकलन) ।

कहानी : 1. सिर्फ संवाद, 2. फैसला तथा अन्य कहानियाँ।

उपन्यास : 1. भ्रम-भंग, (1975) 2. प्रिय शबनम! (1977) 3. काँचघर, (1980) 4. अपना-अपना अकाश, 5. जनगाथा, 6. गुरुकुल, 7. शून्य से शिखर तक, 8. अंततः, 9. शिखर पुरुष, 10. इसीलिए, 11. जंगल के जुगनू, (2004) 12. कातर बेला, (2005) 13. जीवा, (2005) 14. देवता के गुनाह, (2011) 15. संध्या-छाया, (2011) 16. स्वप्न दंश, (2014) 17. व्यक्तिगत, (2019) 18 मारिया, (2019) 19. कैंपस कथा, (2022) 20. ऐसा भी होता है, (2023) 21. तीसरी लड़ाई (2023)।

समीक्षा : 1. नयी कविता के सात अध्याय, 1. नदी के द्वीप की रचना-प्रक्रिया, 3. मैला आँचल की रचना-प्रक्रिया, 4. हिन्दी कहनी का विकास, 5. साहित्य की सामाजिक भूमिका, 6. साहित्य के मूल्य, 7. आलेख।

शोध : 1. 'प्रसाद' के नारी-चरित्र (पी-एच. डी.), 2. आधुनिक हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ, 3. हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन (विश्वविद्यालय अनुदान अयोग की विशिष्ट परियोजना के अंतर्गत)।

संपदन : 1. कथा-क्रम - 1, 2. कथा-क्रम - 2 (कुल 175 कहानियाँ), 3. कथा-वर्ष - 1976, 4. कथा-वर्ष - 1977, 5. कथा-वर्ष - 1978, 6. कथा-वर्ष - 1979, 7. कथा-वर्ष - 1980, 8. कथा-वर्ष - 1981, 9. कथा-वर्ष - 1982, 10. कथा-वर्ष - 1983, 11. कथा-वर्ष - 1992, 12. कथा-वर्ष - 1994, 13. हिन्दी की पहली कहानी, 14. रचना-प्रक्रिया और रचनाकार, 15. प्रेमचंद साहित्य के अध्येता : डॉ. कमल किशोर गोयनका।

किशोर साहित्य : 1. दो सहेलियाँ (कहानी संग्रह), 2. ममता (उपन्यास) ।

समज और राजनीति : 1. आजादी की आधी सदी और आम आदमी - 1, 2. आजादी की आधी सदी और आम आदमी - 2, 3. आजादी की आधी सदी और आम आदमी - 3,

जीवनी : 1. बुद्ध-गाथा ।

डायरी : 1. स्मृतियों के कोलाज, (2022)

आत्मकथा : 1. मैं यों जिया (आरंभिक अंर्तयात्रा) - 1, 2. मैं यों जिया (चंदन वन के बीच)-2, 3. मैं यों जिया (इस यात्रा में)-3।

अन्य : 1. व्यवहार बीथिका (हिन्दी पत्राचार), 2. कॉलेज निबंध और रचना, 3. हिंदी निबंध प्रदीप।

अनुवाद : 1. परिवर्द्धित व्यक्तित्व (फ्लोरेंस लिटौर), 2. सकारात्मक शक्ति (वैबरली सैली), 3. अनुकूल पौष्टिक आहार के पथ पर (डॉ. रॉस वॉकर), 4. और अधिक समृद्धि के लिए (Adding More to life) : भरत पारेख, 5. सफलता के निमित्त (दीपक जोशी)। साथ ही 'इंश्योरेंस वर्ल्ड' मासिक के संपूर्ण 12 अंकों का अनुवाद।

उपर्युक्त प्रकाशनों के अतिरिक्त 1500 से अधिक लेखों, शोध-पत्रों, कहानियों, कविताओं, पुस्तक समीक्षाओं और स्तम्भ-लेखों का प्रकाशन।

देवेश ठाकुर पर केंद्रित प्रकाशित शोध और समीक्षा ग्रंथ

1. **देवेश ठाकुर और उनका उपन्यास साहित्य** : डॉ. पांडुरंग पाटील (शोध, पी-एच. डी.) शिवाजी विश्वविद्यालय (कोल्हापुर)
2. **हिन्दी उपन्यासों में प्रयोगधर्मिता (देवेश ठाकुर के उपन्यासों के विशेष संदर्भ में)** : डॉ. कमल चौरसिया (शोध, पी-एच. डी.) सागर विश्वविद्यालय (सागर)
3. **देवेश ठाकुर के उपन्यासों में नारी पात्र :** डॉ. माधवी बागी (शोध, पी-एच. डी.) शिवाजी विश्वविद्यालय (कोल्हापुर)
4. **देवेश ठाकुर कृत उपन्यासों की कथा-दृष्टि एवं सामाजिक चेतना :** डॉ. मुकेश कुमार शर्मा (शोध, पी-एच. डी.) सरदार पटेल विश्व विद्यालय, वल्लभ विद्यानगर आनंद, (गुजरात)
5. **उपन्यासकार देवेश ठाकुर** : डॉ. संगीता कोटिया (शोध,एम. फिल.) उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद)
6. **'शिखर पुरुष' उपन्यास में शिक्षक समस्याएँ :** डॉ. स्नेहलता (शोध,एम. फिल.) उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद)
7. **देवेश ठाकुर कृत 'शिखर पुरुष उपन्यास का समस्यामूलक अध्ययन :** डॉ. महेश कुमार शर्मा (शोध, एम.फिल) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय कुरुक्षेत्र, (हरियाणा)
8. **देवेश ठाकुर : व्यक्ति, समीक्षक और कथाकार :** (सं.) डॉ. नंदलाल यादव) (समीक्षा) केंद्रिय विद्यालय -1, मुम्बई - 5.

9. **कथा-शिल्पी देवेश ठाकुर :** डॉ. सतीश पांडेय
(समीक्षा), के. जे. सोमैया कॉलेज, मुम्बई.
10. **देवेश ठाकुर -प्रश्नों के घेरे में :** डॉ. भानुदेव शुक्ल
(साक्षात्कार), सागर, हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)
11. **गुरुकुल - मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन :** (सं.) डॉ.शरेश चंद्र चुलकीमठ
(समीक्षा), कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ ।
12. **पांडुलिपि (व्यक्तित्व और कृतित्व का अनुशीलन) :** (सं.) डॉ. ब्रह्म देव मिश्र
(समीक्षा), गोवा विश्वविद्यालय, गोवा .
13. **अल्प-विराम (देवेश ठकुर :** साहित्यिक यात्रा के पचास वर्ष) :
(सं.) डॉ. सतीश पांडेय (समीक्षा), के. जे. सोमैया कॉलेज, मुम्बई.
14. **देवेश ठाकुर - व्यक्ति और रचनाकार :** (सं.) डॉ. बी. सत्यनारायण
(समीक्षा), उस्मानिया विश्वविद्यालय (हैदराबाद)
15. **एक पारी और (देवेश ठाकुर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर केंद्रित) :**
(सं.) डॉ. अरुणा दुबलिश (समीक्षा), कनोहर लाल महिला स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, मेरठ ।
16. **रचनाधर्मी देवेश ठाकुर :** (सं.) डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट (समीक्षा),
रामनारायण रुइया महाविद्यालय, मुम्बई.

पुरानी यादों के साथ-साथ कुछ नए लम्हे

डॉ. आभा नागरल (बड़ी बेटी)

मुझे अपने पिताजी (बाबा) के बारे में लिखने के लिए कहा गया है। मुझे यह समझ में नहीं आ रहा है कि मैं कहाँ से शुरू करूँ....! अतः मैं सीधे-सीधे उनके साथ की सबसे पुरानी यादों के साथ अपना लेख शुरू करती हूँ..!

बाबा के बारे में एक बात जो मेरे मन में सबसे पहले आती है, वह यह कि जब मैं और मेरी छोटी बहन आरती छोटे थे, उन दिनों बाबा एक बहुत कठोर अनुशासनप्रिय पिता हुआ करते थे। दूसरी ओर हमारे बाबा हम दोनों के घनिष्ठ मित्र भी थे, एक ऐसे विश्वसनीय मित्र जिनसे हम अपनी सारी बातें साझा कर सकते थे। वे हमें कड़े अनुशासन में रखा करते थे, गलती करने पर हमें एक-दो थप्पड़ भी मार दिया करते थे। मुझे बाबा का एक थप्पड़ आज भी याद आ रहा है, जब मैं पहली कक्षा में थी और अंग्रेजी की एक कविता याद नहीं कर पा रही थी। उनका यह कहना है कि उनके एक थप्पड़ के बाद मुझे अंग्रेजी कविताएँ याद होने लगी थीं अर्थात् वह थप्पड़ मुझे अंग्रेजी सिखने में बड़ा सफल सिद्ध हुआ! उसी सबक के कारण मेरी अंग्रेजी धारा प्रवाह हो पाई। बाबा अपने दूसरे अवतार में हमारे लिए मित्रवत रहे हैं। वे सदैव हमें किसी भी विषय पर अपनी विवेक पूर्ण और अच्छी सलाह देते रहे हैं। मुझे उनके साथ देखी हुई पहली वयस्क फिल्म याद है, तब मैं महज सोलह वर्ष की थी! सिनेमा हॉल के बाहर खड़े सुरक्षा कर्मी की नजरें जब मुझ पर और मेरी बहन पर पड़ीं , तब उसको हमारी आयु को लेकर कुछ शक उत्पन्न हुआ और परिचय पत्र दिखाने को कहा, तब हमारे बाबा ने उत्तर दिया कि यदि मेरी बेटियाँ अठारह वर्ष से ऊपर न होतीं, तो क्यों एक पिता अपनी बेटियों को ए ग्रेट की फिल्म दिखाने लेकर आता! ऐसा सुनकर सुरक्षाकर्मी ने बड़े अन्यमनस्क भाव से हमें थियेटर में जाने दिया।

मुझे यह भी याद है कि हमारे स्कूल के दिनों जब मैं कभी हम निर्धारित समय पर घर वापस नहीं लौट पाते, किसी भी कारण से स्कूल में देर हो जाया करती, तब बाबा हमको लेकर बहुत चिंतित हो जाया करते थे। वे बस स्टॉप पर हमारा इंतजार किया करते थे। यह सिलसिला मेरे मेडिकल कॉलेज की पढ़ाई के दौरान तक भी चलता रहा, जहाँ कार्य के घंटे बड़े अनियमित होते और मेरे घर लौटने का कोई निश्चित समय नहीं होता। बाबा अब नब्बे वर्ष के हो गए हैं, किंतु अब भी जब मैं शहर से बाहर या देश से बाहर जाती हूँ, उनको इस बात की जानकारी देनी पड़ती है कि मैं अपने गंतव्य स्थान पर पहुँच गई हूँ और वापस भारत सुरक्षित लौटने पर भी उनको मेरे फोन की प्रतीक्षा रहती थी।

बाबा और अम्मा दोनों मिलकर अपनी आमदनी से घर को किसी तरह चला पाते थे। मुझे याद आता है कि बाबा कुछ अतिरिक्त आमदनी के अंग्रेजी के लिए ब्लिट्ज और करंत अखबार के लिए हिंदी अनुवाद का कार्य भी करते थे। अपनी मामूली सी आय के बावजूद बाबा अच्छी जिंदगी जीने मैं विश्वास करते। हम लोगों को सामान की खरीददारी के लिए बाजार और खाने के लिए अच्छे रेस्त्राँ में भी ले जाया करते थे। यदि कभी अच्छे होटल में नहीं जा पाते, तो हमें किसी स्ट्रीट पर उबले हुए अंडे खिलाया

करते थे तब हम इस का भी बड़ा आनंद लिया करते थे। मेरा लंबे समय से उन गलियों में जाना नहीं होता, इसलिए अब मैं उन अंडे बेचने वालों को देख नहीं पाती। बाबा हमें विशेष उत्सवों पर इद ग्रेट पंजाब रेस्टोरेंट' परेल ले जाया करते थे, जहाँ पर हमको स्टार्टर, मेन कोर्स और स्वीट डिश अर्थात् एक पार्टी जैसा भोजन कराया जाता था। क्यों हमें हमेशा इसी रेस्त्राँ में लाया जाता था? मुझे नहीं पता। शायद इसलिए कि अम्मा के मायके वाले पंजाबी परिवार से संबंधित थे। ऐसा अम्मा को उनके घर का जैसा खाना खिलाने या घर के खाने की याद दिलाने के लिए होता था। दरअसल, आज से पचास वर्ष पूर्व यहाँ बहुत अधिक रेस्त्राँ नहीं हुआ करते थे, शायद बाबा को यहाँ पंजाबी रेस्त्राँ के रूप में एक सहूलियत वाली जगह मिल गई थी।

अम्मा के सभी कपड़े बाबा खरीदा करते थे, क्योंकि अम्मा अपने पहनावे पर बहुत अधिक ध्यान नहीं देती थीं। वे उन कपड़ों को खुशी-खुशी पहन लिया करती थीं, जिनको बाबा खरीद कर उन्हें दिया करते थे। अम्मा अक्सर बाबा को यह कहते हुए डाँट देती थीं कि जो तुमने मेरे लिए खरीदा है, मुझे उसकी जरूरत नहीं है। तुमको सोच- समझ कर खर्च करना चाहिए। वे हमारे लिए भी कपड़े खरीदते थे। कोलाबा क्रॉसवे स्थित 'ग्राँड बाजार' और दादर स्थित 'मिलन' ये दो दुकानें बाबा की मनपसंद दुकानें हुआ करती थीं। वह खूब पैसे उड़ाया करते थे, जिससे उनके पास बहुत कम बचत हुआ करती थी। जब भी उनके हाथ में पैसे आते, तब उनका होटल जाना या खरीददारी करना तय हुआ करता।

जिन दिनों बाबा रुइया कॉलेज में हिंदी प्रोफेसर के रूप में कार्य किया करते थे और बाद मैं जब वे हिंदी विभाग प्रमुख के रूप में पदोन्नति पा चुके थे, तब हम संस्था के सायन स्थित स्टाफ-क्वार्टर में रहा करते थे। हमारे बहुत से रिश्तेदार हमसे मिलने आया करते और हमारे छोटे-से एक शयन कक्ष वाले कमरे में रहा करते। उनमें से अधिकतर लोग बंबई में अपना इलाज कराने या चिकित्सकीय परामर्श लेने के लिए आया करते थे। हमने इस बात पर कभी गौर ही नहीं किया कि उन आगंतुकों के ठहरने की व्यवस्था हम अपने उस छोटे-से आवास में कैसे कर सके, जबकि कई रिश्तेदारों और परिचितों का वहाँ आना-जाना लगातार बना रहता था। यह एक बड़ा विरोधाभास है कि आज हमारा दो शयनकक्ष वाला घर भी हमारे एकल परिवार के लिए बहुत बड़ा नहीं लगता।

बाबा एक लोकप्रिय शिक्षक हुआ करते थे और उनके विद्यार्थी अक्सर हमारे घर आया करते थे। उनकी लोकप्रियता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि वे अपनी छात्राओं में बेहद लोकप्रिय थे।

बाबा का व्यक्तित्व ऐसा है कि वह या तो 'सब कुछ हैं या कुछ भी नहीं' ! बाबा से उनके वे घनिष्ट मित्र ईर्ष्या करते हैं, जिनके लिए उन्होंने कई बार अपना सब कुछ दाँव पर लगा दिया और जिनके सहायता के लिए वे किसी भी हद तक जाते रहे। इसीलिए उनके साथ भी वही हुआ- 'जो सबको खुश करना चाहता है, वह किसी को भी खुश नहीं रख सकता' - ऐसा उनके एक करीबी रिश्तेदार के साथ भी हुआ जिसके साथ उन्होंने अपने सारे संबंध सूत्र दृढ़ता से जोड़े थे। अर्थात् जिसके साथ उनके बहुत अच्छे संबंध थे। अब उनको लगता है कि उन्हें अपने किसी भी ऐसे सगे संबंधी से कोई रिश्ता

नहीं रखना चाहिए, जो उनकी नजरों में स्वार्थी हो। किंतु वे अपने उस दोस्त के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहते हैं, जिसकी उन्हें बेहद परवाह है। सिंह राशि का जातक होने के कारण उनमें अपना प्रभुत्व स्थापित करने और दूसरों पर हावी होने का भाव भी है। इसीलिए वे अपनी आलोचना या बुराई सहन नहीं कर पाते, ऐसा करने मैं वे बड़े जिद्दी हो जाते हैं।

अम्मा हमेशा उनकी सेहत को लेकर चिंतित रहा करती थीं, क्योंकि उन्हें सैंतीस वर्ष की युवावस्था में उच्च रक्तचाप, मधुमेह और हृदय विकार जैसे रोगों ने घेर लिया था। व्यवसाय से एक नर्स होने के कारण अम्मा हरसंभव उनकी देखभाल किया करती थीं। अम्मा उनके खान-पान के प्रति लापरवाही और अन्य आदतों को छुड़ाने का हर संभव प्रयास करती रहती थी, किंतु वे अम्मा द्वारा सेहत से जुड़ी चेतावनी मिलने पर भी खान-पान से जुड़ी अपनी आदतों से बाज नहीं आते थे।

जब अम्मा अस्वस्थ हुईं और वे बाबा की देखभाल नहीं कर पाईं तब भूमिकाएँ बदल गयीं। बाबा तब अम्मा की देखभाल करने लगे, विशेष रूप से तब, जब वे बिस्तर पर पड़ी थीं। अंततः वर्ष 2016 में अम्मा की मृत्यु हो गई, तब पहली बार बाबा ने अपने स्वास्थ्य, आहार और जीवनचर्या की ओर ध्यान देना प्रारंभ किया। यहाँ तक कि उनको अपनी दवाइयों और चिकित्सकीय परीक्षणों के नाम भी याद हो गए।

अम्मा की मृत्यु के बाद हमारी बेटी निष्ठा ने एक बिल्ली का बच्चा लाकर बाबा को दिया। उसका साथ पाकर बाबा का अकेलापन दूर हुआ और उनके मनोबल में वृद्धि हुई। सौभाग्य से बाबा को कुछ अच्छे लोग देखभाल करने के लिए मिले, जैसे - बाला, राकेश और अब कल्याण जिन्होंने बाबा को स्मार्ट फोन इस्तेमाल करना सिखाया और उन्हें यू-ट्यूब पर राजनीतिक वक्तव्य सुनने की सुविधा दी, विशेष रूप से कन्हैया कुमार और रवीश कुमार के वक्तव्य।

कोविड महामारी के दौरान बाबा छः बार अस्पताल के गहन चिकित्सा केंद्र (आई. सी.यू) में भर्ती होने के बावजूद उपन्यास लिखने का आनंद लेते रहे। ज्यों ही बाबा अस्पताल से छुट्टी पाकर घर आते, त्यों ही पुनः लिखना प्रारंभ कर देते। उन्होंने घाटकोपर स्थित अपने घर के एक कमरे में लिखने वाली एक मेज बना रखी है और वे कहते है कि जब वे उस मेज पर बैठते हैं, तभी उन्हें लिखने की सारी प्रेरणा प्राप्त होती है। वे अपने विशिष्ट लेखन के लिए जाने जाते हैं और उनके साहित्य पर पी-एच. डी के कई शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं। मुझे इस बात का अपराध-बोध रहता है कि मैं उनके साहित्य का अध्ययन नहीं कर पाई और मैंने उनकी लिखी सारी पुस्तकें लाकर अपनी अलमारी में रख छोड़ी हैं, ताकि उनको देखकर मुझे उन पुस्तकों को पढ़ने का ध्यान रहे! यह याद रहे कि मुझे उन पुस्तकों को कभी..... किसी दिन .....!

बाबा के व्यक्तित्व का दूसरा रोचक पक्ष यह है कि उन्हें स्वादिष्ट भोजन, रेस्त्राँ, इत्र और उत्कृष्ट व्हिस्की का बड़ा शौक रहा है। उन्हें इत्र लगाने का भी शौक है, विशेष रूप से जब वे रात को सोने जाते हैं। उनकी अलमारी में पेय बड़े व्यवस्थित तरीके से सजा कर रखे होते हैं। मुझे महसूस होता है कि बाबा पेय पदार्थ ड्रींग करने से अधिक अलमारी में उन बोतलों की सजावट देखकर नशे का अनुभव करते हैं! उनकी सेहत

को ध्यान में रखते हुए उन्हें सप्ताह में केवल एक बार पीने की इजाजत है। जब कभी मैं विदेश जाती हूँ, वहाँ से लौटते समय वे मुझसे उनके लिए एक 'शीशी' लाने की अपेक्षा रखते हैं। जन्मदिन से ठीक पहले बाबा हमसे पूछते हैं कि हम लोग उनको क्या उपहार दे रहे हैं? यदि हम उनको उपहार देना भूल गए, तो वे अपने कपड़ों की अलमारी से कोई भी पुरानी कमीज या कुर्ता निकाल कर पहन लेते हैं, ताकि हमें शर्मिंदगी झेलनी पड़े। बचपन में अच्छे कपड़ों से वंचित रहने के कारण अब उनकी अलमारी कपड़ों से भरी रहती है।

बीते जुलाई महीने में हमने उनके दोस्तों और नजदीकी रिश्तेदारों के साथ उनका 90 वाँ जन्मदिन मनाया। उस दिन मैं देख रहीं थी कि जिस उत्सुकता और उत्साह के साथ उन्होंने उपहार के वो पैकेट खोले, मानो वे 9 वर्ष के बच्चे हों। तमाम परेशानियों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद जीवन के प्रति जिजीविषा, कला के प्रति उनका लगाव, साहित्य के प्रति समर्पण और इस खूबसूरत संसार का सौंदर्य उन्हें आज भी निरंतर आगे बढ़ते रहने के लिए प्रेरित करता रहता है। अस्तु!

पिता के साथ बिताए कुछ पल

डॉ. आरती प्रसाद

मेरी बहन आभा और मैं अपने पिता (बाबा) को बचपन के दिनों से देख रहे हैं कि वे सदा से ही कठोर अनुशासन प्रिय व्यक्ति रहे हैं। बचपन के दिनों में जब वे क्रोध में होते तब घर में सन्नाटा छा जाता! हमें इस बात का इंतजार रहता कि कब यह टूटे। अपने परिवार में सबसे बड़ा बेटा होने के कारण उन्हें अपने तीन छोटे भाई-बहनों की जिम्मेदारी का निर्वाह भी करना होता था। यद्यपि उनकी परिवार की आर्थिक स्थिति बड़ी विषम थी, बावजूद इसके उन्होंने हमारे पूरे विद्यार्थी जीवन के दौरान हमें किसी चीज की कमी महसूस नहीं होने दी।

अम्मा अस्पताल में लंबे समय तक ड्यूटी किया करती थीं, जिस वजह से बाबा हमारे स्कूल में आकर शिक्षक-अभिभावक मीटिंग में आने वाले चंद अन्य पिताओं में से एक हुआ करते थे। उनकी निरंतर प्रेरणा और प्रोत्साहन का परिणाम था कि हम अंतरविद्यालयीन वाक् प्रतियोगिताओं में भाग लेकर अपने स्कूल और कॉलेज के लिए अनेक पुरस्कार प्राप्त कर सके।

उनकी नेतृत्व क्षमता, उनकी दृष्टि से गलत समझी जाने वाली बातों पर समझौता न करने की प्रवृत्ति के कारण उनको जीवन में सराहना और आलोचना दोनों का सामना करना पड़ा। जीवनपर्यंत एक विद्रोही व्यक्तित्व के रूप में अपनी छवि बना लेने के कारण उनके जीवन के कुछ रंग फीके भी दिखाई पड़े। इस संदर्भ में रुइया कॉलेज के एक पूर्व प्राचार्य का कथन इस प्रकार है - 'देवेश एक बहुत अच्छा दोस्त हो सकता है और एक कट्टर दुश्मन भी!' वे न केवल अपने विद्यार्थियों में, बल्कि अपने सहयोगियों में भी लोकप्रिय थे। उनका केबिन हमेशा उनके विद्यार्थियों और सहयोगियों से भरा रहता था।

महामारी से ठीक पहले 'पूर्व छात्रों की मीटिंग' के दौरान मैंने साठ वर्ष पार कर चुके एक ऐसे पूर्व छात्र को सुना, जो बाबा के अध्यापन काल को याद करते हुए बता रहे थे कि बाबा कैसे अपने लेक्चर्स को रोचक बनाया करते थे। वे कई विद्यार्थियों के लिए प्रेरणास्त्रोत थे।

शिक्षा जगत में कुछ लोगों की ईष्या के कारण उनको जितनी मुश्किलों का सामना करना पड़ा, उतनी ही संकल्पशक्ति और दृढ़ता के साथ उन्होंने उनका मुकाबला किया। मैंने अपने जीवन में बहुत कम लोग ऐसे देखे, जिनमें उनके समान मानसिक दृढ़ता और संकल्पशक्ति हो। अपनी कई प्रकार की स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के बावजूद, जिनमें से कुछ तो उन्हीं के खान-पान के कारण उत्पन्न हुई थीं, उनमें अटूट जिजीविषा है।

दो ज्योतिषियों ने उनकी इच्छामृत्यु की भविष्यवाणी की थी, बाबा कहते हैं कि उनका लेखन ही उनको जीवित रखे हुए है। और उनके पास दो और वर्ष कार्य करने के लिए हैं। इसीलिए जब वे अस्पताल में नहीं होते तब नब्बे वर्ष से अधिक आयु में भी उन्हें टेबल के पास बैठकर रोज लिखे हुए अधूरे कार्य को पूरा करते हुए देखा जा सकता है!

उन्हें शरीर के लिए विषाक्त पदार्थों के सेवन की मनाही है। इस बात का श्रेय आभा को जाता है कि उसने उन्हें कई बार अस्पताल में भर्ती करके मौत के मुख से बाहर

निकाला है, किंतु उनका यह आग्रह रहता है कि ये वर्ष उनके लिए बोनस वर्ष हैं जिनको वे अपनी शर्तों पर जीना चाहते हैं। वैसे उन्होंने हमेशा अपनी शर्तों पर जीवन को जिया है, यह दूसरी बात है।

मेरे करियर का रास्ता पूरी तरह मेरे पिताजी द्वारा निर्धारित किया गया है। बारहवीं कक्षा के बाद उन्होंने ही तय किया कि मैं अर्थशास्त्र - गणित - सांख्यिकी के साथ कला संकाय में एडमिशन लूँ! मुझे उनका यह निर्णय पसंद नहीं था क्योंकि मैं गणित से डरती थी। मैं उनके विरुद्ध नहीं जा सकी और पाँच साल कठोर परिश्रम करके आगे बढ़ी। उन्होंने मेरे लिए अच्छे अंक हासिल करने वाले विषयों का चयन किया था, इसीलिए बी.ए. में मेरा प्रदर्शन उत्कृट रहा। इसका श्रेय देर से ही सही, बाबा को ही जाता है!

मुझे एक व्यवसाय के रूप में अध्यापन कार्य को चुनना है, यह निर्णय भी बाबा का ही था' जब मैंने उनके व्यवसाय को ही अपने व्यवसाय के रूप में चुना, तब से वे मेरे एक विश्वसनीय मित्र बन गए। एक ऐसे घनिष्ट मित्र जिनके साथ मैं कॉलेज की राजनीति और विभिन्न परिस्थितियों का सामना करने के लिए उनके सुझाव लेती रहती थी। बाबा अपने कॉलेज के उच्च / सक्षम अधिकारियों के साथ अपने मतभेद और टकराव की बातें किया करते थे और वे उन विषम परिस्थितियों से कैसे उबरे यह भी बताया करते थे। उनकी ये बातें मेरे लिए एक मनोरंजन और कुछ समय के लिए राहत देने वाली हुआ करती थीं।

दरअसल, वे मुझसे भी कहा करते हैं कि तुम्हारे साथ जो भी अवांछनीय घटनाएँ घटित होती हैं, उनको एक डायरी में नोट करके रखा करो, ये बातें उनके अगले उपन्यास के लिए कच्चा माल बनेंगी। वास्तव में उन्होंने इस सामग्री का अपने उपन्यासों में अच्छा उपयोग किया।

जहाँ तक अकादमिक मामलों का प्रश्न है, बाबा ने ही उसे पहले एम. फिल हेतु नामांकन करने का सुझाव दिया। उनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन से ही मैं यह सब आसानी से कर सखी।

वह मुझसे कहा करते थे कि तुममें अच्छा कार्य करने की पूरी क्षमता है, किंतु तुम अपनी इस क्षमता का पूरा उपभोग नहीं कर रही हो। एम. फिल पूरा करने के बाद वे मुझसे कहा करते कि जब तक तुम पी-एच. डी पूरा नहीं कर लोगी, तब तक मैं मरूँगा नहीं!

मेरे शोध कार्य को पूरा हुए एक लंबा समय बीत चुका है। अब मैं उनके एक उपन्यास का हिंदी से अंग्रेजी में अनुवाद कर रही हूँ। इसके बारे में उनका मानना है कि मैंने इस अनुवाद के लिए बहुत अधिक समय ले लिया है। बाबा इस देरी के लिए मुझ पर हँसते हुए कहते हैं कि पता नहीं उनको किस दिन अनुवाद कार्य पूरा होने का समाचार मिलेगा।

जब भी हम दोनों बहनें घर से बाहर जाती थीं, तब बाबा आभा और मेरी सुरक्षा को लेकर हमेशा बहुत चिंतित रहते! हम यदि कुछ मिनटों के लिए भी लेट हो जाते, तब वे हमें ढूँढते हुए सीधे बस अड्डे की ओर आते हुए दिखाई देते। अब मैं जब भी उनसे मिलने घाटकोपर जाया करती हूँ, वे वापसी में मुझे फोन करके इस बात का पता लगाते हैं कि मैं

सुरक्षित घर पहुँची या नहीं। आभा ने उनको अपने घर के पास रहने की कई बार सलाह दी किंतु उनका कहना था कि आप एक पौधे को तो अपनी जगह से उखाड़ कर दूसरी जगह लगा सकते हो लेकिन एक वृक्ष को नहीं। मैं जानती हूँ कि वे स्वयं से भी बहस करते हैं। वे केवल आभा से डरते हैं क्योंकि आभा ही उनके स्वास्थ्य का पल-पल ध्यान रखती है। जब वे अपने पर उतारू हो जाते हैं, तब किसी की भी नहीं सुनते।

मैंने उनके साथ आभा से अधिक समय व्यतीत किया है। वे हमेशा यह चाहते रहे कि उनकी दोनों बेटियाँ स्वावलंबी बनें। उन्हें हमारे परिवार को देखकर संतोष होता है। बाबा को इस बात की खुशी है कि मेरा बेटा अंशुल और आभा की बेटी निष्ठा दोनों अच्छा कार्य कर रहे हैं। वे इस बात को स्वीकार करते हैं कि आभा की शिष्टता, दृढ़ता और समर्पण के कारण वे लंबा जीवन जी सके और अपने जीवनकाल में बहुत कुछ कर सके।

जब मैं यह आलेख लिख रही हूँ, इस समय भी वे हृदय विकार के कारण अस्पताल के गहन चिकित्सा केंद्र (आई. सी. यू.) में भर्ती हैं। इधर पिछले कुछ महीनों से उनके अस्पताल जाने की फेरियाँ बढ़ गई है। वे हमेशा अस्पताल से जल्दी घर लौटने के लिए बड़े उत्सुक रहते हैं, ताकि घर पहुँचकर अपने नए लेखन के कुछ पन्ने लिख सकें।

उनकी लंबी उम्र का राज यह है कि उनका मस्तिष्क लगातार काम में व्यस्त रहता है। अस्तु।

जीवन-संध्या में भी प्रकाशवान

डॉ. रोहिणी शिवबालन

'२३ जुलाई २०२३ को देवेश सर जी ने अपने जीवन के ९० वसंत पूर्ण कर लिये है। जब देश में आजादी का अमृतमहोत्सव मनाया जा रहा है, हम देवेश सर जी की साहित्ययात्रा के पचहत्तर वर्ष की पूर्णता का अमृत महोत्सव मना रहे हैं। एक साधारण परिवार के पुलिस का बेटा जो विपन्नता और आर्थिक तंगी के बावजूद अपनी उच्च शिक्षा को ग्रहण करने में कोई कसर नहीं छोड़ता। अपनी लगन और मेहनत के बल पर हर असंभव को संभव कर दिखाने की उनकी जिद ही उनको महान बना देती है। यही कारण है कि उन्हें अपने अब तक के जीवन में कई पुरस्कार और सम्मान मिल चुके हैं और आगे भी मिलते रहेंगे।

'देवेश सर जी जो रुइया महाविद्यालय में कई वर्षों तक मेरे लिए ज्ञात होकर भी अज्ञात रहे क्योंकि उनसे बोलना और खुलकर बोलना मैंने बहुत देर से शुरू किया। जब मैंने देवेश जी को जानना शुरू किया तो परत दर परत एक-एक तह खुलती गई और मन में उनको लेकर जो धारणा थी, वह भी बदलती गई। आडंबर, दिखावटीपन से कोसों दूर रहने वाले, मित्रों से अपनेपन और सहज रहने वाले, जिनके भीतर स्वाभिमान और ईमानदारी कूट-कूट कर भरी है। हाँ, यदि कोई टुच्चेपन पर उतर आए और झूठ बोले तो जरा भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। मानव स्वभाव को लेकर उनकी पारखी नजर ही है, जिसके कारण जो एक बार जुड़ गया, उनसे दूर नहीं हो पाता। यही कारण है कि कॉलेज के दिनों में उनकी केबिन हमेशा मित्रों-परिचितों से भरी रहती थी। रुइया कॉलेज में तमाम धाकड़ प्रोफेसरों के बीच उनकी अलग केबिन होना लोगों को आश्चर्य में डाल देता था जो कॉलेज प्रशासन ने उनकी रचनात्मक प्रतिभा के कारण उन्हें दी थी। यह केबिन नहीं मुंबई आने वाले हर हिन्दी साहित्यकार के लिए साहित्यिक-सांस्कृतिक केंद्र था, जहाँ आए बिना उनकी मुंबई-यात्रा सफल नहीं होती थी। यही कारण है कि उनके रिटायरमेंट के बाद उनके आवास पर भी इष्टमित्रों, शोधार्थियों और साहित्यिकों का आना-जाना लगा ही रहता है। सदाशयी, संवेदनशील, स्वाभिमानी, ईमानदार एवं स्पष्टवादी देवेश सर जैसे व्यक्ति के व्यक्तित्व और उनके कृतित्व को जानने के लिए बुद्धिचातुर्य के साथ-साथ संवेदनशीलता भी अपेक्षित है।

'आज उम्र की सँध्या-बेला में भी वे अपने लेखन को अपनी दिनचर्या का हिस्सा बनाए हुए हैं। ऐसा करना आसान नहीं होता। सर जी का सुबह का पहला काम या रात का आखिरी काम लेखन ही रहा जिसमें समय को कभी आड़े नही आने दिया। अपने स्टडी रूम में बैठकर कलम उठाने और अपने लक्ष्य तक पहुँचे बिना विराम या विश्राम दोनों को वे वर्जित मानते है। यही तो उनके अब तक के रिटायर्मेंट के तीस सालों के लेखन का परिणाम है कि उनके परवर्ती रचनाओं को इतने विविधतापूर्ण तरीके से प्रस्तुत करने में सफलता मिली है। 'समीचीन' के इस अंक में हम उनकी परवर्ती रचनाओं पर चर्चा कर रहे हैं। जिसमें जंगल के जुगनू, कातर बेला, जीवा, देवता के गुनाह, संध्याछाया, स्वप्नदंश, व्यक्तिगत, मारिया, कैम्पस-कथा, ऐसा भी होता है तथा तीसरी लड़ाई जैसे उपन्यास तो शामिल है ही, उसके अलावा सन् २००० में देवेश ठाकुर

रचनावली जिसमें २०१७ तक की सभी रचनाओं का संकलन है, उसे १६ खंडों में प्रकाशित किया गया है।

'कभी-कभी ऐसा लगता है कि वे किस मिट्टी के बने हुए हैं कि जीवन में अब तक के इतने उतार-चढ़ाव, संघर्ष, प्रतिकूल परिस्थितियों और खुद तथा पत्नी के स्वास्थ्य में दिनों दिन आई गिरावट ने भी उनके मनोबल को गिरने नहीं दिया। तभी तो बड़ी बेटी आभा को कहते हैं कि 'मैं तुम्हारी गोलियों से नहीं अपने विलपॉवर से जिंदा हूँ।' बीमारी के शिकंजे में जकड़े होने के बावजूद कभी भी चेहरे पर निराशा महसूस नहीं होने देते हैं। यदि कोई व्यक्ति उन्हें पहली बार मिले तो उनकी उन परेशानियों को भाँप ही नहीं सकता। सभी से हँसकर मिलना, बातें करना, अपनापन दिखाना, इनमें उनकी पीड़ा और तकलीफ सब गायब हो जाती है।

'उनकी सफलता का मुख्य श्रेय उनकी पत्नी और बच्चों को भी जाता है। पत्नी सुशीला जो सच्ची, सहज, सुशील, संतुलित, निश्छल और परिपक्व तो थीं ही तभी तो इस लंबी यात्रा में ५५ वर्षों तक उनके साथ सभी मुश्किलों, समस्याओं और व्यवधानों को साथ मिलकर पार किया। उनकी बेटियाँ आभा और आरती जो उन्हें पिता से ज्यादा अपना मित्र समझती हैं। दोनों दामाद भी सर के साथ दोस्तों जैसा ही व्यवहार रखते हैं। नाती और नातिन जो बचपन से ही सर जी के देखरेख में ही रहे। कभी-कभी सर जी कह उठते हैं कि पहले मैंने बाप के बच्चों को पाला, फिर अपने बच्चों को पाला, उसके पश्चात अपने से सत्रह साल छोटे भाई के बच्चे पाले और अब अपने बच्चों के बच्चे पाल रहा हूँ। यहाँ सर जी का बहुमुखी व्यक्तित्व दर्शाने के लिए मैंने यह जिक्र कर दिया कि इतनी व्यवस्था के बावजूद हर काम के प्रति निष्ठावान बने रहना उनका स्वभाव ही था। बेटियों की पढ़ाई-लिखाई में कोई रुकावट न आए उन्हें आगे बढ़ने में मदद करने से कभी पीछे नहीं हटे। अगर वह चाहते तो मुंबई के बाहर भी अच्छे ऑफर उनका इंतजार कर रहे थे पर उन्होंने सभी को ठुकराकर अपने परिवार को प्रधानता दी।

'सर जी का यही मानना है कि अपने जीवन की जरूरतों को पूरा करने के लिए पैसा कमाओ पर जीवन में स्वार्थी कभी मत बनना। जिस काम को करने में सूकून मिलता है, वही काम करो। उसे अपनी जिंदगी का हिस्सा बना लो फिर देखो, आप अपनी जिंदगी के हर उतार-चढ़ाव, परेशानी, संघर्ष इन सबसे बहुत हद तक अपने को दूर रखने में सफलता पा सकते हो।

'सर जी की बातें मुझे बहुत प्रभावित करती हैं। साहित्य के प्रति मेरा रुझान तो था पर रुचि पैदा करने का श्रेय मैं देवेश सर जी को ही देना चाहूँगी। न केवल साहित्य बल्कि आज जो रोहिणी आपके सामने है, उसे स्वीकारना-नकारना, सही-गलत, नैतिक-अनैतिक, खुद के प्रति और अपनी जिम्मेदारियों के प्रति सतर्क रहना भी मुझे सर ने ही सिखलाया है।

'हमने देखा है रिटायर्मेंट के बाद सभी अपने सभी कार्यों से मुक्त होकर निश्चिंत होकर जीना चाहते हैं, ऐसे वक्त में देवेश सर की तल्लीन होकर लिखने की जिद बढ़ती गई। उन्हें हार्ट की तकलीफ तो पहले से थी ही, १९९३ में रिटायर्मेंट के बाद दो-तीन साल के भीतर ही बायपास सर्जरी हुई। तत्पश्चात पत्नी की बिगड़ती अवस्था फिर भी

लिखने में कोई कोताही नहीं बरती। पत्नी का पार्किंसन जैसी त्रासद बीमारी से जूझना और ऐसे समय में लगातार लगभग 13 वर्षों तक चौबीसों घंटे उनकी सेवा और देखभाल में लगे रहना देवेश सर जैसे जीवट वाले व्यक्ति के द्वारा ही संभव था। इन कठिन दिनों में सर ने मुंबई का सार्वजनिक जीवन ही जैसे बेझिझक छोड़ दिया था। अपने रोजमर्रा के काम, पत्नी की देखभाल और दवाईयों के साथ-साथ अपना लेखन कार्य जारी रखा। रिटायर्ड होने के पहले उन्हें यू.जी.सी का एक प्रोजेक्ट मिला था। जुलाई १९९३ में रिटायर होते ही अगस्त १९९३ से इस प्रोजेक्ट पर काम शुरू कर दिया। वे चाहते तो कुछ पन्नों में समेटकर औरों की तरह पैसे ले सकते थे पर उन्होंने अपने स्वभानुसार रिसर्च का डेटा लाने के बाद ही अपनी वह किताब लिखी। प्रोजेक्ट को पूरा करने में सर ने डॉ. सतीश पांडेय की सहायता ली और लगभग १४५० पृष्ठों के इस बृहद-शोध ग्रंथ- 'हिंदी का साहित्येतिहासः अंतरानुशासनों का अनुशीलन' को २००० में यू.जी.सी को सब्मिट कर दिया। इसी बीच प्रसिद्ध फिल्म डायरेक्टर श्री भीमसेन जी के साथ आजादी की आधी सदी पर एक सीरियल लिखने का अनुबंध हुआ। उनके मित्र यती जिंदल उस सीरियल के प्रोड्यूसर थे। लगभग बीस एपिसोड्स ८०० पृष्ठों में लिखने के बाद सीरियल के टेलीकास्ट पर रोक लगा दी गई तो यती जी के कहने पर उसी सामग्री पर आधारित एक किताब ही लिख डाली। जो दोनों के नामों से तीन भागों में छपी- 'आजादी की आधी सदी और आम आदमी' समीक्षकों द्वारा इसे बहुत सराहा गया। उन्होंन 'बुद्ध गाथा' लिखी जिसमें मौलिकता का दावा न करते हुए बुद्ध के उपदेशों को जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास बड़ा सराहनीय है। आम्रपाली सीरियल भी फाइनेंस न मिलने की वजह से पूरी नहीं हुई तो उस पर भी पुस्तक लिख डाली।

'यहाँ पर एक साहित्यकार के अलावा देवेश सर के जीवन के विशिष्ट पहलुओं से भी आपको रूबरू कराना चाहती हूँ। शायद मेरी ये बातें आपमें से किसी के लिए महत्वपूर्ण हों और आप भी इसे अपनी जिंदगी में उतार सको क्योंकि सर जी की एक-एक छोटी लगने वाली बातें भी बड़ी शिक्षाप्रद होती हैं। जैसे वे कहते है कि- 'मैं अपने विचारों पर हर समय काम करता रहता हूँ और अपने विचारों के प्रति सचेत रहता हूँ'। वह हमेशा समाज के हर वर्ग की अच्छाई-बुराई दर्शाते हैं जिससे समाज के नवनिर्माण में सहायता मिल सके। उनकी विचारधारा के जितने समर्थक हैं, उतने ही विरोधी भी हैं। उन विरोधियों का प्रभाव वे अपने लेखन पर नहीं होने देते तभी तो अपनी आत्मकथा 'मैं यों जिया' के एक प्रसंग में उन्होंने कहा है- 'मैं आभारी हूँ शिक्षा क्षेत्र के अपने उन विरोधियों का जिनकी दुर्भावना, विद्वेष और संकीर्ण मानसिकता की प्रतिक्रिया ने मुझमें एक प्रकार की सकारात्मक जिद पैदा की और मैं और भी आक्रामकता और दृढ़ता के साथ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर हुआ।'

'आज के दौर में जो नकारात्मकता, हताशा और डिप्रेशन का चलन बढ़ता जा रहा है। ऐसे लोगों के लिए उक्त कथन रामबाण इलाज का काम कर सकते हैं। जो गोताखोर उसकी तह तक पहुँचेगा, वही उसके मर्म को समझने में सफल हो सकता है। हमें सिर्फ समझना नहीं बल्कि अपनी बात सिद्ध करना भी आना चाहिए तभी आज के दौर में आगे बढ़ सकते हैं। इसी संदर्भ में सर जी कदम-कदम पर नीचा दिखाने वालों को बातों-बातों

में उनकी असलियत बता हीं देते थे। 'मैं यो जिया' के भाग दो का एक प्रसंग है जब देवेश जी को प्रभात ने कहा- 'देवेश, तुम्हें विद्वानों के विषय में ऐसी बात नहीं कहनी चाहिए। अभी तुम बच्चे हो।' इस पर देवेश जी तपाक से बोल उठे- प्रभात जी, अगर मैं बच्चा हूँ तो आप तो अभी पैदा भी नहीं हुए।'

'कुल मिलाकर इन प्रसंगों का जिक्र मैंने इसलिए किया की हम जिंदगी में संघर्ष से जी चुराते है, परिस्थितियों के आगे घुटने टेकते हैं, पर उम्र के इस मोड़ पर पहुँचकर भी जो न थका, न हारा, सतत चलता रहा, क्रियाशील बना रहा उसका जीवन ही सार्थक होता है। देवेश सर ने हमेशा जीवन में वही राह सही मानी है, जहाँ हर कदम पर रुकावटें, बाधाएँ, परेशानियों का सामना होता रहे। जीवन तो वहीं है, जहाँ हर रंग मौसम के साथ देखने को मिलता है।

'इसीलिए उनके लिए यह कहना उचित लगता है जीवन संध्या में भी प्रकाशवान। देवेश सर जी को ऐसा कहने का एकमात्र कारण यही है कि आज इस मोड़ पर भी समाज के हर वर्ग से तालमेल बिठाकर, अपने जीवन के अनुभवों को साहित्य द्वारा परोसकर हम सभी का मार्गदर्शन कर रहे हैं। आज इस अवस्था में पहुँचकर भी जो आशावादी दृष्टिकोण कायम रखा है, उसी का परिणाम है कि वे आज भी हर पहलू का आनंद लेते हुए अपनी जिंदगी को बोझ न बनाकर नया खोज करने, नई प्रेरणा लेने और साहित्य द्वारा नया आकार देने में लगे रहते हैं। यही हैं वे बातें जो उनमें हर पल नई उर्जा का संचार करती रही हैं और जिसके बल पर वे जीवन संध्या में भी प्रकाशवान बने हुए हैं।

डॉ. देवेश ठाकुर -एक सतत ऊर्जस्वी व्यक्तित्व

- विजय कुमार

बीतते हुए समय की तीव्र धारा में अपने प्राध्यापक देवेश ठाकुर जी की ओर देखना मुझे एक रोमांच से भर देता है। उनके बारे में कोई चर्चा मेरे लिए अपने समय, चुनौतियों, विकास क्रम और शहर के बौद्धिक परिवेश की मीमांसा से भी जुड़ी हुई है। उनसे पहली बार जब प्रत्यक्ष परिचय हुआ था तो मैं एक अन्य कॉलेज में स्नातक कक्षा का छात्र था और वह मेरे लिये इस शहर के साहित्यिक वातावरण को जानने समझने का एकदम शुरूआती समय था। यह 60 के दशक के अंतिम वर्ष थे। अपनी के शौर्यावस्था से बाहर निकलते हुए कदम। देवेश ठाकुर रुइया कॉलेज में हिंदी विभाग में प्राध्यापक थे। लेकिन सच बात तो यह है कि उनके लेखन से मैं बच्चों की पत्रिका 'पराग' के माध्यम से अपने स्कूली दिनों से ही परिचित था और उनके प्रति मन में एक विस्मय से भरा हुआ आदर भाव था। तब 'पराग' में उनका लिखा हुआ नियमित प्रकाशित होता रहता था।

यद्यपि मैं रुइया कॉलेज का उनका विद्यार्थी नहीं था और न ही कभी सीधे उनके निकट संपर्क में आया था पर तब भी इस बात की स्पष्ट प्रतीति होती थी कि मुंबई विश्वविद्यालय के तमाम हिंदी प्राध्यापकों में उनका व्यक्तित्व सबसे अलग था। वे एक आधुनिक बौद्धिक कलाकार की तरह से दिखाई देते थे। यह मुझ जैसे एक अधकचरे छात्र के मन में भी उनके प्रति एक कौतूहल और जिज्ञासा का भाव जगाता था। देवेश जी का सुदर्शन व्यक्तित्व, लंबी कद काठी, गौर वर्ण, कलाकारों का सा संवेदनशील चेहरा, एक नफीस अंदाज, दूर देखती हुई खोयी खोयी सी आँखें, माथे पर बेपरवाही के साथ छितर आये केश, हल्की सी दाढ़ी, हेंडलूम की टी- शर्ट या आधी बाँह वाला कुर्ता- यहाँ हिन्दी प्राध्यापकों की भीड़ में उनकी एक अलग ही पहचान निर्मित करता था। उन्हें देखकर जो सबसे पहला भाव मन में जगता था कि उनके व्यक्तित्व में एक खास तरह का रोमान, बागी तेवर, दुनिया के प्रति बेपरवाही, कोई मूलभूत आत्मविश्वास, तुर्शी और दो टूक अंदाज था। वह अन्य प्राध्यापकों से इन अर्थों में भी अलग थे। वे प्राध्यापक के होने के साथ-साथ अपने समय की सृजनात्मकता में गहरे डूबे हुए एक लेखक भी थे। यूँ आवश्यक नहीं कि साहित्य पढ़ाने वाला हर प्राध्यापक स्वयं भी सर्जक हो, लेकिन हमें यह अनुभव जरूर होता था कि यहाँ कॉलेजों के हिन्दी विभागों के अधिकांश प्राध्यापकों की साहित्य के समकालीन सृजनात्मक परिदृश्य में कोई रुचि नहीं थी और वे अपनी विशुद्ध अकादमिक दुनिया की घेरेबंदी में संतुष्ट थे। कई बार तो एक प्रकार की अहमन्यता से पगे हुए,वाचाल और सिनिकल किस्म के प्राध्यापकों से भी हमारा सामना होता था। देवेश ठाकुर का व्यक्तित्व हमें इसलिये भी बहुत आकर्षक लगता था कि उनके बारे में चर्चा सुनते थे कि वे बहुत निष्कपट और सरल व्यक्ति हैं लेकिन किसी के अनावश्यक अहंकार या वर्चस्व को ध्वस्त कर देने में देर नहीं लगाते। मुझ जैसे एक नये विद्यार्थी को यूनिवर्सिटी में स्नातकोत्तर कक्षा तक आते आते हिंदी प्राध्यापकों की आपसी खेमेबाजी और खींचा- तानी को देखने के कई प्रत्यक्ष अनुभव हो चुके थे' अच्छा लगता था कि इस सब से दूर देवेश जी की अपनी एक सृजनात्मक दुनिया थी और वे उसमें पूरी तरह से रमे हुए थे।'

70 के दशक में कमलेश्वर ने 'सारिका' पत्रिका में जब समांतर कथा आंदोलन आरंभ किया तो देवेश जी भी उससे जुड़े और जितेंद्र भाटिया, कामतानाथ, सुदीप आदि उभरते हुए कथाकारों के एक निकट दायरे में उनकी खूब सक्रियता रही 'उनके लेख और आलोचनाएँ पढ़ने को मिलती रहती थीं। देवेश जी के व्यक्तित्व पर बात करते हुए 70 के दशक के साहित्यिक माहौल पर एक नजर डालनी जरूरी है। यह उल्लेखनीय है कि देशभर में अलग-अलग जगह से साहित्यिक लघु पत्रिकाएँ निकल रही थीं। नेहरु युग की मोहक छवियों से मोहभंग और व्यवस्था - विरोध का एक नया आक्रोश भरा माहौल था। साहित्य में इस स्थिति ने 'अज्ञेय युग' और 'भारती युग' से बाहर निकलने के विद्रोही युवा तेवर को जन्म दिया था। मुक्तिबोध से लेकर धूमिल तक की प्रासंगिकता पर हो रही तमाम चर्चाओं का यह एक नया समय था। उभरते हुए लेखकों के बीच यह नयी विकसित होती 'युवा स्पिरिट' बहुत महत्वपूर्ण थी। हमें युनिवर्सिटी में वात्स्यायन जी के प्रति भक्ति -भाव और श्रद्धा रस में डूबे हुए अनेक प्राध्यापक मिले थे पर भीतर कहीं एक गहरी अशांति, उधेड़बुन और प्रश्नाकुलता का जन्म हो चुका था। ऐसे परिदृश्य में देवेश जी हमें अधिक प्रभावित करते थे।

यह वह समय था जब महत्वपूर्ण समकालीन साहित्य पूँजीवादी घरानों से निकल रही व्यावसायिक पत्रिकाओं के दायरे से बाहर छप रहा था। लघु पत्रिकाओं ने एक विद्रोही वातावरण रचा था। राजनीति, समाजशास्त्र, संस्कृति, पत्रकारिता, कविता, कहानी, उपन्यास सभी क्षेत्रों में स्थापित मूल्यों के प्रति एक बगावत और कई बार एक अराजकता की हद तक पहुँचा हुआ तीखा माहौल था। इस विद्रोही माहौल की जड़ें एक स्तर पर अकविता और अकहानी के आंदोलन से जुड़ रही थीं तो दूसरे स्तर पर हमारे मुंबई शहर में मराठी दलित आंदोलन से जुड़े हुए अनेक नये कवि और कथाकार उभर रहे थे। थिएटर, रंगमंच, सिनेमा, कला के क्षेत्रों में भी बहुत सारे बागी तेवर दिखायी पड़ रहे थे। वामपंथी विचारधारा से जुड़े नुक्कड़ नाटक और प्रयोगशील रंगमंच का जन्म हो चुका था। ऐसे माहौल में हिंदी साहित्य में युवा चेतना का इस व्यवस्था विरोधी वामपंथी चेतना से अलग-थलग रहना नामुमकिन था। उन दिनों यहाँ के हिन्दी प्रोफेसरों में जगदंबा प्रसाद दीक्षित और देवेश ठाकुर दो ऐसे प्राध्यापक थे जो अकादमिक जगत की सीमित घेराबंदी को तोड़ते हुए वामपंथी चेतना से जुडते थे और समकालीन लेखन और विमर्श के माहौल में खूब सक्रिय थे। और साथ ही अपने बहुत सारे युवा साथियों में भी एक नई चेतना के बीज अंकुरित कर रहे थे।

यह एक बड़ा संयोग ही कहा जायेगा कि साठ के दशक के बीतने और 70 के दशक की शुरूआत के उन वर्षों में जगदंबा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास 'कटा हुआ आसमान 'और देवेश ठाकुर का उपन्यास 'भ्रम भंग' थोडे से अंतराल के साथ ही प्रकाशित हुए और खूब चर्चा में थे। देश भर में इन उपन्यासों ने साहित्य में नयी बहसों को जन्म दिया था। महानगरीय जीवन के लेखन को एक नयी रोशनी में देखा जा रहा था। देवेश ठाकुर और जगदंबा प्रसाद दीक्षित के उपन्यासों में एक चीज सामान्य थी कि दोनों ही उपन्यासों में कथा नरैटिव को चेतना प्रवाही शैली (strem of cofsciousfess) की शैली में बुना गया था। हिन्दी में यह एकदम नयी वृतांत शैली थी जिसमें पात्र का

संसार उसकी गतिविधियों और उसके भीतर चल रही सोच -प्रक्रिया के एक अबाधित प्रवाह से रूपायित होता था। एक वास्तविक दुनिया का पल -पल घटता हुआ दृश्य -फलक विचार, संकल्पनाओं, क्रिया - प्रतिक्रियाओं, आन्तरिक एकालाप और अनुभव कथन के 'फ्री एसोसिएशन' में खुलता हुआ कथानक। मनुष्य के भीतर और बाहर के संसार की हलचलों का यह चित्र एक बड़े शहर में जीते मनुष्य के अस्तित्व की कुछ बुनियादी समस्याओं का वस्तु -जगत रचता था। सच कहा जाये कि जगदम्बा प्रसाद दीक्षित और देवेश ठाकुर की इन रचनाओं को पढकर ही हमारे मन में जेम्स जॉयस के 'यूलिसिस', मार्शल प्रूस्त के 'रिमेंबरेंस ऑफ थिंग्स पास्ट' या वर्जीनिया वुल्फ के 'मिसेस डालोवे' और 'टू द लाइट हाउस' जैसे 20 वीं सदी के प्राम्भिक दशकों के उन बहुचर्चित उपन्यासों के आख्यानों को जानने की रुचि बढ़ी और हम यह समझ सके कि इस चेतना प्रवाही शैली के द्वारा एक औपन्यासिक कृति के भीतर वातावरण और मस्तिष्क की विखंडित और प्रभाववादी प्रतिक्रियाओं का परिवेश इस तरह से भी अंकित हो सकता है।

यहाँ यह कहना जरूरी है कि बागी युवा तेवर का यह अंदाज सिर्फ साहित्य में किसी अमूर्त स्थिति को ही नहीं रचता था, मुंबई जैसे शहर में देवेश ठाकुर का बागी और गहरे आत्मविश्वास से भरा यह व्यक्तित्व व्यवस्था के 'आइकॉन' समझे जाने वाले अनेक साहित्यिक सत्ता-पुरुषों के वर्चस्व को भी ललकार रहा था। और कई बार उन्हें सीधे-सीधे चुनौती देता भी मिलता था, जबकि उस वर्चस्व से उलझने की बात यहाँ दूसरे लोग सोच भी नहीं सकते थे। ऐसा इसलिये कि अधिकांश के अपने छोटे- बडे स्वार्थ उन्हें भीगी बिल्ली सा बनाये रखते या उनके भीतर वह वैचारिक सामर्थ्य, बौद्धिक तैयारी और चुनौती देने की आग ही नहीं थी कि वे साहित्य के ' मठाधीशों पर सवाल उठाते। यह बहुत महत्वपूर्ण बात थी कि देवेश ठाकुर की यहाँ बंबई में साहित्य जगत के इन 'सत्ता - पुरुषों' से कभी नहीं बनी फिर चाहे वह वर्चस्व किसी बड़े प्रकाशन भवन से वाली लोकप्रिय पत्रिका के रोबदार, ताबदार, अधिनायक का सा आचरण करते किसी बहुचर्चित संपादक का हो या विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग के किसी चतुर सुजान अध्यक्ष का। दोनों जगह पर देवेश ठाकुर कभी किसी 'गुरुडम' के आगे नहीं झुके और दोनों ही जगह उन्होंने स्थापित व्यवस्था के सामने खड़े होने के अपने विद्रोही स्वभाव और नैतिक साहस को दशार्या था। यही नहीं, बंबई से बाहर भी उन्होंने कभी किसी नामवर सिंह, किसी साहित्य अकादमी, या किसी बडे प्रकाशक के निकट जाना पसंद नहीं किया। साहित्यिक मठों और सत्ता - पुरुषों के निकट न जाने के पीछे शायद उनके जीवन का एक लंबा और अनवरत संघर्ष और उससे मिली चेतना रही होगी जिसने उन्हें जीने का एक जरूरी आत्मविश्वास दिया होगा। इन अर्थों में देवेश ठाकुर हमारे इस शहर में अपनी तरह के अकेले उदाहरण रहे और जब भी मुंबई शहर के साहित्यिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का इतिहास लिखा जाएगा हमेशा यह बात उल्लेखनीय रहेगी कि देवेश ठाकुर विवादास्पद होने, किसी शक्ति-तंत्र का कोप भाजन बनने या उपहास का पात्र बनने से कभी विचलित नहीं हुए। उनकी अपने काम और अपने दृष्टिकोण के प्रति एक आधारभूत निष्ठा बनी रही है।

एक प्रसंग याद आता है कि 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' पत्रिका में जब अलग-अलग शहरों की साहित्य की स्थिति पर 'सन्नाटा शहर में या साहित्य में' शीर्षक के अन्तर्गत एक श्रृंखला चल रही थी तो देवेश ठाकुर जी ने बंबई शहर की साहित्य की स्थितियों पर यहाँ के कवि महेंद्र कार्तिकेय से बात करते हुए बड़े बेलाग लहजे में अपनी बात कही थी और डॉ. धर्मवीर भारती और डॉ. सी. एल . प्रभात के बारे में अपना वक्तव्य बड़े दो टूक शब्दों में रखा था। संस्थानी- संस्कृति वाले इन दोनों 'दिव्य पुरुषों' के व्यक्तित्वों के प्रशंसक और किसी हद तक उनके दरबारी रहे महेंद्र कार्तिकेय को वह बातचीत छापने में खासी असुविधा हुई थी। आज पीछे मुड़कर देखने पर यह बात बहुत उल्लेखनीय लगती है कि देवेश ठाकुर से किसी की कुछ मुद्दों पर किंचित असहमति भी रही हो पर उनके इस निर्भीक, खरे खरे अंदाज और 'एकला चलो रे' वाले स्वर को सभी ने अनुभव किया था। यह जीवन का कोई बुनियादी पाठ देने वाला एक विलक्षण अनुभव था।

कहानी, उपन्यास, आलोचना, निबंध, संपादन, किशोर साहित्य लेखन, समाज और राजनीति चिंतन,जीवनी लेखन सभी क्षेत्रों में देवेश ठाकुर जी एक अदम्य ऊर्जा, रचनात्मक दृष्टि और सतत कर्मठता से भरे रहे हैं। इतनी विपुल मात्रा में लेखन जिजीविषा का अपने आप में एक उदाहरण है और यह उनका अपनी रचनात्मकता के प्रति गहरी निष्ठा के साथ ही संभव हो सकता था। उनके विरोधियों ने भी उनकी इस प्रतिभा को स्वीकार किया है। 70 के दशक में 'भ्रम भंग' जैसा उपन्यास अपनी अभिनव कथावस्तु, चरित्र चित्रण, नैरेटिव और भाषिक रचनात्मकता में एक प्रयोगात्मकता को लेकर आया तो 'कांच घर' उपन्यास भी में उन्होंने जिस तरह से संवाद शैली में समूची कथा को विन्यस्त किया वह एक नई चीज थी। 'गुरुकुल' उपन्यास में शिक्षा जगत के भ्रष्ट वातावरण की बखिया उधेडी गयी थी तो ' देवता के गुनाह' उपन्यास सफल, प्रख्यात और चर्चित माने जाने शिखर व्यक्तित्व के भीतर के गहन अन्तर्विरोधों की एक निर्मम पड़ताल थी। 'प्रिय शबनम', 'अपना अपना आकाश', 'शून्य से शिखर तक', 'जंगल के जुगनू' संध्या- छाया जैसी तमाम कृतियों में देवेश जी की इस रचनात्मक ऊर्जा और प्रयोगात्मकता को देखा जाता सकता है।

सतत प्रतिपक्ष में रहना आसान नहीं। वह हमेशा एक चुनौती भरा कार्य है। धारा के विरुद्ध बहने में न केवल साहस की बल्कि अपने समय को देखने की अंतर्दृष्टि की भी बुनियादी जरूरत होती है। देवेश जी की आलोचना कृतियाँ 'नई कविता के सात अध्याय ', 'नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया', 'हिंदी कहानी का विकास' और 'साहित्य की सामाजिक भूमिका 'जैसी पुस्तकें उनके गहन आलोचनात्मक विवेक और पैनी विश्लेषणात्मक दृष्टि को दर्शाती हैं। इनमें उनके साहस,मौलिकता और वर्चस्व को चुनौती देने की उस ऊर्जा को देखा जा सकता है जिसका जिक्र पहले किया गया है।

अपनी संघर्ष-यात्रा और जीवन विकास के विभिन्न सोपानों की कथा को भी देवेश जी ने बड़े रोचक ढंग से लिखा है। उनके संघर्ष- कथा उनके अपराजेय और जिजीविषा से भरे व्यक्तित्व और प्रेम व राग से भरे स्वाभिमानी जीवन की महत्वपूर्ण दास्तान को कहती है। यह एक बहुआयामी व्यक्तित्व की अंतर कथा है। मुझे यह कहने में कोई अतरंजना नहीं लगती कि देवेश जी का व्यक्तित्व आने वाली पीढियों के बीच भी

हमेशा अपने एक विशेष आभामंडल के साथ चर्चाओं में बना रहेगा क्योंकि उनकी ये उपलब्धियाँ किसी संस्थान, किसी समूह, किसी पद, किसी यश -सम्मान, किसी ठकुर सुहाती, किसी साहित्यिक खेमेबाजी पर आधारित नहीं रही हैं। उन्होंने एक भरपूर जीवन अपनी शर्तों पर जिया है और शब्द की सतत साधना की है। साहित्य की दुनिया में अपनी सफलताओं के लिए वे कभी किसी के मोहताज नहीं रहे और उनका यह 'एकला चलो रे' वाला अंदाज हमेशा प्रासंगिक बना रहेगा। उनमें अपने ढंग से जीने का ताव है और वहाँ अपनी बुनियादी प्रतिबद्धताओं के साथ कभी कोई समझौता नहीं किया गया है। यह कहना जरूरी है कि पूँजी और संस्थानी- संस्कृति के आज के समय में जब लोग अपनी छोटी-मोटी सफलताओं, पुरस्कार, मान - सम्मान के लिए तमाम तरह के कलाबाजियाँ करते दिखाई देते हैं, देवेश ठाकुर जैसे व्यक्तित्व की ओर देखना बहुत महत्वपूर्ण लगता है। वे रूढ़ हो चुके मानकों और संरचनाओं से टकराते रहे हैं और उस गहन जीवन आस्था को देखा जाना चाहिये। आज अपनी जीवन -संध्या में कुछ गंभीर स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं और बाधाओं के बावजूद देवेश जी जिस प्रकार से सतत ऊर्जा और सक्रियता से भरे हुए हैं, उनकी यह सकारात्मक सचमुच चकित करती है। इन पंक्तियों को लिखते हुए मैं देवेश जी के अच्छे स्वास्थ्य और उनके शतायु होने के लिए अपनी शुभकामनाएँ व्यक्त करता हूँ। उनकी ओर देखना यानी मनुष्य के भीतर निहित रचनात्मकता की अदम्य ऊर्जा को समझना है।

देवेश चाचाजी : सजग रचनाकार ही नहीं बेहतर इंसान भी

- डॉ. आशा नैथानी दायमा

देवेश चाचाजी। नहीं बता सकती पहली बार उनसे कब मिली क्योंकि जब से होश सँभाला है, घर-परिवार को जाना पहचाना है, देवेश चाचाजी उसके अभिन्न अंग रहे हैं। मेरे पिताजी, डॉ. शशिशेखर नैथानी सन् १९४९-५० में मुंबई आए, संत जेवियर कॉलेज में हिंदी विभाग की स्थापना की। उस समय केवल विल्सन कॉलेज और रुइया कॉलेज में ही हिंदी विभाग मौजूद थे। देवेश चाचाजी १९५५ में मुंबई आए (माँ बतलाती है) और उसी समय से यानी मेरे जन्म के भी पहले से हमारे घर आते-जाते रहे। पिताजी के लिए तो उनका संबोधन सामान्य तौर पर नैथानी जी ही होता था, कभी बहुत अंतरंग बातचीत में जरूर 'भाई साहब' बोल देते थे लेकिन माँ को हमेशा 'भाभी' ही कहते रहे और आज भी बड़े प्यार और सम्मान से 'भाभी' ही कहते हैं।

बचपन के बहुत से दृश्य आँखों के आगे चलचित्र की तरह गुजर रहे हैं। देवेश चाचाजी, दादीजी और मंजू बुआजी का घर आना। बैठक में बड़े लोगों की बातें, ठहाके (हम बच्चों को उस कमरे में एंट्री नहीं मिलती थी)। फिर कुछ सालों बाद शीला चाचीजी आईं। हम लोगों को आभा और आरती दो छोटी बहनें मिल गईं। दादी जी, शैलेश चाचाजी, (राकेशचाचाजी से बहुत कम ही मिली हूँ) मंजू बुआजी, शीला चाचीजी, आभा, आरती, दिन भर की धमा-चौकड़ी, यानी एक अलग ही आनंद की अनुभूति।

कुछ बड़े होने पर सुना कि लोगों ने देवेश चाचाजी की शादी के कितने चटखारे लेकर किस्से बनाए थे, यहाँ के तथाकथित बुद्धिजीवी शीला चाचीजी को कितना असहज कर देते थे, कितना उल्टा-सीधा बोलते थे। उस समय तो कुछ खास समझ में नहीं आता था। फिर दादीजी, शैलेश चाचाजी, मंजू बुआजी का हमारे घर आना बंद हो गया। कभी-कभी रविवार के दिन शीला चाची जरूर आभा-आरती के साथ आया करती थीं। शीला चाचीजी की आवाज, बोलने का लहजा, आँखों तक फैल जानेवाली मुस्कुराहट मुझे बहुत अच्छी तरह से याद है। देवेश चाचाजी का संबल, सही अर्थों में जीवन संगिनी, ज़िदगी की ताकत - शीला चाची जी थी।

मलबार हिल स्थित हमारा घर शहर के सारे हिन्दी प्रोफेसर्स का केंद्र हुआ करता था। हमारे लिए कोई ताऊजी थे तो कोई चाचाजी। डॉ. स्वामीनाथन, डॉ. जैन, डॉ. रामसकल शर्मा,डॉ. पंडा, डॉ. भ्रमर, डॉ. पारसनाथ मिश्र, डॉ. प्रभात, डॉ. नंदलाल पाठक, डॉ. शिवसहाय पाठक, डॉ. हनुमंत नायडू, डॉ. बांदिवडेकर, डॉ. राममनोहर त्रिपाठी, डॉ. गोदरे, प्रो. अनंतराम त्रिपाठी, डॉ. सुशीला गुप्ता कितने नाम गिनवाऊँ। आज इस लेख को पढ़ने वाले पाठकों को तो इनमें से ज्यादातर लोगों के नाम भी पता नहीं होंगे। लगभग हर शाम प्रोफेसरों, लेखकों-कवियों या फिर गढ़वाल-कुमाऊँ से आए विद्वतजनों और पहाड़ी कलाकारों, रिश्तेदारों से हमारी बैठक गुलजार रहती थी।

देवेश चाचाजी जैसा पारिवारिक संबंध अन्य लोगों के साथ कम ही था। मुंबई

विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग प्रारंभ करने की गहमागहमी चल रही थी। आज सोचकर चेहरे पर मुस्कान आ जाती है। तब बड़ा अजीब लगता था। ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर प्रोफेसर, उत्तर-भारतीय, मैदानी और पहाड़ी प्रोफेसर, सीधे-सरल चलने वाले और तिकड़मी प्रोफेसर, दूसरों के कंधे पर बंदूक रखकर चलाने वाले प्रोफेसर, अपने जूनियर्स को अपना गुलाम समझने वाले प्रोफेसर, क्या सर्कस चला करता था। नए विभागाध्यक्ष के लिए पिताजी और प्रभात चाचाजी का नाम था, वोट दिए जाने थे, सबका कहना था नैथानी जी ही जीतेंगे लेकिन आखिरी दिन डॉ. भ्रमर को खड़ा कर दिया गया। वोट बँट गए। प्रभात चाचाजी ने खूब चालें चलीं और जीत गए। उस समय पहली बार देवेश चाचाजी एक अलग अवतार में नजर आए।

धीरे-धीरे पता चला हमारे ये देवेश चाचाजी बड़े बेखौफ, बेधड़क, बेहिचक, बोलने वाले, किसी की न सुनने वाले, खूब पढ़ने-लिखने वाले, खूब मेहनत करने वाले, खूब जहीन, विद्वान, इंसान हैं। बचपन में मैंने चाचाजी की लिखी एक किताब (बच्चों के लिए) भी पढ़ी है। फिर एक दिन पता चला चाचाजी का पहला उपन्यास 'भ्रमभंग' छपकर आया है। चाचाजी खुद उसकी प्रति पिताजी को देने आए थे। माँ-पिताजी ने उपन्यास पढ़ा लेकिन उस समय मुझे नहीं पढ़ने दिया।

विश्वविद्यालय में वही गहमा-गहमी, कानाफूसी, आलोचना, प्रत्यालोचना। देवेश चाचाजी भी पिताजी की तरह हिंदी के प्रोफेसर्स की गंदी राजनीति से दूर हो गए। लेकिन पिताजी और चाचाजी के स्वभाव में बहुत बड़ा फर्क था। पिताजी ईमानदारी से पढ़ते-पढ़ाते रहे, किसी से कोई लेना-देना नहीं। लेकिन चाचाजी ने रुइया कॉलेज में अपना एक साम्राज्य बना लिया था। वे गलत को गलत कहने में कभी हिचकिचाए नहीं। इसलिए दुश्मनों की फौज बढ़ती चली गई। ईर्ष्या करने वालों की कतार लंबी होती चली गई।

अपने कॉलेज के दिनों में मैं पिताजी के साथ रुइया कॉलेज में होने वाले सेमिनार में जाने लगी थी। अगर मुझे सही याद है तो रुइया कॉलेज पहला कॉलेज था, जहाँ हर साल हिन्दी सेमिनार का आयोजन होता था। लोग अभिपत्र पढ़ते थे। पूरी तैयारी के साथ आते थे। हर परचे के बाद इतनी बहस होती थी कि कभी-कभी डर भी लगता था। मैंने देखा है, जितनी बड़ी बहस उतनी बड़ी मुस्कुराहट चाचाजी के चेहरे पर। कभी-कभी लगता था कि वे जानबूझकर अपने आसपास अपने प्रति लोगों को उकसाते हैं और जब लोग भिड़ जाएँ तो खुश हो जाते हैं।

प्राध्यापकों की घटिया राजनीति और सोच ने देवेश चाचाजी को कभी मुंबई विश्वविद्यालय का हिन्दी विभागाध्यक्ष नहीं बनने दिया। मुझे अच्छी तरह याद है, चाचाजी ने मुंबई विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष की पोस्ट के लिए अप्लाई किया था। उन दिनों पिताजी से खूब संपर्क में थे लेकिन फिर वही ढाक के तीन पात। देवेश चाचाजी की सारी योग्यताएँ (साहित्यिक क्षेत्र में जिनता रचनात्मक काम देवेश चाचाजी का है, उतना आपको शायद ही अन्यत्र कहीं मिलेगा) धरी की धरी रह गईं और घटिया जातिवाद और राजनीति जीत गई।

मैंने एम. ए. कर लिया था पीएच.डी. करना चाहती थी। पिताजी से कहा तो उनका पहला प्रश्न था- विषय क्या सोच रही हो? मैंने कहा आठवें दशक के उपन्यासों पर काम

करना है, जिन पर अभी किसी ने कुछ लिखा नहीं है। नहीं चाहती थी कि दस किताबों को पढ़कर ग्यारहवीं किताब लिखूँ और डॉक्टरेट हासिल कर लूँ। उपन्यास सुनते ही पिताजी ने कहा 'एक दिन देवेश के पास चलते हैं।' और यहाँ से फिर एक नए देवेश चाचाजी से मेरा परिचय हुआ। इस बार 'भ्रमभंग' उपन्यास पढ़ा तो पता चला डॉ. देवेश ठाकुर उर्फ.चंदन किस जीवट का इंसान है। क्यों दादीजी बुआजी का हमारे घर आना बंद हुआ था, मुंबई के दकियानूसी 'बुद्धिजीवी' कौन-कौन थे, कितनी ओछी हरकतें किया करते थे। अकेले अपने दमखम पर खड़े होने वाला यह देवेश ठाकुर 'हीरो' लगा मुझे। बादाम के आकार की आँखें, काले फ्रेमवाला चष्मा, वह विशेष आकार की नाक, खिचड़ी बेतरतीब बाल, अपने साइज से बड़े साइज का आगे दो जेबवाला शर्ट, ढीली-ढाली पतलून, पैरों में फीतों वाले चप्पल, कंधे पर लटकता एक बड़ा-सा चमड़े का बैग। ये हीरो जहाँ खड़ा हो जाए और धारा प्रवाह बोलने लगे मजाल है कि कोई और कुछ बोल सके, किसी और की तरफ देख सके। इस देवेश ठाकुर का रचना संसार बृहद है। कहानी, उपन्यास, समीक्षा, शोध, आत्मकथा- लेखन का कैनवास विशाल है। इस देवेश ठाकुर का बचपन, किशोरावस्था, यौवन केवल और केवल संघर्षों में बीता, पारिवारिक रिश्ते बिखर गए लेकिन देवेश ठाकुर अपनी पत्नी और दोनों बेटियों के साथ पूरे दमखम के साथ खड़े रहे। कुछ यों जी रहे हैं कि आज भी लोग उनसे रश्क करते हैं। ३४-३५ साल की उम्र में हार्ट अटैक, लेकिन थमने के बजाय देवेश ठाकुर और निखर कर सामने आये। आभा डॉक्टर, आरती प्राध्यापिका, अपनी दोनों बेटियों और दामादों के दोस्त। फिर सुना शीला चाचीजी को पार्किन्सन हो गया है और देवेश ठाकुर मुंबई के सामाजिक परिदृश्य से लुप्त-से हो गए।

अपने इस देवेश चाचाजी पर बड़ा गर्व होता है।जीवन के दस से अधिक वर्ष केवल शीला चाचीजी की तीमारदारी और लेखन में गुजार दिए। सन् २०१६ में शीला चाचाजी अपनी अगली यात्रा के लिए निकल गईं। दोनों बेटियाँ अपने वैवाहिक जीवन में व्यस्त हैं, चाहती हैं चाचाजी उनके साथ रहें लेकिन किताबों की दुनिया में आकंठ डूबे आज ९० की उम्र में भी लेखन में व्यस्त देवेश चाचाजी अपनी दुनिया में मस्त हैं, अपने बिल्ले चीकू के साथ। कभी-कभी फोन करते रहते हैं, कभी-कभी मैं भी करती हूँ। कभी भी अपनी 'भाभी' का हाल पूछना नहीं भूलते। यह भी बतलाते हैं कि आजकल क्या लिख रहे हैं और मैं हर बार चाचाजी से और अपने आपसे वादा करती हूँ कि जल्दी ही उनसे मिलने जाऊँगी। उन देवेश चाचाजी से जिन्हें कितने-कितने रूपों में देखा है, समझने का प्रयत्न किया लेकिन समझ नहीं पाई हूँ।

प्रकाश बिंदु से प्रकश पुंज की सार्थक पहल - 'जंगल के जुगनू'

- डॉ. सचिन गपाट

देवेश ठाकुर बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। वे एक ओर चर्चित रचनाकर हैं तो दूसरी ओर सशक्त समीक्षक। समीक्षक और कथाकार के रूप में इन्होंने अपना अधिकार प्रमाणित किया है। कविता से अपने लेखन की शुरूआत करते हुए समीक्षक के रूप में प्रतिष्ठित होने के बाद वे कथा लेखन की ओर प्रवृत्त हुए हैं। वे प्रगतिशील और प्रतिबद्ध रचनाकर हैं। मानवीय मूल्यों के विशेष लेखक के रूप में उन्हें जाना जाता है। उनकी रचनाधर्मिता से सामाजिक प्रतिबद्धता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उन पर मार्क्सवाद का भी प्रभाव रहा है। लेकिन उन्होंने मार्क्सवाद को उपयोगिता के अनुकूल ग्रहण किया है। मानवीय मूल्यों का सुखद समन्वय उनके मार्क्सवादी दृष्टिकोण में दिखाई देता है। उनका समग्र जीवन संघर्षों से भरा हुआ है। लेकिन भीतर की अकूत जिजीविषा और सकारात्मकता के कारण वे कभी भी निराश नहीं हुए हैं। विपरीत परिस्थितियों से लड़ने का अद्भुत सामर्थ्य उनमें दिखाई देता है। वे महत्वाकांक्षी और आत्मविश्वासी भी हैं। उनका व्यक्तित्व आज की पीढ़ी के लिए आदर्श एवं प्रेरणादायी है। डॉ. इंदुबाली इनके संदर्भ में कहती हैं कि 'सागर मंथन के बाद निकला था विष और वह पीकर शंकर हो गए थे शिव। वैसे ही मुझे लगता है कि जीवन की कटुताओं और विषमताओं का विष पीते-पीते देवेश शिव हो गया है।'[1]

साहित्यिक और समीक्षक के रूप में यह शिवत्व प्राप्त करना सहज नहीं था। इन्होंने अभावों, संघर्षों और विषमताओं को नजदीक से देखा ही नहीं बल्कि इन अनुभवों ने इन्हें जीने की शक्ति और प्रेरणा दी है। वे कहते हैं कि 'मैंने जीवन के सिद्धांत कमरे में बैठकर नहीं गढ़े, अपने अनुभवों के निष्कर्षों को जीते हुए उनको अर्जित किया है।'[2] इस प्रक्रिया में उन्हें कई बार विरोध भी सहना पड़ा। ये कई बार विवादों से घिरे रहे लेकिन उनके पाठकों, मित्रों, प्रशंसकों तथा शुभचिंतकों की भी मात्रा कम नहीं है। देवेश ठाकुर पाठकों, समीक्षकों और साहित्यकारों में भी बेहद लोकप्रिय रहे हैं।

प्रगतिशील चिंतक, सुधी संपादक एवं रचनाधर्मी कथाकार देवेश जी की प्रथम औपन्यासिक रचना 'भ्रमभंग' से ही हिंदी कथा साहित्य में उनकी विशेष पहचान बन गई। वे साहित्यिक अनुभवों को अपना गुरु मानते हुए भी अपने साहित्यिक गुरु के रूप में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम लेते हैं। इस संदर्भ में वे कहते हैं कि 'वैसे मैं यद्यपि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का कभी विद्यार्थी नहीं रहा, लेकिन उनके लेखन व चिंतन में मैंने हमेशा अपने भावों की प्रतिछाया देखी है। यदि मुझे किसी को अपना साहित्यिक गुरु कहना ही पड़े तो मैं उसके लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी नाम लेना चाहूँगा यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से मैं उनका विद्यार्थी कभी नहीं रहा।'[3] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और अनुभवों को गुरु मानते हुए वे कथा को बेबाकी से गढ़ते हैं। 'जनगाथा', 'गुरुकुल', 'शिखर पुरुष' तथा 'जंगल के जुगनू' इनके चर्चित उपन्यास हैं। वर्तमान विसंगतियों, विद्रूपताओं और भ्रष्टाचार तथा शिक्षा क्षेत्र की अराजकता पर वे करारा व्यंग्य करते हैं।

स्त्री अस्मिता के वे प्रबल पक्षधर हैं। उनके कथा साहित्य का स्वर व्यवस्था विरोधी है। व्यष्टि की तुलना में वे समष्टि को अधिक महत्व देते हैं। अतिवैयक्तिकतावादी तथा समाज से सरोकार न रखने वाले लेखकों तथा रचनाओं की वे कड़ी आलोचना करते हैं। इनके कई उपन्यासों की केंद्रीय कथावस्तु इसी पर आधारित है।

शब्द और शैली के धनी प्रगतिचेता कथाकार देवेश ठाकुर की 'जंगल के जुगनू' भी एक समाज सापेक्ष विषय पर आधारित सार्थक और प्रासंगिक रचना है। इस उपन्यास में नारी अस्मिता को रेखांकित और प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने नारी की सामाजिक सरोकार के प्रति प्रतिबद्धता चित्रित की है। नारी विमर्श के वर्तमान दौर में स्त्री को सामाजिक और संस्थागत परिवेश में उपेक्षा, व्यंग्य और कटुता सहनी पड़ती है। परिवार में भी अनेक अवसरों पर उसे प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। ऐसी अनेक विसंगतियों एवं विषमताओं के बीच नारी अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ते हुए अपनी रचनात्मक और संवेदनशील दृष्टि से इन व्यवधानों से बाहर निकलकर समाज सेवा के यज्ञ की समिधा बन जाती है। नारी के इसी दृढ़ संकल्प, निश्चय, उद्देश्य और जीवन मूल्यों को इस उपन्यास में देवेश जी ने चित्रित किया है। इस उपन्यास में लेखक द्वारा यह भी स्पष्ट किया गया है कि विभिन्न वर्गों, परिस्थितियों से आयी महिलाएँ सामाजिक सरोकार से जुडकर मानवीय संवेदना और सामाजिक प्रतिबद्धता से संपृक्त होकर एक समान विचार भूमि पर आ खड़ी हो जाती हैं। साथ ही दोनों अत्यंत आत्मीय बन जाती हैं और समाज से समस्याओं, विसंगतियों एवं विषमताओं को जड़ से खत्म करने ले लिए आजीवन संकल्पबद्ध होती हैं।

'जंगल के जुगनू' उपन्यास चौबीस अध्यायों में विभाजित है। डॉ. पलक शिवशंकरन और डॉ. देवांगी उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। डॉ. पलक सेक्सरिया कॉलेज में केमिस्ट्री की प्राध्यापक है। डॉ. देवांगी गांधी कॉलेज में लिट्रेचर पढ़ाती हैं। डॉ. पलक के पिताजी अप्पा, माँ, और बहन सब्बू तथा बब्बो, पति शुभम एवं सूरजभान बाफना, उनके बेटे अशोक, डॉ. बिजॉय घोष आदि गौण पात्र हैं।

उपन्यास का आरंभ डॉ. पलक शिवशंकरन को उनकी बहुत पुरानी विद्यार्थी ममता केलकर के आए हुए पत्र से होता है। वह कोल्हापुर में एक अंधशाला चलाती है। उसने पत्र में लिखा है कि कोल्हापुर के 'संकल्प प्रतिष्ठान' ने सामाजिक सेवा के लिए दिए जाने वाले 'महाराष्ट्र मनीषा' पुरस्कार के लिए डॉ. पलक का नाम शार्ट लिस्ट किया है। साथ ही उसे उम्मीद भी है कि यह पुरस्कार अगले वर्ष गणतंत्र दिवस के अवसर पर डॉ. पलक को ही प्रदान किया जाएगा। पत्र द्वारा दी गई इस सूचना से उपन्यास की कथा शुरू होती है। डॉ. पलक अपने पूर्वजीवन की घटनाओं को याद करते हुए उन्हें आत्मकथात्मक शैली में व्यक्त करने लगती हैं। वे आश्चर्य चकित हो जाती हैं कि जिस महाविद्यालय में वे कार्य कर रही हैं, वहां के प्राचार्य हों या कार्यकारिणी के सदस्य हों किसी ने भी प्रशंसा या प्रोत्साहन के कभी दो बोल भी नहीं बोले लेकिन राज्य की सर्वोच्च सामाजिक संस्था उनके कार्यों की नोटिस ले रही है। डॉ. पलक के सामाजिक कार्य की सुध लेने से उपन्यास की कथा वस्तु आगे बढ़ती है।

डॉ. पलक धीरे-धीरे अपने जीवन के अतीत को याद करने लगती है। पलक ने

अपने व्यक्तिगत जीवन में शुरू से ही उपेक्षा को सहा और भोगा है। उनकी जीवन-यात्रा में उन्हें अभाव, उपेक्षा, अपमान और अकेलापन झेलना पड़ा है। परिवार में भी माँ और बहनों से उन्हें उपेक्षा ही मिली है। कहने के लिए माँ-बाप थे, बहिनें थीं लेकिन वे स्वार्थी और आत्मकेंद्रित थीं। वे अपने जीवन के बारे में लिखती हैं कि इजिंदगी नदी से ज्यादा ऊबड़-खाबड़ होती है। उसमें सुख, संतोष और सौंदर्य के क्षण कम होते हैं; झंझावातों, संघर्षों और विडम्बनाओं का परिणाम ज्यादा होता है। अपनी जिंदगी का जायजा लेती हूँ तो यही सच सामने आता है। कितने अभाव, कितने अपमान, कितनी उपेक्षाएँ और कितना अकेलापन जिया है मैंने।'[4] डॉ. पलक को माँ से भी वह अपनापन और स्नेह नहीं मिल पाता जो उनकी बहनों को मिलता है। पति का साथ भी लंबे समय तक नहीं मिल पाता। विवाह को पाँच वर्ष होते ही पति शुभम की बुखार से असमय मृत्यु हो जाती है। दो छोटे बच्चों के साथ उन्हें मुंबई महानगर में अकेले रहना पड़ता है। वे इस दुःख, उपेक्षा और अकेलेपन से टूट जाती हैं। असुरक्षा और डर उनके व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। वे लिखती हैं कि इपहले से ही डर की एक परंपरा मेरे भीतर समाई हुई थी। अब मुझे हर बात से डर लगने लगा। हर इंसान से। हर घटना से। हर इत्तफाक से। डर, जैसे मेरे जीवन का एक अभिन्न अंग ही बन गया।'[5] शादी के पश्चात जिंदगी शुरू करते ही पलक के जीवन में सब उलट-पुलट हो जाता है। वे इनती बड़ी दुनिया में निपट अकेली मह्सूस करने लगती हैं। यह अकेलापन, डर और किसी को 'ना' न कहने की आदत के कारण पलक के जीवन में अनेक मुश्किलें आती हैं। लेकिन डॉ. देवांगी और उनकी 'सहयोग' संस्था के संपर्क में आने से उनमें परिवर्तन हो जाता है और एक नई राह तथा दिशा डॉ. पलक को मिल जाती है।

डॉ. देवांगी को पलक मित्र, बहन, गॉड फादर और शुभेच्छु मानती है। देवांगी और 'सहयोग' संस्था पलक के लिए सब कुछ है। देवांगी ने अभावग्रस्त, गरीब और झोपडपट्टी में रहनेवाले स्लम के लिए 'सहयोग' संस्था की स्थापना कांदिवली के पास गांधीनगर में की थी। गांधीनगर यह स्लम है। यहाँ हजारों झोपड़पट्टियाँ हैं। कई लाख लोग वहाँ रहते हैं। उनकी हालातों को देख-सुनकर देवांगी ने समाजसेवा के उद्देश्य से इस संस्था की स्थापना की थी। उनके साथ कई लोग और महिलाएँ जुड़ जाती हैं। डॉ. पलक भी इस संस्था से जुड़कर समाज सेवा का काम करने लगती है। इस संस्था की स्थापना और देवांगी का अतीत भी उपन्यासकार पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है।

देवांगी संपन्न परिवार से हैं। जन्म के एक साल बाद उनकी माँ की मृत्यु हुई थी। लालन-पालन पिता द्वारा किया जाता है। सूरजभान बाफना के बेटे अशोक से उनकी शादी होती है। यह उच्चवर्गीय और संपन्न परिवार था। देवांगी के पिता को लगा था कि अशोक भी अपने पिता की तरह शालीन और सद्विचारों वाला होगा। इसलिए वे सूरजभान बाफना के प्रस्ताव को मानकर शादी के लिए तैयार हो जाते हैं लेकिन असलीयत चिंतित करने वाली होती है। अशोक ने किसी को बिना बताए विदेशी लड़की से शादी की थी। इसकी जानकारी सूरजभान तथा देवांगी को तब मिलती है जब वह लड़की डेढ़ साल के बच्चे को घर लेकर आ जाती है। सूरजभान बेटे के इस अपराध के लिए उसे परिवार से डिसओन कर देते हैं। देवांगी को अकेलापन सहना पड़ता है। वे टूट जाती हैं और

कई समस्याएँ उसके जीवन में आती हैं। भरा-पूरा परिवार बिखर जाता है। सूरजभान देवांगी की स्थिति को देखकर कहते हैं कि इअपने दुःख को दूसरों के दुखों के सामने रख कर देख। इस दुनिया में कैसे-कैसे दुखी हैं, उनके सामने तू देखेगी, तेरा दुःख कुछ भी नहीं है। उन अभागों के जीवन में थोडा-सा सुख लाने की कोशिश कर। तू पाएगी, तेरा दुःख सुख में बदल गया है...। समझी न...।'[6] उस दिन से देवांगी की जिंदगी बदल जाती है और जीवन तथा दुनिया को देखने का दृष्टिकोण बदल जाता है। वे 'सहयोग' संस्था की शुरूआत करती हैं।

इस संस्था से पलक जुड़ जाती है। दोनों अपनी उपेक्षा और बिखराव तथा टूटन भूलकर 'सहयोग' के माध्यम से समाज सेवा में सक्रिय हो जाती हैं। दूसरों के दुःख को अपना मानकर वे उसमें सम्मिलत होकर उसे कम करने का प्रयास करती हैं। वे 'सहयोग' द्वारा गांधीनगर के स्लम को मुख्य धारा में लाने के लिए विभिन्न अभियान चलाती हैं। वहाँ की महिलाओं को वे रोजगार दिलवाती हैं। उनके लिए सस्ते इलाज की व्यवस्था करती हैं। महिलाओं को आर्थिक दृष्टि से सक्षम बनाने के लिए उनका मार्गदर्शन करती हैं। साथ ही वहाँ के बच्चों की पढाई के लिए स्कूल भी खोलना चाहती हैं। यह सारा सुधारात्मक कार्य वे वहाँ की महिलाओं, युवाओं और महाविद्यालय के इच्छुक विद्यार्थियों को साथ लेकर करती हैं। पलक के आने से देवांगी दुगने उत्साह से सक्रिय हो जाती हैं। देवांगी के साथ कार्यरत होने के बाद पलक के भीतर जो डर था वह धीरे-धीरे कम हो जाता है। 'ना' न कहने की जो कमजोरी थी, उसमें भी सुधार हो जाता है। देवांगी की सकारात्मक बातों से पलक हमेशा प्रेरित होती है। देवांगी के संदर्भ में वे कहती हैं कि इसच, देवांगी दी ने मुझे जीने की कितनी प्रेरणा दी, मुझे नया कर्तव्य-क्षेत्र दिया और इस तरह मेरी जिजीविषा को जिलाए रखा...।'[7] देवांगी की प्रेरणा से पलक दूसरों के दुखों और समस्याओं में सहभागी होती है।

देवांगी के साथ काम करते हुए पलक का जीवन पूरी तरह से बदल जाता है। सामाजिक कार्य उसके दुःख और समस्याओं को पिघला देता है। वह बहुत हल्का और अच्छा महसूस करने लगती है। वह खुद को सामजिक कार्य के लिए पूरी तरह से समर्पित कर देती है। बेबाकी और निडरता से दूसरों की समस्याओं को हल करने का वह निरंतर प्रयत्न करती है। महाविद्यालय की विद्यार्थिनी फातिमा कापोर्रेटर के बेटे अविनाश के शोषण से तंग आकर उसपर जब एसिड डाल देती है तब निडरता से पलक उसके साथ खड़ी हो जाती है। पलक के इस सहयोग के कारण उन्हें गुंडों का भी सामना करना पड़ता है लेकिन पलक पीछे नहीं हटती।

देवांगी जब बीमार रहने लगती है तब पलक 'सहयोग' की पूरी जिम्मेदारी संभाल लेती है। देवांगी ने स्कूल बनाने का जो सपना देखा था, उसे पूरा करने के लिए निरंतर प्रयत्न करती है। देवांगी की मृत्यु के पश्चात 'सहयोग' को फिर से गतिशील बनाती है। स्कूल के लिए जगह और जगह के लिए कम्पाउंड का प्रबंध भी वे करती हैं। इसमें उन्हें अच्छे-बुरे अनुभव भी आते हैं। देवांगी और उसकी माँ की मृत्यु के बाद वे देवांगी के जीवन को ही सार्थक मानती हैं क्यों कि उन्होंने हमेशा दूसरों के लिए जीया है और जीवन को एक रचनात्मकता प्रदान की है। वे कहती हैं कि इदेवांगी दी ने जीवन जीया

नहीं था। बल्कि उसे रचा था। जिंदगी तो सभी जीते हैं, लेकिन उसे रचता कोई बिरला ही है। जीवन को रचा जाना ही उसे बनाता है।' गरीब, साधनहीन, छोटे और खोटे कहे जानेवाले लोगों को निस्वार्थ भाव से अपना स्नेह, अपना सहयोग और अपनी संवेदना देकर उन्होंने अपना जीवन रच लिया था, इसका प्रमाण जैसे उनकी शव-यात्रा ने दे दिया।'[8] डॉ. देवांगी और पलक उपेक्षाओं, उत्पीड़न, उलाहनों से शक्ति लेकर संकल्प की हिम्मत और लक्ष्य की स्पष्टता से अपनी सोच को रचनात्मक दिशा देते हुए सामाजिक सुधार के लिए प्रयत्न करती हैं। डॉ. पलक को इस योगदान के लिए महाराष्ट्र मनीषी पुरस्कार से सम्मानित करने की घोषणा भी संकल्प प्रतिष्ठान करता है।

वंचना, षड्यंत्र और पाखंड के इस दौर में कोई निहत्था, अकेला कुछ नहीं कर सकता क्यों कि चारों ओर इनका तांडव है। इस तांडव को उत्सव में बदलने के लिए और रचनात्मकता देने के लिए केवल उन दोनों की नहीं बल्कि समूह की आवश्यकता वे महसूस करती हैं। साथ ही गरीब, अभावग्रस्त, वंचित, शोषित को समाज की प्रमुख धारा में लाने के लिए अपने जो प्रयास हैं, उन्हें जुगनू के प्रयत्न मानती हैं। जुगनू जिस तरह से सूरज की ज्योति न होते हुए या उजियाले का स्त्रोत न होते हुए भी टिमटिमाकर प्रकाश द्वारा अँधियारा दूर करना चाहते हैं वैसे ही वे अपना कार्य मानती हैं। देवांगी दी कविता के माध्यम से कहती हैं...

चेहरों पर शाम पुती-पुती है / हर नजर यहाँ झुकी-झुकी है /
और प्रकाश की किश्तियाँ / न जाने कहाँ रुकी-रुकी हैं।/
सूरज लाए कौन यहाँ / चंदा लाए कौन यहाँ /
हम तो टिमटिम करते / जंगल के जुगनू हैं।'[9]

वैश्वीकरण के इस दौर में एक ओर विकास और उपलब्धियों की बात हो रही है तो दूसरी ओर भ्रष्टाचार शिष्टाचार बनता जा रहा है। यह विशालकाय वृक्ष बन चुका है। इससे गरीब अधिक गरीब बनता जा रहा है। गोदाम अन्न से भरे होने के बावजूद लोग भूख से मर रहे हैं। किसानों पर आत्महत्या करने की नौबत आ रही है। ऐसी अनेक समस्याओं और विसंगतियों के दौर में देवांगी या पलक जैसे सामाजिक कार्यकताओं का प्रयास जुगनू का प्रयास साबित हो रहा है। लेकिन यह प्रयास ही भविष्य में प्रकाश बिदु से प्रकाश पुंज साबित होनेवाला है। इस ओर उपन्यासकार देवेश ठाकुर संकेत करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि देवेश ठाकुर ने 'जंगल के जुगनू' के बहाने भारतीय नारी के संघर्ष, पीड़ा और उससे उबरने की उसकी शक्ति का चित्रण करते हुए उसमें निहित समाज सेवा की भावना का उद्घाटन किया है। यह दूसरी बात है कि हमारा समाज बहुत व्यापक और जटिल है। इसकी समस्याएँ भी असंख्य हैं। फलतः इन महिलाओं का प्रयास भी नाकाफी सिद्ध होता है। लेकिन इस तरह के जुगनू की भाँति किए जानेवाले छोटे-छोटे प्रयास ही एक बड़े प्रकाश पुंज में रूपांतरित होते हैं। इसप्रकार प्रस्तुत उपन्यास का उद्देश्य सकारात्मक है जो भारतीय नारी में निहित उसके सामाजिक सरोकारों को अभिव्यक्त करता है। इस उपन्यास के द्वारा लेखक अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को प्रकट करते हुए वैयक्तिक समस्याओं के उपर सामाजिक समस्याओं को तरजीह देता है। ऐसा करके ही हम समाज के बड़े भाग का भला कर सकते हैं। उसे मुख्य धारा में लाकर परिष्कृत कर

सकते हैं। यदि हम सब अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में घिरे रहेंगे तो सामाजिक जीवन उपेक्षित हो जाएगा और उसके विकास की प्रक्रिया बाधित होगी। इसलिए लेखक हर व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि वह अपने सामाजिक दायित्व को समझकर अपनी वैयक्तिक वेदना से उपर उठकर सामाजिक परिवर्तन हेतु जुगनू सदृश प्रयासरत रहे। उपन्यास का शिल्प सुगठित है। इसकी भाषा सहज, सरल है। किस्सागोई के कारण उपन्यास पठनीय बन पड़ा है। साथ ही सामाजिक सरोकार को तरजीह देनेवाला यह उल्लेखनीय और प्रासंगिक उपन्यास है।

संदर्भ :

1. कथा शिल्पी देवेश ठाकुर - संपा. प्रा. सतीश पाण्डेय, अरविंद प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ.23
2. देवेश ठाकुर : प्रश्नों के घेरे में - डॉ. भानुदेव शुक्ल, संकल्प प्रकाशन, मेरठ, प्रथम संस्करण, पृ. 15
3. देवेश ठाकुर : व्यक्ति, समीक्षक और कथाकार - संपा. नन्दलाल यादव, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 49
4. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 6
5. वही, पृ. 51
6. वही, पृ. 85
7. वही, पृ. 84
8. वही, पृ. 88
9. वही, पृ. 104

-सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग,
मुंबई विश्वविद्यालय

'जंगल के जुगनू' : स्त्री का एकाकी संघर्ष

- डॉ. जाकिर हुसैन गुलगुन्दी

नारी-चिंतन के उदार सोच के तमाम दावों के बावजूद स्त्री की सामाजिक स्थिति या उसके उत्थान में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं आया है। आज भी वह जीवन से समझौता करते हुए दोहरे कार्यभार के बीच पिसती जा रही है। घर में हो या बाहर, साहित्य और शिक्षा जगत हो या सामाजिक संगठन, हर क्षेत्र में स्त्री अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। वह पुरुष प्रधान मानसिकता से मुक्त होकर समाज में बदलाव लाने के लिए निरंतर प्रयासरत है। हिंदी कथा साहित्य में अधिकांश साहित्यकारों ने स्त्री-संवेदना को पूरी ईमानदारी के साथ दर्ज किया है। प्रेमचंद से लेकर इक्कीसवीं सदी तक के वर्तमान अधिकांश कथाकारों ने स्त्री के संघर्षमय जीवन का चित्रण प्रस्तुत करके अपनी लेखकीय जिम्मेदारी का निर्वाह बखूबी किया है। इन समकालीन कथाकारों ने अपने साहित्य के माध्यम से समाज में जागरूकता लाने का भरसक प्रयास किया है। चिंता की बात यह है कि स्त्री-चेतना के कारण यद्यपि उसकी परिस्थितियों और परिवेश में परिवर्तन आया है किंतु आज भी वह अपने अस्तित्व के लिए हर रोज संघर्ष कर रही है। ऐसे समकालीन कथाकारों में देवेश ठाकुर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे हिंदी के उन बहुमुखी प्रतिभा संपन्न साहित्यकारों में से हैं, जिन्होंने साहित्य की अन्यान्य विधाओं में भी अपनी लेखनी चलायी है। यह कहना गलत नहीं होगा कि उन्होंने समकालीन मध्यमवर्गीय समाज और उनकी समस्याओं को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। अपने उपन्यासों में उन्होंने आधुनिक भारतीय समाज मेंपरिवार व्यवस्था, रिश्ते-नाते, बदलते स्त्री-पुरुष संबंधों आदि का यथार्थ चित्रण प्रस्तुत करते हुए जीवंत पात्रों की सृष्टि की है। वास्तव में उनके पात्र ही उनके साहित्य के मूल प्राण हैं। उनके पात्र सामान्य होते हुए भी तत्कालीन समय और यथार्थ स्थितियों के संघर्ष में तप कर विशिष्ट एवं प्रतिनिधि पात्र बन गये हैं।

'जंगल के जुगनू' देवेश ठाकुर जी का स्त्री-केंद्रित इक्कीसवीं सदी का महत्वपूर्ण उपन्यास है, जिसके केंद्र में दो स्त्री पात्र हैं। दोनों स्त्रियों का परिवेश भिन्न होने पर भी उनकी समस्या एक-सी जान पड़ती है। इस उपन्यास में लेखक ने यह बताने का प्रयास किया है कि आधुनिक वातावरण में समस्त उपलब्धियों के बावजूद मनुष्य अकेलेपन का शिकार होता जा रहा है। उपन्यास की प्रमुख पात्र पलक और देवांगी दोनों ऐसे ही चरित्र हैं, जो अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करके सफल तो होती हैं किंतु आजीवन अकेले जीवन जीने के लिए बाध्य भी होती हैं। 'डॉ. पलक' का मध्यमवर्गीय परिवार में जन्म होने के कारण वह बचपन से संघर्ष भरा जीवन व्यतीत करती है। माँ का उपेक्षा भरा व्यवहार, पितासे ज्यादा कमाने के कारण उन्हें नीचा दिखाना, साथ ही हर क्षण झगड़ा, शादी के कुछ सालों बाद ही विधवा होना, महाविद्यालय में उपेक्षा आदि वैयक्तिक, पारिवारिक तथा सामाजिक समस्याओं से वह जूझती हुई दिखाई देती है। दूसरी तरफ 'देवांगी' एक संपन्न परिवार से होने पर भी पति के धोखे के कारण अकेला जीवन व्यतीत करती है। दोनों अपने अकेलेपन को दूर करने के लिए 'सहयोग' संस्था

के माध्यम से कांदीवली के पास गांधीनगर के गरीब परिवारों के विकास के लिए कार्य करती हैं।

मध्यम वर्ग में जन्मी पलक का बचपन ननिहाल में ही गुजरता है। उसके माँ-बाप बंबई में रहते हैं। उसके पिताजी एक मैकेनिक हैं तो माँ नगरपालिका के विद्यालय में टीचर है। माँ की नौकरी लगने के बाद वे पलक और बहन सब्बो को बंबई बुला लेते हैं। पिता खुले दिल वाले व्यक्ति हैं, माँ पिता के विरुद्ध। शिक्षिका होकर भी माँ पिता से अधिक कमाने के कारण पिताजी को नीचा दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ती थी- 'माँ प्राइमरी स्कूल की टीचर होने के बावजूद उनसे ज्यादा कमाती थी। उसे लगता था कि घर उसी के कारण चल रहा है। बात-बात में वह इस बात की उलाहना भी देती रहती कि वह किस मर्द से बँध गयी है। उसे तो कोई अफसरनुमा पति चाहिए था।'[1] माँ को अपने घरवालों पर बड़ा नाज था और पैसे कमाने का घमंड भी। पिताजी को एक मैकेनिक के निगाहों से ही देखा करती थी लेकिन पिताजी कभी प्रतिवाद नहीं करते थे। एक प्रकार से उनका अनमेल विवाह था। जब तीनों बेटियाँ मिलकर माँ और बाबूजी की ५० वीं वर्षगाँठ मनाने का सोचते हैं तो बाबूजी कहते हैं- 'क्या होगा दिखावे का। तू पचास साल की बात करती है, हम तो पाँच साल भी सुख से जी नहीं पाए। हाँ, कहने के लिए में जिंदा हूँ, तेरी माँ भी जिंदा है लेकिन पच्चीस-तीस साल से हम जिंदा कहाँ है। वैसे सोच तो हमारी पहले दिन से ही नहीं मिली।'[2]

माँ छोटी-छोटी बातों को लेकर पिताजी से उलझ पडती, कभी-कभी पलक अपनी माँ को समझाने की कोशिश करती तो पलक को भी उसका शिकार होना पड़ता। जब पलक को पीएच. डी. की सीट मिलती है तो वह बेहद खुश होकर घर आती है लेकिन वहाँ माँ बाबूजी से उलझी हुई थी और पिताजी चारपाई पर बैठे रो रहे थे। उन्हें रोता देख पलक माँ से उलझ पड़ती है तो माँ कहती है- 'अच्छा, अब तू मुझे बिहेवियर सिखाएगी। पिछले पच्चीस सालों से घर चला रही हूँ। तुम सब को पाला है मैंने। इस आदमी ने कभी कोई जिम्मेदारी उठाई है? बस, अपनी मनमानी करता है बैठा-बैठा।'[3] इस घटना के बाद पिताजी बड़ी बेटी बब्बो के पास तिरची चले जाते हैं। पलक के लिए माँ केवल नाम मात्र के लिए माँ थी, माँ का असली प्यार तो उसे अपनी मौसी से मिलता है।

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में महाविद्यालय और विश्वविद्यालय के परिसर का चित्रण भी मिलता है। आजकल छात्र-छात्राओं के बीच तथा अध्यापक और छात्रों के बीच प्रेम संबंध आम बात है। इस उपन्यास में भी महाविद्यालय में घटनेवाली कुछ घटनाओं का चित्रण मिलता है। डॉ. कुलकर्णी अपने छात्रों में बहुत लोकप्रिय थे लेकिन अपनी शोध-छात्रा रचना मेहता से संबंध के कारण बदनाम थे। उनके ऊपर रचना मेहता का जादू इस कदर था कि वे अकेली बूढ़ी माँ की चिन्ता किए बिना रचना मेहता से शादी कर लेते है- 'मिस मेहता ने इसी शर्त पर डॉ. कुलकर्णी से विवाह करना स्वीकार किया था कि शादी के बाद वे अपने अलग फ्लैट में रहेंगे।'[4] अपने पहले उपन्यास 'भ्रमभंग' में प्रो. चंदन तथा छात्रा शोभा कृपलानी एक दूसरे को चाहते हैं लेकिन चंदन शादी करने से मना करते हैं तो शोभा कहती है- 'प्रो गायकवाड़ की वाइफ भी उनकी स्टूडेंट रह चुकी है। प्रो कुलकर्णी की भी, मर्चेंट की भी।'[5]

महाविद्यालयों में लड़कियों के साथ छेड़खानी आम बात है लेकिन लड़कियाँ डर के मारे या अपमानित होने के भय से उसका विरोध नहीं कर पातीं। अगर छेड़खानी करने वाला किसी नेता का बेटा हो तो महाविद्यालय के प्राध्यापक और प्रबंधक भी उसका विरोध नहीं कर पाते। उपन्यास में फातिमा एवं पलक के माध्यम से साहसी महिलाओं का चित्रण किया गया है। कॉर्पोरेटर का बेटा अविनाश फातिमा की चाल की नकल करते उसका रास्ता रोके रहता है और उसका हाथ पकड़कर गंदी- गंदी बातें करते रहता है। फातिमा अपना हाथ छुड़ाकर भाग निकलती है लेकिन कुछ मिनट बाद उसी के सामने आकर खड़ी हो जाती है। अविनाश फिर उस पर फब्तियाँ कसने लगता है तो फातिमा उसका विरोध उसके चेहरे पर एसिड फैंककर करती है- 'फातिमा ने आव देखा न ताव, बस हाथ की शीशी उसके चेहरे पर दे मारी। उसका चेहरा झुलस गया।'[6]

पहले से ही विदेश में पढ़ाई और नौकरी के प्रति भारतीयों का आकर्षण रहा है। जब कोई एक बार विदेश जाकर बस जाता है तो वहाँ की सुविधाओं का इतना आदी बन जाता है कि वह वहीं का बनकर रह जाता है। कोई सोसियल लाइफ नहीं होती वहाँ। प्रशांत और पलक दोनों कॉलेज के दिनों में अच्छे मित्र हुआ करते थे। अब वह अमरीका में रहता है। जब वह बंबई में पलक से मिलता है तो विदेशों में भारतीयों की स्थिति को लेकर कहता है- 'अपना देश याद आने लगता है। देश, त्यौहार,राष्ट्रीय पर्व... देश की मिट्टी प्यारी लगने लगती है लेकिन फिर भी यहाँ लौटा नहीं जाता। सुविधाओं का चस्का लग जाता है।'[7] और एक संदर्भ में वह कहता है- 'पल्ली, इंडिया फिर भी इंडिया है। अपने लोग अपनी मिट्टी एक पहचान बनती है यहाँ। वहाँ बहाव में बहते हुए तिनके हैं हम। कोई भाव नहीं है हमारा।'[8]

चाहे दुनिया कितनी ही बदले स्त्रियों की स्थिति में कोई बदलाव दिखाई नहीं देता। स्त्री पहले भी भोग की वस्तु थी, आज भी उसे उसी दृष्टि से देखा जाता है। अगर विधवा हो तो उसे देखने का नजरिया ही बदल जाता है। हर कोई उसके अकेलेपन का फायदा उठाने की होड़ में लग जाता है। शादी के केवल पाँच साल बाद ही पलक के पति शंभु का देहांत हो जाता है, उस समय घर का मालिक चेटियार उसकी सहायता करता है। पलक उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठती है। परंतु वह भी टिपिकल पुरुष की तरह ही व्यवहार करता है- 'वह मुझे होटल में ले जाता कभी भी, जब उसकी पत्नी काम पर गयी होती, मुझे अपने घर बुला लेता और घंटों मुझे रोक रखता।'[9]

पति-पत्नी सिर्फ शारीरिक संबंधों का ही नहीं विश्वास, प्यार तथा समर्पण की चाह भी रखते हैं परंतु पति की कामांधता तथा अविश्वास वैवाहिक जीवन को बरबाद कर देता है। देवेश ठाकुर ने अपने इस उपन्यास में असफल वैवाहिक जीवन को चित्रित किया है। देवांगी भी प्राध्यापिका है। उसकी शादी शहर के मशहूर व्यापारी सूरजभान के बेटे अशोक से हो गयी थी परंतु वह एक कामुक व्यक्ति था। देवांगी कहती है- 'होता क्या। बस मोह-भंग हो गया। धीरे-धीरे मेरे सामने अशोक की असलियत खुलने लगी। बाहर से वह जितना शालीन और सभ्य लगता था, भीतर से उतना ही कठोर और कामुक था। उसकी नजर में मैं उसके लिए एक जिस्म थी। एक खिलौना, जिससे वह जब चाहे खेल सकता था। सुबह, दिन, रात, शाम कभी भी बिस्तर, बाथरूम, गैलरी किचन कहीं

भी बाद में पता लगा की उसकी दूसरी औरत से भी संबंध थे।'[10] अशोक के पिता एक अच्छे इंसान थे। जब उन्हें पता चलता है कि अमेरिका में रोज नामक लड़की से अशोक ने शादी की थी जिससे उसका एक बच्चा भी है और अब वह अपना अधिकार चाहती है तो सूरजभान उस लड़की को पैसे देकर मामले को सेटल कर देते हैं और देवांगी का पक्ष लेकर अशोक को 'डिसओन' करते हुए कहते हैं- 'तुम सबेरे तक कोठी से निकल जाओ और कभी इसके आसपास दिखाई मत देना। कल के बाद अगर तुमने देवांगी से मिलने या उसे किसी प्रकार परेशान करने की कोशिश की तो सालों तक जेल में सड़ते रहोगे।'[11]

सूरजभान ऊपर से जितना शांत और कम बोलनेवाले व्यक्ति थे, भीतर से उतने ही दृढ़ और कठोर थे। वे अपने बेटे को घर से बेदखल कर बहू को न्याय दिलाते हैं और एक संदर्भ में जब देवांगी अपने बेटे को जन्म देती है तो वे कहते हैं- 'मान लिया इस बच्चे का कोई कुसूर नहीं है लेकिन है तो कुसूर की पैदाइश ही। मैं तुम्हारे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि इसे कभी मेरे सामने मत लाना...! इसमें मुझे अशोक का चेहरा दिखाई देगा।'[12]

वैवाहिक जीवन में अनैतिक संबंधों को कोई स्थान नहीं होता। ऐसा होने पर परिवारों में आशांति तथा मानसिक तनाव निर्माण होता है। देवेश ठाकुर के 'गुरुकुल' में भी अनैतिक संबंधों के कारण परिवार में आशांति तथा मानसिक तनाव का चित्रण है। डॉ. जैन तथा नीला सबनिस के बीच अनैतिक संबंध है। नीला के पति को इसकी खबर लगने पर परिवार में आशांति का निर्माण हो जाता है। वह जैन से कहती है- 'उससे बोलचाल नहीं हो पाती। वह ज्यादातर गुमसुम पड़ा रहता है। मैं अपनी तरफ से बहुत कोशिश करती हूँ उसे एक्टिवेट करने की लेकिन मैं भी कितना करूँ।'[13]

देवेश ठाकुर ने अपने इस उपन्यास में स्लम एरिया में रहनेवाले गरीब लोगों का जीवन और उनके विकास, और शिक्षा के लिए कार्यरत एन.जी.ओ. के कार्य की ओर संकेत किया है। देवांगी 'सहयोग' नामक संस्था स्थापित करती है। कांदिवली के पास गांधीनगर स्लम एरिया की झोपड़पट्टी में रहने वाले लोगों के विकास के लिए अथक प्रयत्न करती है। वहाँ रहने वाले गरीब बच्चों के लिए स्कूल शुरू करना चाहती है। देवांगी निस्वार्थ भाव से अपना सारा जीवन गरीब लोगों के लिए समर्पित करती है। उसकी मृत्यु के बाद पलक सहयोग की जिम्मेदारी उठाती है और देवांगी के अधूरे कार्य को पूरा करती है।

अंततः कह सकते हैं कि देवेश ठाकुर ने अपने इस उपन्यास में समकालीन समस्याओं पर विमर्श किया है। तमाम समस्याओं को देखकर कह सकते हैं कि निःसंदेह इक्कीसवीं सदी में भी सब ओर अंधेरा ही अंधेरा है। ऐसे अंधेरे में स्थाई रोशनी की आवश्यकता है। जैसे जुगनू अंधेरे को मिटाने के लिए निरंतर प्रयासरत रहता है। उपन्यास में पलक और देवांगी टिमटिमाते जुगनू की तरह हैं जो जलते-बुझते अंधेरे को मिटाने की कोशिश करती हैं।

संदर्भः

1. जंगल के जुगनू देवेश ठाकुर पृ.सं. १२-१३
2. जंगल के जुगनू- देवेश ठाकुर पृ.सं. ३२
3. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ. सं. ४२
4. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.सं. ३६
5. देवेश ठाकुर रचनावली. देवेश ठाकुर पृ.सं ८१
6. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.सं. ६३
7. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.सं. २६
8. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.सं. २९
9. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.सं. ५१
10. जंगल के जुगनू - देवेश ठाकुर पृ.स. ७५
11. जंगल के जुगनू- देवेश ठाकुर पृ.सं. ८४
12. जंगल के जुगनू- देवेश ठाकुर-पृ.सं. ९४
13. गुरुकुल- देवेश ठाकुर- पृ.सं. ३३

अध्यक्ष, हिंदी विभाग
कर्नाटक कला महाविद्यालय
धरवाड, कर्नाटक-580001

संघर्षरत स्त्री का समाजबोध : जंगल के जुगनू

डॉ. प्रीति सोनी

देवेश ठाकुर एक प्रयोगधर्मी कथाकार हैं। इनकी प्रत्येक रचना विशिष्टता लिए हुए है। जीवन के विविध रूपों को इन्होंने बड़ी ही प्रखरता के साथ उद्घाटित किया है। इन्होंने कभी भी विषय की माँग से बचकर निकलने का प्रयास नहीं किया है। इनका लेखन बहुआयामी है। वे एक साथ कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, समीक्षक, आत्मकथाकार, जीवनी लेखक, संपादक, शोध निदेशक आदि हैं। उपन्यासकार देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में वर्तमान सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक समस्याओं को नवीन दृष्टि से देखा तथा चित्रित किया है। जंगल के जुगनू सन् 2004 में प्रकाशित उपन्यास हुआ है। आत्मकथात्मक शैली में लिखे गए इस उपन्यास में उन्होंने मध्यमवर्गीय परिवार में जूझती नारी के संघर्ष और द्वंद्व को एक नए रूप में प्रस्तुत ही नहीं किया अपितु उसे नई दिशा भी दी है। उन्होंने भारतीय संस्कारों को, आर्थिक पारिवारिक संबंधों को एक नई वैचारिक दृष्टि के साथ प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास के नारी-चरित्र विषम परिस्थितियों में भी संघर्ष करते हुए अपने अधिकारों के प्रति संघर्षरत और पूर्ण रूप से सजग हैं।

मनुष्य जीवन का दूसरा नाम ही संघर्ष है। मानव जीवन में संघर्ष के अनेक रूप दिखाई देते हैं। यहाँ उपन्यासकार ने कृति के आरंभ में ही नदी और स्त्री के जीवन में आने वाली कठिनाइयों और उतार-चढ़ाव की समानता प्रस्तुत की है। इसी तर्ज पर उपन्यास की नायिका पलक एवं देवांगी के माध्यम से संघर्ष की स्थिति को उभारा गया है। इस उपन्यास की मुख्य पात्र डॉ. पलक एक महाविद्यालय में प्राध्यापक है। उपन्यास के प्रारंभ में ही अपने अतीत में खोई पलक अपनी आपबीती पाठकों को बताती है- 'अपनी जिंदगी का जायजा लेती हूँ तो यही सच सामने आता है, कितने अभाव कितने अपमान कितनी उपेक्षाएँ और कितना अकेलापन जिया है मैंने।'[1]

पलक के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव नदी के प्रवाह की भांति दिखाई देते हैं। विवाह के पश्चात पलक के जीवन में खुशियाँ आती है परंतु विवाह के पाँच वर्षों के बाद ही पलक के पति शुभम का देहाँत हो जाता है। डॉ. पलक का संघर्ष और अधिक बढ़ जाता है। पलक के सुखमय दांपत्य जीवन में उथल-पुथल मच जाती है और वह स्वयं को टुकड़े-टुकड़े होकर बिखरता हुआ महसूस करती है- 'आज सोचती हूँ कि व्यक्ति का जीवन दुःख-सुखों की एक परंपरा ही तो है। शुभम को खोकर जहाँ में एकाकीपन, संताप और भावी आशंकाओं की लपटों में झुलसी हूँ।'[2]

यहाँ लेखक ने एक विधवा स्त्री की स्थिति को चित्रित किया है। आज भी समाज में उसे किस प्रकार अपमानित होना पड़ता है। आज भी लोगों की मानसिकता दूषित है। वे समझते हैं कि अकेली स्त्री को सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। पलक अपने पति की मृत्यु के उपरांत बहुत टूट जाती है। ऐसे समय में उसका मकान मालिक पलक की हर संभव मदद करता है और पलक उसके प्रति कृतज्ञता से भर जाती है परंतु शीघ्र ही उसका यह भ्रम टूट जाता है- 'शुभम के डेथ सर्टिफिकेट से लेकर उनके शव-दाह

और बाद में उनके पीएफ की राशि दिलाने तक वही मेरे साथ दौड-भाग करता रहा। मैं उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठी लेकिन वह भी टिपिकल पुरुष ही निकला। उसने मेरे अकेलेपन का फायदा उठाना चाहा।'[3]

यहाँ से पलक के सामाजिक संघर्ष का दायरा बढ़ जाता है। अपने जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए उसे अनेक स्तरों पर संघर्ष का सामना करना होता है। इस उपन्यास में लेखक ने अपने स्त्री पात्रों को ऐसे ही संघर्षों का सामना करते हुए दिखाया है। उन्होंने नारी मन की संवेदनाओं का अंकन बड़ी कुशलता से किया है। विवाह से पूर्व पलक के परिवार में मतभेद थे उसके माता-पिता के बीच में तनाव की स्थिति थी, जिसके कारण एक खुशहाल पारिवारिक वातावरण उसे प्राप्त नहीं हो सका परंतु विवाह-पश्चात वह एक नई दुनिया आरंभ करना चाहती है लेकिन शुभम की मृत्यु अचानक हो जाने से वह अपने आप को बहुत अकेला महसूस करती है- 'मैं आज तक नहीं समझ पाई अभी मैंने अपनी जिंदगी शुरू की ही थी, तभी सब कुछ उलट-पुलट हो गया। इतनी बड़ी दुनिया में मैं निपट अकेली रह गई।'[4]

एक आत्मनिर्भर स्त्री होने के बावजूद विधवा होने का एहसास उसे सर्वप्रथम अपने ही परिवार में होता है। यहाँ लेखक ने पलक की पारिवारिक समस्याओं को यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। पलक का द्वंद्व घर की परिस्थितियों से भी संबंधित है। पति की मृत्यु के साथ-साथ नाते-संबंधों में भी बदलाव आ जाता है। अपनी बेटी की बीमारी के वक्त भी वह अकेली ही उसे संभालती है। माँ सिर्फ किस्त के पैसे जमा करने की याद दिलाने के लिए उसके पास आती है। यहाँ माँ का पलक के प्रति दुर्व्यवहार जाहिर होता है लेकिन परिवार और समाज की स्वार्थी प्रवृत्ति के बीच में पलक अपने बच्चों की परवरिश करती है।

उपन्यास की एक अन्य प्रमुख नारी चरित्र देवांगी के माध्यम से भी लेखक ने महिलाओं के संघर्ष को चित्रित करते हुए सामयिक सामाजिक समस्याओं के लिए युगापेक्षित तथा स्वस्थ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। 'देवांगी दी' पलक की भाँति महाविद्यालय में प्राध्यापक है और उसकी कहानी भी पलक जैसी ही है। वह अपनी योग्यता के बल पर आगे बढ़ती है। अपने पैरों पर खड़ी होती है परंतु शहर के एक बड़े धनी एवं सम्मानित व्यक्ति अपने बेटे के लिए उसे पसंद कर लेते हैं। माता पिता के कहने पर वह विवाह के लिए हाँ कर देती है। अशोक से देवांगी का विवाह हो जाता है परंतु अशोक देवांगी को धोखा देता है उसकी विदेश में एक शादी हो चुकी है और एक बेटा भी है। यह सत्य सामने आने पर देवांगी टूट जाती है। उसके ससुर सूरजभान भी बुरी तरह से आहत हो जाते हैं और वे अशोक को अपनी जायदाद से बेदखल कर देवांगी को ही अपनी बेटी स्वीकार करते हैं। उसे हिम्मत बँधाते हुए कहते हैं- 'रोया नहीं करते बेटे हिम्मत के साथ काम ले। तेरे दुःख का अंदाजा में लगा सकता हूँ लेकिन जो सामने है, उससे तो जूझना ही पड़ता है ना। और जूझने के लिए हिम्मत जरूरी है अपने दुःखों को दूसरों के दुख के सामने रख कर देख। इस दुनिया में कैसे-कैसे दुःखी हैं। उनके सामने तू देखेगी, तेरा दुःख कुछ भी नहीं है। उन अभागों के जीवन में थोड़ा सा सुख लाने की कोशिश कर। तू पाएगी तेरा दुःख सुख में बदल गया है।'[5]

यहाँ से उपन्यास में नया मोड़ आता है। सूरजभान देवांगी का ध्यान समाज के अन्य दुखी और मजबूर लोगों की ओर आकर्षित करते हैं। आधुनिक युग की आत्मनिर्भर नारी अपने दुःखों को समेट कर समाज के मजबूर लोगों को सहारा देने का कार्य करती है। वह 'सहयोग' नामक संस्था स्थापित करती है, जो कांदिवली के पास गाँधीनगर स्लम एरिया की झोपड़पट्टियों में रहने वाले लोगों के विकास के लिए कार्य करती है। डॉ. देवांगी लोगों के सहयोग से संस्था द्वारा वहाँ रहने वाले गरीब बच्चों के लिए स्कूल शुरू करना चाहती है वह निस्वार्थ भाव से अपना सारा जीवन गरीब लोगों के लिए समर्पित कर देती है। 'सहयोग' से जुड़ने हेतु आयी दो युवतियों केयह पूछने पर कि इससे देवांगी को क्या फायदा होता है, लेखक ने समाज को स्पष्ट किया है कि आज कोई भी व्यक्ति बिना किसी फायदे के किसी की सहायता नहीं करता। ऐसे में देवांगी इतने सारे लोगों की निस्वार्थ भाव से मदद कर रही है। यहाँ लेखक ने एक स्त्री के दृढ़ संकल्प, जीवन मूल्यों के प्रति आस्था और उसकी संवेदनशीलता को अभिव्यक्ति दी है। पलक कहती है- 'हाँ फायदा तो बहुत हुआ। कुसुम फायदे को सिर्फ पैसे के फायदे से नहीं तोलना चाहिए। आज तुम्हारी मैडम जो कुछ भी हैं, वह इसलिए नहीं है कि वह एक कॉलेज में प्रोफेसर हैं। आज पूरा गांधीनगर देवांगी जी पर जान देता है। उनकी एक आवाज पर सैकड़ों औरतें इकठ्ठा हो जाती हैं। उनकी प्रेरणा से आज कितनी ही अभागी औरतें अपने पाँव पर खड़ी हो चुकी हैं। दूसरों के लिए काम करने से उनकी मुसीबतों और कठिनाइयों के वक्त उनका हौसला बनाए रखने से बड़ा सुख मिलता है।'[6]

लेखक ने यहाँ देवांगी के माध्यम से समाज के सामने एक आदर्श प्रस्तुत किया है, जो अपने दुःख भूल कर समाज की अन्य औरतों एवं बच्चों की मदद करती हैं। अन्य गरीब महिलाओं को आत्मनिर्भर बनने में सहायता करती हैं। देवांगी को पता चलता है कि उसे ब्लड कैंसर है। ऐसी स्थिति में वह डॉक्टर पलक को सहयोग संस्था का भार सौंप देती है और बच्चों के स्कूल का सपना पूर्ण करने की जिम्मेदारी देती है। देवांगी के बाद डॉक्टर पलक उसके पद चिन्हों पर चलते हुए सहयोग संस्था को आगे बढ़ाती है तथा अपने साथ अनेक महिलाओं एवं युवतियों को शामिल करती है। यहाँ डॉ. पलक कि प्रिय छात्रा फातिमा का भी लेखक ने जिक्र किया है, जिसे एक युवक बहुत अधिक परेशान करता है और अंत में वह न चाहते हुए भी उस युवक पर एसिड फैंक देती है। उसका बचाव करते हुए डॉ. पलक कहती है- 'इंस्पेक्टर साहब-कोई लड़का एक लड़की के चेहरे पर तेजाब उडेल दे तो भी वह बच निकलता है। पिछले साल सेंट थॉमस कॉलेज के हादसे में यही हुआ। और अगर कोई लड़की मजबूर होकर...'[7]

यहाँ लेखक ने समाज में महिलाओं के साथ होने वाले अन्याय और अत्याचार को दर्शाया है। अनेक घटनाएँ हम देखते हैं जब युवतियों को बिना किसी अपराध के तेजाब से जला दिया जाता है परंतु कभी किसी लड़की ने आज तक किसी युवक के साथ ऐसी हरकत नहीं की है। नारी सामाजिक और संस्थागत परिवेश में ही उपेक्षा, व्यंग्य और कटुता नहीं भोगती, स्वयं अपने परिवार में भी अनेक अवसरों पर उसे प्रताड़ना का शिकार होना पड़ता है। इसीलिए एक उपेक्षित अनुभव के साथ जीवन जीने वाली डॉ. पलक को उस वक्त आश्चर्य होता है जब उसे सामाजिक सेवा के लिए 'महाराष्ट्र

मनीषा' पुरस्कार प्राप्त होने की सूचना मिलती है। 'पुरस्कार मिलने की बात सुनकर वह आश्चर्यचकित हो उठती है। वह सोचती है कि जिस कॉलेज में वह पिछले 36 सालों से पढ़ा रही है, वहाँ उसकी निष्ठा, ईमानदारी और कर्तव्य परायणता को देखने के बाद भी प्रिंसिपल और कार्यकारिणी के लोगों ने कभी उसकी प्रशंसा नहीं की और न ही कभी उसके समाजसेवा के कार्य को देखते हुए उसे प्रोत्साहित ही किया। ऐसे में राज्य की सर्वोच्च सामाजिक संस्था ने उसके कार्य को नोटिस किया, यह उसके लिए आश्चर्य की बात थी।'[8]

समाज सेवा का काम करते समय डॉक्टर पलक को अलग-अलग तरह के अनेक अनुभवों से गुजरना पड़ता है, जिससे वह और अधिक मजबूत बनती चली जाती है। काम करने के दौरान सहयोग के कार्यालय की अलमारी से डॉक्टर पलक को देवांगी की एक डायरी मिलती है, जिसमें उसने अपने जीवन की घटनाएँ लिखी होती हैं। डॉक्टर पलक के सामने देवांगी की जिंदगी के अनेक पन्ने खुल जाते हैं। जैसे डॉ. बिजॉय घोष के प्रति उनका प्रेम, अलग होने के बावजूद अशोक का परेशान करना, मन का उहापोह, अपने बेटे के लिए स्नेह और चिंता आदि इन सभी को लेखक ने बहुत ही कुशल तरीके से पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए स्त्री के मन के अंतर्द्वंद एवं पीड़ा को बताया है। देवांगी की डायरी में सहयोग के समाज सेवा कार्य से हुई आत्मिक प्रसन्नता का भी जिक्र था, जिसमें हम देखते हैं कि जब किसी के लिए सच्चे ह्रदय से कोई मदद की जाती है तो कितना आनंद प्राप्त होता है- 'उस बुढ़िया ने कहा था- बेटी तेरे आने से बस्ती में उजाला हो जाता है। मैं क्या उजाला करूँगी उनकी बस्ती में जुगनू क्या उजाला कर सकता है। यह जो कुछ भी मैं करती हूँ वह सब अपने मन की शांति के लिए करती हूँ। उनको थोड़ी-सी राहत देकर मुझे सुख मिलता है। इतने भोले सच्चे होते हैं यह गरीब लोग। निष्छल, निष्ठा, विश्वास और भक्ति से भरे हुए। काश इनके जीवन में कोई अनंत, स्थाई उजाला भर पाता।'[9] यहाँलेखक ने डॉ. देवांगी और डॉ.पलक के माध्यम से एक संदेश समाज को दिया है कि अकेले में रह कर दुःखी होने, पश्चाताप करने या आँसू बहाने की अपेक्षा किसी की मुसीबतों को कम करने में सहभागी होना और उसके आँसू पोंछना कहीं बेहतर है।

डॉ.पलक और डॉ. देवांगी सभी सुविधाएँ होने के बावजूद अकेलेपन का जीवन जीने के लिए अभिशप्त हैं। दोनों ही आत्मनिर्भर स्त्रियाँ हैं, परंतु उनके दुःख भिन्न हैं। फिर भी दोनों 'सहयोग ' के काम को आगे बढ़ाती हैं। सामाजिक कार्य के लिए खुद को समर्पित करती हैं। यहाँ लेखक देवांगी के माध्यम से कहलाते हैं- 'आज जो महिलाएँ सामाजिक कार्य से जुड़ी हैं, जरा उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर झाँककर तो देखो। ज्यादातर औरतें जो सामाजिक सुधार का झंडा उठाकर चल रही हैं, कहीं न कहीं वे अपने परिवार से, अपने परिवेश से कटी और टूटी हुई रही हैं। इस टूटन के बाद अपनी अस्मिता को और अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए अपने दुःखों संतापों को भूलने के लिए वे समाज सेवा की ओर मुड़ जाती हैं। दूसरों के दुःख दूर करके उन्हें आनंद की अनुभूति होती है।[10]

इस कथा में लेखक का प्रयास यह रेखांकित करना भी रहा है कि विभिन्न वर्गों

से आयी महिलाएँ किस प्रकार सामाजिक सरोकार से जुड़कर एक समान विचारभूमि पर आ खड़ी होती हैं और किस प्रकार से दो सर्वथा भिन्न और विपरीत परिस्थितियों और परिवेश में जीने के बावजूद मानवीय संवेदना और सामाजिक प्रतिबद्धता से सम्पृक्त होकर आत्यन्तिक रूप से आत्मीय बन जाती हैं। इस तरह 'जंगल के जुगनू'उपन्यास में लेखक द्वारा समाज में नारी की अस्मिता को रेखांकित और प्रतिष्ठित करने का सुविचारित प्रयास किया गया है। नारी-विमर्श के इस युग में तथा घर-परिवार, समाज और संस्थानों में व्याप्त अनेक विसंगतियों और विषमताओं के बीच नारी को प्रतिष्ठित करना इस कथा का अभिप्रेत है। साथ ही साथ समाज के लिए ईमानदारी से कुछ करने का प्रयास, मजबूरों की मुसीबतों को दूर करना और उनके आंसू पोंछने का भरसक प्रयत्न करने का आग्रह लेखक करते हैं। समाज सेवा एक यज्ञ है। आज समाज में चारों और समस्याओं का अंधकार छाया हुआ है। ऐसे में अगर मजबूर व्यक्ति को थोड़ी सी रोशनी देने का प्रयास किया जाए, डॉ. पलक और देवांगी की तरह जुगनू की रोशनी के समान ही सही, थोड़ा-सा भी योगदान अगर प्रत्येक व्यक्ति दे तो समाज का उद्धार हो सकता है। लेखक ने अंत में यहाँ एक कविता लिखी है-

अंधियारे की पगडंडी पर, / बिखरे बेहाल सवाल, / धुंध ने लील लिए सब /
बासंती सपने बेहाल। / सूरज लाए कौन यहाँ, / चंदा लाए कौन यहाँ /
हम तो टिमटिम करते, / जंगल के जुगनू हैं।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर-जंगल के जुगनू , वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली,जनवरी 2004, पृ. क्रं.- 6
2. वही, पृ.क्र.-8
3. वही, पृ.क्र.-41
4. वही, पृ.क्र.-38
5. वही, पृ.क्र.-51
6. वही, पृ.क्र. क्रं.-37
7. वही, पृ.क्र.-49
8. वही, पृ.क्र.-5
9. वही, पृ.क्र.-69
10. वही, पृ.क्र.-37

हिंदी विभाग,
सहायक प्राध्यापक
कवयित्री बहिणाबाई चौधरी उत्तर महाराष्ट्र विश्वविद्यालय,
जलगाँव, महाराष्ट्र

'जंगल के जुगनू' में जीवन की सार्थकता

-डॉ. उमेश कुमार

देवेश ठाकुर के परवर्ती उपन्यासों में 'जंगल के जुगनू' (2004) इस अर्थ में एक अनोखा उपन्यास है कि उपन्यासकार ने इसे भारतीय संस्कृति के पक्षधर के रूप में प्रस्तुत करते हुए भारतीय समाज के आधे हिस्से की सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ऊजाओं को समान रूप से प्रकाशित किया है। इसके साथ ही मानवता के विभिन्न सरोकारों से साक्षात्कार कराते हुए मनुष्य को बुरे से बुरे समय में भी संघर्षपूर्ण जीवन जीने की प्रेरणा दी गई है। अच्छे समय में दूसरों का भला करते हुए ये चरित्र लोगों में अच्छे गुणों, नैतिक मूल्यों, भाईचारा, सहयोग और आत्मविश्वास पैदा करते हैं तथा बुरे समय में बुराई से संघर्ष करने का आत्मविश्वास भरते हैं।

यह उपन्यास स्त्री-जीवन का ज्वलंत दस्तावेज है। उपन्यासकार ने इसमें महिला वर्ग को पहल करते हुए दिखाया है, जो संघर्षपूर्ण जीवन में प्रवेश करती है और अपने स्वप्न को साकार करने के लिए प्रयासरत है। इस पथ पर उसे केवल अपना उद्देश्य ही दिखाई देता है। उपन्यास की नायिका पलक अपने विद्यार्थी जीवन में मुश्किल हालातों का सामना करती हुई शिक्षा ग्रहण करना ही अपना मकसद समझती है। शिक्षा प्राप्ति की उसकी ललक का आभास उसके शिक्षकों को भी है और वे इसमें उसका साथ भी देते हैं। जब वह अपने महाविद्यालय के प्राचार्य सदाशिवन से किसी प्रयोजनवश मिलती है तो उसे वे डॉ. कुलकर्णी के मार्ग निर्देशन में पीएच.डी. करने का सुझाव देते हैं। डॉ. कुलकर्णी से पलक को जानकारी मिलती है कि उसके पास रिक्त स्थान नहीं है लेकिन डॉ. कुलकर्णी पलक को डॉ. शानबाग से मिलने का मार्ग सुगम करते हैं। पलक के शिक्षकों को उस पर भरोसा है कि वह समय पर कार्य पूर्ण कर लेगी। उनके इस भरोसे को वह कायम रखती है। वह अपनी उच्च शिक्षा सम्पूर्ण करने के बाद शिक्षक बनती है।

पलक छात्राओं के जीवन में आने वाली हर मुसीबत से वाकिफ है। इसलिए वह अपने विद्यार्थियों को शिक्षा से मुक्ति के मार्ग को समझाती है और उनमें आत्मविश्वास भरती है। उसकी छात्रा फातिमा एक विद्यार्थी द्वारा बारम्बार परेशान किए जाने पर उस पर पलटवार कर देती है लेकिन बाद में डर जाती है। ऐसे में पलक अपनी छात्रा का साथ देती है। पलक अपनी छात्रा फातिमा को जमानत पर छुड़ाकर लाती है। वह किसी धमकी से डरती नहीं है और फातिमा के साथ अडिग रहती है।

पलक परिवार में आरंभ से अंत तक अपनी माँ के बुरे बर्ताव से परेशान रहती है। माँ की मौत के बाद उसे मालूम पड़ता है कि माँ ने उसके घर को तीनों बहिनों के नाम चढ़ा दिया है तो वह आश्चर्यचकित हो जाती है। उस समय बब्बू पलक से कहती है कि यह घर तुम्हारा है। मैं और सब्बू इसको तुम्हारे नाम चढ़ा देंगे। लेकिन सब्बू इसके लिए सहमत नहीं होती है। ऐसे में पलक को गुस्सा आ जाता है और वह सब्बू से कहती है ''तू इस पेपर पर साइन करके मुझ पर कोई अहसान नहीं कर रही है, सब्बू। माँ के सारे एफ.डीज. और सारे जेवर तूने बेशर्मी के साथ कब्जा लिए। हमने तो तुझसे कुछ नहीं कहा और यह फ्लैट जिस पर तू अपना भी हक जता रही है, मेरी और सिर्फ मेरी कमाई से खरीदा गया है। इसके पेमेंट की एक-एक रसीद मेरे पास है और इसका एक-एक पैसा

मेरे बैंक से दिया गया है। बेशर्मी और स्वार्थ को भी एक सीमा तक ही सहन किया जाता है। पैसे के लिए तूने तो अपना आपा ही खो दिया।''[1]

पलक के जीवन में एक कहर टूटता है कि वह शादी के चन्द महीनों बाद ही विधवा हो जाती है और उसके ऊपर सारे परिवार की जिम्मेदारी आ जाती है। पलक की वैवाहिक जिंदगी आरंभ होते ही अंत की दहलीज पर दस्तक दे देती है। वह जिंदगी के सफर में नितांत अकेली रह जाती है। यों तो माँ-बाप और बहिनें थीं लेकिन वे सभी स्वार्थी थे। ऐसे में नाउम्मीदी घेर लेती है। वह अपने परिवार सहित अपनी माँ और मौसी की भी सेवा करती है। माँ का रूखापन उसको अन्दर से खाता रहता है लेकिन वह अपने कर्तव्य से विमुख नहीं होती है।

पलक के जीवन में रचनात्मक मोड़ उस समय आता है जब उसकी मुलाकात समाजसेवी देवांगी दी से होती है। वह अपनी पारिवारिक जिम्मेदारी के साथ सामाजिक सुधार की धारा में देवांगी दी के साथ जुड़ जाती है। देवांगी उसको समाज सुधार की सीख देती है। वे समाज में किनारे कर दिए गये मनुष्यों को समाज कि मुख्य धारा में लाने में उसका सहयोग चाहती हैं। उनका मानना है कि यदि इस वर्ग को आत्मसम्मान के साथ समाज में सम्मिलित कर लिया जाय तो यह मानवता के इतिहास में महान कार्य होगा। इस सीख से पलक देवांगी के अभियान का हिस्सा बन जाती है। इसके लिए वह अपने विद्यार्थियों को भी जाग्रत करके इसमें जोड़ती है। पलक को इस अभियान में जुड़ने के बाद जीवन की सार्थकता महसूस होती है।

इस प्रकार उपन्यास की नायिका पलक एक ओर अपने विद्यार्थियों की परेशानियों को सुलझाने में लीन रहती है तो दूसरी ओर अपने परिवार की समस्याओं को आसान करने का रास्ता भी खोजती है। इस संदर्भ में डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट लिखते हैं ''लेखक ने यहाँ पर लालच की पराकाष्ठा को अभिव्यक्ति दी है, जो व्यक्ति के मस्तिष्क के संतुलन को तो बिगाड़ ही देता है, साथ ही समस्त रिश्तों में भी कड़वाहट पैदा कर देता है। उसका मानना है कि मनुष्य के जीवन में आने वाली समस्याएँ उसे कुछ न कुछ सिखाकर ही जाती हैं। अतः व्यक्ति को हर परिस्थिति का स्वागत करना चाहिए। पलक अनेक पड़ावों पर मोर्चा सँभाले हुए भी किसी भी स्थिति में हार स्वीकार नहीं करती। लेखक ने पलक के माध्यम से यहाँ एक सशक्त स्त्री के व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। 'जंगल के जुगनू' की नायिका अन्य उपन्यासों की नायिका से इसलिए भी भिन्न है कि वह किसी भी परिस्थिति में हाथ पर हाथ धरे रोती नहीं रहती और न ही समाज व परिवार द्वारा दी जाने वाली यातनाओं को चुपचाप सहती है। वह उन सारी समस्याओं का विवेकपूर्ण तरीके से समाधान खोजती है और सभी स्थितियों को सामान्य बनाने में सफल होती है, जिसकी वर्तमान परिवेश में अत्यधिक आवश्यकता है।''[2]

'जंगल के जुगनू' में उपन्यासकार ने एक ओर पलक के द्वारा उसकी मानसिकता और व्यवहार को मुखरित किया है, वहीं दूसरी ओर देवांगी के समर्पण और त्याग को भी उदाहरणीय बनाया है। कुलीन वर्ग से नाता रखने वाली देवांगी परिवार के साथ-साथ समाज के कर्त्तव्य को निभाने में लीन है। वह अपने पति के घृणित कारनामों से आहत होकर उसका साथ छोड़ने का फैसला करती है। वह अपने जीवन में समाज सुधार को

मकसद बनाती है और कहती है ''कितना प्यार, कितनी ममता है इन लोगों के दिलों में। इनके लिए थोड़ा भी कुछ कर दो, ये उस पर न्योछावर हो जाते हैं। अपने प्राणों का उत्सर्ग करने को तैयार हो जाते हैं उसके लिए। इनकी जिंदगी में कितना अँधेरा है, इनकी छोटी-छोटी समस्याएँ कितनी बड़ी हैं, इनके दु:ख कितने घने हैं लेकिन इस सबके बावजूद इनके दिल कितने खुले, कितने विशाल हैं। मैं मन ही मन इनको प्रणाम करती हूँ।''[3]

देवांगी को समाज के किनारे कर दिए गये मनुष्यों की सहायता करने में सुखानुभूति होती है। इस संदर्भ में डॉ. प्रवीण चन्द्र बिष्ट का मानना है कि ''आज हमारी राजनीति में भी इस तरह की क्रांति देखने को मिल रही है फिर भले ही वह स्वार्थवश ही क्यों न हो, जन-कल्याण मुखर होता दिखाई दे रहा है। आज के सत्ताधीश भी इस वर्ग के प्रति समर्पित दिखाई दे रहे हैं। उन्हें भी इस वर्ग से अगाध प्रेम मिल रहा है। इन सभी स्थितियों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन सभी पर लेखक के 'सहयोग' के कार्य-पद्धति का असर हुआ हो, जो लेखक के उपन्यास को कालजयी बनाता है।''[4] देवांगी अपना सारा जीवन समाज सुधार में समर्पित कर देती है। उसकी 'सहयोग' नामक संस्था का मकसद ही समाज में मानवता के अधिकारों को सामने लाना रहा है। देवांगी को समाज में बड़े फलक पर सम्मानजनक जीवन मिलता है। उपन्यासकार ने देवांगी के चरित्र के माध्यम से भी एक मजबूत इरादे वाली महिला को चित्रित किया है। उपन्यासकार ने लिंग भेद को चकनाचूर किया है।

इसमें चंद पुरुष चरित्रों को भी चित्रित किया गया है जो पुरुष वर्ग की सोच को प्रकट करते हैं। चेटियार पलक का मकान-मालिक है। वह पलक के विधवा हो जाने पर पलक की सहायता करता है लेकिन इसके बदले वह उसका शोषण करने में भी संकोच नहीं करता है। इस तरह उपन्यासकार ने सहयोग का दूसरा पक्ष भी दिखाया है। अशोक देवांगी का पति है। वह विदेश में पढ़कर लौटा है। देवांगी जिस विश्वविद्यालय में अध्ययनरत रही, वह उसी विश्वविद्यालय के ट्रस्टी का पुत्र है। एक सांस्कृतिक कार्यक्रम के दौरान अशोक ने देवांगी को पसंद कर लिया था और परिणामस्वरूप विवाह भी हो गया था। विवाहोपरान्त देवांगी अशोक के असली चेहरे से रूबरू होती है और उसके घृणित कार्यों से घृणा करने लग जाती है। इस तरह उपन्यासकार ने मनुष्य की कमजोरी को भी दिखाया है। इसी तरह एक अन्य पुरुष चरित्र सूरजभान बाफना शहर के बहुत बड़े उद्यमी हैं। सूरजभान अपनी पत्नी की मृत्यु के उपरान्त दूसरा विवाह नहीं रचाते हैं। अकेले ही अपने बेटे अशोक को पालते हैं। उसकी हर इच्छा पूरी करते हैं लेकिन जब वह नहीं सुधरता तो उसे सम्पति से बेदखल करके उसकी पत्नी देवांगी को सारी सम्पत्ति की वारिश बना देते हैं। उपन्यासकार ने इसमें एक संवेदनशील पुरुष को भी चित्रित किया है।

उपन्यासकार डॉ. देवेश ठाकुर ने 'जंगल के जुगनू' उपन्यास के माध्यम से मानव जीवन की सार्थकता को अनेक सरोकारों से जोड़ा है। इसमें सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक और महिलाओं के मुद्दों को आज के संदर्भ में दिखाया गया है। महिलाओं की मुक्ति में शिक्षा के अधिकार की अहमियम कितनी अधिक है, यह उपन्यासकार इसमें दिखाने में सफल होता है। आत्मविश्वास, ईमानदारी, मेहनत, साहस और दृढ़ संकल्प

से मानव की जीत होती है। ये सद्गुण मानव जीवन को सार्थकता प्रदान करते हैं। महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर के देश में उनके स्वप्न को साकार करने में उपन्यासकार का मानवता के लिए लिखा यह उपन्यास जीवन की सार्थकता को ध्वनित करता है। आजादी के बाद देश में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक क्षेत्रों में हुए विकास की जड़ शिक्षा ही रही है। शिक्षा से ही उद्धार हुआ है। समाज में समानता आई है। उपन्यासकार ने शिक्षा रूपी अधिकार को इसमें बखूबी चित्रित करके देश के विकास के लिए अहम माना है।

संदर्भ :

1. ठाकुर, देवेश, जंगल के जुगनू, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2005, पृ. सं. - 82
2. बिष्ट, प्रवीण चंद्र, जंगल के जुगनूः नारी संकल्प एवं संघर्ष का आख्यान, डॉ. देवेश ठाकुर (प्रधान संपादक-प्रकाशन), समीचीन, अंक-31, अप्रैल-जून-2022, पृ. सं.-6, 7
3. ठाकुर, देवेश, वही, पृ. सं. - 102
4. बिस्ट, प्रवीण चंद्र, वही, पृ. सं. - 8

सहायक आचार्य हिंदी,
राजकीय महिला महाविद्यालय, चौमू (जयपुर)
पत्राचार का पताः-
डॉ. उमेष कुमार
सी-174, अयोध्या नगर,
भूरा पटेल मार्ग, गाँधी पथ
पष्चिम, लालरपुरा, जयपुर (राज.)
पिन - 302021

'जंगल के जुगनू' और 'कातरबेला' उपन्यास में स्त्री मुक्ति का संघर्ष

- सूर्जलेखा ब्रह्म

साहित्य जगत में नारी प्राचीन काल से ही विषयवस्तु के रूप में आयी है। स्त्री-पुरुष समाज के दो प्रमुख अंग हैं, जिसके बिना संसार की कल्पना नहीं की जा सकती। समाज के विकास में पुरुषों की तरह ही स्त्रियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, जिसे पितृसत्तात्मक समाज स्वीकार नहीं करता। भारतीय समाज में अधिकतर पुरुष ही घर का मुखिया होता है। स्त्री केवल गृहस्थी क्षेत्र के लिए बनी होती है। आज पितृसत्तात्मकता ने न सिर्फ समाज बल्कि हमारे मन-मस्तिष्क में भी अपना आधिपत्य जमा लिया है। परिवार में जन्म से ही स्त्रियों को यह अहसास दिलाया जाता है कि तुम लड़की हो तुम्हें इस तरीके से उठना है, बैठना है। लड़कियों को अपनी हँसी पर काबू रखना है। लड़कियाँ अकेले घर से बाहर नहीं जाया करतीं। छोरी जात है, इतना पढ़ लिखकर क्या करेंगी? ज्यादा पढ़ लेगी तो पुरुष के माथे चढ़ने लगेगी। वस्तुतः आज आधुनिक समय में स्त्रियों ने इसी के खिलाफ आवाज उठाना आरंभ कर दिया है। स्त्री का यह संघर्ष नया या आकस्मिक नहीं वरन पश्चिम में तो यह सदियों पुराना है, जिसे देख भारतीय स्त्रियों द्वारा भी अपने को मुकम्मल बनाने के संदर्भ में यह आरंभ हुआ। मगर पश्चिम और भारत की दृष्टि में यह संघर्ष भिन्न संदर्भ में है। पश्चिम की स्त्रियाँ जहाँ वर्तमान संदर्भों पर बहस कर रही हैं, वहीं भारत में अभी प्राचीन रूढ़ियों, परम्पराओं एवं धार्मिक विद्रूपताओं के विरुद्ध ही विद्रोह कर रही हैं। असल में देखा जाय तो स्त्री मुक्ति का संघर्ष कोई मुद्दा नहीं है बल्कि यह चेतना और अधिकारों का प्रश्न हैं। जहाँ वह स्वयं की समस्याएँ स्वयं सुलझाना चाहती हैं किसी के पाँव तले रहकर नहीं।

देवेश ठाकुर हिन्दी साहित्य जगत के सुधी साहित्यकार हैं। उन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास और निबंध, समीक्षा आदि अनेक विधाओं में अपना रचनात्मक योगदान दिया है। वे एक निर्भीक, साहसी और मँजे हुए साहित्यकार हैं। 'जंगल के जुगनू' (2004) और 'कातर बेला' (2005) उनके विशिष्ट उपन्यास हैं, जिनमें उन्होंने अपनी युगीन परिस्थितियों के अनुकूल समाज में व्याप्त नारी-समस्याओं को उभारने का सफल प्रयास किया है। आधुनिक नारी का स्वरूप उजागर करते उनके ये दोनों उपन्यास हर एक स्त्री को स्वावलंबी बनने, अपने तरीके से जीने और अपने अधिकार और हक माँगने के लिए सजग करते हैं। आजादी से पहले और बाद दोनों ही परिस्थितियों में स्त्रियों के जीवन में कोई विशेष बदलाव नजर नहीं आया है, जिसे देवेश ठाकुर ने अपनी रचनाओं की विषयवस्तु बनाया है। देवेशजी के परम मित्र डॉ. भानुदेव शुक्ल का कहना है 'देवेशजी के चिंतन में केंद्रीय वस्तु मानव ही दिखाई देता है। राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक नियम एवं सिद्धांत उसके ही लिए, उसके उत्थान के लिए बनते हैं किन्तु अंधभक्त एवं स्वार्थी व्यक्ति इनको 'धर्म' बनाकर जब मानव पर आरोपित करने लगते हैं तब मानव कल्याणकारी नियम भारी अनर्थकारी बन जाते हैं, बनते रहे हैं। धार्मिक-विद्वेष अथवा सैद्धांतिक असहिष्णुताएँ मानव समाज को किस प्रकार रौंदती रही हैं, यह हमने देखा है।

देवेशजी के लिए मानव तथा मानव का कल्याण सर्वोपरि है।'

'जंगल के जुगनू' उपन्यास में डॉ. पलक शिवशंकरन और देवांगी विशिष्ट नायिका के रूप में उभरकर आई हैं। इन्हीं दोनों पात्रों के द्वारा पूरी कथा का ताना-बाना बुना गया है। मगर इसके अलावा शबनम, फातिमा, सब्बू, बब्बू, कुसुम आदि के द्वारा भी कथा को विस्तार रूप देने का प्रयास किया गया है। वहीं कथावस्तु को अधिक प्रभावशाली और प्रबल बनाने के लिए अशोक, सुहास, प्रिन्सिपल सदाशिवन और डॉ. कुलकर्णी आदि पुरुष पात्रों को भी लिया गया है। 'पलक' सुशील और सहज-सरल स्वभाव वाली महिला है। जो पढ़ने-लिखने में माहिर है। उसे सीखना और सिखाना अत्यंत पसंद है। उसकी मेहनत एवं लगन को देख सारे शिक्षकों का व्यवहार भी उसके प्रति मनोरम रहता है। समय-समय पर वह अपने कॉलेज के प्रिन्सिपल 'सदाशिवन' से भी मिलने जाया करती है। उसकी मेहनत एवं लगन को देख प्रिन्सिपल सदाशिवन उसे 'डॉ. कुलकर्णी' के यहाँ पीएच.डी प्रवेश हेतु सुझाव देते हैं। जब वह 'डॉ. कुलकर्णी' से मिलने जाती है तो वह उससे कहते हैं 'तुम एक दो दिन में बी. ए. आर. सी. जाकर डॉ. शानबाग से मिल लो। जूलॉजी में उनका बड़ा नाम है। उनके अंडर में काम करोगी तो बहुत कुछ सीखने को मिलेगा। कुछ मुश्किल पड़ेगा तो मैं भी तुम्हारी हेल्प कर दूंगा। ...ठीक?'

इस तरह 'पलक' निराश मन से वहाँ से निकल जाती है और हार न मानकर अन्य कई विश्वविद्यालयों में फॉर्म भरने का संकल्प लेती है। इस तरह वह एक दिन स्वयं शिक्षिका के पद पर चयनित होती है। स्त्री मुक्ति और उसके संघर्ष का कारण देवेश ठाकुर इस उपन्यास में इस प्रकार व्यक्त करते हैं 'आज जो महिलाएँ सामाजिक कार्यों से जुड़ी हुई हैं, जरा उनके व्यक्तिगत जीवन की ओर झाँक कर तो देखो। ज्यादातर औरतें जो सामाजिक सुधार का झंडा उठाकर चल रही हैं, कहीं न कहीं अपने पुरुष से, अपने परिवार से या परिवेश से कटी और टूटी हुई रही हैं। इस टूटन के बाद अपनी इयत्ता को, अपनी अस्मिता और अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए, अपने दुःखों-संतापों को भूलने के लिए वे समाज सेवा की ओर मुड़ जाती हैं। यहाँ बेनसीब बेसहारा लोगों से उन्हें जो सम्मान मिलता है, जो स्वीकृति मिलती है, वह उनके जीने के अर्थ को सार्थक बना देती है और फिर वे भी उसी में ढल जाती हैं।'

'पलक' मध्यमवर्गीय जीवन से भी भलीभाँति परिचित है। वह जानती है कि मध्यमवर्गीय परिवार को किन-किन समस्याओं से गुजर-बसर करना पड़ता है जिस कारण वह अपने छात्राओं को भी हर तरह से सबल बनने को कहती है। उन्हें अपने लक्ष्य पर अडिग रहकर कड़ी मेहनत और लगन से काम लेने का सुझाव देती है। विद्यार्थी फातिमा जब अन्य विद्यार्थियों द्वारा सताए जाने पर पलट वार करती है तो उसका अंजाम बुरा निकलता है, जिस कारण फातिमा को पुलिस कस्टडी में ले जाया जाता है। वहाँ वह एक अच्छी और सुधी शिक्षिका का प्रमाण देती हुई फातिमा को जेल से छुड़ाने जाती है- 'इंस्पेक्टर साहब, कोई लड़का लड़की के चेहरे पर तेजाब उड़ेल दे तो भी वह बच निकलता है। पिछले साल सेंट थॉमस कॉलेज के हादसे में यही हुआ और अगर कोई लड़की मजबूर होकर।' इस प्रकार वह आवाज उठाती है कि पुरुष चाहे कुछ भी कर ले, उस पर दाग नहीं लगता। वहीं अगर स्त्रियाँ पलटवार करें तो उसे तरह-तरह से लांछित

और तिरस्कृत किया जाता है। वहीं पति 'शुभम' की मृत्यु के पश्चात फ्लैट के मालिक मिस्टर चेटियार से मदद माँगने पर 'पलक' को यौन शोषण का शिकार होना पड़ता है। एक अकेली स्त्री को देख समाज के पुरुषों का नजरिया और रवैया काफी विचलित करने वाला सा जान पड़ता है। हर कदम पर एक अकेली स्त्री को सचेत रहना पड़ता है। लेखक 'पलक' के माध्यम से यह प्रश्न करते हैं कि आखिर किसी समाज में महिलाएँ अकेली और आत्मनिर्भर बनकर अपने मुताबिक एक खुशहाल जिंदगी क्यों नहीं व्यतीत कर सकतीं। उपन्यासकार देवेश ने यौन शोषण के प्रति 'पलक' की मनःस्थिति का वर्णन इस प्रकार से किया है- 'चेटियार ने तब मेरी मदद की थी। शुभम के डैथ सर्टीफिकेट से लेकर, उनके शव-दाह और बाद में उनके पीएफ की राशि दिलाने तक वही मेरे साथ दौड़-भाग करता रहा। मैं उसके प्रति कृतज्ञता से भर उठी लेकिन वह भी टिपिकल पुरुष ही निकला। उसने मेरे अकेलेपन का फायदा उठाना चाहा। मैं इतनी डरी और सहमी हुई थी कि उसकी किसी बात को मना करने की हिम्मत नहीं जुटा सकी। वह मुझे होटलों में ले जाता। कभी भी, जब उसकी पत्नी काम पर गयी होती, मुझे अपने घर बुला लेता घंटों मुझे रोके रखता। बात-बात में इस बात का हवाला देता कि मेरे मुश्किल वक्त में उसने मेरे कितनी मदद की। अपनी पत्नी और बच्चों के विरोध और नाराजगी के बावजूद वह मेरे लिए कितना कुछ करता रहा। अपने अकेलेपन में औरत कितनी कमजोर होती है, यह मैंने तब जाना था। जब पास बिल्डिंग के कुछ शोहदे भी मेरे प्रति संवेदना जताने के बहाने मेरे घर तक आने लगे थे। उनके शब्दों और उनकी आँखों के भावों से मुझे उनकी नीयत मालूम हो जाती थी। चेटियार के लिए तो मेरा घर ही उसका दूसरा घर हो गया था। उसके साथ मेरे विवश संबंधों का एक सिलसिला चल निकला था। मेरे पास उससे सहमत होने के अलावा कोई दूसरा विकल्प नहीं था।'

लेखक 'पलक' के माध्यम से उन सारी मान्यताओं को तोड़ फेंकने को कहते हैं जिस कारण महिलाएँ समाज में सर उठाकर जीने से डरती हैं। अपने साथ हुए शोषण-अनाचार के प्रति विद्रोह कर वे पुरुष के समक्ष खड़ी होने को कहते हैं, आत्मनिर्भर और सबल बनने को कहते हैं। स्त्री-समस्या को उपन्यासकार ने 'पलक' के द्वारा इस प्रकार व्यक्त किया है- 'आजादी के 56 सालों के बाद भी खुल्लमखुल्ला कानून को धता बताकर पतियों के शव के साथ पत्नियों को सती बनाया जा रहा है। सती चौरे बन रहे हैं और वहाँ पूजा हो रही है। ऐसे हालत में मैं और देवांगी जैसे कार्यकर्ता क्या कर सकते हैं। देवांगी दी ने अपनी कविता में सच ही लिखा है कि हम तो जंगल के टिमटिम करते जुगनू हैं, जो जलते-बुझते रहते हैं। बस, टिमटिमा सकते हैं, कोई स्थायी रोशनी नहीं दे सकते।'

इसी प्रकार उनका 'कातर बेला' उपन्यास भी मूलतः स्त्री-पुरुष सबन्धों और उसकी मुक्ति के लिए संघर्ष पर आधारित है। नायक 'अमर चौधरी' और नायिका 'सोनल मेहता' की प्रेम-कथा के माध्यम से उपन्यास का वस्तु-विन्यास रचा गया है। सोनल धनिक परिवार की लड़की है। उसके पिता राय बहादुर मेहता एक बड़े होटल के व्यवसायी हैं जबकि अमर एक मध्यमवर्गीय परिवार से है। बूढ़े माता-पिता और बीमार बहन के अलावा उसके घर पर और कोई नहीं है। सारी घर की जिम्मेदारी अमर पर ही है। जिस

कारण दोनों का रिश्ता भी कुछ अधिक टिक नहीं पाता। एक दिन जामनगर में सोनल की जन्मदिन की पार्टी में उसके पिता अपने मित्र सैम कपूर से उसकी मुलाकात करवाते हैं। धीरे-धीरे दोनों के बीच नजदीकियाँ बढ़ने लगती हैं। शारीरिक संबंध तक बात आ जाती है और सोनल बिन ब्याहे ही गर्भवती बन जाती है। पिता राय बहादुर बिना उसकी मंजूरी के उसे मुंबई ले जाकर उसका गर्भपात करा देते हैं, जिससे सोनल अब भविष्य में कभी माँ नहीं बन सकती। तत्पश्चात ही एक आकस्मिक दुर्घटना के दौरान सैम कपूर की मृत्यु की खबर आती है। दुःखों से ग्रस्त सोनल के पास अब रोने के सिवा कुछ नहीं बचा रहता। अतः लेखक सोनल के द्वारा यह दशार्ना चाहते हैं कि आखिर महिलाओं को अपने लिए स्वयं निर्णय लेने की इजाजत क्यों नहीं दी जाती। उन्हीं दिनों राजकोट में कॉलेज प्राध्यापक के रूप में सोनल का चयन होता है। वहीं उसकी मुलाकात दिलशाद नामक चौवन वर्षीय पुरुष से होती है, जिसकी पहले से ही बीवी और दो बच्चे हैं। अपनी बीवी रूबी के साथ मिस्टर बिलिमोरिया का अवैध संबंध वह अच्छी तरह जानता है। इसी लिए वह भी सोनल के साथ अवैध संबंध रखता है। कुछ दिनों बाद अमर का भी उसी कॉलेज में प्राध्यापक के रूप में चयन होता है, जिससे दोनों में फिर से नजदीकियाँ आने लगती हैं। माँ की बीमारी भी अधिक से अधिक बढ़ती जाती है। अतः वह सोनल को विवाह कर लेने का आग्रह करता है मगर सोनल हाँ कैसे कर देती। वह जानती है कि विवाह पश्चात पीढ़ियों को आगे बढ़ाया जाता है। बाँझपन की शिकार सोनल समाज के तरह-तरह के तानों से डरती है। आखिरकार वह एक दिन अमर से पूछ ही लेती हैं कि शादी के बाद आखिर तुम मुझसे क्या चाहोगे। 'अमर' कहता है 'पत्नी का प्यार और विश्वास। अपना छोटा-सा घर-परिवार और दो-चार सुंदर से बच्चे।'

इसके बाद काफी सोच-विचार के बाद सोनल यह निर्णय लेती है कि वह अमर से विवाह नहीं करेगी। वह अमर से कह देती है- 'मेरा विश्वास करो अमर ! मैं तुमसे बहुत प्यार करती हूँ और अंतिम साँस तक करती रहूँगी। मैं तुम्हें खुश देखना चाहती हूँ मेरे प्यार। इसीलिए.....इसीलिए...तुम्हें पाकर भी खो रही हूँ।' अतः सोनल के इस निर्णय से दुःखी होकर अमर सदा के लिए राजकोट छोड़कर वापस मुंबई चला जाता है। स्त्री-पुरुष के इस संबंध को लेखक अपनी दृष्टि से व्यक्त करते हुए उपन्यास में लिखते हैं- 'ऐसा है सोनलजी, पुरुष को पहले तो पत्नी ही अच्छी लगती है, चाहे वह जैसी भी हो लेकिन बाद में वह उससे नीरस होने लगता है। फिर वह पत्नी की नहीं, रमणी की चाहना करने लगता है। वैसे ऐसे मौकों पर अपना विश्वास और व्यवहार ही साथ देता है और अपने संस्कार भी। इंसान या कह लो पुरुष अपेक्षा करता है कि उसकी पत्नी उसके लिए हमेशा ताजी बनी रहे। तब वह उसे अंतिम समय तक निभा ले जा सकता है।'

आधुनिक दौर में स्त्रियों में बदलाव आ गया है। वे अपने तरीके से जीना चाहती हैं। आज की नारी केवल घर से निकलने का अधिकार ही नहीं बल्कि पुरुष से इतर पैसा कमाने, स्वावलंबी बनने तक का सफर अकेले तय करना चाहती है। इसी संदर्भ में 'सोनल मेहता' का यह विचार उपन्यास में ध्यान आकृष्ट करता है- 'क्या किसी पुरुष के बिना औरत अपनी जिंदगी नहीं जी सकती और अगर मैं यह मान लूँ तो मैं अपना पुरुष कहाँ से लाऊँ। कहाँ खोजूँ उसे। यह खांडवाला और यह चौधरी। खांडवाला के बारे

में सोचना बेकार है। वह सिर्फ शरीर है, मांस भर है। पता नहीं किस कमजोर क्षण में मैं उसके इतनी पास आ गयी। फिर तो वह शादीशुदा भी है। अब सोचती हूँ कि उसका संसार अलग है- रुपये-पैसे का हिसाब रखने वाला। एकदम वर्ल्डली। उसे बस शरीर की आवश्यकताओं से मतलब है। मन की भी कुछ और जरूरतें होती हैं, वह सोच नहीं सकता। अब चार-पाँच सालों के बाद मुझे सब बासी-बासी लगता है। मानती हूँ, वह मेरी बहुत चिंता करता है। मुझसे बहुत जुड़ा हुआ है वह। लेकिन ऐसा जुड़ना भी क्या जुड़ना जो आत्मा को शांति न दे सके।'

उपन्यासकार देवेश ठाकुर के नारी पात्रों के संबंध में 'डॉ. विमल कुमार प्रसाद' का कहना है- 'नारी की मानसिक सोच में भी युग परिवर्तन के साथ भारी बदलाव आया है। देवेशजी के उपन्यासों के नारी पात्रों की मानसिकता में विविधता पाई जाती है। उनके नारी पात्र पुराने रूढ़िवादी नैतिक मूल्यों के दास न बनकर आधुनिकता में अपना लक्ष्य खोजते हैं।'

अतः कहा जा सकता है कि देवेश ठाकुर के नारी पात्र समस्याओं से घिरे नहीं रहते बल्कि उससे मुक्ति चाहते हैं। 'जंगल के जुगनू' और 'कातर बेला' दोनों उपन्यासों में 'पलक' और 'सोनल' के माध्यम से नारी जीवन की विविध समस्याओं को उभारा गया है। साथ ही, इन दोनों पात्रों के द्वारा स्त्री को अपनी मुक्ति के लिए आत्मसंघर्ष करने, अपने आधिकारों के प्रति आवाज उठाने और शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने का आह्वान किया गया है। उनकी नारी समाज की उन सारी मान्यताओं को तोड़ने का प्रयास करती है, जिसे प्राचीन काल से पुरुषों ने बनाकर रखा है। 'पलक' द्वारा लेखक ने जहाँ मध्यमवर्गीय जीवन से लेकर आजादी से पहले और बाद की स्त्री-समस्याओं को दिखाया है। 'फातिमा' को जेल से निकालते हुए पुरुषों की मानसिकता का चित्रण हो या 'सोनल' द्वारा अंत में विवाह न करना, ये दोनों स्वयं के लिए, स्वयं निर्णय लेने की सजगता है जिसके माध्यम से स्त्री समाज के भीतर चेतना का एक नया किवाड़ खुलता हुआ दिखाई पड़ता है।

1. संपा-डॉ. सतीश पाण्डेय, अल्पविराम, पृ. 13.
2. देवेश ठाकुर, जंगल के जुगनू, 2004, वाणी प्रकाशन, पृ. 39.
3. वही, पृ. 56.
4. वही, पृ. 63.
5. वही, पृ. 51-52.
6. वही, पृ. 119.
7. देवेश ठाकुर, कातर बेला, वाणी प्रकाशन, 2005,पृ.126.
8. वही, पृ. 130.
9. वही, पृ. 107.
10. वही, पृ. 79.
11. समीचीन, जनवरी 2003, अंक 1, पृ. 104.

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, गंगटोक पताः सोनापुरी (ढालीगाँव), चिरां-783385, असम

निम्नवर्गीय बालक की संघर्ष कथा : 'जीवा'

- डॉ. इंदु बाली

'जीवा' देवेश ठाकुर की एक सार्थक कृति है, जिसमें लेखक की व्यंग्य-मुद्रा और तेजस्विता अपने पात्रों के साथ-साथ चलती है। डॉ. ठाकुर जितनी समझदारी और हल्के हाथों के कोमल स्पर्श से अपने पात्रों का चित्रण और विश्लेषण करते हैं, उतनी ही कठोरता और दृढ़ता से उनके अवगुणों का चित्रण एवं उन पर प्रहार भी करते हैं।

'जीवा मुम्बई के सामान्यवर्ग के उन लोगों की कहानी है जो अन्य प्रांतों से आकर अपनी रोजी-रोटी के लिए लगातार संघर्षरत रहते हैं। बाहर के गाँवों एवं अन्य प्रांतों से प्रतिदिन हजारों की संख्या में आने वाले ये लोग यहाँ की अमानवीय और अपरिचित चकाचौंध में आकर या तो अपनी मानसिकता के अनुरूप जीवा की तरह सही तरीके से जी-तोड़ मेहनत करके जीविका के लिए संघर्ष करते हैं या फिर इसी उपन्यास के बल्लू की तरह गलत मूल्यों के साथ गलत रास्ते पर चलते हुए विनष्ट हो जाते हैं। डॉ. ठाकुर का यह उपन्यास इन दो पात्रों - जीवा और बल्लू - की जीवन स्थितियों और परिणितियों को रूपायित ही नहीं, विश्लेषित भी करता है। इतना ही नहीं,इन सामान्य वर्गीय चरित्रों के साथ-साथ यहाँ की बोलचाल की भाषा, व्यवहार की कृत्रिमता, स्वार्थी दृष्टि, बस अपने लिए जीते लोग और व्यस्त जीवन प्रक्रिया आदि का जीवंत चित्रण भी इसमें मिलता है। मानव के मानव न रहकर मशीन बनाये जाने और अपने लिए सिर्फ वर्तमान में जीते लोगों के मनोभावों को लेखक ने बड़ी ही तटस्थता और वस्तुपरकता के साथ उभारा है। इनके अन्य उपन्यासों की तरह 'जीवा' की कथावस्तु मध्यवर्ग से संबंधित न होकर निम्न वर्ग से है परंतु कथा की गति एवं पात्रों के मनोभावों के चित्रण में उपन्यासकार की कुशलता साफ दिखाई देती है। 'जीवा' एक मध्यम आकार का उपन्यास है। आज की भागदौड़ भरी व्यस्त जिंदगी में दीघार्कार 'महाउपन्यास' लिखने की सार्थकता पर जब प्रश्नचिन्ह लगाया जा रहा है, जीवा अपने आकार, कथावस्तु संयोजन और पठनीयता की दृष्टि से सफल उपन्यास है, जिसे शुरू से लेकर अंत तक पढ़ा, गुना और समझा जा सकता है। देवेश ठाकुर अपनी प्रयोगात्मकता के लिए विश्रुत हैं। जीवा उनकी प्रयोगात्मकता का एक सोपान है। यह पाठकों को एक नए परिवेश में ले जाता है जहाँ गहरे पैठ कर गाँव और मुम्बई महानगर की मानसिकता के साथ मानवीय संवेदना को वस्तुपरक ढ़ंग से मिश्रित किया गया है। जीवा का देशकाल 1955-60 के बीच का है पर वस्तु स्थिति आज भी वैसी ही नहीं बल्कि उससे भी बदतर हुई है क्योंकि बाहर से आए लोग महानगरों में इसी तरह आजिविका के लिए भटक रहे हैं। 'जीवा' इन स्थितियों और इस मानसिकता की जीवंत गाथा है। लेखक किसी समाज-सुधारक, सर्वधर्म समन्वयकारी, विशेष संप्रदाय-जाति के प्रतिष्ठापक या वेदांत-व्याख्याता के रूप में नहीं बल्कि मानवीय संवेदना के साथ विषय की परख करता चला जाता है। 'जीवा' में मस्ती, फक्कड़पन, संवेदना और मानवीय संबंधों को खूब झाड़ फटकार कर प्रस्तुत किया गया है। यहाँ लेखक का अपना व्यक्तित्व भी कहीं न कहीं सर्वजयी होकर अनन्य साधारण जीवन रस भर देता है। लेखक के व्यक्तित्व की सहजता और सहृदयता ध्यान आकृष्ट करती है। वह अच्छे कर्मों का परिणाम अच्छा और बुरे का बुरा दिखाने में संकोच नहीं करता । यहीं पर उपन्यासकार

विराट और आनंदमय लोक का वह वातावरण भी प्रस्तुत करता है जो साधारण सोच वाले व्यक्ति की सोच से बहुत ऊपर है। तभी तो एक जगह से आए दो चरित्रों का परिणाम कितना भिन्न हो जाता है। इस तरह उपन्यासकार अपने पात्रों से प्यार करता है, उन्हें आगाह करता है किंतु एक नेता व गुरु बनकर नहीं बल्कि साथी और मित्र बनकर। वह पात्रों के सुधार के लिए न तो कोई उपदेश देता है और न ही इस सुधार के चक्कर में पड़ता है। शायद वह अनुभव कर चुका है कि जो स्वयं सुधरना नहीं चहता, उसे जबरदस्ती सुधारने का प्रयास व्यर्थ है। इसीलिए वह पात्रों को अपना निर्णय लेने की शक्ति देता है, जिसमें धर्म, संप्रदाय, जाति, कुल और शास्त्रों की रूढ़ियों के लिए कोई जगह नहीं होती। उसका मानना है कि मानव एक सच्चा मानव बन जाए तो भी काफी है। देवेश ठाकुर का समस्त साहित्य उनके अंतर्बा' व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है। व्यक्तित्व- निर्माण के उपकरणों में रचनाकार के संस्कार, उसका सामाजिक परिवेश, जिसमें राजनीति, धर्म, अर्थ तथा संस्कृति के साथ-साथ व्यक्तिगत तथा निकट के संबद्ध व्यक्तियों के अनुभव तथा अध्ययन तथा सब कुछ समाहित होता है। यहीं एक बात उल्लेखनीय है कि स्वस्थ रचनाधर्मिता को समर्पित लेखक अपने लेखन में जहाँ अपना व्यक्तित्व उकेरते हैं, वहीं चालाक, स्वार्थी, धूर्त और अवसरवादी लेखक अपने भ्रष्ट व्यक्तित्व पर दूसरा चेहरा लगा देते हैं और समाज सम्मत लेखन करते हैं जो उनके व्यक्तित्व से विलकुल मेल नहीं खाता। पाठकों और आलोचकों द्वारा जब उनकी रचनाओं का विवेकपूर्ण अनुशीलन किया जाता है तो रचनाकार का पूरा पाखंड उजागर हो जाता है। देवेश ठाकुर एक ऐसे लेखक हैं, जहाँ कृत्रिमता या गलत बनावट की कोई गुंजाइश नहीं है। आज की आत्मकेंद्रित, स्वार्थपूर्ण और ईर्ष्या-द्वेष से आक्रांत स्थिति में भी वह अपने को बचा ले जाते हैं। यह गुण उनके समस्त साहित्य में देखा जा सकता है। 'जीवा' उपन्यास के साथ डॉ. देवेश ठाकुर ने हिन्दी कथा साहित्य में अपनी अलग पहचन बनाई है। एक तरफ जहाँ उन्होंने अपने उपन्यासों के कथा-शिल्प में नए-नए तथा सार्थक प्रयोग किए हैं, वहीं अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध निरंतर संघर्ष का उनका शिल्प भी सामने आता है। 'जीवा' में भी विलक्षण रचनाकार के गहरे चिंतन और मानसिक क्रियाशीलता का परिचय मिलता है। हर साहित्यकार का अपना अलग रचनात्मक विश्व होता है जहाँ की सीमाएँ वह स्वयं निर्धारित करता है। इसी तरह उसकी क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ उसके आंतरिक और बा' प्रभाव के कारण उत्पन्न होती हैं। जिन्हें वह कभी सहज ही नकारता है और कभी संकल्प के साथ स्वीकारता है। 'जीवा' में अनवरत संघर्षशीलता तथा भविष्य के प्रति आस्था का अटूट स्वर है। 'जीवा' में जिस तरह निम्नवर्गीय, अभावपूर्ण और संघर्षमय जीवन जीने के बाद भी भविष्य में कुछ बनने की ललक है, उसका संकेत उपन्यास के आरंभ में ही मिल जाता है। उसके परिवार की त्रासद स्थितियों का संकेत देते हुए उपन्यासकार ने लिखा है - 'नेहरू नगर के सिवान पर बसे नूरपुर में सौ-सवा सौ झुग्गियों में रहने वाले सभी परिवारों की हालत करीब-करीब एक जैसी थी। उनके अलग-अलग बाड़े थे। लोहारबाड़ा, बढ़ईबाड़ा, धोबीबाड़ा, मजूरबाड़ा वगैरह-वगैरह। फसल बोने और काटने के दिनों में इनमें से ज्यादातर लोग खेतों में मजदूरी करते थे और बाकी दिनों में या तो काम मिलने

पर अपना धंधा करते या काम की खोज में शहर की तरफ रुख कर लेते। कभी-कभी कई लोग महीनों तक बेकार भी रहते थे। मँगरू की झुग्गी बढ़ईबाड़े में थी। कभी वह अच्छा दस्तकार माना जाता था। उसके पास काम की कोई कमी नहीं रहती थी। लेकिन जब से नेहरू नगर में कच्ची शराब की दुकान खुली तब से झुग्गियों में रहने वाले दूसरे लोगों की तरह मँगरू को भी पीने की लत पड़ गई जो दिनों-दिन बढ़ती गई। कभी वक्त था, वह जीवा को पढ़ा-लिखाकर बड़ा आदमी बनाना चहता था लेकिन अब घर में खाने के लाले पड़ गए थे। जीवा का स्कूल छूट गया था और उसकी झुग्गी में हर रात महाभारत मचा करता था।'[1] मंगरू की गरीबी व शराब की लत जीवन का अभिशाप बन जाती है और जीवा का भविष्य अंधकारमय हो जाता है। लेकिन जीवा सपने देखना नहीं छोड़ता। जीवा में पढ़ने-लिखने और कुछ बन जाने की बड़ी ललक थी पर अब वह अपनी झुग्गी के सामने खड़ा स्कूल जाते बच्चों को देखता और अपना दिल मसोस कर रह जाता। अब सपनों में ही उसके सामाने किताबें आतीं, अपने हमजोली स्कूल के लड़के आते और मास्टर जी का पढ़ाना आता। धीरे-धीरे उसमें एक अजीब तरह की निष्क्रियता का भाव पैदा होने लगा था।' गरीबी की त्रासदी इससे बढ़कर और क्या हो सकती है। एक ही घटना कभी-कभी जीवन को निर्णायक मोड़ पर लाकर खड़ा कर देती है और फिर दुनिया ही बदल जाती है। जीवा के साथ भी ऐसा ही होता है। उपन्यासकार ने इसका मार्मिक चित्रण किया है-'अधसोयी- अधजगी मुंगी ने लेटे-लेटे ही मँगरू को एक भद्दी-सी गाली दी और करवट बदलकर आँखें बंद कर लीं। मँगरू इस बेइज्जती को सह नहीं पाया। उसने किसी तरहउठकर दीवार पर लटकी दराती उठायी और एक ही बार में मुंगी को हलाल कर दिया। मुंगी एक बार जोर से चिल्लाई और फिर शांत हो गई।...फिर वह मुंगी की बगल में लेटी फूलमती की ओर लपका। अब तक फूलमती जाग चुकी थी। हालाँकि वह अंधेरे में कुछ देख नहीं पाई थी फिर भी उसे आने वाली मुसीबत का भान हो गया था। वह उठकर बाहर भागने की कोशिश करने लगी लेकिन मँगरू ने उसे चौखट पर ही दबोच लिया और उसका झोंटा पकड़कर उसे दरवाजे के किवाड़ से पटक दिया। फूलमती के मुँह से एक चींख निकली और फिर वह वहीं पर बेजान होकर गिर पड़ी।' इस घटना को दालान में सोया जीवा देख लेता है। बाहर गली में जलते बल्ब की पीली रोशनी में वह जमीन पर बेहोश पड़ी फूलमती और पास खड़े बाबू का भयानक चेहरा देखकर भय से काँप उठता है। फिर उठकर बड़ी तेजी से बा-हर भाग जाता है, पल भर में एक चौदह साल के बच्चे का सारा संसार बदल जाता है। जीवा के सारे सपने धराशायी हो गए थे। रचनाकार उसकी मनः स्थिति का संकेत देते हुए लिखता है कि 'अब जीवा के पास कुछ नहीं था, न परिवार, न अपनी भूमि ! बस रह गया था भागना और संघर्ष करने की अदम्य इच्छा।' यह जीवा की ही नहीं, उस जैसे हजारों बच्चों की कहनी है। जीवा थका-हारा चलता जाता है। पता नहीं कहाँ और पता नहीं किसलिए। उसकी कोई मंजिल नहीं है। बिलकुल अकेला, थका हुआ, भूखा और असहाय। लेकिन यहीं लेखकीय दृष्टि इस टिप्पणी से उजागर हो उठती है कि 'जब आदमी निपट अकेला होता है तब वह बलवान और संकल्पशील हो जाता है।' इसके माध्यम से उपन्यासकार जीवा के संघर्ष, दृढ़ संकल्प-शक्ति एवं जिजीविषा का पूर्व संकेत

दे देता है। जीवा को सहारा मिलता है हरिराम व उसकी पत्नी के घर में। हरिराम का अपना बेटा गुजर गया था। उसकी पत्नी को जीवा में अपने बेटे की झलक दिखाई देती है। मानवीय संबंधों पर आधारित इस रिश्ते से जहाँ जीवा को सहारा मिल जाता है, वही हरिराम की पत्नी की ममता भी तुष्ट होती है। हरिराम और जीवा आलू-प्याज का ठेला शहर में लगाते हैं। वहीं जीवा को उसके गाँव का बल्लू मिलता है जो नूरपुर से भागा था। उस समय उसने एक लड़की को छेड़ा था। इससे कसाईबाड़ा और मोचीबाड़ा के लोगों में आपस में ठन गई थी। पहले गाली-गलौज और फिर मार-पीट, दंगे फसाद में मोचीबाड़ा के एक लड़के की मौत हो गई थी। इस बीच बल्लू छिपता-छिपाता भाग निकला था और फिर नूरपुर कभी नहीं गया था। बल्लू के कपड़ों और शान का प्रभाव जीवा पर भी पड़ता है। बल्लू जीवा को बम्बई की ढेरों सपने दिखा कर अपने चक्कर में फाँस लेता है। जीवा के मन में मुम्बई देखने और शानदार जीवन जीने की इच्छा जाग उठती है। इधर हरिराम और उसकी पत्नी के प्रति भी उसके मन में एक दूसरा बवंडर जाग उठता है - 'इन लोगों को इतना मनाने के बाद भी, दिन भर ठेला ठेलने के बाद भी, घर के छोटे-बड़े काम करने के बाद भी, ये मुझे फोकट का नौकर समझते हैं। ठीक ही तो समझे हैं। नौकर नहीं तो और क्या हूँ मैं? नौकर ही तो हूँ । मैं बेकार में इन्हें ही अपने माँ बाप समझने लगा था। मैं गलत था। दूसरे के सर के तेल से अपना सर चुपड़ा जा सके है क्या? मैं तो अनाथ हूँ। अनाथ मानकर रोटी के दो टुकड़े मेरे सामने डाल देते हैं। बस, हो गया हिसाब पूरा। कब तक जिऊँगा ऐसी जिंदगी। ना-ना-ना। मुझे नहीं जीनी ऐसी जिंदगी। (पृष्ठ - 11) मानवी रिश्तों पर लेखक यहाँ गहरा कटाक्ष करता है। जीवा की यहीं सोच और बल्लू का झूठा आश्वासन उसे मुम्बई जाने और अनजान राहों पर चलने के लिए प्रेरित करता है। वह अपनी कुल पूँजी 260 रुपए लेकर मुम्बई चल देता है। बल्लू का चरित्र यद्यपि उपन्यासकार ने धीरे-धीरे खोला है लेकिन पहले ही साक्षात्कार में बल्लू की नीयत स्पष्ट होने लगती है। उसके साथ दो जवान लड़कियाँ जा रही होती हैं, जिनसे उसने सेठ के यहाँ नौकरी दिलने का वादा किया है। धीरे-धीरे बल्लू की असलियत खुलती जाती है। मित्र को धोखा और लड़कियों का व्यापार तथा स्वयं एक गिरा हुआ इंसान। भोला-भाला और उदात्त वृत्तियों वाला जीवा उसके असली रूप को नहीं समझ पाता। उसे पहला धक्का तब लगता है जब टी. टी. उसे बिना टिक ट बताकर उसे बीच रास्ते में उतार लेता है और बल्लू वहाँ कहीं भी नजर नहीं आता। इस तरह लेखक एक ही जमीन से दो चरित्रों को उठाकर उनके स्वरूप को दो सीमाओं में विस्तार देता है। एक बहुत ही अच्छा और दूसरा बहुत ही दुष्ट। बल्लू को जीवा के कष्टों से कोई सरोकार नहीं था। वह जितना लाभ उठा सकता था, उस ने उठाया और आगे बढ़ गया। मुम्बई पहुँचकर साथ लाई हुई लड़कियों को बेच दिया। बल्लू के इस गिरे हुए और धूर्त चरित्र के विपरीत जीवा पूरी तरह निराश्रित और भूखा-प्यासा रहता है। उसकी भूख का मार्मिक चित्रण उपन्यासकार ने किया है- 'भिखारी ने खाना खा लिया था। शेष बचे हुए को वह कुत्ते के सामने बढ़ाने ही वाला था कि तभी जीवा अनायास ही बोल उठा - 'इसको ले लूँ?' जीवा के इन शब्दों में उसकी भूख, पीड़ा और विवशता सब कुछ प्रकट हो जाती है। आगे उपन्यासकार ने लिखा है - 'अपनी झोली से कुछ

पूरियाँ और आलू की सब्जी निकालकर उसने अखबार पर रख दीं और बोला - पेटभर कर खा ले। मैं भी एक दिन इसी तरह बिना टिकट पकड़ा गया था।' (पृ. - 26) जीवा को हरिराम की याद आती है। लेखक अमीर और गरीब की मानवीय संवेदनाओं का बेबाक चित्रण करते हुए यह एहसास कराता है कि गरीब की संवेदनाएँ अभी उतनी नहीं मरी हैं जितनी अमीर की। भटकते हुए जीवा को जब भी आश्रय मिलता है तो किसी संघर्षशील गरीब के यहाँ। इसके विपरीत बल्लू हर तरह से असंतुष्ट है। वह हर पल गर्त में धँसता जाता है। उसकी मित्र मरियम को भी नहीं मालूम होता कि वह भड़वागिरी करता है। वह यही समझती है किसी सेठ के यहाँ काम करता है। बल्लू सभी तरह के अवैध कार्य करता है। परिणाम स्वरूप कभी जेल के अंदर तो कभी बाहर। वह किसी भी मानवीय संबंध या मानवीय मूल्य को निभा नहीं पाता। किसी तरह जीवा मुम्बई आ जाता है उसे कुछ दिनों के लिए एक सेठानी कल्पना के यहाँ आश्रय मिलता है। उसके पति बड़े अफसर हैं। वह वहाँ मन लगाकर सेवा करता है किंतु प्रश्न वही कि कब तक? वह वहाँ से भी भाग जाता है और बम्बई सेंट्रल स्टेशन पहुँचता है। पर लोग तो यहाँ भी वैसे ही थे। गाँव छोड़ आया, पैसा खो आया। मित्र धोखेबाज निकला। हर अनुभव उसे अजीब लगता। कृत्रिम जीवन-शैली उसे कचोटती - जहाँ मानव ही मानव को कीड़े-मकोड़ों की तरह रौंदकर आगे बढ़ जाता है। क्या यही मुम्बई है? इससे तो अच्छा उसका गाँव ही था। अचानक ही वह पंद्रह-सोलह वर्ष का लड़का बड़ा हो जाता है। आज उसे एक तरफ सेठ के घर के अमानवीय रूप से आजाद होने का अहसास होता है तो दूसरी ओर वह यह भी सोचता है कि अब आगे क्या? इसी अहसास और सवाल के लिए वह दिनभर उलझा रहता है और मुम्बई से पहली बार परिचित होता है- 'यहाँ की बड़ी-बड़ी बसें, दौड़ते-भागते लोग, फुटपाथों में ठेला लगाए चिल्लाते लड़के, अलग ही तरह के कपड़े पहने लड़कियाँ, सिनेमा के बड़े-बड़े पोस्टर, सजी-धजी दुकानें, ऊँची-ऊँची इमारतें, हर रास्ते पर भीड़ ही भीड़, सड़कों पर दौड़ती चमचमाती कारें - ये सब उसमें उत्सुकता और आश्चर्य जगाते रहे और साथ ही एक प्रकार के भय का भाव भी भरते रहे। इतने बड़े शहर में अब कोई ऐसा नहीं था जिसे वह अपना कह सकता था। निपट अकेला, एक तरह से लावारिस। (पृष्ठ - 55) बंबई की संपन्नता एवं वहाँ के फुटपाथों पर बनी झोपड़ियों के चित्रण द्वारा उपन्यासकार एक कंट्रास्ट रचता है और यथार्थ से परिचित कराता है। यह उसकी सजग दृष्टि का परिचायक है। वह ऐसा ही एक दृश्य और खड़ा करके समूचे वर्तमान को प्रस्तुत करता है और उसमें आम आदमी के संघर्ष को भी रेखांकित करता है। जीवा सड़क के किनारे एक बस स्टॉप पर खड़ा सोच रहा होता है कि तभी एक दुमंजली बस आकर रुकती है। लोगों की धक्का-मुक्की में वह कब बस के अंदर पहुँच जाता है, उसे पता ही नहीं चलता। एक सीट के पास खड़ा होकर वह आँखें बंद कर लेता है। पूरे दिन का दृश्य एक-एक कर आँखों के सामने से गुजरने लगता है। तभी एक बूढ़ा सरदार उसके पास आकर खड़ा हो जाता है। उसकी एक बाँह नहीं है। वह बड़बड़ाने लगता है - 'पैसा-पैसा - सब पैसे के लिए भाग रहे हैं। हाय-तौबा मची है। बी. एससी. करो, एम.एससी. करो। दुबई, सउदी अरब चले जाओ। बर्तन माँजो, पाखाने साफ करो, सामान बेचो- पैसा कमाओ और रात को

कोठरी में आँख बंद करके घर के सपने, वतन के सपने देखो और अपनी कमाई का हिसाब लगाओ। बड़ा लड़का बी. एससी. में है। कहता है - इंजीनियर बनेगा। अमरीका जाएगा। जाए, अपन का क्या। हम भी अपना पाकिस्तान छोड़ कर आ गए। आँखों के सामने पूरा कुनबा नेस्तनाबूत हो गया। औरत आँखों के सामने मार डाली गई। जवान लड़की को दंगाई उठाकर ले गए। यहाँ आकर जीने का मजा ही किरकिरा हो गया। चलो भाई क्राफर्ड मार्केट आ गया। वो देखो होटल के सामने भिखमंगों की भीड़ बैठी है। रात के ग्यारह बजे होटल बन्द होगा तब इन्हें बचा हुआ खाना दे दिया जाएगा। यह उसी टिक्कड़ की इंतजार में बैठे हैं।... मुहम्मद अली रोड आ गया है। जिसे उतरना हो उतर जाओ। बाकि लोग हाथ अंदर कर लो। मियाँ भाइयों की बस्ती है कोई हाथ काट लेगा। (पृ. 56-57) बूढ़े सरदार के माध्यम से लेखक ने ढेरों प्रश्न उठाए हैं। विभाजन की त्रासदी, भूख, गरीब-अमीर का भेद, बुढ़ापा, पैसों की अतिशय लालसा, टूटते परिवार, विदेशों की तरफ भागते लोग, भागती बम्बई, ठहरे-बिखरे लोग, जाति, धर्म की विसंगतियाँ और न जाने क्या-क्या। सरदार की बड़बड़ाहट में एक दर्द था, जो बाहर निकल रहा था । जीवा अनजानी मुम्बई में भटकते हुए कभी होटलों के बाहर बैठता है। कभी लंगर की कतार में। पेट भर जाता है तो किसी खंडहर जैसी अधबनी बिल्डिंग में रात बिता लेता है। तरह-तरह के छोटे-छोटे काम करता है। वह सोचता है कि बल्लू मिलेगा तो पूछेगा कि उसने उसका क्या बिगाड़ा था? इसी बीच उसे एक अपंग, बूढ़ा भिखमंगा मिलता है जिसकी टाँगें कटी हुई हैं। उसे देखकर जीवा को उबकाई आती है और तरस भी। भिखारी के कहने पर बेरोजगार जीवा उसकी पटरी खींचने का काम करने लगता है। बदले में उसे मिलता है दो वक्त का भोजन। भिखारी अल्लारक्खा कहता है कि वह भिखारी जरूर है लेकिन कमीना और बदनियत नहीं है। अल्लारक्खा के साथ एक औरत भी रहती है। वह भी पेट के खातिर भीख माँगती और धंधा करती रही है। इस औरत के माध्यम से लेखक ने उन झोपड़ों में रहने वाली ऐसी तमाम औरतों का दर्द बयान किया है जिनके मर्द कुछ काम नहीं करते। इसका पति भी दिनभर नशे में रहता है और अपनी पत्नी के लिए ग्राहक लाता है। एक दिन वह रेल से कटकर मर जाती है। अल्लारक्खा अपने मजदूर से भिखारी होने की कहानी भी जीवा को सुनाता है। उसी से जीवा को यह पता चलता है कि इन झोपड़ों-झुग्गियों में मर्द या औरत बदलना आम बात है। उनका जीवन कीड़े-मकोड़ों की तरह होता है। जहाँ मरना चाहकर भी मरा नहीं जाता। जीवा साल भर अल्लारक्खा की पटरी खींचता है क्योंकि वहाँ उसे खाने-पीने और रहने की सुविधा है। जीवा ऐसा जीवन नहीं जीना चाहता था। उसकी कल्पना पढ़-लिखकर एक अच्छा इंसान बनने की थी पर उसकी यह दशा उसके शराबी बाप के कारण हो गई थी। उसे माँ-बहन और गाँव की बेहद याद आती है पर वहाँ किसी के भी न रहने के कारण वह अल्लारक्खा को छोड़कर जा भी नहीं पाता। खाने-रहने की सुविधा जो थी। एक दिन अल्लारक्खा का अंत समय आ जाता है। अपनी सेवा के बदले अल्लारक्खा जीवा को पटरी के नीचे रखे पैसों की संदूकची बता जाता है। वह औरत भी खोली की लालच में जीवा के साथ रहना चाहती है पर जीवा अब मुम्बई में रहते हुए अनुभवी और चालाक हो गया था। वह सारे पैसे लेकर वहाँ से कभी न लौटने के

लिए एक बार फिर भाग जाता है। वह फिर फुटपाथ पर पहुँच जाता है। बम्बई में फुटपाथ का विशेष महत्त्व है जहाँ हजारों बच्चों और बड़ों को काम मिलता है। वह फुटपाथ पर फैली तमाम चीजों के साथ कोने में बूट पालिश करते अपनी उम्र के दो-तीन लड़कों को बड़ी देर तक देखता रहता है। यहीं लेखक जीवा की दृष्टि को एक नया आयाम देता है। उसकी मुलाकात मंदा से होती है। पुरुषों द्वारा उसके शरीर को खिलौना बनाना और फिर चार पैसे देकर चलते बनना, मंदा की विवशता, उसका बच्चा और पेट की भूख - जीवा का एक नए यथार्थ से परिचय होता है। मंदा का दुख उससे देखा नहीं जाता। औरत होना कितना बड़ा अभिशाप है। फिर उसे अपने बाप की याद आती है - 'अब पता चला होगा अपनों की हत्या का क्या मतलब होता है। पुलिस वालों की मार, खाना भी पूरा नहीं मिलता होगा। कमरतोड़ काम लेते हैं मुल्जिमों से।' कभी-कभी वह रात भर यों ही अपनी जिंदगी के पन्ने पलटता रहता है। कभी उसे घायल माँ की कराहट सुनाई देती है तो कभी बहन की चिल्लाहट। कभी वह अंधेरी रात में घर से भागने के दृश्य में खो जाता है। फिर उसे याद आते हैं हरिराम और उसकी पत्नी। आलू-प्याज की बोरियाँ, बल्लू का धोखा, भट्टी के सामने अपने को तपाता हुआ भगीरथ, माँ शांति का दुलार, सुषमा की खट्टी-मीठी बातें, फिर कल्पना जी के साथ मुम्बई आना और सड़कों को नापते घूमना। वह मेहनत करने से संकोच नहीं करता है। पहले वह बूट पालिश करने की सोचता है लेकिन वहाँ रिश्वत देने का पता लगने पर नहीं कर पाता। फिर म्युनिसपैलिटी के पाखाने तक साफ करता है फिर उसे मिलती है सुक्खी। सौतेले माँ बाप से पीड़ित होकर वह आप कमाती और अपना पेट भरती है। इस शहर की भयानकता से अब उसे जरा भी डर नहीं लगता। वे दोनों एक दूसरे के पास आने लगते हैं। सुक्खी को जीवा औरों से भिन्न लगता है। वह कोई ओछी हरकत नहीं करता। औरत और संबंधों का सम्मान करता है। वह मेहनती भी है और सुक्खी जानती है कि मुम्बई शहर में मेहनती इंसान को कुछ न कुछ काम अवश्य मिल जाता है। जीवा अपने ढंग से संघर्ष करता रहता है तभी उसे रामधन और उसकी पत्नी राधा मिलते हैं जिनका मानना है कि 'जात-बिरादरी कुछ नहीं होती। दुनिया में बस दो ही जात होती है - एक गरीब की जात, एक अमीर की जात - बस ।' इसके बाद वह मास्टर जी से मिलता है और तब उसका जीवन ही बदल जाता है। उसकी मेहनत और मास्टर जी की निःस्वार्थ सेवा रंग लाती है। जीवा अस्पताल में वार्ड ब्वाय बना दिया जाता है। जीवा जब आभारपूर्वक मास्टर जी का पैर छूता है तो वे यही आशीर्वाद देते हैं कि 'शिक्षा और सेवा, बस यह दो ही चीजें हैं दुनिया में जो जिंदा रहती हैं। बाकी सब तो ऐसे ही है। ...बेटा मास्टर जी का नाम बदनाम मत करना।' जीवा भी कभी किसी से कोई शिकायत नहीं करता। बस हर प्रकार से अपने को दूसरे की भलाई में ढाल लेता है। सुक्खी उसकी सत्यता और विश्वास से इतनी प्रभावित होती है कि दिन रात उसके सुखी जीवन की प्रार्थना करती है। यह सोचती है - 'देवा उसकी मदत क्यों नहीं करता। भौत परीक्षा ले ली इसकी। हे देवा, इसकी जिनगी बना दे।' (पृष्ठ -143) जीवा के इस चरित्र विकास में लेखक की अपनी मान्यताएँ झलकती हैं कि संघर्ष इंसान को तोड़ता-बिखेरता नहीं बल्कि उसे कुंदन बना देता है। इसके ठीक विपरीत बल्लू अपनी जीवन यात्रा में काले धंधे करते-करते गर्त की तरफ बढ़ता चला

जाता है। वह भी जीवा की तरह भटकता है, सड़कें नापता है पर कोठों वाली गलियों में, काले धंधे के चक्कर में। पुलिस की रेड पड़ती है तो वह छिपता-छिपाता कोई और नया आसरा ढूँढता है। उसके दोस्त भी उसके जैसे ही हैं। वह दर-दर भटकता हुआ लोगों से पैसे माँगता है। धोखा करता है, पैसे मिलने पर अय्याशी करता है, फिर भटकता है। मरियम से थोड़ा जुड़ता है पर उसके लिए भी कुछ नहीं कर पाता। मरियम के पेट में उसका बच्चा है। वह झुग्गी खरीदना चाहता है। काले धंधे में फिर से उलझता है। सामान इधर से उधर पहुँचाने में भारी रकम भी पाता है जिसके नाते पुलिस द्वारा पकड़े जाने और जेल जाने का डर भी नहीं रह जाता। उसकी इस दिनचर्या का अभिशाप मरियम को ढोना पड़ता है। उनके बीच कुछ महीने तो अच्छे बीतते हैं पर धीरे-धीरे उसके सामने बल्लू की असलियत खुलने लगती है। कमाठीपुरा के कोठों में उसका आना-जाना लड़कियों की सप्लाई, चोरी चकारी, धोखेबाजी ...। मरियम के सामने उसकी जिंदगी परत-दर-परत खुलती चली गई थी और उसका प्यार, उसकी चाहत, उसकी संजीदगी कच्चे धागे सी टूट कर बिखर गई थी।' (पृष्ठ -136) अपनी इन्ही आदतों के कारन बल्लू निरंतर भटकता रहता है। एक दिन किसी औरत की चेन खींचकर भागते समय ट्रेन से गिरकर कट जाता है। पुलिस उसे स्ट्रेचर पर लाद कर उसी अस्पताल में ले जाती है, जहाँ जीवा काम करता था। बल्लू का यह अंत देखकर जीवा अपने वार्ड की ओर बढ़ जाता है। बुराई का अंत हो गया था। दूसरी ओर जीवा एक खोली ले लेता है। इसके बाद सुक्खी से उसका मिलना-जुलना बढ़ जता है। सुक्खी शेट्टी काका को अपने पिता समान मानती है। उनकी सहमति से जीवा और सुक्खी शादी कर लेते हैं। सुक्खी के बहाने वह शहर के बहुत से लोगों से जुड़ जाता है। अब वह इस शहर में अकेला नहीं रह जाता। अपनी पढ़ने की इच्छा पूरी करने के लिए नाइट स्कूल में दाखिला ले लेता है ताकि मैट्रिक हो सके। मास्टर साहब ने कहा था कि मैट्रिक कर लेगा तो उसे टेक्नीशियन बना दिया जाएगा। वस्तुतः देवेश ठकुर के परिचितों का दायरा बहुत बड़ा है। टैक्सी ड्राइवर, गेट कीपर, मिलों में काम करने वाले मजदूर, चपरासी बड़े-बड़े बैंक अधिकारी, उद्योगपति, लेखक, संपादक, प्रबंधक, शिक्षक और विचारक सभी से बातें करना और सुख-दुख बाँटना लेखक को प्रिय है। यह कार्य कमरे के अंदर बैठकर नहीं हो सकता। इसी कारण इनकी कथावस्तु एवं पात्रों के चित्रण में विविधता है। जीवन का कोई भी पक्ष अछूता नहीं है। देवेश वास्तव में बौद्धिक से अधिक भावुक और संवेदनशील हैं तभी इतनी गहराई से 'जीवा' के पात्रों को प्रस्तुत कर पाए हैं। किसी भी रचनाकार को वस्तुपरकता के साथ अपने चरित्रों का विश्लेषण करते समय उसके भीतर का समीक्षक रूप बड़ा सहयोगी होता है। यहाँ यह स्पष्ट करना असमीचीन न होगा कि देवेश ठाकुर के प्रारंभिक जीवन में संघर्ष अभाव व जूझने की छोटी-छोटी लड़ाइयाँ जहाँ थी, वहीं उनकी सहयोगी मित्रों की एक लम्बी कतार भी थी जो सब के सब बहुत ही ईमानदार, सच्चे एवं संवेदनशील थे। ऐसे मित्रों के सान्निध्य में कुंठाग्रस्त होने का सवाल ही नहीं उठता। इसी कारण 'जीवा' का मुख्य पात्र जीवंत और हर स्थिति में खुशहाल है। संघर्षों से जूझते हुए वह अंततः अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है। असली बात यह है कि 'समाजीकरण की मानसिकता परिस्थितियों के वस्तुपरक विश्लेषण, तटस्थ निरीक्षण और अध्ययन की

एक विशेष प्रक्रिया से बनती है। देवेश ठाकुर इसके धनी हैं। वे रचनाकार की रचनाधर्मिता को उसके व्यक्तित्व के साथ जोड़कर देखने के पक्ष में हैं। उनकी प्रतिबद्धता मानव समाज के उन्नयन के प्रति है। उनकी दृष्टि में पूरी सृष्टि, पूरा समाज, समाज के सभी उपकरण मनुष्य की कृति और उपलब्धि हैं। उनके अनुसार- राजनीति, धर्म, समाज, शिक्षा, संस्कृति, निर्माण, उत्पादन आदि सभी क्षेत्रों में आम आदमी की शिरकत सबसे ज्यादा होती है लेकिन उसी को सबसे अधिक उपेक्षा,शोषण, बलिदान, अभाव और अन्याय भोगना पड़ता है। (पृष्ठ - 32, देवेश ठाकुर : प्रश्नों के घेरे में) देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में शिल्प का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। 'जीवा' का शिल्प-विधान भी कथानक और कथ्य को धुँधलाता नहीं है। इसमें पूरी कसावट है। कहीं कोई दोहरापन या बिखराव नहीं दिखाई देता। पाठक इसकी कथा के साथ स्वयं जुड़ता चला जाता है। जो रचना पाठक को सोचने की उत्तेजना देती है, वह हमेशा एक सार्थक रचना मानी जाती है। जीवा मुझे इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण पूर्ण और सार्थक रचना लगी। 'जीवा' यथार्थ जीवन-मूल्यों और अपने सामाजिक परिवेश से पूरी तरह जुड़ा हुआ है, जो समस्याओं के साथ हल भी देता चलता है। अच्छे बुरे की परख के साथ यह सुखद अनुभूति का अहसास भी कराता है। भाषा पर देवेश का पूर्ण अधिकार है। मानो वे बाणी के डिक्टेटर हों। वे जो कहना चाहते हैं, कहते चले जाते हैं। इनकी भाषा जैसे एक मस्त फक्कड़ इंसान की आज्ञा का पालन करती चली जाती है। भाषा की ऐसी पकड़ विरल ही देखने में आती है। भाव, भाषा, शैली सभी स्तरों पर 'जीवा' एक सार्थक कालजयी रचना है।

देवेश ठाकुर कृत 'जीवा' उपन्यास में व्यक्त समकालीन सामाजिक यथार्थ

- डॉ. ममता पंत

साहित्य-सृजन में परिवेश या परिस्थितियों का सीधा योगदान होता है। परिस्थितियाँ ही वे प्रेरक तत्व होती हैं, जिससे प्रभावित होकर साहित्यकार साहित्य-सृजन करता है। समाज में जो कुछ भी है या घटित हो रहा है, उससे साहित्यकार भी कहीं न कहीं अवश्य प्रभावित होता है। वह जिस समाज में रहता है, वहाँ की सामाजिक संरचना, उसका परिवेश और स्थितियाँ उसकी मानसिकता पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं; इसी कारण साहित्यकार की मानसिकता उसके सामाजिक परिवेश से प्रभावित होती है। समाज की अनुभूति साहित्य की अभिव्यक्ति बनती है। साहित्य हमारे समाज का प्रतिबिंब ही नहीं अपितु वह उसका नियामक और उन्नायक भी है क्योंकि मानव जीवन के समस्त क्रियाकलापों का केंद्रस्थल समाज होता है। इसलिए समाज की समस्त गतिविधियों का यथार्थ चित्रण साहित्य में किया जाता है।

'साहित्य और समाज अपने इन्हीं आपसी संबंधों के कारण जीवित रहते हैं। हिंदी गद्य-साहित्य में उपन्यास विधा, जीवन यथार्थ के सर्वाधिक निकट होने के कारण अपनी व्यापकता और उपयोगिता में संप्रेषण का सर्वश्रेष्ठ माध्यम है। मानव-जीवन की समस्त वास्तविकता को जीवंतता प्रदान करते हुए उसे यथार्थ रूप में चित्रित करने का श्रेय उपन्यास को ही जाता है जो उसे अन्य गद्य विधाओं से अलग भी करता है। हिंदी साहित्य जगत में देवेश ठाकुर का नाम एक रचनाधर्मी साहित्यकार और प्रगतिशील समीक्षक के रूप में विख्यात है। एक साहित्यकार का सबसे बड़ा एवं मुख्य दायित्व है कि वह उत्कृष्ट एवं यथार्थ साहित्य का सृजन कर अपने समाज का पथ-प्रदर्शन करे। देवेश ठाकुर ने अपने आस-पास व्याप्त सामाजिक विकृतियों और उससे उत्पन्न समस्याओं को 'जीवा' उपन्यास में व्यक्त किया है। 'जीवा' उपन्यास के माध्यम से देवेश ठाकुर ने विपरीत पारिवारिक परिस्थितियों और पिता की नशे की आदत व दरिंदगी के चलते घर से भागने को विवश होते बच्चे की स्थितियों एवं उसके बाद जीवन जीने के अनवरत संघर्ष और लगातार भटकाव की स्थिति को बड़ी ही यथार्थता से चित्रित किया है।

'आलोच्य उपन्यास के माध्यम से भोगवादी संस्कृति के बढ़ते कदम के रूप में समकालीन जीवन-प्रणाली में हुए युगांतरकारी परिवर्तन के प्रति समाज को सचेत करने की कोशिश में उपन्यासकर सफल सिद्ध हुआ है। सामाजिक, आर्थिक, समस्याओं ने जिस विवश स्त्री वर्ग को जन्म दिया, उसे वेश्या कहा गया। वेश्यावृत्ति मूलतः पूँजीवादी व सामंतशाही समाज की देन है; जहाँ पुरुष शासक है तो स्त्री शासिता। एक स्त्री के वेश्या बनने के कारणों में प्रमुख कारण है- आर्थिक संघर्ष। जब रोजी-रोटी का संघर्ष अपना फन फैलाता है तो वह देह बेचने को विवश हो जाती हैः '-तू ... तू... क्या?'

- हां... मैं...।' मंदा चुपचाप दूसरी तरफ को देखने लगी।
- तू तो...तू भी धंधा करने लगी?
- क्यों?'

- और क्या करती?[1]

'कई बार कस्बों तथा गाँवों से बहला-फुसलाकर एवं धोखे से उठाकर भोली-भाली लड़कियों को कोठों पर बेचकर उनका जीवन नारकीय बना दिया जाता है। इसका भी जीवंत चित्रण जीवा उपन्यास में किया गया हैः 'जब तक शमीम ऊपर पहुँची, उसने बल्लू को किसी मोटी और बदसूरत औरत से कहते सुना- अम्माजान, इस बार बिल्कुल कोरा और असल माल लेकर आया हूँ। उनकी तो अभी तक सरम भी नहीं उतरी। देख लेना तुम्हारी तिजौरी भर देंगी.....अम्मा से कुछ बतिया कर और कुछ कानाफूसी करकेबल्लू चला गया था। जाते-जाते वह लड़कियों से कह गया था- देखो नखरे मत करना। अम्मा जो कहे, उसे चुपचाप मान लेना। अब यही तुम्हारी माँ है और यही तुम्हारा बाप है, समुझी।'[2] भोली-भाली लड़कियाँ जब कुछ वर्ष वेश्यालय में गुजार लेती हैं तो वे उस जीवन की इस कदर अभ्यस्त हो जाती हैं कि ग्राहकों से लड़-झगड़कर, धमकाकर दाम वसूल कर ही लेती हैं। इस ओर भी उपन्यासकार ने दृष्टिपात किया हैः 'बिरयानी खा चुकने के बाद लड़की बिजली की तेजी से उठी और पलंग को खींचकर दरवाजे से सटा दिया।

- ये क्या करती?' बल्लू को कुछ समझ नहीं आया।
- ला जेब खाली कर। जल्दी से।'
- क्या मतलब।'
- अबे पिल्लू, मैं बोलती, जेब से सारा माल निकाल। नईं तो...।'
- नईं तो क्या? क्या बोलती तू।'

लड़की ने झपटकर गद्दे के नीचे से एक बड़ा-सा चाकू निकाल लिया और बल्लू के सामने तन कर खड़ी हो गई।'[3] इस प्रकार की कुचेष्टाएँ उनका बा' व्यवहार मात्र ही होता है जो उसे आर्थिक और सामाजिक संघर्ष के कारण अपनाना पड़ता है।

सामंती व्यवस्था के मुख्य केंद्र बिंदु पुरुष समाज ने घर, परिवार एवं समाज से इतर अपने सुख एवं वासना की तृप्ति के लिए एक ऐसे संसार को रचा है, जहाँ स्त्री सिर्फ उसके सुख का माध्यम मात्र है, जो देह के खरीद-फरोख्त के बाजार के रूप में जाना जाता है। देह-व्यापार का जन्म केवल आर्थिक स्थिति के कारण ही नहीं हुआ है बल्कि वह पुरुष-लिप्सा की अनियंत्रित आकांक्षा भी है। सामान्यतः हमारे समाज में यह भी देखने को मिलता है कि एक पति अपनी नाकामी और नशे की आदत के चलते अपनी पत्नी को देह व्यापार हेतु विवश करता है, इस तथ्य का उद्घाटन भी जीवा उपन्यास में हुआ है : '- तेरा मरद है क्या!'

- हाँ है, एक मरदुआ। तीन बच्चे हैं।'
- तेरा मरद कुछ नहीं करता।'
- करता होता तो मैं यह सब करती क्या?'
- उसे मालूम है, तू धंधा करती है।'
- उसी ने मुझे धंधे में लगाया। पहले वही मेरे लिए ग्राहक लाता था।'
- और अब...।''
- 'उसे लकवा मार गया है। तरह-तरह का नशा करता था।''[4] हजारों वर्षों से स्त्री

केवल उपभोग का साधन मात्र रही है। वेश्यावृत्ति संपूर्ण मानव जाति की सबसे बड़ी समस्या है; जिसका निदान आज तक भी नहीं हो पाया है।

परंपरागत पारिवारिक जीवन में स्त्री को गौणत्व प्रदान कर जुल्मों, अत्याचारों का शिकार बनाया जाता रहा है। बात-बात पर उसका अपमान कर उसके श्रम, जवानी, सुंदरता आदि का पाशविक शोषण किया जाता रहा है। पत्नी के तन-मन पर अधिकार प्राप्त कर पति उसे अनचाहे कार्यों को करने हेतु विवश करता रहा है। वास्तविकता यह है कि पुरुष आज भी स्त्री पर अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहता है परंतु आज स्त्री उसके इस वर्चस्व को स्वीकारने को तैयार नहीं है। वह पुरुष के समान ही अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखना चाहती है। लेकिन पुरुष उसे पारिवारिक बंधनों में जकड़ कर उस पर जुल्म करता है, जरा-जरा सी बात पर उसे अत्याचारों का शिकार बनाया जाता है। कभी-कभी पत्नी को जान से मार डालने वाला पति दांपत्य जीवन को दुख व निराशा से भरकर सब बर्बाद कर देता है। जीवा उपन्यास में चित्रित मंगरु नामक चरित्र द्वारा नशे की हालत में अपनी पत्नी मंगी को दराँती से हलाल करने पर पूरा परिवार अस्त-व्यस्त हो जाता है : 'उस दिन आधी रात को जब मंगरू को होश आया तो वह लड़खड़ा कर उठा... उसने किसी तरह उठकर दीवार पर लटकी दराँतीउठायी और एक ही बार में मुंगी को हलाल कर दिया। मुंगी, एक बार जोर से चिल्लाई और फिर शांत हो गई। पास की जमीन पर ताजा गरम खून बहने लगा...।'[5]

आदिकाल से ही समाज में वर्ग भेद चलता आ रहा है। विकास और सभ्यता के साथ ही यह भेद भी अधिक विद्रूपता के साथ बढ़ता रहा है। निम्न वर्ग जहाँ अपनी सीमित सीमाओं में संतुष्टि खोजने का प्रयास करता है, वहीं मध्य वर्ग और उच्च वर्ग असीमित सुख की तृष्णा में भटकता है। अधिक ऊँचाइयों को पाने की जिजीविषा में उच्चवर्गीय समाज निम्न वर्ग से दूर होता चला जाता है। फलतः वह स्वार्थी और स्वेच्छाचारी बन जाता है। हिंदी साहित्य में इस वर्ग-भेद पर पर्याप्त कथा साहित्य का सृजन हुआ है। देवेश ठाकुर ने 'जीवा' उपन्यास में उच्च वर्ग एवं मध्य वर्ग की स्वार्थपरता और स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करने की लालसा का यथार्थ चित्रण किया है। उन्होंने 'जीवा' उपन्यास में सहजता के साथ किंतु वास्तविक आधार पर इसकी अभिव्यक्ति की हैः 'हाँ, मेहनती है। घर के काम में भी हाथ बटावे है।' कमली बोली।

- आजकल ऐसे लौंडे कहाँ मिले हैं।'
- वो तो है। भरोसेमंद है। जी लगाकर काम करे है। अनाथ जो है बेचारा।'
- तेरे आदमी को भी सहारा हो गया। और उसे भी दो जून रोटी मिल जावे है।'
- तू ठीक कहे है। उनसे भी अब ज्यादा काम नहीं हो पावे। शहर में साथ जाने के लिए कोई मजूर भी रखते तो पता नहीं कित्ता माँगता। ये तो समझो, फोकट में.।'[6]

देवेश ठाकुर ने 'जीवा' उपन्यास में सूक्ष्म मानवीय वृत्तियों का पाठानुकूल चित्रण किया है। व्यक्ति की स्वार्थपरता, अनुदारता और कृपणता को उन्होंने आर्थिक एवं भौगोलिक धरातल पर तौला है। यही कारण है कि कृपणता और अनुदारता के कई रूप उनके इस उपन्यास में दिखते हैं। कहीं-कहीं स्वार्थवश कृपणता का चित्रण है तो कहीं व्यक्ति की परिस्थितियाँ उसे अनुदार बनने को विवश करती दिखाई देती हैंः

'बीबी जी, घड़ी नीचे गिर गई...।' कल्पना ने टूटी घड़ी को देखा तो आपे से बाहर हो गई - 'इत्ता-सा काम भी ठीक से नहीं होता तुझसे।' वह बोली और उसके गाल पर एक चाँटा जड़ दिया- 'उस दिन उतना महँगा फूलदान तोड़ दिया और आज...। गँवार कहीं का। पता नहीं, माँ ने क्यों मेरे पीछे लगा दिया।' जीवा वहीं पर गुमसुम खड़ा रहा। बोला कुछ नहीं। उसकी आँख से आँसू भी नहीं निकले। दिन भर वह किसी से कुछ नहीं बोला।'[7] अवसरवादिता व्यक्ति की आदिम प्रवृत्ति है। उचित एवं अनुचित अवसरों का लाभ उठाकर स्वार्थपूर्ति की प्रवृत्ति उच्च एवं मध्य वर्ग में अधिक पाई जाती है। 'जीवा' उपन्यास में इस स्वाभाविक अवसरवादिता का यथार्थ चित्रण हुआ है। समय के साथ-साथ शोषण के स्वरूप में यद्यपि परिवर्तन तो हुआ है परंतु फिर भी किसी न किसी रूप में आज भी हमारे समाज में इसकी व्याप्तता अनवरत चल रही है। कुलीन एवं उच्च वर्ग गरीबों एवं निर्धनों की विवशता का अनुचित लाभ उठाते हैं । जीवा उपन्यास में निम्न व मध्य वर्ग के साथ उच्च वर्ग का पर्याप्त चित्रण हुआ है। उच्च वर्ग में आत्मकेंद्रित होने की मनोवृत्ति अधिक दृष्टिगोचर हुई है।

समकालीन कथा-साहित्य में प्रदर्शनप्रियता एक प्रमुख विशेषता के रूप में सामने आई है। यह प्रवृत्ति सामान्यतया समाज के समस्त वर्गों में देखने को मिलती है। सामान्यतः वास्तविकता से ऊपर उठकर दिखावा करने की प्रवृत्ति को प्रदर्शन कहा जाता है और यह मध्य वर्ग की प्रमुख प्रवृत्ति होने के बावजूद समाज के सभी वर्गों की प्रवृत्ति बन गई है। समकालीन दौर की इस स्थिति को देवेश ठाकुर ने 'जीवा' उपन्यास में बड़ी ही सरलता से उजागर किया है : 'खाना लेकर बल्लू जीवा के नजदीक आकर बैठ गया और दो रोटियाँ उसकी ओर बढ़ाते हुए बोला - ले, डिनर कर ले।'

रोटियाँ हाथ में लेते हुए जीवा ने पूछा - डिनर माने क्या?'

- डिनर माने रात का खाना।' उसने एक बड़ा-सा कौर मुँह में डालते हुए कहा।

- और दिन के खाने को क्या कैवे हैं?' जीवा ने पूछ लिया।

- लंच! समझा - लंच।' बंबई में सब इसी तरह बोले हैं। और नाश्ते को बोले हैं बैक फास्ट। जीवा ने अपने बैग से पानी की बोतल निकालते हुए कहा।'[8]

'सामाजिक व्यवस्था और परंपरा के प्रति असंतोष को 'जीवा' उपन्यास में व्यापक अभिव्यक्ति मिली है। निम्न वर्ग में पनपते असंतोष और लाचारी के कई कारण होते हैं। कहीं यह असंतोष वैयक्तिक क्षोभ के कारण होता है तो कहीं पारिवारिक और सामाजिक परिस्थितियों के कारण। देवेश ठाकुर ने मध्य व निम्नवर्गीय समाज के असंतोष को अंचल से लेकर कस्बाई-महानगरीय समाज तक सूक्ष्मताओं के साथ व्यक्त किया है। पारिवारिक उत्तरदायित्व हो या सामाजिक सभी प्रकार के असंतोष को उन्होंने व्यक्त ही नहीं किया है अपितु उसकी मौलिक सूक्ष्मताओं को छूने की कोशिशें भी की हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें आलोच्य उपन्यास की स्त्री पात्र मंगी का वह असंतोष व्यक्त हुआ है, जिसमें वह सारी उम्र अपने पियक्कड़ पति की गंदगी साफ करती रह जाती है और जिसकी झुंझलाहट वह अपने बच्चे पर निकालती है: 'झोपड़ी की चौखट पर पैर रखते ही वह लड़खड़ा कर गिर पड़ा और एक बड़ी-सी उल्टी कर दी....नासपिट्टे, रोज-रोज मेरे हिए को जलावे है तू। तेरी गनगी की सफाई करती रहूँ जिनगी भर? मेरे तो

करम फूट गए...। दीदे फाड़-फाड़ कर क्या देख रहा है तू। चल, झाड़ू उठा और अपने बाप की गनगी साफ कर।'[9]

'निम्न वर्गीय जीवन के विविध संघर्षों का यथार्थ 'जीवा' उपन्यास में व्यक्त हुआ है। जीवन से जूझने को ही उनके इस उपन्यास की संवेदना मानी जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्यक्ति और समाज की विभिन्न जटिलताओं और उनसे उत्पन्न संत्रास को उन्होंने इस उपन्यास में समेटा है। संत्रास सूक्ष्म मनोदशाओं की उपज होती है। देवेश ठाकुर ने संघर्ष, खीझ, क्षोभ, हताशा, निराशा एवं कुंठा इत्यादि को अभिव्यक्ति दी है। वस्तुतः ये ही वे आंतरिक तत्व हैं जिनसे संत्रास उत्पन्न होता है। 'जीवा' उपन्यास में समाज के विविध वर्गों का जो चित्रण हुआ है उसमें अधिकांशतः स्त्री ही केंद्र में है। इसलिए स्त्री का संत्रास अधिक गहराई लिए हुए हैः 'डायलॉग मत मार यार। सपने भी न देख। अपुन लोगों के सपने पूरे नहीं होते। बीच में ही मर जाते।'[10] उपन्यासकार ने निम्न वर्ग की निर्धनता से उत्पन्न अभावजन्य पीड़ा, संघर्ष और दीनता को अत्यंत सरल और सहज ढंग से वाणी देकर वर्तमान भारतीय समाज के सबसे बड़े यथार्थ से पाठकों को परिचित कराया है। भले ही समाज में यह वर्ग नगण्य रहा हो, फिर भी उन्होंने उसे साहित्य के केंद्र में स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। जीवा उपन्यास निम्न वर्ग की निर्धनता के प्रतिनिधि रूप में दृष्टिगत होता है। भुखमरी, गरीबी और बेबसी के जीवंत चित्र इनके उपन्यास में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। एक उदाहरण दृष्टव्य है जिसमें विपन्नता के कारण महीनों तक दाल-भात न खा पाने का जिक्र हुआ है : 'शाम गहराने लगी थी। हरी राम संतुष्ट था। उसकी आज अच्छी बिक्री हो गई थी। उसने एक किराने की दुकान के सामने ठेला रोका और दुकानदार से बोला - लाला, एक पाव अरहर की दाल देना...।' उसने मन ही मन कहा- आज वह दाल-भात खाएगा। महीनों हो गए। दाल का दाना तक नहीं देखा।'[11] इतना तो स्पष्ट है कि निम्न वर्ग सदैव अभावों से घिरा रहता है वह चाहे किसी भी भौगोलिक क्षेत्र का निवासी क्यों न हो। निम्न वर्गीय व्यक्ति और समाज में अभावजन्य कठिनाइयों की समानता रहती है। विरासत में प्राप्त ये कठिनाइयाँ उसे आजन्म घेरे रहती हैं। उपन्यासकार ने इन अभावों का यथार्थ और जीवंत चित्रण किया है।

'भ्रष्टाचार का क्षेत्र अत्यंत व्यापक है जिसने दीर्घ काल से ही इस देश में अपने जड़ें फैला रखी हैं, जिसे मिटा पाना सहज नहीं है। जीवा उपन्यास में व्यक्त भ्रष्टाचार के अनेक यथार्थ चित्र हैंः 'गोयल साहब लाला जी के जँवाई थे। बड़ा इम्तहान पास करके कस्टम आफिसर बन गए थे। नौ-दस सालों में काफी कमाई कर ली थी। वर्ली में बड़ा-सा फ्लैट खरीद लिया था। कल्याण के पास एक अच्छा फार्म हाउस बना लिया था। साकीनाका में 3-4 दुकानें खरीद ली थीं। सुख सुविधा के सारे साजो-सामान जोड़ लिए थे। जिंदगी अच्छी तरह बसर हो रही थी कि तभी उनके घर पर सीबीआई का छापा पड़ा। गोयल साहब उसमें उलझ कर रह गए।'[12] हमारी पुलिस व्यवस्था भ्रष्टाचार पर जीवित है, निर्धन वर्ग या निम्न वर्ग पर पुलिस की काली छाया मँडराए रहती है। वह उसकी छाया से डरती है क्योंकि पुलिस निम्न वर्ग का शोषण करने हेतु नए-नए तरीके ढूँढ निकालती है। महानगरीय जीवन में कोई भी व्यवसाय करना आसान नहीं होता है। पहले उसका एडवांस दादा जैसे गुंडों को फिर पुलिस का हप्ता और म्यूनिसपैलिटी वालों

का हप्ता! इसका जीवंत एवं यथार्थ चित्रण इस उपन्यास में हुआ हैः 'दादा मतलब हमारा मालिक। तू इत्ता भी नहीं जाने। काफेट मार्केट से कोलाबा तक का इलाका उसका है। उसकी मर्जी के बिना कोई भी धंदा नहीं कर सके। हमसे वो 200 रुपया महीना लेवे है। वही, जहाँ चाहे, हमें बैठने की जगह देवे है।....अबे पक्का तो इंसान भी नहीं होवे। काम की क्या बात करे है। हाँ, जब तक पुलिस और मुनैसपैलिटी को खुश रखेगा, धंदा करने का मिलता रहैंगा।'[13]

जीवा उपन्यास में व्यक्त पुलिस व्यवस्था एवं प्रशासनिक व्यवस्था का घृणित रूप देखकर स्पष्ट होता है कि पुलिस जनता की सेवक न बनकर असुरक्षा व अत्याचार का कारण बनी है। पुलिस का आतंक आम आदमी की स्वतंत्रता पर रोक सा लगा देती है। निम्न वर्ग पर अत्याचार करने वाली पुलिस के नाम पर आदमी काँप उठता है। ठेले लगाकर अपना एवं अपने परिवार का पेट पाल रहे लोगों पर पुलिसवालों की मनमानी का मार्मिक एवं यथार्थ चित्रण द्दष्टव्य है :'बात एक दिन की हो तो बताऊँ...रोज-रोज का रोना है। कल साम कू वो....पुलिस वाले आए थे। सारा गल्ला उठा कर ले गए। बोले, बिना लैसैंस का ठेला लगा रखा है स्साले...।'[14] निम्न-वर्ग पर अत्याचार करना अपनी बपौती समझने वाली पुलिस रिश्वत, भ्रष्टाचार के बल पर अपना साम्राज्य फैलाए हुए है। भ्रष्टाचार के बल पर ही वह गैरकानूनी कृत्यों को भी अप्रत्यक्ष समर्थन देती है; जिसका यथार्थ जीवा उपन्यास में वक्त हुआ है।

'मानव समाज में शिक्षा एक आधारमूलक गतिविधि है, जिसका उद्देश्य शिक्षार्थी में कुछ विषयों का ज्ञान करा देना मात्र नहीं है बल्कि उसका पोषण करना अथवा उसमें ऐसी आदतों एवं मनोवृत्तियों का विकास भी करना है जिससे वह भविष्य का निर्माण ठीक ढंग से कर सके। जीवा उपन्यास में शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए एक लड़की का चित्रण हुआ है जो पढ़ाई के महत्व को समझती है और आर्थिक स्थिति से मजबूर होकर देह बेचकर वह अपनी पढ़ाई पूरी कर रही है : ' बस, यई धंदा करती है।' पास सरकते हुए बल्लू बोला।

- नहीं तो...। ये तो पार्टटाइम है।' और पास आते हुए लड़की बोली।
- तो फिर...?'
- पढ़ती हूँ।'
- कहाँ पढ़ती है?'
- कॉलेज में और कहाँ .....।'
- तेरे माँ-बाप तुझे पढ़ाई का पैसा नहीं देते।'
- कहाँ से देंगे। उनके पास है ही नईं।'[15] एक साहित्यकार शिक्षा और सेवा के महत्व से भली-भाँति परिचित होता है। इसलिए उपन्यासकार ने अपने पात्र के माध्यम से इस बात को कलवाया हैः 'इसमें अहसान की क्या बात है रामधन। इंसान ही तो इंसान के काम आवे है।' फिर कुछ रुककर बोले - बच्चों, शिक्षा और सेवा, बस ये दो ही चीजें हैं दुनिया में जो जिंदा रहती हैं। बाकी सब तो ऐसे ही हैं।'[16]

'सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम होता है उपन्यास। जीवा के माध्यम से देवेश ठाकुर ने समाज के यथार्थ को प्रस्तुत करने का प्रयास किया

है। प्रस्तुत उपन्यास में जीवन और जगत की यथार्थता एवं वास्तविकता का व्यापक चित्रण हुआ है ; जो है, जैसा है उसको सहजता और सरलता से अभिव्यक्त करने की असाधारण क्षमता उनके भीतर है। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अपने समय के सामाजिक जीवन की वास्तविकता, विषमता, संघर्ष और पीड़ा को यथार्थता के साथ चित्रित करने में देवेश ठाकुर सफल रहे हैं।

संदर्भ :

1.संपादन, पांडेय, सतीश, डॉ, बी., सत्यनारायण,डॉ., देवेश ठाकुर रचनावली; नमन प्रकाशन,नई दिल्ली, द्वितीय संस्करणः 2018, पृ.302, 2. वही; पृ.253-254,3. वही; पृ.333, 4. वही; पृ.291,5. वही; पृ.234,6. वही; पृ.241,7. वही; पृ.279,8. वही; पृ.248,9. वही; पृ.233,10. वही; पृ.368,11. वही; पृ.238,12. वही; पृ.276,13. वही; पृ.317-318, 14. वही; पृ.323,15. वही; पृ.350,16. वही; पृ.373-374

अस्सिटेंट प्रोफेसर
हिंदी एवं अन्य भारतीय भाषा विभाग
सोबन सिंह जीना विश्वविद्यालय,
एस. एस. जे. परिसर, अल्मोड़ा

अब भी बनाई जा सकती हैं जगहें रहने के लायक

- डॉ वैशाली खेडकर

'वह जानता है / जानता है कहता है बार बार /
अकेले केवल दासता मिलती है / मुक्ति सबके साथ है'
-राजेश जोशी

राजेश जोशी की ये पंक्तियाँ मनुष्य का जीवन दर्शन अभिव्यक्त करती हैं। मनुष्य का इतिहास गुलामी की दासता का इतिहास रहा है। ताकतवर और सर्व शक्तिमान हमेशा अपने से छोटे और कमजोर का शोषण करता है। अकेले इससे जूझना मुश्किल है पर सामूहिकता शोषण- परंपरा का अंत करती है। शोषण जीवन की नियति नहीं है, पर संघर्ष जीवन का अविभाज्य अंग है। जीवन का अर्थ ही है संघर्ष। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक बिना थके, बिना रुके लड़ता रहता है। कभी जीतता है, कभी हारता है या अनजानी राहों पर भटकता रहता है। जिसके भीतर जीवन के प्रति आस्था और विश्वास है, वह सत्य और न्याय के रास्ते पर अडिग रहकर जीवनयापन करता है। मनुष्य जीवन का यही संघर्ष साहित्य का प्राणतत्व है। हिंदी साहित्य के उद्भव से लेकर वर्तमान समय के साहित्य तक में मनुष्य का यही संघर्षमय इतिहास दर्ज हुआ है। भारतेंदु, प्रेमचंद, निराला, जैनेंद्र, यशपाल, अश्क, मन्नू भंडारी, चित्रा मुद्गल, ममता कालिया, मैत्रेयी पुष्पा आदि तमाम उपन्यासकारों की रचनाओं में निम्न, मध्य एवं उच्च वर्ग के यथार्थ जीवन का अंकन हुआ है। उसमें भी ग्रामीण एवं महानगरीय परिवेश पर काफी कुछ लिखा गया है पर बहुत कम उपन्यास हैं, जो महानगरीय परिवेश में जी रहे निम्न वर्ग पर लिखे गए हैं। महानगरीय परिवेश हमेशा अपनी चकाचौंध और आधुनिकता के लिए जाना जाता है। इस चकाचौंध में बेहद गरीबी और अभाव में जीने वाला आदमी कहीं खो जाता है। वह भी जिंदगी से दो हाथ करते हुए लगातार जूझता रहता है पर उसका संघर्ष उसी की तरह अनजान रह जाता है। वर्त्तमान समय के सशक्त रचनाकार देवेश ठाकुर ने 'जीवा' में इसी निम्न वर्गीय समाज का जीवन-संघर्ष को मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है।

हिंदी साहित्य जगत में देवेश ठाकुर उपन्यासकार, कहानीकार, समीक्षक, संपादक आदि कई रूपों में परिचित हैं। उनका साहित्य मानव जीवन के संघर्ष का प्रामाणिक दस्तावेज है। स्वयं उनका जीवन भी काफी संघर्षपूर्ण रहा है। यही वजह है कि उनके भीतर का रचनाकार आम आदमी के खून-पसीने की मेहनत को भली-भाँति पहचानता है। वे उपरी सतह पर नहीं बल्कि आम लोगों से भी गहराई से जुड़ते हैं। उनके खुद के जीवन संघर्ष ने समाज को देखने का एक अलग नजरिया प्रदान किया है। वे कहते भी हैं, 'मैंने जीवन के सिद्धांत कमरे में बैठकर नहीं गढ़े, अपने अनुभवों के निष्कर्ष को जीते हुए उनको अर्जित किया है।'[1] सच्चा रचनाकार समाज की उपज होता है क्योंकि उसका निर्माण समाज के भीतर रहकर ही होता है। देवेश जी भी समाज और परिवेश की उपज हैं। कबीर की तरह ही 'तू कहता कागज की लेखी मैं कहता आँखिन की देखी' वाली बात उन पर चरितार्थ होती है। वे कही-सुनी बात पर नहीं, अपनी आँख और अनुभव जगत पर भरोसा करते हैं। आर्थिक अभाव ने बचपन से ही उन्हें संघर्ष के लिए मजबूर किया। शिक्षार्जन के लिए भी ट्यूशन लेना, अखबार डालना, होटल में जूठे बर्तन माँजना

आदि कई काम उन्होंने किये हैं। उनका संपूर्ण साहित्य इसी प्रामाणिक जीवन संघर्ष पर आधारित है। उनका साहित्य-सृजन विस्तृत है। 2017 में देवेश ठाकुर रचनावली 18 खंडों में प्रकाशित हुई है। इसमें उनकी संपूर्ण साहित्य साधना समाहित है। घोर संघर्ष के बावजूद जीवन के प्रति अदम्य आस्था और विश्वास उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। 'जीवा' उपन्यास उनके इसी आस्था और विश्वास का परिणाम है।

सन् 2005 में प्रकाशित 'जीवा' उपन्यास देवेश ठाकुर जी की अत्यंत महत्वपूर्ण रचना है। उन्होंने होरी (गोदान), महरूख (ठीकरे की मंगनी), वर्षा वशिष्ठ (मुझे चाँद चाहिए) जैसे ही एक अजरामर पात्र हिंदी साहित्य को दिया है। जीवा का संघर्ष हर एक व्यक्ति के भीतर जीने की उर्जा निर्माण करता है। मुंबई की गलियों में बिना जान-पहचान के अपनी जगह बनाना जीवा के जीवन की बड़ी उपलब्धि है। सवा-सौ आबादी वाले नूरपुर गाँव से नायक जीवा की यात्रा शुरू होती है। अपने ही सामने शराबी पिता द्वारा माँ और बहन को जब मार दिया जाता है, तो गाँव से भागने के सिवा कोई रास्ता जीवा के पास नहीं बचता। यही घटना जीवा के जीवन को मोड़ देती है और अनजानी राहों पर उसकी यात्रा शुरू हो जाती है। नूरपुर से शुरू हुई उसकी यात्रा सोनबासा, नवाबगंज से होते हुए मुंबई शहर में आकर रुकती है। मुंबई शहर की जानकारी जीवा को अपने मित्र बल्लू से मिलती है। बल्लू से उसकी मुलाकात सोनबासा में होती है। बल्लू पर भरोसा कर जीवा उसके साथ ट्रेन से सफर करते हुए निकल पड़ता है। इस सफर में उन दोनों के साथ शमीम और मोहिनी भी हैं, जिन्हें मुंबई में नौकरी देने का बहाना बनाकर बल्लू कोठे पर भेजने के लिए ले जा रहा है। इससे बल्लू को कमीशन मिलता है। जीवा इन सभी बातों से अनजान है। उसने न तो अब तक ट्रेन देखी है, न ही ट्रेन से सफर किया है। बल्लू की सच्चाई तब उसे समझ आती है, जब टिकट चेकर जीवा को टिकट के अभाव में ट्रेन से उतार देता है। जीवा इस आकस्मिक संकट से परेशान हो जाता है। उसने तो बल्लू को टिकट के पूरे पैसे दिए थे। बल्लू अपनी चाल चलता है और जीवा मुंबई से दूर ही रह जाता है। जीवन के सफर में अच्छे और बुरे लोग मिलते रहते हैं। जीवा को भी इस अनजान सफर में कुछ मानवीय रिश्ते बचा लेते हैं। मिठाई की दुकान पर काम करने वाले भगीरथ की वजह से उसके खाने और रहने का प्रबंध हो जाता है, तो शांति दादी को भी एक सहारा मिल जाता है, जिसकी पोती (सुषमा) को जीवा आग से बचाता है। जीवा को घर मिल जाता है। दादी और सुषमा के रूप में परिवार मिल जाता है पर मुंबई शहर देखने की चाहत जीवा के मन में घर कर जाती है। वह तो 14-15 साल का युवा है। कुछ पल भले ही यहाँ बीत जाएँगे, पर जिंदगी तो ऐसे नहीं गुजरेगी। दादी उसकी चाहत को पूरा करने के लिए अपनी बेटी कल्पना के साथ उसे मुंबई भेजती है। जीवा बलरामपुर से मुंबई की तरफ निकल पड़ता है। मुबंई में वह कल्पना जी के घर पर ही रहता है। मुंबई में रहते जीवा को तीन महीने हो चुके थे, पर घर के बाहर की दुनिया उसके लिए अनजान ही थी। वह अब घर का सदस्य नहीं नौकर बनकर रह गया था। जैसे, 'सफाई करने के बाद वह नीचे गोयल साहब की कार धोने चला जाता। उसे लिफ्ट चलानी आ गयी थी। गोयल साहब ने उसके आने के कुछ दिन बाद से गाड़ी धोने वाले को छुड़ा दिया था। जब तक गाड़ी धोने के बाद ऊपर जाता,

घरवाले नाश्ता कर चुके होते। वह, केशो और गंगूबाई के साथ किचन के एक कोने में बैठ कर नाश्ता करता।...जीवा को यह बहुत खलता। बलरामपुर में वह और सुषमा कई बार बैठक में बैठकर साथ-साथ नाश्ता करते थे। यहाँ ऐसा कुछ नहीं था। दूसरे नौकरों की तरह उससे बातचीत भी कम ही की जाती। जब उससे कोई काम कराना होता, तब ही उसे पुकारा जाता। पारुल भी उससे मालिकों जैसा व्यवहार करती। जीवा को यह बहुत खलता।'[2] तीन माह बीतने पर भी मुंबई की चकाचौंध से जीवा अनजान ही था बल्कि वह तो नौकर बनकर रह गया था। इस घर में उसका दम घुटने लगा पर अनजान शहर में उसका कोई ठिकाना नहीं था। वह उसी घर में बेबस-लाचार बनकर जीने को मजबूर था। एक दिन गोयल साहब द्वारा जीवा को बहुत मार पड़ी। जीवा ने महसूस किया कि इस घर में उसकी कोई हैसियत नहीं है। ऐसे जीने से अच्छा है, इस दहलीज को लाँघकर अपने भविष्य को खुद सँवारना। जीवा ठान लेता है और हमेशा के लिए घर को त्याग देता है।

मुंबई से पहली बार जीवा का साक्षात्कार हो रहा था। आजाद पंछी की तरह वह मुंबई शहर की गलियों में टहलता रहा। बड़ी-बड़ी बसें, दौड़ते-भागते लोग, फुठपाथों पर ठेला लगाये लड़के, आधुनिक कपड़े पहने लड़के-लड़कियाँ, ऊँची-ऊँची इमारतें, रास्ते पर भीड़-ही-भीड़, सडकों पर दौड़ती हुई कारें आदि चीजें उत्सुकता और आश्चर्य से वह देखने लगा। उसे लगा वह शायद किसी मायावी दुनिया में है, जहाँ सारी अकल्पनीय चीजें साकार रूप में उपस्थित हैं। अब जीवा का मन घबराने लगा। इस मायावी दुनिया में बेसहारा और लावारिस रहकर कैसे गुजारा होगा? उसके पास तो रहने की भी जगह नहीं है। उसने गहरी साँस ली। मन को आश्वस्त किया क्योंकि उसने सुना था, मुंबई उन सबको पनाह देती है, जो साहस और हिम्मत से आगे बढ़ता है। जीवा भी अपने भीतर के डर को भीतर ही दफन कर जिंदगी से लड़ने का जुनून पैदा करता है। अब उसकी पहली जरूरत छत थी। ऐसा कोना जहाँ वह रात गुजार सके। रात गहराने पर वह सामने के मैदान की तरफ बढ़ गया। उसे मैदान की दाईं तरफ एक अधबनी बिल्डिंग का खंडहर दिखाई पड़ा। वह उसी तरफ चल पड़ा। बिल्डिंग सूनी पड़ी थी। फिर कुछ सोचकर बिल्डिंग में घुस गया। यह अधबनी बिल्डिंग का खंडहर ही जीवा के लिए रात का बसेरा हो गया। दिन का पता नहीं, पर रात का गुजारा करने का इंतजाम हो गया था। जीवा का जीवन एक अनजाने सफर में आगे बढ़ रहा था। जीवा के सामने भी आसमान-सी चुनौतियाँ थीं, जिससे मुठभेड़ के लिए उसे तैयार होना था।

जीवन का अर्थ ही है संघर्ष। जीवा भी इस अनचाही जिंदगी का हमराही बन आगे बढ़ने लगा। नयी सुबह नयी चुनौती। उसकी मुलाकात अल्लारखा नामक एक भिखारी से हो गई। उसने जीवा को अपनी गाड़ी खींचने का काम दिया। शहर के किनारे एक झुग्गी में उसका बसेरा था। अल्लारखा बेटे की तरह जीवा को अपने साथ रखता। जीवा को भी रहने की जगह और अल्लारखा का प्रेम नसीब हो गया था। जीवा एक साल तक उसके संग रहा पर जीवा की जिंदगी में ठहराव नहीं था। जब भी उसे लगता कि जीवन सभल गया है, कोई अनहोनी जीवा के सफर को रोक देती। अल्लारखा की मौत ने जीवा को फिर से अनाथ कर दिया लेकिन उसके पास अल्लारखा की संदूक थी, जिसमें उसकी

जिंदगी भर की कमाई थी। उसी पर अब जीवा को गुजारा करना था। बीते एक साल में जीवा ने जिंदगी के उतार-चढ़ाव को समझ लिया था। अब वह पुराना भोला-भाला जीवा नहीं, अनुभवी और थोड़ा चालाक हो गया था। वह समझ गया था कि जिंदगी मैं केवल सच्चाई और ईमानदारी से नहीं, समझदारी से भी जीना जरूरी है। अतः अब उसे भविष्य की चिंता थी, पर डर नहीं। वह बेखौफ इस नये सफर में आगे बढ़ गया। इसी बीच सुखी से जीवा की भेंट हुई जो अपने थैले में कंघियाँ, पेन, सुईयाँ आदि सार्वजनिक स्थल पर बेचने का काम करती थी। वह भी परिस्थिति से पीड़ित थी। फिलहाल धारावी में रहती थी। उसनेअपने अतीत को जीवा से साझा किया। वे जिंदा रहने और अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्ष करने लगे। सुखी का साथ पाकर उसे अच्छा लगता। अब उसे भी लगता कि अपना खुद का एक घर हो, जहाँ वे दोनों साथ रहकर जी सकें।

जीवा को हर दिन कोई-न कोई काम मिल जाता और दो वक्त की रोटी खाने का प्रबंध हो जाता पर वह अब तक कोई स्थायी नौकरी नहीं जुटा पाया था। वह हमेशा मुंबई की गलियारों में घूमता रहता। इसी बीच फुटपाथ से गुजरते हुए उसकी मुलाकात गाँव के रामधन से हो गई। वह फुटपाथ पर कपड़े बेचने का काम करता था। वे दोनों एक-दूसरे को पहचानते थे। रामधन की कपड़े बेचने की कारीगरी से जीवा काफी प्रभावित हुआ। रामधन की शादी हुई थी और कलवा स्टेशन के नजदीक एक चाल में उसने घर भी खरीदा था। जीवा को यह जानकर बड़ी खुशी और आश्चर्य भी हुआ। मित्र रामधन के घर राधा से मिलकर उसे अच्छा लगा। उस रात वह भी सुखी संग गृहस्थी के सपने देखने लगा। वैसे भी यह सपने ही तो हैं, जो आदमी को जीवित रखते हैं। कितनी भी यातनाएँ और प्रताड़नाएँ हों, उसके भीतर सपने खिल ही जाते हैं। जीवा अपने सपनों को साकार होता हुआ देख रहा था। इन सपनों की नींव में उसकी अच्छाई थी। घोर आपदाओं के बीच भी उसने अच्छाई और नीति का दामन नहीं छोड़ा था। वह चाहता तो जल्द ही अमीर बनने की कोशिश में किसी गलत राह को चुनता, पर उसने ऐसा किया नहीं। उसका मित्र बल्लू भी तो मुंबई शहर की रौनक में दलाल बन नशाखोरी करता है, चोरी-चकारी-मक्कारी करता है, पर जीवा अच्छाई को त्यागता नहीं। इसी का फल जीवा को मिलता है। रामधन के नजदीक रहने वाले मास्टर जी जो हमेशा गरीबों और जरूरतमंदों के लिए मसीहा बनकर आते हैं, जीवा का भी उद्धार करते हैं। वे अपने किसी साथी को जीवा के गाँव भेजकर उसके स्कूली कागजात मँगाते हैं और परेल के म्युनिसिपल अस्पताल में कार्यरत अपने पहचान के डॉ. मनोहर जोशी से कहकर अस्पताल में ही उसकी नौकरी लगवाते हैं। मास्टर जी कहते हैं, 'मुझे भी यह मालूम नहीं था, तेरा काम इतनी जल्दी हो जावेगा। मैंने अपने रिश्तेदार को तेरे गाँव में भेजकर तेरे सर्टिफिकेट मँगवा लिए। दस-बारह दिन पहले ही मुझे मिले।'[3] मास्टर जी की बदौलत जीवा को अस्पताल में नौकरी मिल जाती है। एक स्थायी नौकरी, जिसे पाना जीवा के लिए शायद कभी संभव नहीं था। वह भी ईमानदारी से मास्टर जी की सूचनाओं का अनुपालन करते हुए काम में जुट जाता है- 'जीवा को म्युनिसिपल अस्पताल में काम करते डेढ़ साल पूरा होने को आ रहा था। वह अपने वर्त्तमान से खुश था। उसका बदन भर गया था और आँखों में चमक आ गयी थी। उसे यहाँ कुछ अच्छे साथी भी मिल गए थे। काम सीखने

में उसे उनकी बड़ी मदद मिली। वह भी मन लगाकर काम करता, लेकिन कुछ थे... जो उससे जलते और उसे जोशी का कुतरा कहकर उस पर फब्ती कसते। लेकिन जीवा किसी को पलटकर जवाब नहीं देता। चुपचाप अपने काम में लगा रहता।'[4] मास्टर जी ने कहा था शिक्षा और सेवा ही दुनिया में जिंदा रहती है। शिक्षा तो उसकी कम थी, पर सेवा करके वह अपनी पहचान बना रहा था। अस्पताल के मरीज भी उससे खुश रहते। अस्पताल से निकलते वक्त उसे दुवाएँ और कुछ पैसे भी देते। जीवा एक नयी मंजिल की ओर विश्वास से बढ़ रहा था। नौकरी मिल गयी थी, पर वह अधूरा था। उसकी पूर्णता सुखी (मित्र) में थी। वह उससे शादी करना चाहता था, पर अब तक कह नहीं पाया था। पता नहीं कौन-सा डर उसके दिल में था, जिसकी वजह से पिछले एक साल से वह सुखी से कुछ कह नहीं पाया। सुखी भी मन-ही-मन उससे प्रेम करती थी। वह भी उसके बोलने का इंतजार कर रही थी, पर जीवा उन शब्दों को दिल से बाहर नहीं निकाल पा रहा था। वह कोशिश करता पर बोल नहीं पाता। एक बार सुखी ही उससे कहती है, 'मुझसे शादी बनाएगी क्या ? ये ही बोलना चाहता ना। यार मैं कब से इंतजार कर रही थी कि अब बोलेगा तब बोलेगा। लेकिन तू तो डिब्बा निकला। ... इतना भी बोलने की हिम्मत नई तुज में। तो मुज से सादी क्या करेगा।'[5] सुखी ने जीवा की राह आसान कर दी। वह जीवा के संग रहना चाहती थी। दोनों ने एक-दूसरे को हमेशा संघर्ष करते हुए, लड़ते हुए देखा था। अब दोनों साथ में आकर अपनी एक नई राह बनाना चाहते थे।

सुखी का घर धारावी झोपड़पट्टी में था। बहुत पहले उसने और उसके भाई ने मिलकर शेट्टी साहब से 500 रुपए में वह घर खरीदा था। भाई की मृत्यु के बाद सुखी अकेली पड़ गयी थी, तब शेट्टी साहब ने ही उसे सहारा दिया था। शेट्टी साहब की धारावी में दहशत थी, अतः सुखी को अकेले रहते हुए भी कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। शेट्टी उसे अपनी बेटी ही मानता था। उसके साहस और जज्बात से वह काफी प्रभावित था। सुखी अकेली थी, पर स्वाभिमानी थी। वह अपने जिंदा रहने के लिए खुद मेहनत करती थी। सुखी की शादी के लिए भी जीवा की थोड़ी बहुत पूछताछ कर शेट्टी साहब ने अपनी रजामंदी दे दी थी। जीवा और सुखी के गृहस्थी का आरंभ हुआ था। दोनों खुश थे। शेट्टी की मदद से ही धारवी का घर बेचकर कुछ और पैसे का इंतजाम कर दोनों ने अस्पताल के नजदीक अपना घर ले लिया था। दो संघर्ष यात्री अंततः एक हो गए थे। एक दिन अस्पताल में जाते हुए उसे गेट पर काफी भीड़ दिखाई दी। वहाँ किसी जेब कतरे व्यक्ति की लाश पड़ी थी। जीवा भीड़ को ढकेलते हुए आगे बढ़ा तो स्तब्ध रह गया। उसकी जुबां से शब्द नहीं निकल रहा था। वह बल्लू कहकर चिल्ला उठा। वह लाश बल्लू की थी, जो ट्रेन में किसी की जेब काटकर ट्रेन से कूद गया था और दूसरी ट्रेन से धक्का खाकर लुड़क गया था। जीवा कुछ पल खामोश, स्तब्ध रहकर अपने वार्ड की तरफ बढ़ गया था।

दरअसल 'जीवा' यह उपन्यास चरित्र नायक जीवा के संघर्ष की अनूठी कहानी है। लेखक ने हिंदी साहित्य को एक महानतम चरित्र दिया है, जो मुंबई शहर की भीड़ में अपनी पहचान बनाता है। जीवा का यह संघर्ष हर व्यक्ति को लड़ने की उर्जा प्रदान करता है। स्वयं लेखक का जीवन भी संघर्षपूर्ण रहा है। मुंबई शहर में अध्यापक, लेखक,

अनुवादक, संपादक आदि तमाम रूपों में उन्होंने अपनी पहचान बनाई है पर मिट्टी और जमीं से उनका जुड़ाव आज भी है। यह उपन्यास इस बात का प्रमाण है। उसके बिना यह वर्णन इतनी प्रामाणिकता से संभव नहीं। जीवा के बहाने लेखक ने मुंबई शहर के उस वर्ग का चरित्रांकन किया है, जो शहर की चकाचौंध एवं आधुनिकता में हमेशा दब जाता है। इस बेसहारा समाज के जीवन संघर्ष को मुखर करने का काम लेखक ने किया है। पर इस संघर्ष में लेखक ने सच्चाई और नैतिकता का दामन नहीं छोड़ा है। घोर अभाव में भी जीवा गलत रास्तों को नहीं अपनाता। हालाँकि जीवा को इस मुकाम पर पहुँचाने में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कई लोगों का सहयोग मिलता है। व्यक्ति अकेले नहीं समूह बनकर विकास करता है। हरी काका, कमली, भगीरथ, शांति दादी, सुषमा, अल्लारखा, सुखी, रामधन, मास्टर जी, डॉक्टर साहब आदि न जाने कितने लोगों ने मानवीयता धर्म को अपनाते हुए जीवा के जीवन संघर्ष को आसान बनाया। लेखक का यह अटूट विश्वास है कि अपनों का साथ पाकर और सच्चाई का दामन थामकर इस स्वार्थ की दलदल में अब भी अपनी राह बनाई जा सकती है।

संदर्भ :

1. https://www.mahashalti.org. in/2020/03/Upanyaaslar-Devesh-Thal-ur. html
2. जीवा, देवेश ठाकुर, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2023,पृ. 53
3. वही, पृ. 146
4. वहीं, पृ. 148
5. वहीं, पृ. 150

सहायक अध्यापक, हिंदी विभाग,
महात्मा फुले महाविद्यालय, पिंपरी, पुणे

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में यथार्थ चित्रण : विशेष सन्दर्भ 'कातर बेला'

- डॉ. नीलाक्षी जोशी

प्रगतिशील रचनाकार-समीक्षक डॉ. देवेश ठाकुर ने उपन्यास एवं कहानी विधाओं के साथ ही कविता, निबंध, आत्मकथा, बालसाहित्य, समीक्षा और शोध आदि अनेक विधाओं में अपनी रचनाधर्मिता का निर्वाह किया है। देवेशजी ने अपने संघर्ष युक्त जीवन के अनुभवों से प्रेरणा लेकर श्रेष्ठ साहित्य की रचना की तथा समकालीन साहित्यकारों में अपना विशेष स्थान अर्जित किया। उनका आरंभिक जीवन अभावों एवं विषमताओं में ही व्यतीत हुआ लेकिन इन स्थितियों से हताश-निराश होने के बदले उनका मानना है कि विपत्तियों से जूझने के बाद ही मनुष्य के व्यक्तित्व में निखार आता है। वस्तुतः देवेशजी के जीवन, लेखन एवं चिंतन के मध्य कोई अंतर नहीं रहा है। वे अपने जीवन की असफलताओं से कभी निराश नहीं हुए, बल्कि निरंतर संघर्षरत रहे। उन्होंने अपने निजी जीवन में जो कुछ भी मानसिक एवं शारीरिक रूप में भोगा, उसे ही अपनी कलम के माध्यम से साहित्य के रूप में समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उनके कृतित्व में उनका व्यक्तित्व साफ झलकता है। इनका जीवन प्रत्येक मध्यमवर्गीय व्यक्ति के लिए प्रेरणादायी है। साहित्य के विषय में अपनेसमाजसापेक्ष तथा वस्तुपरक दृष्टिकोण के कारण वे साहित्य को साहित्यकार के व्यक्तित्व, परिवेश एवं उसकी मानसिकता के साथ जोड़कर देखते हैं। वे कहते हैं कि - 'उसकी मानसिकता और उसकी दृष्टि मूलतः अपने पारिवारिक सामाजिक संस्कार और परिवेश, अपने व्यक्तिगत अनुभव क्रम तथाअध्ययन-अनुशीलन के प्रकार से प्रेरित और अनुशासित होती है और इन सबके समन्वित सहयोग से जो कृति रची जाती है, उसमें आवश्यक रूप से लेखक का व्यक्तित्व उसकी सम्पूर्ण मानसिकता के साथ समाहित रहता है। इसलिए कहा जा सकता है कि रचना जहाँ एक ओर समाज के यथार्थ की अभिव्यक्ति है, वहीं दूसरी ओर लेखक के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है।'[2]

इसी लिए देवेश जी के उपन्यास व्यक्ति विशेष के लिए नहीं अपितु समस्त समाज के प्रेरणा स्रोत हैं। 'देवेश जी के चिन्तन में केन्द्रीय वस्तु मानव ही दिखाई देता है। राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक नियम एवं सिद्धान्त उसके उत्थान के लिए बनते हैं किन्तु अंधभक्त एवं स्वार्थी व्यक्ति इनको 'धर्म' बनाकर मानव पर आरोपित करने लगते हैं, तब मानव- कल्याणकारी नियम अनर्थकारी बन जाते हैं, बनते रहे हैं। धार्मिक-विद्वेष अथवा सैद्धांतिक-असहिष्णुताएँ मानव समाज को किस प्रकार रौंदती रही हैं, यह हमने देखा है। देवेशजी के लिए मानव तथा मानव का कल्याण सर्वोपरि है।'[3]

देवेश ठाकुर जी यह मानते हैं कि साहित्य का आधार वैयक्तिक न होकर समाजपरक यथार्थ होता है। सामाजिक चिंता की अभिव्यक्ति भी एक प्रकार से लेखक की आत्माभिव्यक्ति ही है। साहित्य के मूल्यों, मानकों के संबंध में उनकी स्थापना यह है कि यदि लेखक की दृष्टि में समाज के उन्नयन, उत्कर्ष और परिष्कार की ईमानदारी से चिंता है और यदि वह इस सबकी उपलब्धि के लिए कुछ मूल्य अथवा नीतियों का

निर्धारण करता है तो वे निश्चय ही समग्रतः साहित्य के मूल्य माने जायेंगे। दूसरे शब्दों में इन्होंने सामाजिक चिंता को साहित्य के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। लेखन की प्रक्रिया को वे लेखक के परिवेश, अध्ययन और व्यक्तिगत अनुभवों की घटनाओं की प्रतिक्रिया का प्रतिफलन मानते हैं। उन्होंने कहा है कि 'जिसके लेखन में सामान्य जन की कठिनाइयाँ, यातनाएँ व समस्याएँ प्रतिबिम्बित नहीं होतीं वह लेखन मात्र ऐयाशी और अपने नाम को उछालने का लेखन है।'[4]

देवेश जी ने समाज के जिस यथार्थ को प्रत्यक्षतः देखा और अनुभव किया, उसे ही अपने उपन्यासों में अभिव्यक्त किया है। उनके सभी उपन्यास उद्देश्यपरक हैं। समाज और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के उनके अनुभव एवं विचार उनके उपन्यासों में द्दष्टव्य हैं। उनके उपन्यासों की एक मौलिक समस्या की चर्चा अप्रासंगिक न होगी। आज हमारे देश के जीवन में हर स्तर पर एक बड़ा मूलभूत रूपांतर घटित हो रहा है। हमारे पारस्परिक सम्बन्ध बदल रहे हैं, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बदल रही हैं, मान्यताएँ, विश्वास, आचार-विचार, मूल्य और आदर्श बदल रहे है। निसंदेह इस सर्वव्यापी रूपान्तर को अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास से अधिक उपयुक्त माध्यम दूसरा नहीं।'[5]

'भ्रमभंग' से लेकर 'कातर बेला' तक सभी औपन्यासिक कृतियों में देवेश जी ने भारतीयता के वास्तविक स्वरूप को दशार्ने के लिए मध्यमवर्गीय जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। इन सभी औपन्यासिक कृतियों के द्वारा उन्होंने अपने पाठकों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक किया है। समाज एवं जीवन के प्रत्येक क्षेत्र संबंधी अपने विचार उन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रस्तुत किए हैं। उनके उपन्यासों के अध्ययन से उनकी बहुआयामी वैचारिकता का यथार्थ ज्ञान होता है- 'साहित्य रचना का सीधा संबंध लेखक की मानसिकता और उसके परिवेश से होता है। मैं इस बात को बहुत बड़ा पाखंड मानता हूँ कि लेखक के व्यक्तित्व को उनकी रचनाओं से अलग करके देखा जाये। वास्तविकता यह है कि लेखक अपनी रचना में अपनी मानसिकता, अपने सोच और अपनी द्दष्टि को ही रूपायित करता है।'[6]

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में समाज का विविध पक्षीय यथार्थ चित्रित हुआ है क्योंकि कोई भी व्यक्ति समाज से पृथक होकर नहीं जी सकता। व्यक्ति का जीवन समाज में होकर ही सार्थक होता है और समाज व्यक्ति के लिए है। समाज का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करने वाले साहित्य में भी समाज के विकास की प्रेरणा और नव मंगल की भावना होती है। एक सफल साहित्यकार अपने जीवन के यथार्थ से युक्त अनुभवों को ही अपने साहित्य में प्रस्तुत करता है। सच्चा साहित्यकार अपने साहित्य में समाज और अपने निजी जीवन के उसी यथार्थ को प्रस्तुत करता है, जो समाज के लिए उपयोगी तथा उसके हित के लिए हो। देवेश ठाकुर ने बड़ी बारीकी से समाज की विसंगतियों और भ्रष्ट व्यवस्था का यथार्थ चित्रण किया है मौजूदा व्यवस्था को बदलने के शुद्ध प्रपंचवादी झूठ पर उनके उपन्यास आक्रमण करते हैं। विचारधाराओं-विश्वासों की खोखली व्यवस्थाओं पर अत्यन्त सहज रूप में अपनी विरोधकर्मी प्रवृत्ति से ये उपन्यास विरोध की एक महत्तम भूमिका निभाते हैं।[7] 'भ्रमभंग' से लेकर 'कातर बेला' तक अपनी सभी औपन्यासिक कृतियों में इन्होंने अपने भावों-विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए अलग-

अलग वस्तुगत तथा शिल्पगत प्रयोग भी किये हैं। इनकी कर्मभूमि और साहित्य रचना का केन्द्र बिन्दु मुम्बई महानगर रहा है। मुंबई जैसे महानगर में अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत करने के कारण देवेश ठाकुर महानगर के लोगों की तेज रफ्तार जिंदगी और उनकी आत्मकेन्द्रित मानसिकता से पूर्णतः परिचित हैं। उनके जीवन का एक दीर्घ समय उच्चशिक्षा जगत में ही व्यतीत हुआ। वे सफल प्राध्यापक रहे। उन्होंने इस क्षेत्र की समस्त समस्याओं और पीड़ाओं को अपने निजी जीवन में अत्यंत निकट से देखा और अनुभव किया है। अपने इन्हीं अनुभवों को अपनी कृतियों में उजागर किया है और साथ-साथ ही उनका समाधान करने का प्रयास करके एक उत्कृष्ट साहित्यकार के धर्म का निर्वाह भी किया है। अपनी सभी औपन्यासिक कृतियों के द्वारा उन्होंने अपने पाठकों को सामाजिक समस्याओं के प्रति जागरूक किया है। मध्यम वर्ग से जुड़े होने के कारण उनके उपन्यासों में मध्यम वर्ग के प्रति संवेदना और उसके भविष्य के प्रति चिंता दिखाई देती है। मध्यमवर्गीय व्यक्ति की अपेक्षाएँ, उसके सपने तथा उनकी पूर्ति के लिए उसका संघर्ष अपने वास्तविक रूप में इन उपन्यासों में उभरा है। महानगरीय परिवेश में मध्यमवर्गीय व्यक्ति की स्थिति अत्यंत दयनीय है। आर्थिक असंतुलन से पीड़ित होने के कारण मध्यमवर्ग में समाज व्यवस्था के प्रति आक्रोश, विद्रोह या क्रांति की भावना दिखाई देती है। बदलते हुए समय एवं परिस्थितियों से समाज में हुए अनेक परिवर्तनों को देखा जा सकता है। देवेश ठाकुर के अधिकांश उपन्यासों में इसी महानगरीय परिवेश का यथार्थ चित्रण हुआ है जहाँ उन्होंने वहाँ की सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक क्षेत्र की विसंगतियों एवं बुराइयों पर तीक्ष्ण प्रहार किया है। इसके साथ ही निरंतर बढती हुई आबादी, आत्मकेंद्रितता व्यक्ति का एकाकीपन, मूल्यों का विघटन, आवास की समस्या, यातायात की समस्या, होटल संस्कृति का विकास, विलासिता के बढ़ते चरण, आपसी रिश्तों में प्रेम और सौहार्द में कमी, आम व्यक्ति में उत्पन्न असुरक्षा का भाव तथा हीनता का बोध भी चित्रित है। इनके उपन्यासों में विविध कथा प्रसंगों के माध्यम से इस प्रकार की व्यवस्था के प्रति विरोध का स्वर स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ता है। युवाओं के रूप में नई पीढ़ी में परिस्थितिजन्य असंतोष तो व्यक्त हुआ ही है, वह वर्तमान व्यवस्था के प्रति विद्रोह एवं आक्रोश भी व्यक्त करती दिखायी देती है।

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में नारी जीवन से जुड़े समस्त पक्षों तथा उनसे जुड़ी समस्याओं को अभिव्यक्ति मिली है। इन्होंने नारी की पीड़ाओं-तनावों की ओर तो समाज का ध्यान आकृष्ट किया ही है, नारी-स्वातंत्र्य की विचारधारा को भी आगे बढ़ाया है। महानगरीय परिवेश में स्त्री-पुरुष संबंधों की समस्या, विवाहपूर्व यौन संबंधों की समस्या, यौन शोषण की समस्या, कुमारी माता की समस्या, वृद्ध माताओं की समस्या, विधवा जीवन की समस्या, परित्यक्ता नारी की समस्या एवं विवाह के प्रति अविश्वास आदि समस्याओं का चित्रण इन्होंने किया है और नारी- जीवन संबंधी नवमूल्यों की स्थापना की है। वर्तमान समाज में नारी की स्थिति में भी परिवर्तन आया है। आधुनिक एवं पाश्चात्य शिक्षा के फलस्वरूप नारी जागृत हुई है। परिवार और समाज में अपनी अस्मिता और पहचान बनाने के लिए वह निरंतर संघर्षरत है। वह पुरुष के समान अधिकारों की माँग कर रही है और उसे पाने के लिए निरंतर प्रयत्नशील है। देवेश ठाकुर जी ने अपने

उपन्यासों में एक ओर इन्हीं स्वस्थ प्रयोगों की चर्चा की है तो दूसरी ओर नारी स्वातंत्र्य के नाम पर समाज में बढ़ती हुई यौन स्वातंत्र्य की भावना के प्रति भी समाज का ध्यान आकृष्ट कराकर उसका खंडन किया है। जैसा कि शून्य से शिखर तक उपन्यास की माहश्वेता नारी स्वतंत्रता की आड़ में उच्छृंखलतापूर्ण आचरण करती है तथा अपने मित्र और संगी-साथी के नाम पर कई पुरुषों से संबंध बनाती है। 'अपना-अपना आकाश' उपन्यास की श्रीमती सूद भी समाजसेवा के बहाने घर से बाहर निकलती है और अपने पति की व्यस्तता की ओट में मेजर मेहरा से संबंध बढ़ा लेती है। समाज की नारी विषयक अवधारणा में भी परिवर्तन आया है।नैतिक मूल्यों के निरंतर विघटन के कारण समाज में भी नई समस्याएँ उभर कर आयी हैं। वैयक्तिक स्वतंत्रता के नाम पर उच्छृंखलता को भी काफी बढ़ावा मिला है। मूल्यों के निरंतर हो रहे विघटन से वर्तमान सामाजिक व्यवस्था भ्रष्ट हो चुकी है और इस भ्रष्ट व्यवस्था के कारण सामान्य जन का दम घुटने लगा है। इनका यथार्थ चित्रण उपन्यासकार ने समाज को सजग करने के लिए किया है।

'कातर बेला' उपन्यास में देवेश ठाकुर की कथा दृष्टि मूल रूप से स्त्री-पुरुष संबंधों पर केन्द्रित है। उपन्यास के नारी-पात्र नवीन चेतना से युक्त हैं। इसके साथ-साथ शिक्षा संस्थानों की दयनीय दशा और निम्न मध्यवर्गीय जीवन की यथार्थ स्थिति को उजागर किया है। देवेश ठाकुर स्वयं मध्यमवर्ग के हैं। इसीलिए इनके उपन्यासों में मध्यम वर्ग की संवेदना तथा उसके उज्ज्वल भविष्य की चिंता भी दिखायी देती है। वर्तमान भारतीय समाज में पश्चात सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण स्त्री-पुरुष संबंधों का जो नवीन रूप उभरकर सामने आया है, उसे ही 'कातर बेला' की कथावस्तु बनाया गया है। कथा-नायक अमर चौधरी मुंबई के एक कॉलेज में हिन्दी के प्रोफेसर हैं। उनका स्थानान्तरण मुंबई से राजकोट के एक कॉलेज में हो जाता है। उन्हें न चाहते हुए भी मुंबई छोड़कर राजकोट जाना पड़ता है। उपन्यास की नायिका सोनल मेहता उसी कॉलेज में अंग्रेजी की प्रोफेसर है। इन दोनों के माध्यम से स्त्री-पुरुष संबंधों की व्याख्या की गई है। नायक अमर एक गरीब परिवार में पला-बढ़ा नवयुवक है। उसके परिवार में उसके वृद्ध माता-पिता और एक बीमार बहन है। वे सभी देहरादून में रहते हैं। इनकी भी पूरी जिम्मेदारी अमर पर ही है। इसके विपरीत सोनल मेहता एक उच्चवर्गीय समृद्ध परिवार की है। उसके पिता रायबहादुर मेहता एक बड़े होटल व्यवसायी हैं। सोनल की माँ काजल मेहता है। रायबहादुर मेहता को काजल के पिताजी ने ही पढ़ा-लिखा कर बड़ा आदमी बनाया तथा बाद में अपनी बेटी काजल का विवाह उनके साथ ही कर दिया। काजल मेहता रायबहादुर को हमेशा इसी बात का उलाहना देती रहती है- 'छोटी-छोटी बातों को लेकर मुझे ताना देती रहती थी कि तुम हो क्या। तुम थे क्या। मेरे पापा के कारण ही तुम वह बन पाये हो, जो हो। वे तुम्हारे मेरे नाम से इतनी जायदाद, इतना पैसा छोड़ गए। तुम तो एक दर्जी के बेटे थे। मेरे पापा न होते, तुम पर इतना उपकार नहीं करते तो तुम भी कपड़े सीते रहते। जाते-जाते तुम्हें दीवान भी बना गए।'[8]

इसीलिए रायबहादुर मेहता सोनल की माँ से नफरत करते थे और उसे जामनगर में हीछोड़कर अपने व्यापार के लिए अधिकार मुंबई में ही रहते थे। सोनल के परिवार में उसकी छोटी बहन रूपल तथा छोटा भाई परेश था। परेश एक दिन अपने साथियों के

साथ समुद्र में नहाने गया था और वहीं समुद्र की लहरों में बह गया। परेश की मृत्यु से रायबहादुर के भीतर आक्रोश उभर आया। सोनल और रुपल दोनों बहिनों का पालन-पोषण सभी सुख-सुविधाओं के साथ हुआ था। दोनों बहनें एक साथ ही कॉलेज में पढ़ी थीं। इसलिए इन दोनों में अच्छी दोस्ती भी है। रूपल अपने पिता के विरोध के बाद सुकांत बैनर्जी से विवाह कर लेती है। दो बच्चों की माँ भी बन जाती है। सोनल एम.ए. करने के बाद राजकोट के कॉलेज में प्राध्यापन का कार्य करने लगती है। जामनगर में सोनल की जन्मदिन की पार्टी में उसके पिता रायबहादुर मेहता अपने एक मित्र मेजर सैम कपूर से सोनल की मुलाकात कराते हैं। उस पार्टी में ही सोनल की माँ सीढ़ी से फिसल जाती है और हमेशा के लिए अपंग हो जाती है। सोनल की माँ की देखरेख के लिए सैम कपूर भी अस्पताल में बार-बार आते हैं। उनकी और सोनल की ये मुलाकातें शारीरिक संबंध तक पहुँच जाती हैं। सोनल कुंआरी ही गर्भवती हो जाती है। रायबहादुर को जब इस विषय में पता चलता है तो वे सोनल को मुंबई से जाकर उसका गर्भपात करवा देते हैं। डॉक्टरों के अनुसार सोनल अब भविष्य में कभी भी माँ नहीं बन पायेगी। दूसरे ही दिन सैम कपूर की एक सड़क दुर्घटना में मृत्यु हो जाती है। कुछ दिनों के पश्चात अचानक सोनल की मुलाकात दिलशाद खांडवाला से होती है जो कि राजकोट के एक बैंक का मैनेजर है। वह सोनल के बंगले पर मिलने आता है। सोनल के पिता ने कुछ एकाउन्ट्स सोनल के नाम कर रखे थे। उन एकाउन्ट्स के हिसाब-किताब के लिए सोनल को एक व्यक्ति की जरूरत होती है। वह इस विषय में दिलशाद से पूछती है तो वह स्वयं ही एकाउन्ट्स को देखने के लिए तैयार हो जाता है। इसके बाद दोनों की मुलाकात होती रहती हैं और उन दोनों के बीच शारीरिक संबंध भी हो जाते हैं। बदले में दिलशाद सोनल के घर के छोटे-बड़े सभी काम करने लगता है। दिलशाद खांडवाला दो बच्चों का पिता है। सोनल को मालूम है कि उसकी पत्नी रूबी के मिस्टर बिलिमोरिया के साथ अवैध संबंध हैं जो कि रूबी का दूर का रिश्तेदार भी है। उसके पिता की मृत्यु के बाद पूरे कारोबार को वही संभाल रहा है। रुबी हमेशा दिलशाद से बात-बात पर झगड़ती रहती है और बार-बार घर छोड़कर सूरत अपनी माँ तथा बिलिमोरिया के पास चली जाती है। दिलशाद खांडवाला को अपने घर में बीवी-बच्चों के होते हुए भी बिलकुल शांति नहीं मिलती है। वह अपने मन की शांति पाने के लिए अपने बच्चों से बुरा बनकर भी सोनल के साथ जुड़ा रहता है।

अमर चौधरी के उसी कॉलेज में आ जाने से सोनल और अमर की मुलाकातें बढ़ती जाती हैं। अब सोनल धीरे-धीरे दिलशाद से दूर होने लगती है और अमर चौधरी की तरफ आकर्षित होने लगती है। अमर की हर चीज को वह चाहने लगती है। उसकी यही चाहत सच्चे प्यार में बदल जाती है। दिलशाद को सोनल का उसके प्रति बदला हुआ व्यवहार अच्छा नहीं लगता है। उसे सोनल की आँखों में अमर के प्रति आकर्षण का आभास हो जाता है। वह सोनल से ऐसा व्यवहार नहीं करने के लिए कहता है लेकिन सोनल पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता है। उसी समय सोनल की माँ की तबियत खराब हो जाती है और थोड़े दिन बाद ही उसकी मृत्यु हो जाती है। मृत्यु से पूर्व वह सोनल से शादी करने के लिए बहुत कहती है और छोटी बहन रूपल भी उस पर शादी कर लेने

के लिए बहुत दबाव डालती है। शादी के लिए सबसे पहले उसके मन में दिलशाद का विचार आता है लेकिन उसके परिवार और उसमें आये ठंडेपन के बारे में सोचकर वह अमर के बारे में अपनी राय बना लेती है। अमर चौधरी भी मन ही मन सोनल को चाहने लगता है। दोनों अपने दिल की बात एक दूसरे के सामने रखते हैं और शादी के लिए राजी हो जाते हैं। एक दिन सोनल अमर से पूछती है कि शादी के बाद तुम मुझसे क्या चाहोगे। अमर कहता है-

'शादी के बाद पति पत्नी से क्या चाहता है। पत्नी का प्यार और विश्वास

- और

- और क्या अपना छोटा सा घर-परिवार और दो चार सुन्दर से बच्चे।'[9]

अमर के मुँह से बच्चे शब्द सुनते ही सोनल की चीख निकल जाती है और उनके सपनों का महल पूरी तरह से ताश के पत्तों के महल की तरह पल भर में ढेर हो जाता है। वह अमर को उसी समय घर से चले जाने के लिए कहती है। उस समय अमर को कुछ भी समझ में नहीं आता है। वह सोचता है कि एकदम से सोनल को वह क्या हो गया है, जो ऐसा व्यवहार कर रही है। काफी सोच विचार के बाद अपने सच्चे प्यार के लिए सोनल यही निर्णय लेती है कि वह अमर के लायक नहीं है। वह उसे अपनी जिंदगी में वह सब कुछ नहीं दे पायेगी जो कि अमर चाहता है। वह अमर से कहती है कि- 'मैं न तुम्हारी कल्पना की पत्नी बन सकती हूँ न तुम्हारे बच्चों की माँ'[10] 'मेरा विश्वास करो अमर। मैं तुमसे बहुत प्यार करती हूँ और अंतिम साँस तक करती रहूँगी मैं तुम्हें खुश देखना चाहती हूँ मेरे प्यार। इसीलिए... इसीलिए.... तुम्हें पाकर भी खो रही हूँ।'[11] सोनल के इस निर्णय के बाद अमर चौधरी हमेशा के लिए राजकोट छोड़कर मुंबई चला आता है। इस तरह सोनल अपने सच्चे प्रेम को प्रकट किया है।

शिक्षा क्षेत्र का यथार्थ भी देवेश ठाकुर ने 'कातर बेला' उपन्यास के नायक अमर चौधरी की छात्राओं के इस कथन के माध्यम से स्पष्ट किया है- 'यहाँ के ज्यादा प्रोफेसर एक्स्ट्रा क्लास लेते है। कॉलेज में रेगुलर क्लासेस नहीं के बराबर होती है। अंग्रेजी को गुजराती में पढ़ाते हैं। एक प्रोफेसर हैं दवे सर। फ्रेंच के प्रोफेसर हैं। 3 सालों से फ्रेंच में कोई विद्यार्थी नहीं है। सो वे अंग्रेजी पढ़ाते हैं। फर्स्ट ईयर के स्टुडेंट्स को सुना था कि पिछले साल उनको प्रमोशन देकर उनका ट्रांसफर औरंगाबाद कर दिया गया था लेकिन वो वहाँ नहीं गए। प्रमोशन छोड़ दिया क्योंकि वहाँ उन्हें फ्रेंच पढ़ानी पड़ती और फ्रेंच भूले उन्हें कई साल हो गए हैं।'[12] देवेश ठाकुर केशिक्षा क्षेत्र से दीर्घ काल तक जुड़े रहने के कारण उनकी सभी औपन्यासिक कृतियों में शिक्षा क्षेत्र की समस्याएँ एवं विसंगतियाँ कहीं न कहीं अवश्य अभिव्यक्त हुई हैं।

देवेश ठाकुर ने आदर्श व्यक्तियों तथा तत्वनिष्ठ आदर्श चरित्रों को भी प्रस्तुत किया है। 'साहित्य उनकी दृष्टि में मनुष्य के लिए, उसके उन्नयन और संस्कार-परिष्कार के लिए होता है।'[13] 'कातर बेला' में राजनीतिक चर्चा का स्पर्श, शिक्षण संस्थाओं की दयनीय दशा आदि पर तीक्ष्ण व्यंग्य तथा निम्न मध्यमवर्गीय जीवन की अनेक विवशताओं और समस्याओंका भी उद्घाटन हुआ है। देवेश ठाकुर ने उपन्यास द्वारा विविध कथा प्रसंगों के माध्यम से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में व्याप्त असंतोष को चित्रित कर परम्परागत व्यस्था के

बदलने की सूचना भी दी है। संयोगों पर आधारित यह कथानक व्यक्ति के चरित्रों को बेपर्दा करता है तथा अंत में एक अत्यंत कातर बिंदु पर समाप्त हो जाता है।

उपन्यासकार ने अपने उपन्यासों में अद्भुत शिल्प कौशल का परिचय दिया है। भाषा सरल है, जिससे पाठक आसानी से तादात्म्य बिठा लेता है। संस्मरणात्मक शैली के साथ-साथ आत्मकथात्मक शैली और सांकेतिकता व प्रतीकात्मकता का बड़ी सावधानी से प्रयोग किया गया है। पात्रानुकूल अंग्रेजी भाषा के संवाद कहीं भी भाषा में जटिलता उत्पन्न नहीं करते हैं। भावों, विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में एकरसता को तोड़ने के लिए विविध शैलियों का प्रयोग किया गया है। कथानक के अनुसार भाषा और शब्दों का उचित चयन तथा वस्तु और शिल्प दोनों का कुशल संयोजन अत्यंत प्रभावी है।

अपनी औपन्यासिक कृतियों के माध्यम से देवेश ठाकुर ने सामाजिक चेतना का संचार करते हुए अपनी समाजोन्मुखी दृष्टि से समाज में नवमूल्यों की स्थापना की है। समाज के प्रति प्रतिबद्धता उनकी सभी औपन्यासिक कृतियों में प्रकट होती है। वे एक यथार्थवादी उपन्यासकार हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों के विभिन्न पात्रों के माध्यम से गहन जीवनानुभवों और जीवन संघर्षो को वाणी दी है। अलग अलग उपन्यासों के पात्र जहाँ एक ओर उनके पारिवारिक जीवन की विषमताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, वहीं दूसरी ओर एक अध्यापक और साहित्यकार के रूप में किये गये उनके भी प्रकाश डालते है। वे अन्याय, उत्पीड़न तथा मूल्यहीनता के विरुद्ध विद्रोह के संकल्प के साथ अपने लेखन कार्य में संलग्न रहे। उनके तमाम चरित्र मुंबई महानगर से लेकर पहाड़ों तक के हैं। अतः महानगर और पहाड़ों के व्यक्ति के जीवन-संघर्ष और महानगरीय परिवेश यथार्थ प्रस्तुत करने में वे अत्यंत सफल रहे हैं।

संदर्भ :

1. डॉ. देवेश ठाकुर - जनगाथा, पृ. - 217
2. देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य-(साहित्य - रचना प्रक्रिया और अध्ययन) पृ. 1
3. संपादक, डॉ. सतीश पांडेय : अल्पविराम, पृ. 13
4. देवेश ठाकुर व्यक्ति समीक्षक और कथाकार : डॉ. नंदलाल यादव, पृ.- 4
5. हिंदी वार्षिकी : प्रधान संपादक, डॉ. नगेन्द्र पृ. 28
6. देवेश ठाकुर, साहित्य के मूल्य - (साहित्य रचना प्रक्रिया और अध्ययन) पृ. 1
7. पांडुलिपि - डॉ. देवेश ठाकुर, पृष्ठ 281
8. देवेश ठाकुर रचनावली (खंड-4) पृ. 188
9. देवेश ठाकुर रचनावली (खंड -4) पृ. 224
10. देवेश ठाकुर रचनावली (खंड -4) पृ. 228
11. देवेश ठाकुर रचनावली (खंड -4) पृ. 228
12. देवेश ठाकुर कातर बेला, पृ. 103
13. डॉ. भानुदेव शुक्ल र, देवेश ठाकुर प्रश्नों घेरे में , पृ.-68

असिस्टेंट प्रोफेसर,
हिंदी विभाग, एल. एस. एम. रा. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ

कातर बेलाः स्त्री पुरुष-संबंधों का आख्यान

- डॉ. दीपिका विजयवर्गीय

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। भारतीय समाज में आज जो बदलाव की प्रक्रिया दिखाई दे रही है, वह दिन-प्रतिदिन तेज होती जा रही है। समाज का यह परिवर्तन साहित्य में भी साफ दिखाई देने लगा है। इस परिवर्तन के कई सूक्ष्म कारण होते हैं, जिन्हें साहित्यकार का संवेदनशील मस्तिष्क आसानी से पकड़ लेता है और अपने साहित्य के माध्यम से उसे जन-मानस तक पहुँचाता है। देवेश ठाकुर ऐसे ही एक संवेदनशील साहित्यकार हैं। उनका उपन्यास 'कातर बेला' बदलते स्त्री-पुरुष संबंधों का आख्यान है जो सामाजिक जीवन और उसके सरोकारों को भी समाहित किए हुए है। उपन्यास में निम्न मध्यमवर्गीय जीवन की उन सभी विषमताओं को उजागर किया गया है, जिनको एक निम्न मध्यमवर्गीय अपने जीवन में झेलता है।

यह सत्य है कि नर में नारी की और नारी में नर की तलाश बनी रहती है। दो विपरीत ध्रुव होने के बाद भी एक दूसरे के लिए अनिवार्यता अपरिहार्य है। स्त्री-पुरुष के अंतर्मन की पीड़ा को, अंतर्मंथन को अपनी उपन्यास-कला का सहारा देकर देवेश ठाकुर ने 'कातर बेला' उपन्यास के कथ्यको यथार्थ की खुरदरी जमीन पर खड़ा किया है। पश्चिमी सभ्यता से प्रेरित होने के कारण स्त्री-पुरुष संबंधों का जो नया रूप भारतीय समाज में आज उभरकर सामने आया है, उसे ही 'कातर बेला' उपन्यास की कथावस्तु का आधार बनाकर देवेश जी ने समाज के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह किया है। स्त्री-पुरुष संबंधों के विभिन्न पहलुओं को देवेश जी ने अलग-अलग पात्रों के माध्यम से दशार्या है। इस संदर्भ में सोनल मेहता के विचार द्रष्टव्य हैं- 'क्या किसी पुरुष के बिना औरत अपनी जिंदगी नहीं जी सकती। और अगर मैं यह मान भी लूँ तो मैं अपना पुरुष कहाँ से लाऊँ। कहाँ खोजूँ उसे। ....यह खांडवाला और यह चैधरी। खांडवाला के बारे में सोचना बेकार है। वह सिर्फ शरीर है, मांस भर है। पता नहीं किस कमजोर क्षण में मैं उसके इतनी पास आ गयी। फिर वह तो शादीशुदा भी है। अब सोचती हूँ कि उसका संसार अलग है- रुपये-पैसे का हिसाब रखने वाला। एकदम वर्ल्डली। उसे बस शरीर की आवश्यकताओं से मतलब है। मन की भी कुछ और जरूरतें होती हैं, वह सोच नहीं सकता। अब चार-पाँच सालों बाद मुझे सब बासी-बासी लगता है। मानती हूँ, वह मेरी बहुत चिंता करता है। मुझ से बहुत जुड़ा हुआ है वह। लेकिन ऐसा जुड़ना भी क्या जुड़ना जो आत्मा को शांति न दे सके।'1 यहाँ सोनल एक अकेली महिला की पीड़ा को व्यक्त कर रही है।

आज समाज में जो स्त्री-पुरुष संबंध बन रहे हैं, इनके दुष्परिणामों से उत्पन्न होने वाले जिंदगी के सूनेपन से समाज को आगाह करके, लेखक ने एक नया प्रयोग किया है। इनका यह प्रयोग कथावस्तु की प्रभावशीलता एवं रोचकता को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है। यथा 'हालाँकि मैं जानती हूँ कि लोगों की नजर में मैं सब तरह से समर्थ हूँ। एक संभ्रांत परिवार। ठोस बैकग्राउंड। सम्माननीय प्राध्यापकी- जिसे मैं अपना वक्त बिताने के लिए कर रही हूँ। इससे एक सक्रियता बनी रहती है और अपने विशिष्ट होने

की आश्वस्ति होती है। लेकिन लोग मेरा बा' ही देख पाते हैं। अकेली सुनसान रातों में मेरे अन्दर अपने खालीपन और अकेलेपन को लेकर जो बवंडर उठता है, उसे कोई नहीं जानता। सुबह उठकर मैं भी नहीं जानना चाहती कि रातभर मैं कौन-से नरक को जीती रही हूँ। लेकिन इससे मेरे भीतर उगे हुए नरक की सच्चाई तो समाप्त नहीं हो जाती। वह तो जैसे मन की भीतरी तहों में स्थिर हो गयी है।'[2]

इसके साथ ही देवेशजी ने प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु में मध्यवर्ग की यथार्थता को भी जोड़कर स्वयं की समाज के प्रति संवेदनशीलता को दशार्या है। अमर चौधरी कहता है 'हम जैसे सामान्य मध्यवर्गियों के लिए पढ़ना-लिखना ही एकमात्र विकल्प है। समाज की ऊँची-नीची सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए या यों कहें, चढ़ने का सपना देखने के लिए कोई दूसरा चारा नहीं है। इसके लिए किसी भी प्रकार के मोह को छोड़ना होगा, सम्मोहन से मुक्ति पानी होगी तभी कुछ हो सकता है। अन्यथा सब कुछ गुड़-गोबर हो जाएगा।'[3]

लेखक के शिक्षण से जुड़े होने के कारण उनके साहित्य में शिक्षण संस्थानों की दयनीय स्थिति का ब्यौरा भी हमें मिलता है। शिक्षा क्षेत्र की स्थिति को लेखक ने इस उपन्यास के नायक अमर चौधरी की छात्राओं के इस कथन के माध्यम से इस प्रकार स्पष्ट किया है- 'यहाँ के ज्यादा प्रोफेसर एकस्ट्रा क्लास लेते हैं। कॉलेज में रेगुलर क्लासेस नहीं के बराबर होती हैं। अंग्रेजी को गुजराती में पढ़ाते हैं। एक प्रोफेसर हैं दवे सर। फ्रेंच के प्रोफेसर हैं। 3 सालों से फ्रेंच में कोई विद्यार्थी नहीं है। सो, वे अंग्रेजी पढ़ाते हैं। फर्स्ट ईयर के स्टुडैंट्स को। सुना था कि पिछले साल उनको प्रोमोशन देकर उनका ट्रांसफर औरंगाबाद कर दिया गया था। लेकिन वे वहाँ नहीं गए। प्रोमोशन छोड़ दिया क्योंकि वहाँ उन्हें फ्रेंच पढ़ानी पड़ती। और फ्रेंच भूले उन्हें कई साल हो गए हैं।'[4]

साहित्य और समाज के प्रति भी लेखक ने अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए इसमें कहा है- 'लेखक अपने आसपास के माहौल में जो कुछ देखता, सुनता और अनुभव करता है, उसे ही अपनी मानसिकता के अनुसार अपने लेखन में व्यक्त करता है। सामान्यतः साहित्य समाज के हित से जुड़ा होता है। उसमें व्यक्ति और सामाजिक जीवन की समस्याएँ अभिव्यक्ति पाती हैं। कभी-कभी लेखक उन समस्याओं के समाधान भी प्रस्तुत करना चाहता है। अब अगर कोई व्यक्ति इन समाधानों के सूत्र पकड़कर इनको व्यक्तिगत या सामाजिक स्तर पर व्यवहार में लाता है तो समाज में परिवर्तन के लक्षण दिखाई पड़ने लगते हैं। वैसे अकेले साहित्य मात्र से कुछ नहीं हो सकता। मेरा मतलब है कि साहित्य के विचारों को व्यवहार में लाने के लिए एक प्रतिबद्ध संस्था होनी चाहिए।'[5]

समाज में दिन-प्रतिदिन बढ़ते असफल वैवाहिक संबंधों को भी उपन्यास में लेखक ने दशार्या है। जहाँ अहम्, महत्वाकांक्षा और एक-दूसरे को कमतर आँकने की प्रवृति संबंधों में ग्रहण लगा देता है। काजल तथा रायबहादुर मेहता जीवन भर शादी के बंधन में बँधे तो रहते हैं, परंतु संतुष्टि के साथ नहीं। रायबहादुर कहते हैं कि शादी के बाद काजल मुझे कितने ताने देती रही। क्या पत्नी को यह सब शोभता है। ठीक है, उसके पिता ने मेरी जिंदगी बनाई। लेकिन उसके लिए बार-बार उलाहना देना मैं बर्दाश्त नहीं कर पाया। कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति बर्दाश्त नहीं कर सकता। छोटी-छोटी बातों को लेकर मुझे ताना देती रहती थी कि तुम हो क्या। तुम थे क्या। मेरे पापा के कारण ही तुम वह बन

पाये हो, जो हो।'[6] काजल का अहम् और रायबहादुर का स्वाभिमान उनके वैवाहिक जीवन को असफल बनाता है। उनकी बेटी सोनल अपने पिता के बारे में कहती हैं कि, 'पापा बड़े व्यवहार कुशल और बुद्धिमान हैं, लेकिन उनकी व्यवहार-कुशलता सिर्फ अपने बिजनेस को लेकर थी, अपने परिवार को लेकर नहीं। शायद इसीलिए हमारा यह छोटा-सा परिवार इतना टूटा-बिखरा हुआ रहा है।'[7]

स्त्री-पुरुष संबंधों के विषय में लेखक ने अपनी दृष्टि को अमर चौधरी और सोनल मेहता के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहा है- 'ऐसा है सोनल जी, पुरुष को पहले तो पत्नी ही अच्छी लगती है, चाहे वह जैसी भी हो। लेकिन बाद में वह उससे नीरस होने लगता है। फिर वह पत्नी की नहीं, रमणी की चाहना करने लगता है।.... वैसे ऐसे मौकों पर अपना विश्वास और व्यवहार ही साथ देता है। और अपने संस्कार भी। इंसान या कह लो पुरुष अपेक्षा करता है कि उसकी पत्नी उसके लिए हमेशा ताजी बनी रहे। तब वह उसे अंतिम समय पर निभा ले जा सकता है।'[8]

इस उपन्यास में लेखक ने नायक अमर चैधरी और नायिका सोनल मेहता के प्रेम को अभिव्यक्त करते हुए, अन्त में इन दोनों के विछोह के दुखद समय को ही 'कातर बेला' कहा है। इन दोनों के इन्हीं दुःखित क्षणों को प्रस्तुत करते हुए लेखक ने इस उपन्यास के नामकरण की सार्थकता को प्रमाणित किया है। यथा- 'मेरी आँखें भर आई हैं। बिछोह की कातर बेला निकट आ रही है। मेरा हृदय धड़कने लगा है । एक प्रकार की अवशता मुझे घेरे जा रही है।.....तुम चाहे कुछ भी हो, कैसे भी हो, मैंने तुम्हें प्यार किया है। तुमने मुझे जताया है कि प्यार क्या होता है, प्यार की तड़प क्या होती है। और सच्चे प्यार के लिए बलिदान करना क्या होता है .... यह आकाश साक्षी है। यह संध्या साक्षी है। ये अमलतास, ये आम्रवृक्ष साक्षी हैं। तुम्हारी चाय की प्यालियाँ, तुम्हारा संग-साथ सब साक्षी हैं सोनल। यह पूरा परिवेश और यह कातर बेला। सब कुछ। तुमने मुझे जताया है, प्यार क्या होता है। प्यार की तड़प क्या होती है। और... और.... प्यार में बलिदान क्या होता है । सिर्फ तुमने, सिर्फ तुमने मेरी सोनल!''[9] कातर बेला उपन्यास में स्त्री-पुरुष संबंधों की संश्लिष्टता को विश्लेषित करते हुए, इन संबंधों की यथार्थता से समाज को अवगत कराने के लिए देवेशजी ने मुख्यतः आत्मकथात्मक शैली का प्रयोग किया है। इसके अलावा पात्रों की मानसिक उथल-पुथल, शारीरिक चेष्टाओं एवं अन्तर्जगत की पीड़ाओं को चित्रित करने के लिए कथा के अनुरूप अलग-अलग शैलियों का प्रयोग किया है।

कथा-नायक अमर चौधरी एवं नायिका सोनल मेहता के जीवन-संघर्षों की सफल अभिव्यक्ति में आत्मकथात्मक शैली के प्रयोग से कथ्य सहज संप्रेषणीय बन गया है। इस शैली के प्रयोग से 'कातर बेला' उपन्यास में कथावस्तु का विकास प्रथम पुरुष 'मैं' के माध्यम से हुआ है। यथा- 'सैम हमारे बंगले में आता रहता। जामनगर के होटल का कंस्ट्रक्शन वही सुपरवाइज कर रहा था। मम्मा के अस्पताल में रहने के दिनों में उसने उनकी बहुत सेवा की। इस बीच मैं भी उसके काफी निकट आ गयी थी। तब उसके मेरे जो संबंध बने, उन्हें मैं कोई नाम नहीं दे सकती। कभी उसके प्रति कृतज्ञ होने को मन करता और कभी उसके व्यक्तित्व और व्यवहार से प्रभावित और आकर्षित होने को।'[10]

'कातर बेला' उपन्यास में कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक वाक्यों का प्रयोग मिलता हैं जो जीवन के विविध पहलुओं की यथार्थता की अभिव्यक्ति के लिए किया गया है। इस शैली के प्रयोग में लेखक के मन के आक्रोश की झलक दिखाई देती है। यथा- 'देश की चिंता किसे है। होती तो आजादी मिलते ही गांधी को यों हाशिए पर नहीं डाल दिया जाता। गांधीजी ने तो कहा था कि देश का विभाजन टालने के लिए जिन्ना को प्रधानमंत्री बना दो। किसने सुनी उनकी। न नेहरू ने सुनी, न पटेल ने। वे तो अपने संघर्षों का फल चखने को आतुर थे।'[11]

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में आत्मकथात्मक वृति किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। इनके उपन्यासों का प्राण यथार्थ है। अपने जीवनानुभवों को ही लेखक ने शब्द बद्ध किया है। इसलिए इनके उपन्यास पाठक के मानस में गहरी छाप छोड़ते हैं।

संदर्भ :

1. संपा. डॉ. सतीश पांडेय, डॉ. बी. सत्यनारायण, देवेश ठाकुर रचनावली (खंड-4), पृ.-178
2. वही, पृष्ठ 118
3. वहीं, पृष्ठ 126
4. वहीं, पृष्ठ-144-145
5. वहीं, पृष्ठ - 183
6. वहीं, पृष्ठ - 188
7. वहीं, पृष्ठ - 176
8. वहीं, पृष्ठ - 206
9. वहीं, पृष्ठ-229-230
10. वहीं, पृष्ठ - 158

'कातर बेला' उपन्यास में चित्रित पारिवारिक घुटन

- डॉ. शर्लिन

आज महानगरीय परिवेश में रिश्ते-नातों में, पारिवारिक एकता में, विघटन नजर आने लगा है। व्यक्ति अर्थ केंद्रित बन जाने के कारण अर्थ के सामने वह सब कुछ भूल बैठा है, जिससे मानवीय संबंधों में दरारें आने लगी हैं। वर्तमान समाज में परिवार रूपी संस्था में विघटन के बीज उत्तरोत्तर विकसित हो रहे हैं। पति-पत्नी के सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आ जाने से अक्सर नए प्रकार के तनाव में जन्म लेते हैं। इन तनावों की प्रकृति भी भिन्न-भिन्न सामाजिक वर्गों (उच्च वर्ग, मध्य वर्ग, निम्न वर्ग) में भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। देवेश ठाकुर जी के उपन्यास 'कातर बेला' में लेखक ने समाज के उच्च वर्गीय और मध्यवर्गीय लोगों के घुटन और अकेलेपन का बखूबी चित्रण किया है।

सोनल मेहता इस उपन्यास की नायिका है जो घुटन, तनाव, अकेलापन और अंतर्द्वंद्व का शिकार है। पैंतीस वर्षीय सुंदर अविवाहित सोनल मेहता एक कॉलेज की अध्यापिका है। रईस परिवार में जन्मी सोनल अपने पिता की लाडली है। वैसे तो है बड़ी साहसी और धैर्यशाली लेकिन पिता की अनचाही प्रवृत्तियों को नकारने का सामर्थ्य उसमें नहीं है। सोनल मेहता के परिवार में माँ है जो अपंग है, पिता हैं जो व्यवसायी हैं। उनका होटल वगैरह का कारोबार है और एक छोटी बहन है रूपल। सोनल का एक भाई भी था जिसकी पंद्रह साल में ही मौत हो गयी थी।

सोनल मेहता के पास सब कुछ है लेकिन वह अकेलापन महसूस करती है। उसके पापा ने उसे खूब पढ़ाया, वह अच्छे ओहदे पर नौकरी भी प्राप्त कर लेती है, पापा के बिजनेस के अधिकांश लाभ सोनल के नाम पर ही आ जाता है लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी वह एकांतता महसूस करती है। वह अपने को व्यस्त बनाने की कोशिश करती है। एन सी सी के कैंप में जाती है, क्लब जाती है लेकिन वह कहीं न कहीं अपने अंदर खालीपन महसूस करती है- 'अपनी अकेली - हाँ एक तरह से अकेली जिंदगी में नासूरों का सा दर्द महसूस करती रही। सोचती रही अपने अकेलेपन के बारे में। क्या मेरे साथ यही होना था। क्या मुझे यही मिलना था। अग्नि और मंत्रोचार के सम्मुख किसी एक पुरुष को हमेशा के लिए अपना शरीर सौंपने की सौगंध नहीं खा पाई मैं, क्या इसीलिए इस बिखरन का संताप मुझे सहना पड़ रहा है।'[1] आज की महानगरीय सुशिक्षित कामकाजी महिला विवाह की अनिवार्यता, विवाह की निरुपयोगिता पर चिंतन करने लगी है। ये नारियाँ परंपरागत भारतीय विवाह की चौखट को बदलना चाहती हैं। परंपरागत विवाह पद्धति को वे अपने अस्तित्व के लिए एक संकट मानती हैं। सोनल की माँ सोनल की बढ़ती उम्र और अकेलेपन से चिंतित थी। वह सोनल को उपदेश देती है कि -'देख सोनू बेटे अकेले रहना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन एक उम्र के बाद यानी उम्र बढ़ने पर अपना अकेलापन अपने को ही काटने लगता है। नौकर और कुत्ते बिल्लियों के सहारे अकेलापन नहीं कटता। तब कोई बिल्कुल अपना चाहिए। बातें करने के लिए अपने दुख-सुख बाँटने के लिए थोड़ी-बहुत नोक - झोंक करने के लिए। अकेले इंसान में

चाहे वह औरत हो या मर्द धीरे-धीरे कुंठा पैदा होने लगती है। उसे सब जगह सब कुछ गलत ही लगने लगता है।'[2] लेकिन सोनल अपने पिता की आज्ञा के बिना शादी के बारे में सोचती नहीं है। रूपल ने अपनी इच्छा से शादी कर ली और पापा से नाराजगी मोल ले ली थी।

तेईस चौबीस साल की उम्र में सोनल की जिंदगी में एक हादसा होता है। राय साहब के दोस्त मेजर सैम कपूर उसकी जिंदगी में आते हैं। जवानी के जोश में वे दोनों शारीरिक संबंध में आ जाते हैं। इन दोनों के संबंध के बारे में राय बहादुर साहब अनभिज्ञ रहते हैं लेकिन जब तक उन्हें इस संबंध में पता चलता है, तब तक सोनल प्रेग्नेंट हो चुकी होती है। रायबहादुर मेहता सैम को ठिकाने लगा देते हैं और सोनल के बच्चे को गिरवा देते हैं। इस कारण सोनल की कोख सूनी हो जाती है। ऑपरेशन के बाद डॉक्टर बताता है कि सोनल आगे माँ नहीं बन सकेगी। इस हादसे के बारे में किसी को पता नहीं चलता। सोनल से भी किसी से न कहने का आदेश दिया जाता है। सोनल माँ नहीं बन पाएगी, यह रहस्य सिर्फ राय बहादुर और सोनल तक ही सीमित रहता है। जब कभी माँ के द्वारा सोनल की शादी की चर्चा होती है तब राय बहादुर साहब विमुखता दिखाते हैं।

सोनल मेहता का एक दोस्त है दिलशाद खांडवाला जो एक बैंक मैनेजर है। दोस्त होने के नाते सोनल के अकाउंट्स, इंश्योरेंस, फिक्स्ड डिपॉजिट, शेयर, घर का राशन पानी सब का हिसाब-किताब रखने लगता है। धीरे-धीरे वह सोनल के बहुत करीब आ जाता है। बहुत करीब यानी शारीरिक तौर से भी दोनों करीब आ जाते हैं लेकिन धीरे-धीरे सोनल मानसिक तौर से उससे दूर हो जाती है। खांडवाला सोनल के इस अलगाव को समझ जाता है। वह बिफर उठता है- 'और मैंने तुम्हारे लिए, सिर्फ तुम्हारे लिए अपना घर परिवार उजाड़ दिया है। अपनी बीवी, अपने बच्चे-सब कुछ।'[3]

मिस्टर दिलशाद खंडवाला का पारिवारिक जीवन भी सुखद नहीं रहता। उसकी पत्नी रूबी बात-बेबात अपनी दोनों लड़कियों को घर छोड़कर मायके चली जाती है। शादी के शुरूआती दिनों से ही रूबी दिलशाद पर डपट पड़ती थी। ऑफिस से वापस आकर घर का सारा काम, यहाँ तक कि बच्चों को भी दिलशाद ही देखता था। सब कुछ सहने के बाद भी रूबी की कड़वी जुबान का सामना करना पड़ता था। वह कहती- 'तुम्हें तो औरत होना चाहिए था। गलती से मर्द बन गए और पूरे मर्द भी कहाँ बने।'[4] दिलशाद इतना तंग आ गया था कि शाम को ऑफिस से घर लौटते हुए उसे डर सा लगता था। दिलशाद ज्यादातर समय ऑफिस में ही बिताता। ऑफिस से निकल कर सोनल के घर और देर रात ही वह अपने घर पहुँचता। उसके दिमाग में हमेशा तनाव ही बना रहता है। एक दिन दिलशाद, रूबी और बिलिमोरिया (रूबी के अंकल) दोनों को एक साथ पलंग पर देखकर विफर जाता है लेकिन कुछ कहता नहीं। वह जानता है कि वह भी रूबी के प्रति ईमानदार नहीं रहा। वह सोचता है- 'कभी-कभी मन में ख्याल आता है कि बिलिमोरिया के साथ कहीं उसके पुराने संबंध तो नहीं है। शादी से पहले के। हो भी सकते हैं नहीं भी हो सकते। उसका बार-बार सूरत चले जाना अब मुझमें शक पैदा करने लगा है। फिर सोचता हूँ कि यह रूबी के व्यवहार की प्रतिक्रिया तो नहीं है जो मैं सोनल के इतने नजदीक आ गया।'[5] इस हादसे के बाद दोनों के बीच का दायरा बढ़ता जाता है।

वह इस दायरे से जितना ही निजात पाना चाहता है, वह और बढ़ता जाता है। जैसे गले में एक हड्डी अटक गई हो जो न निगलने बनती हो न उगलते। इस दंश को सहते हुए वह जीता रहता है। भारतीय संस्कृति में विवाहोपरांत पति-पत्नी की एकनिष्ठा को महत्वपूर्ण जीवन मूल्य माना गया है। भारतीय समाज में विवाहोपरांत और विवाह-पूर्व अवैध यौन संबंध स्वीकार नहीं किया जाता है। आज महानगरीय नर-नारी पर-स्त्री या पर-पुरुष के साथ अवैध संबंध स्थापित करके अपनी यौन तुष्टि करना चाहते हैं। दिलशाद और रूबी दोनों अपने अपने पारिवारिक जीवन से त्रस्त हो अपनी-अपनी यौन तुष्टि के लिए पर पुरुष-स्त्री संबंघ स्थापित कर लेते हैं। सोनल की ओर से भी नीरसता देखकर दिलशाद और अकेलापन महसूस करता है। वह कहता है -'मुझे लगता है कि मैं एक बार फिर अकेला होता जा रहा हूँ। अकेलापन बड़ा मारक होता है। पत्नी है, लेकिन वह पत्नी नहीं है। बच्चे हैं लेकिन उनका मेरे साथ कोई संबंध नहीं है। और यह सोनल है जिसको लेकर मैंने कुछ राहत का सपना देखा था, वह भी धुंधला होता जा रहा है। ऐसे सपने का मरना बड़ा खतरनाक होता है।'[6]

सोनल के पिताजी राय बहादुर मेहता और माँ काजल का पारिवारिक जीवन भी क्लेशदायक रहा है। राय बहादुर मुंबई में रहते थे और काजल जामनगर में। धन दौलत होने के बावजूद उनके रिश्ते में भी बिखराव आ गया था। सोनल अपनी माँ के बारे में कहती है -'सब तरह के ऐशोआराम के बावजूद उन्होंने एकाकी जीवन जिया। एकाकी और उपेक्षित।'[7] इसके लिए सोनल एक हद तक अपने पापा को दोषी ठहराती है। वह कहती है- 'पापा बड़े व्यवहारकुशल और बुद्धिमान हैं लेकिन उनकी व्यवहार-कुशलता सिर्फ अपने बिजनेस को लेकर थी, अपने परिवार को लेकर नहीं। शायद इसीलिए हमारा यह छोटा-सा परिवार इतना टूटा बिखरा हुआ रहा।'[8]

रायबहादुर मेहता बाहरी तौर से बड़े रौबीले और गुस्सैले प्रकृति के दीख पड़ते हैं लेकिन उनके इस कर्कश स्वभाव का कारण उनकी पत्नी काजल ही थी। शादी के बाद रायबहादुर मेहता को उपेक्षा और अपमान का सामना करना पड़ता है। बड़े घर की बेटी होने का ताव काजल को था। वह मौके बेमौके ताने देती। राय साहब कहते हैं - 'शादी के बाद काजल मुझे कितने ताने देती रही। क्या पत्नी को यह सब शोभता है। ठीक है, उसके पिता ने मेरी जिंदगी बनाई। लेकिन इसके लिए बार-बार उल्लाहना देना मैं बर्दाश्त नहीं कर पाया। कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति बर्दाश्त नहीं कर सकता। छोटी-छोटी बातों को लेकर मुझे ताना देती रहती थी कि तुम हो क्या? तुम थे क्या? मेरे पापा के कारण ही तुम वह बन पाए हो,जो हो। वे तुम्हारे - मेरे नाम से इतनी जायदाद, इतना पैसा छोड़ गए। तुम तो एक दर्जी के बेटे थे। मेरे पापा न होते, तुम पर इतना उपकार नहीं करते तो तुम भी कपड़े सीते रहते।'[9]

काजल ने राय बहादुर मेहता में कोई खूबी देखने की कोशिश नहीं की। उन्हें पति के रूप में स्वीकार करने की कोशिश नहीं की। उन्हें शादी के पहले की तरह ही हीन और छोटा मानती रही। एक गरीब दरजी के बेटे के रूप में ही देखा और बात-बात पर ताने देती रही। राय साहब अपना दुख किसी के सामने प्रकट नहीं करते लेकिन अंदर ही अंदर घुटते रहे। वे कहते हैं -'गरीब था मैं, सामान्य परिवार से आया था मैं लेकिन

मुझमें भी तो कुछ रहा होगा जो राजा साहब ने मेरे लिए इतना कुछ किया। एक तरह से मेरी जिंदगी ही बदल डाली। अब अगर उनकी बेटी मुझे पहले की तरह हीन और छोटा मानती रहे- पत्नी बनने के बाद भी, तो उसे सहना मेरे लिए संभव नहीं था, नहीं हो सकता था। इसीलिए मैं उससे दूर होता गया।'[10]

राय साहब की बेटियाँ सोनल और रूपल दोनों अपनी माँ की दृष्टि से देखकर पिता को दोषी ही ठहराती हैं। यह बात राय साहब को भी मालूम थी। यह उनकी खूबी भी है कि वे इसे सुधारना नहीं चाहते। वे कहते हैं -'वह (काजल) सोचती थी कि मैंने उसे इग्नोर किया है। मेरी दोनों बेटियाँ भी इसके लिए मुझे ही जिम्मेदार मानती हैं। उनका ऐसा मानना ठीक हो सकता है क्योंकि काजल के साथ मेरे व्यवहार का कारण उन्हें मालूम नहीं है।'[11] काजल की ओर से बेरुखी व्यवहार के कारण राय साहब अपनी खुशी के लिए मनमौजी जिंदगी बिताते हैं। अपने बच्चों के प्रति वे जिम्मेदार जरूर थे। रूपल के अपनी मर्जी से शादी करने के कारण राय साहब नाराज जरूर थे पर योग्य पति मिलने पर वे मन ही मन खुश भी थे लेकिन यह खुशी वे जाहिर नहीं करते है। सोनल को लेकर अभिमान भी करते थे। सोनल माँ नहीं बन सकेगी यह रहस्य सिर्फ राय साहब जानते थे। शायद इसी कारण वे शादी की बात को ज्यादा अहमियत नहीं देते थे। स्वस्थ एवं सुखी दांपत्य जीवन के लिए संयम, निष्ठा, समझदारी, परस्पर आदर तथा स्नेह, परस्पर विश्वास, लचीलापन, सामंजस्य, शारीरिक एवं मानसिक संतुष्टि, त्याग-समर्पण-निष्ठा आदि की नितांत आवश्यकता होती है। इनके समान तथा समुचित विकास से ही दांपत्य संबंध स्वस्थ, सुंदर और अविच्छिन्न बना रहता है। रायसाहब मेहता और काजल की जिंदगी में पैसे और ऐशोआराम की कोई कमी नहीं थी लेकिन उनकी जिंदगी अहंभावना से भरी थी। दोनों किसी तरह के समझौते के लिए तैयार नहीं थे। जिसके फलस्वरूप उनकी जिन्दगी तनावपूर्ण, खींचातानी, अकेलापन और कुंठा से घिरा रहा और उनका परिवार बिखर गया।

इस उपन्यास का एक और कथा पात्र है- अमर चौधरी जो कॉलेज का अध्यापक है। सोनल और अमर चौधरी एक ही कॉलेज में काम करते हैं। अमर चौधरी उम्र में सोनल से काफी छोटे थे लेकिन दोनों में प्यार हो जाता है और बात शादी तक पहुँच जाती है लेकिन इसी बीच सोनल अमर के मन को जाँच लेती है। वह शादी के बाद बच्चों सहित सुखी पारिवारिक जीवन बिताना चाहता है। यह जानकर सोनल बिखर जाती है। वह जानती है कि वह माँ नहीं बन पाएगी और यह बात उसने अमर से छुपा रखी थी। वह अमर चौधरी की जिंदगी बर्बाद नहीं करना चाहती थी। इसीलिए वह शादी से मुकर जाती है।

प्रस्तुत उपन्यास में देवेश ठाकुर जी ने आधुनिक सुख सुविधा से भरी जिंदगी में अकेलापन, कुंठा, तनाव आदि को बड़े ही रोचक शब्दों में व्यक्त किया है। इस उपन्यास के लगभग सभी पात्रों के मन की अतल गहराइयों में पहुँच कर लेखक ने हर एक पात्र की भीतरी ग्रंथियों और कुंठाओं को प्रकट किया है। इस उपन्यास के लगभग सभी पात्र घुटन महसूस करते हुए अपने परिवेश से बाहर निकलने की कोशिश करते हैं। थोड़ी-सी स्वच्छ वायु लेने की जद्दोजहद में हैं लेकिन सफल नहीं हो पाते।

संदर्भ :
1. कतर बेला - देवेश ठाकुर - वाणी प्रकाशन पृ. 12
2. वही, पृ. 173. वही, पृ. 32
4. वही, पृ. 605. वही, पृ. 63
6. वही, पृ. 647. वही, पृ. 74
8. वही, पृ. 769. वही, पृ. 89
10. वही, पृ. 89
11. वही, पृ. 89

- सहायक प्रोफेसर,
गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज, त्रिवेन्द्रम, केरल

'कातर बेला'- आधुनिक नारी के एकाकीपन की व्यथा-कथा

- डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट (शोध-निर्देशक)
- शारदा महेश कहार (शोधार्थी)

समय के साथ समाज में घटित होने वाली हर तरह की घटनाएँ चाहे वे सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक या धार्मिक हों, सच्चे साहित्यकार की इन पर पैनी नजर होती है और जब वह खुद देखता, सुनता और अनुभव करता है तो साहित्य की विविध विधाओं- कहानी, नाटक, निबंध, संस्मरण या उपन्यास द्वारा अपने मन-विचार और आंतरिक भावनाओं की अभिव्यक्ति अपने लेखन में भी करता है, जिससे सहृदय पाठक प्रभावित होता है और यहीं से स्वस्थ समाज की कल्पना करने वाला साहित्यकार पाठक के मन में एक ऐसा बीज बोता है जो भविष्य में आने वाली पीढ़ी द्वारा सद्व्यवहार रूपी वृक्ष के रूप में पुष्पित और पल्लवित होता है, जिससे साहित्यकार का समाज में नवनिर्माण का सपना साकार रूप ले पाता है।

देवेश ठाकुर ऐसे साहित्यकारों में प्रमुख हैं, जिन्होंने हिन्दी की हर विधा में योगदान दिया है और नियमित लेखन को ही अपने जीवन में सर्वोपरि माना है। आज ९० वर्ष की आयु में भी वे सतत लेखन कार्य में लिप्त रहते हुए सामाजिक सरोकारों से युक्त और सामाजिक संबंधों को बढ़ावा देने वाली उत्कृष्ट रचनाएँ प्रदान करते जा रहे हैं। उनके द्वारा लिखित 'कातर बेला' इसका प्रमाण है। इस उपन्यास में आधुनिक नारी जो आर्थिक और शैक्षणिक रूप से मजबूत है; स्वतंत्र, स्वावलंबी, स्वच्छंद, समझदार तथा परिस्थितियों का सामना करने में सक्षम भी है फिर भी कहीं न कहीं सामाजिक स्वतंत्रता न मिल पाने की वजह से कुंठा, संत्रास, दुख और एकाकीपन की शिकार भी है। ऐसी नारी की संवेदना और सामाजिक स्थिति का सजीव सटीक चित्रण 'कातर बेला' में हुआ है।

'कातर बेला' शब्द से ऐसे किसी समयावधि का संकेत होता है जहाँ कष्ट से किसी की अकुलाहट, अधीरता और बेचैनी झलकती हो। देवेश ठाकुर ने अपने इस उपन्यास के तीन मुख्य नारी पात्रों द्वारा आज की आधुनिक नारी की जिन्दगी में परिस्थिति और परिवेश के कारण आने वाले बदलावों को बड़े ही सहज ढंग से दर्शाया है। इन तीनों नारी चरित्रों द्वारा उपन्यासकार ने एक तरफ आधुनिक नारी के व्यक्तित्व को उभारा है और दूसरी ओर परिवेश में फैली आधुनिक नारी के जीवन की घुटन, कुंठा, दुःख, अवसाद, और एकाकीपन जैसी ज्वलंत समस्याओं को भी दर्शाया है।

सर्वप्रथम जिस पात्र का उल्लेख कर रहें है, वह उपन्यास की नायिका सोनल की माता काजल है। वह मैट्रिक पास है किन्तु गर्म-दिमाग की, हमेशा घमंड में चूर रहती है। पति रायबहादुर मेहता का हमेशा अपमान और उपेक्षा करती एवं ताने मारती रहती है। इस कारण दोनों के रिश्तों में दूरी बढ़ती चली जाती है। रायबहादुर पत्नी से दूर मुंबई में रहते हैं और पत्नी काजल जामनगर में। अपनी बड़ी बेटी सोनल के जन्म दिन पर सीढ़ियों से गिरने के कारण उसकी स्पाइंस में मल्टीपल फ्रेक्चर हो जाता है और तब से

उसे नर्सों की देखरेख में रहना पड़ता है। इस संदर्भ में सोनल का कथन है- 'मम्मा मरी तो नहीं लेकिन तब से जिंदा भी तो कहाँ रही। सिर्फ साँसों का चलना ही तो बना रहा है। एक अपंग जिंदगी जी रही है मम्मा। इसे जिंदा रहना तो नहीं कहा जा सकता न।' सोनल के इस कथन में एक स्त्री के जीवन की कातर बेला का ही तो जिक्र है। देवेश ठाकुर ने उपन्यास के इस चरित्र द्वारा यह संकेत किया है कि घमंड व्यक्ति के पतन का कारण होता है। काजल द्वारा उपन्यासकार ने यह सबक भी समाज को दिया है कि जो दूसरों का सम्मान नहीं करता, उसका अंत दुःखद ही होता है।

दूसरी नारी चरित्र सोनल की छोटी बहन ३३ वर्षीय रूपल है। रूपल निर्भीक और स्पष्टवादी है। उसने राजनीतिशास्त्र में पोस्ट ग्रेजुएशन किया है। पिता की मर्जी के खिलाफ जाकर अपनी पसंद के लड़के सुकांत बनर्जी जिसने एम. टैक किया है, उससे शादी करके मुंबई में ही बस गई है। शादी के इतने वर्षों बाद भी पिता ने इस रिश्ते को स्वीकृति नहीं दी। सुकांत से आमना-सामना होने पर भी जब वे आँखें फेर लेते हैं तो इस कातर बेला से व्यथित पति को समझाते हुए रूपल कहती है- 'देखो, उन सब की मत सोचो। मत सोचा करो। इन बेकार की बातों में हम अपना वक्त जाया क्यों करें। हम सुखी हैं। हमारा यह छोटा-सा परिवार सुखी है। हर इंसान अपनी-अपनी जिंदगी जीता है और हम भी जी रहे हैं। मजे में जी रहे हैं।' देवेश ठाकुर ने रूपल के इस कथन द्वारा यह बतलाना चाहा है कि वक्त के साथ परिस्थितयों और परिवेश में बदलाव स्वाभाविक है। यही कारण है कि प्यार को लेकर एक भारतीय स्त्री का नजरिया भी काफी बदल गया है। आज की शिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री भी अपने जीवन की भावनात्मक जरूरतों को पहचानने लगी है। पहले की तरह परिवार की वजह से अपनी इच्छाओं और रुचियों का त्याग नहीं करती बल्कि अपने लिए क्या सही और उचित है, यह जानकर सही कदम उठाने में सक्षम है।

कातर बेला उपन्यास की तीसरी नारी चरित्र सोनल है। वह राजकोट के एक सरकारी कॉलेज में अंग्रेजी की शिक्षिका है। पितृसत्तात्मक साँचे में ढली शिक्षित, आत्मनिर्भर, समझदार, साधनसम्पन्न और सकारात्मक सोच वाली सोनल पिता रायबहादुर के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार के कारण बहुत अकेला महसूस करती है और जीवन में जो खालीपन है, उसी के चलते अनजान संबंधों में आत्मीयता की तलाश करती है। उपन्यास जैस-जैसे आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे सोनल की मानसिक अवस्था, उसकी कसमसाहट और एकाकीपन का मर्मस्पर्शी चित्रण करके देवेश ठाकुर ने इस वर्ग की महिलाओं की मनोदशा की सफल अनभिव्यक्ति की है। तरह-तरह के विचारों में फँसी सोनल के जीवन में तीन पुरुष मुख्य रूप से आते हैं- मेजर सैम, दिलशाद खांडवाल व अमर चौधरी। तीनों के साथ संबंध किसी न किसी कमी की वजह से पूरा नहीं अधूरा जान पड़ता है।

सर्वप्रथम मेजर सैम जो सोनल की युवावस्था में उसकी जिंदगी में आया। सैम के साथ इंटिमेट रिलेशनशिप के कारण सोनल गर्भवती हो गई और फिर पिता ने सोनल के गर्भ में पल रहे भ्रूण को सैम द्वारा दिया गया कलंक माना और उसका अबॉर्शन करवा दिया। सोनल के पापा का कथन है- 'जब जिंदगी में किसी घटना से कुछ नहीं मिलता तो भी अनुभव तो मिलता ही है।' सैम को अपने अपराध की सजा अपनी जान गँवाकर

चुकानी पड़ी। सोनल को पता है कि उसके पापा ने अपने रास्ते में आने वाले हर उस व्यक्ति को, जिसने अपमान किया या कोई ठेस पहुँचाई, उसे कभी नहीं क्षमा दी। शायद इसी का नतीजा है कि जो आज भी अपनी जिंदगी अकेली ही दंड के रूप में जी रही है।

यहाँ उपन्यासकार यह संकेत देने में सफल रहा है कि आधुनिक युवा पीढ़ी अनिश्चय से भरी अकेली जिंदगी और खालीपन के कारण निराशा और उदासी में गलत कदम उठा लेती है। उन्हें आकर्षण और आसक्ति का अंतर ही नहीं पता होता। कपड़ों की तरह लाईफ पार्टनर बदलना आज इससे, कल उससे, परसों किसी और से यह जो जीवनशैली विकसित होती जा रही है, उसकी परिणति इसी तरह होती है।

सोनल की जिन्दगी में आने वाला दूसरा पुरुष दिलशाद खांडवाल युनियन बैंक में मैनेजर है जिसकी उम्र ४५ वर्ष है। दिलशाद शादी-शुदा है। दो बेटी का पिता होने पर भी अपने वैवाहिक जीवन से संतुष्ट नहीं है। पारिवारिक संबंधों में तनाव और अकेलेपन के चलते ही दोनों एक दूसरे के करीब आते चले जाते हैं लेकिन जैसे ही वह सोनल पर अधिकार जताना शुरू करता है, सोनल को यह बर्दाश्त नहीं होता। वह कहती है- 'देखो दिलशाद, हमारे जो भी रिलेशंस हों, तुम्हे मेरी आजादी पर कोई सवाल पूछने का हक नहीं है।' उपन्यासकार ने यह संकेत किया है कि अपनी स्थिति के लिए सोनल भी बराबर की जिम्मेदार थी- 'औरत अगर स्थिर हो, संयमित रहे तो कोई पुरुष उसे छूने की हिम्मत नहीं कर सकता।'

देवेश ठाकुर ने सोनल और दिलशाद के संबंधों द्वारा आज की उन शिक्षित आत्मनिर्भर महिलाओं को सचेत करना चाहा है, जिनके भीतर आत्मबल की कमी है। यही कमजोरी उनको ऐसे पुरुषों के करीब ले जाती है। आज के युवाओं में लिव-इन-रिलेशनशिप का चलन बढ़ता जा रह है। सोनल और दिलशाद का संबंध ऐसा ही है। आज अधिकांश नौकरीपेशा युवा पारिवारिक संबंधों में तनाव के चलते अपने खालीपन, अकेलेपन और उदासी को भूलकर जीने के लिए इस तरह के रिश्ते अपना लेते हैं।

सोनल की जिंदगी में आनेवाला तीसरा पुरुष अमर चौधरी है जो मुंबई के सरकारी कॉलेज में चार साल हिंदी का प्राध्यापक रहा। अब उसे एज्युकेशन डिपार्टमेंट से राजकोट ट्रांसफर किए जाने का पत्र मिलता है। वहीं उसकी मुलाकात सोनल से होती है। अमर चौधरी की बातें, व्यवहार, स्वभाव सोनल को बहुत भाता है। वह धीरे-धीरे अमर चौधरी के प्रति आसक्त हो जाती है क्योंकि कहीं-न-कहीं उस व्यक्ति ने सोनल के जीवन के सूनेपन को सही मायनों में भर दिया था और सच्चे प्यार की अनुभूति सोनल को अब हुई थी। पर अमर के साथ शादी का सपना अधूरा ही रह जाता है। जैसे एक-एक तिनका जोड़कर पक्षी अपना घोसला बनाने में जुट जाए और तभी अचानक से आई आँधी उस अधूरे घोसले को बनने के पहले ही उजाड़ दे, ठीक वैसे ही सोनल और अमर की दुनिया में तूफान तब आता है, जब अमर ने सोनल को अपने छोटे घर-परिवार में पत्नी का प्यार, विश्वास और दो-चार सुंदर बच्चों की बात कहता है। यह सुनकर सोनल असहज हो जाती है क्योंकि वह जानती है कि वह पत्नी तो बन सकती है किन्तु अमर के बच्चों की माँ नही बन सकती। अमर जैसे सच्चे और सामान्य प्रवृत्ति वाले

इंसान के प्रति अगाध प्रेम के चलते ही उसकी अपेक्षाएँ पूरा न कर सकने की लाचारी सोनल सह नहीं पाती। आगे चलकर उपेक्षा, उदासीनता, अलगाव या कड़वाहट न आए, इसलिए अपने सच्चे प्यार के लिए बलिदान करना ही उसे उचित लगता है। वह स्वयं दुःख सहना स्वीकार कर अमर से कहती है, 'अमर तुम्हें अपना भविष्य जीना है, मुझे अपना अतीत ढोना है।'

कातर बेला उपन्यास का अंत भी इसके शीर्षक की सार्थकता को दर्शाता है। यहाँ सोनल की अमर से बिछड़ने की पीड़ा, प्रेम को लेकर अकुलाहट और बेचैनी के बावजूद उस बेला में लिया गया निर्णय सोनल के प्यार की पराकाष्ठा का परिचय देता है। लेखक ने आज आए दिन घटित होती अमानवीय घटनाओं को रोकने के उद्देश्य से यह बताना चाहा है कि प्रेम जितना गहरा होता है, त्याग की भावना भी उतनी प्रबल होती जाती है। यह त्याग कुछ पाने की आशा में नहीं बल्कि उसे सुखी, खुश और खुद से बेहतर देखने की चाहत में किया जाता है। अगर प्रेम को लेकर इस तरह की भावना जाग जाती है तो फिर कोई अनिष्ट होने की गुंजाइश ही नहीं रह जाती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि देवेश ठाकुर ने 'कातर बेला' उपन्यास में नारी जीवन का जो व्यापक और गंभीर चित्रण किया है, वह अपने आप में बहुत बड़ी उपलब्धि है। आज के इस आधुनिक, भूमंडलीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण के युग में भारतीय समाज में नारी को लेकर जो बदलाव आया है, जिसके परिणाम स्वरूप हम आये दिन तरह-तरह की घटनाओं के बारे में देखते, सुनते, पढ़ते या स्वयं जीते हैं, समाज पर पड़ने वाले उसके असर को रेखांकित करते हुए उपन्यासकार ने स्वस्थ सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। इस कृति के माध्यम से पारिवारिक विघटन, दाम्पत्य संबंधों में बिखराव और प्रेम विषयक धारणाओं के युवा पीढ़ी पर पड़ने वाले गलत प्रभाव जैसे समाज के ज्वलंत प्रश्नों को उठाने में लेखक को सफलता मिली है।।

संदर्भ :

१. देवेश ठाकुर रचनावली खंड-४, संपा. डॉ सतीश पाण्डेय / डॉ सत्यनारायण बी. नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण-२०१८, पृष्ठ १३९
२. वही, पृष्ठ १५९
३. वही, पृष्ठ २०२
४. वही, पृष्ठ २०३
५. वही, पृष्ठ २२८
६. रचनाधर्मी देवेश ठाकुर, डॉ. प्रवीण चन्द्र बिष्ट, नमन प्रकाशन- नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-२०१९
७. देवेश ठाकुरः व्यक्ति समीक्षक और कथाकार, डॉ. नन्दलाल यादव, मीनाक्षी प्रकाशन, नई दिल्ली-१९८३
८. अल्पविराम, डॉ.सतीश पाण्डेय, क्लासिक प्रिन्ट्स, मुंबई-२००२
९. पत्रिकाएँ

रामनारायण रुइया महाविद्यालय

जीवन-संध्या में जिजीविषा और संकल्प की अनूठी कथा : संध्याछाया

- डॉ. वसुधा सहस्त्रबुद्धे

डॉ. देवेश ठाकुर ऐसे प्रयोगधर्मी, संवेदनशील साहित्यकार हैं, जिन्होंने कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, समीक्षक, संपादक, शोध निर्देशक आदि रूपों में अपनी अलग पहचान बनाई है। इन्होंने एकांकी भी लिखी थी, इइन्सान की मौत। उसका मंचन भी हुआ था। तब वे इंटर कॉलेन में पढ़ रहे थे। उन्होंने उपन्यास लेखन में शिल्पगत विविध प्रयोग किया है। डायरी शैली में लिखे उनके उपन्यास 'संध्या-छाया' के संवाद पात्रों को बहुत गहराई से जोडते हैं। इसलिए यह उपन्यास जिंदगी के बहुत करीब लगता है। इसमें मुंबई महानगर में रहनेवाले जितेन और सुमित्रा की जिंदगी की ढलती शाम का चित्रण है। उपन्यास की कथा तीन स्तरों पर चलती है। जितेन और सुमित्रा दोनों की जिंदगी के अतीत के कुछ क्षण, जितेन की अपनी जिंदगी और सुमित्रा की वर्तमान स्थिति उपन्यास के केंद्र में सुमित्रा और उसकी दिन-ब-दिन बढ़ने वाली बीमारी है। इनकी दो बेटियाँ हैं, जो अपने परिवार में खुश हैं लेकिन अपने माता-पिता की पूरी मदद करती हैं।

वैसे तो उपन्यास का पट विशाल होता है, जिसमें बहुत से प्रसंग, घटनाएँ, विविध चरित्र, राजकीय, सामाजिक स्तरों का वर्णन होता है परंतु यह उपन्यास एक बीमारी का साथ निभाते हुए डायरी शैली में लिखा गया है। एक तरह से डायरी के कुछ पन्ने हैं। ग्यारह साल हो गए, सुमित्रा पार्किंसन से बीमार है। पति-पत्नी घर से बाहर नहीं निकल सकते, न उनके घर कोई आता है। हररोज सुबह की चाय से शुरूआत होती है। उसके भी अनेक किस्से हैं। मतलब चाय कभी ज्यादा गरम होती है तो कभी ठंडी। कभी उसी वक्त सुमित्रा का गला सूख जाता है तो वह शरबत माँगती है। फिर जितेन चाय छोड़कर शरबत बनाने जाते हैं, पिलाते भी हैं। फिर वह बार-बार बोलती है- मैं कितनी तकलीफ देती हूँ! उसका जवाब देते-देते, अपने आप पर संयम रखते हुए जितेन प्यार से बात करते हैं क्योंकि उनको मालूम है, सुमित्रा का इस तरह बार-बार नहीं बोलना उसकी बीमारी के कारण है और दूसरी बात, जोर से बोलने पर भी वह घबराती है। तुरंत उसके शरीर में अकड़न शुरू हो जाती है। वह बहुत वेदनामय है, उसे राहत दिलाने के लिए उसके हाथ-पाँव हलके-हलके दबाने पड़ते हैं, मसाज करना पड़ता है। कुल मिलाकर दोनों के लिए यह सब अस' है। सुमित्रा का निढाल होकर लेट जाना, गिर जाने का डर, गला दबाए जाने की कल्पना का डर, यह सब सहते-सहते और सुमित्रा को समझाते, राहत दिलाते वे बेहद थक जाते हैं। हर रोज उसकी गिरती हालत देखकर उनका मन सुमित्रा की मृत्यु की कल्पना से काँप उठता है।

जिंदगी में अनेक रिश्ते जुड़ जाते हैं। उनमें पति-पत्नी का रिश्ता बहुत ही तरल, नाजुक, संवेदनशील होता है। दो अलग-अलग व्यक्तित्व जिंदगी एक साथ जीने के लिए एक दूसरे पर भरोसा लिये हुए मिलते हैं। शुरूआत में दोनों अपने-अपने काम में व्यस्त होते हैं, अपनी मंजिल तक पहुँचने के लिए संघर्ष करते रहते हैं। लेकिन इस स्थिति में

एक-दूसरे की शक्ति बनकर आगे बढ़ते हैं। इस तरह रिश्ता मजबूत बन जाता है। बुढ़ापे में एक दूसरे का सहारा बन जाते हैं और तब एक-दूसरे के बिना जीने की कल्पना भी नहीं कर सकते। बस, साथ रहने से राहत मिलती है। प्रत्येक मनुष्य इस तरह के अनुभवों से गुजरता है। रचनाकार अपनी प्रतिभा से यह अनुभव पाठकों के मन में सजीव करते हैं। इसंध्या-छाया' उपन्यास पढ़ते समय हम उस अनुभव के करीब पहुँचते हैं।

उपन्यास की शुरूआत में ही चाय की ट्रे के साथ सुमित्रा के गिर जाने की आवाज से जितेन की नींद खुलती है। सब देखकर उनके माथे पर सिकुड़ने उभरती हैं लेकिन सुमित्रा का बच्चे की तरह धीरे से रोते हुए कराहना देखकर वे दुखी होते हैं। उसे बड़ी मुश्किल से बेडरूम तक ले जाते हैं। बेड पर लिटाकर कुछ क्षण बैठते हैं क्योंकि इस परिश्रम से वे थक गए हैं। फिर धीरे-धीरे बात करते हैं। सुमित्रा कहती है, आज हमारी शादी की वर्षगाँठ है, इसलिए तुम्हें चाय पिलाना चाहती थी। तब जितेन कहते हैं- हमारी शादी 12 अक्टूबर को हुई थी, 12 अगस्त को नहीं। इस तरह सुमित्रा की बीमारी की जानकारी मिलती है, जिसमें भूलना और एक बात बार-बार कहना भी है। लेकिन पढ़ते समय यह अखरता नहीं, बल्कि दोनों के लिए मन में स्नेह, ममता निर्माण होती है। यह लेखन की विशेषता है। शांताबाई उनके घर कितने सालों से खाना बनाने और घरकाम करने आ रही है। वह घर की सदस्य बन जाती है, मानवीयता, रिश्ता बन जाता है। इसलिए उसके बेटे के ऑक्सिडेंट के बाद वे अपनी बेटी श्रद्धा को, जो डॉक्टर है, उसे फोन करके शांताबाई की पूरी मदद करते हैं।

एक दिन ऐसे ही मन बहलाने के लिए अपनी शादी का अल्बम देख रही सुमित्रा बहुत दुखी स्वर में बोली, इजीतू, भाईजी चले गए, बहिन चली गई, भाभी चली गयी। सब चले गए। मैं ही अभी तक जिंदा हूँ। मुझे मौत क्यों नहीं ले जाती? सुमित्रा का मौत के बारे में बोलना सुनकर जितेन जिंदगी जीने की फिलॉसफी मार्मिक ढंग से कहते हैं- इमीना, ये मरने-करने की बातें छोड़ो। मौत का एक क्षण होता है। उसके बारे में इतनी माथा-पच्ची क्यों? जिंदगी उस क्षण से काफी लम्बी होती है। उसके बारे में सोचना चाहिए। उसे जीना चाहिए। जितेन के स्वभाव में जिद है, आत्मविश्वास है। उसके बल पर ही तो वे इतने आगे बढ़े और अब जी रहे हैं।

सुमित्रा को अपनी बीती हुई जिंदगी याद आती है। वह कहती है- ''मैं खाली नहीं बैठ सकती। तब जितेन उसे समझाते हैं, मुझे सब पता है। नौकरी के साथ-साथ पूरा घर भी तुम सँभालती थी। मेरी दवाइयों का ध्यान रखती थीं। लेकिन अब हालात बदल गए हैं, मीना। हम दोनों अस्सी पार करने वाले हैं। शरीर का अपना धर्म होता है। वक्त के साथ-साथ वह भी बुढ़ाना है। इस बात को तुम क्यों नहीं समझती?' शायद उन्होंने यह सब स्वीकार किया है और सुमित्रा भी स्वीकार करे ऐसी अपेक्षा करते हैं।

उपन्यास में बीमार वृद्धावस्था का यथार्थ चित्रण है। इसमें कल्पना का पुट नहीं है। सुमित्रा बच्चों जैसी मासूम लगती है। उसे अपना बचपन खासकर पाकिस्तान का रामनगर याद आता है- ''और यहाँ तुम अपने खेतो में मजदूरों के साथ रुई चुनती थी और अपने लालाजी यानी अपने पिताजी से मेहनताना भी लेती थी, दूसरे मजदूरों की तरह। कितनी बार बतला चुकी हो यह सब।'' जितेन के कहने पर मुँह बनाकर सुमित्रा

कहती है- इतुम्हें सुनने में क्या होता है? आखिर अच्छा इ कहकर चुप हो जाती है। दोनों के मन में भावना की आँधी उठी है, जो उनकी चुप्पी में व्यक्त हुई है। बीती हुई जिंदगी, अस' हो रहा वर्तमान और भविष्य की चिंता दोनों की बातों में झलकती है। दोनों के मन में अपनी बेटियों के प्रति प्यार है, गर्व है।

डायरी शैली का उपयोग प्रभावी बन पड़ा है। छोटे-छोटे संवादों में प्रसंग रिपीट होते हैं फिर भी कहानी आगे बढ़ती है। कभी-कभी दोनों में बहुत ही जिंदादिल संवाद होते हैं क्योंकि दोनों जिंदगी से प्यार करते हैं। एक दूसरे से बेहद प्यार करते हैं। जितेन की शराब और सिगरेट की आदत से सुमित्रा दुखी है। वह कहती है- तुम हार्ट पेशंट हो, डायबिटीज है। रोज इतनी गोलियाँ खाते फिर भी सिगरेट नहीं छोड़ पाते। किजनी बार कह चुकी हूँ, तुमसे।'

बीच बीच में बार-बार होनेवाली अकडन और थरथराहट बहुत तकलीफ देती है। पूरा वातावरण बिगड़ जाता है, दुखी हो जाता है। फिर सुमित्रा की बातें भी कड़वी, आहत करने वाली होती हैं। दोस्तों की पार्टी में बुढ़ापे की तकलीफ और यूथनेशिया जैसी गंभीर विषयों की चर्चा चल रही थी। कपूर कह रहे थे- बच्चे शादी के बाद पराए हो जाते हैं और हम अकेले पड़ जाते हैं। इसलिए जब हम कुछ करने के काबिल नहीं रहेंगे तो हमें अपने-आप को खत्म कर देना चाहिए। जितेन को इस तरह हारना पसंद नहीं है और बच्चों को लेकर उनका अनुभव अलग है।उनके अनुसार 'यह आसान नहीं है। सड़क पर पड़े भूखे, नंगे, अपाहिज भी जीना चाहते हैं। इसे जिजीविषा कहते हैं। इंसान को जिंदगी की आखिरी साँस तक जीते रहने की कोशिश करनी चाहिए।' जसवंत कहता है- 'अगर सरकार 'यूथनेशिया' को लीगल कर दे तो?' जितेन कहते हैं- 'लीगल कर दिया तो उसका दुरुपयोग होगा। अपने स्वार्थ के लिए संबंधी अच्छे खासे इंसान को भी मार देंगे।' वास्तव में जितेन की जिंदगी में इतनी तकलीफ है फिर भी वे नहीं सोचते कि जीना छोड़ दें। जीवन से सुंदर और कुछ नहीं है। जीवन को और उसकी सुंदरता को नष्ट करना अपराध है। अपने आत्मबल के साथ जीना चाहिए।

इसी तरह दिन बीत रहे थे और एक रात चार-साढ़े चार बजे सुमित्रा गिर गई। फर्श पर खून बह रहा था। जितेन ने श्रद्धा को फोन लगाया। आधे घंटे में श्रद्धा सुमित्रा को लेकर अस्पताल पहुँची। वहाँ सब टेस्ट, ट्रीटमेंट शुरू हो गई। सब मुश्किल था फिर भी सुमित्रा धीरे-धीरे ठीक हो गई और अपने घर आ गई। वह बहुत कमजोर हो गई थी। यहाँ लेखक बहुत पॉजिटिव दृष्टिकोण रखते हुए बीमार के मन में आत्मविश्वास जगाने का उपाय व्यक्त करता हैं। डॉक्टर बीमार के कमजोर मन का खोया हुआ आत्मविश्वास वापस लाने के लिए, उसे प्रेरणा देने के लिए, अलग तरह की ट्रीटमेंट करते हैं। बीमारी कम होने के लिए दवाई के साथ आत्मबल भी जरूरी है। इसलिए बॉम्बे हॉस्पिटल में 'पार्किसन डे' का आयोजन किया जाता है। वहाँ मरीजों के मन का भय दूर करने के लिए कार्यरत पेशंट को स्टेज पर लाया जाता है। डॉ. अवस्थी कहते हैं- 'ये प्रोफेसर नटराजन हैं। लॉ कॉलेज में पढ़ाते हैं। पिछले -25 वर्षों से इन्हें पार्किंसन है लेकिन अपने आत्मविश्वास और आत्मबल पर इन्होंने उसे धता बता दी है।' इसी तरह एक इंजीनियर और महिला पी.टी. टीचर के बारे में भी बताया जाता है। डॉक्टर ने कहा- ''रोजमर्रा के

कामों के अलावा पेशंट कला, संगीत, नाटक वगैरह में भी कंट्रीब्यूट कर सकते हैं। बस उसमें आत्मविश्वास होना चाहिए, एक जिद होनी चाहिए कि मुझे ठीक होना है। उसके बाद एक 'डान्स' का कार्यक्रम हुआ जिसमें सभी कलाकार 'पार्किसन पेशंट थे।

यह सब देखकर सुमित्रा चकित थी। उसके भीतर एक संकल्प जागने लगा। वह सोच रही थी अगर ये कलाकार सक्रिय और सफल हो सकते हैं तो वह इक्यों नहीं हो सकती। पास बैठी श्रुति ने बहुत दिनों बाद अम्मा को इतना सहज और शांत देखा।

सुमित्रा के स्वास्थ्य को लेकर जितेन चिंतित हो उठते हैं। उन्हें लगता है जैसे सब कुछ बिखर गया है। तब वे अपने अतीत में झाँकने लगते हैं। कितना सुखद, सक्रिय जीवन था। लिखना, पढ़ना, फिर कॉलेज में पढ़ाना, सेमिनार में जाना और मित्रों का सुखद साथ। उन्होंने सोचा भी नहीं था कि जिंदगी के अंतिम दिन इतने अवसादपूर्ण होंगे। वे निर्भय और साहसी थे लेकिन आज भविष्य की आशंका से भयग्रस्त हो जाते हैं। ऐसे में सुमित्रा के पास बैठकर उनको राहत मिलती है। 20-25 साल की साधना से उनके सपने सच हुए लेकिन वे जानते थे सुमित्रा के सहयोग के बिना शायद वे उतने सफल नहीं होते। ऐसे में उनकी छोटी बेटी श्रुति ने मुंबई में आकर उनके साथ रहने की खबर सुनाई तब उनको राहत मिली। फिर उसके साथ वातावरण ही बदल गया। दोनों की बीमारियों के बावजूद जीवन सुंदर लगने लगा। दो महिने बाद सुमित्रा सचमुच सक्रिय हो गयी। लेकिन उसकी बीमारी से लड़ते लड़ते जितेन बहुत थक गए थे।

इस उपन्यास की भाषा नाटक की तरह दृश्य भाषा है, जो शब्दों के बिना भी बहुत कुछ कहती है। दोनों की चुप्पी में वे क्या बोलना चाहते हैं और क्या टालना चाहते हैं, स्पष्ट होता है। यही इन संवादों की खूबी है। जैसे सुमित्रा अपनी असहमति, नाराजी, हतबलता व्यक्त करने के लिए कई बार बोलते-बोलते करवट बदलती है, मुँह बनाती है, चुप हो जाती है, धीरे से रोती है और जितेन संयम के साथ चुप्पी साध लेते हैं। फिर भी बोलनेवाले का टोन और पॉज आशय व्यक्त करता है। इन संवादों में भावुकता, प्यार, स्नेह और कभी-कभी उपहास का अंतःप्रवाह है। कभी-कभी निराशा घेर लेती है। तब इनसीब में जो होगा, अथवा भगवान जो चाहेगा' जैसे वाक्य आते हैं, जो जितेन की जिंदगी में कभी नहीं थे। उनका भरोसा अपनी मेहनत, जिद और संघर्ष पर था।

बहुत दिनों बाद जितेन के दोस्त का फोन आता है। दोस्त का इस तरह याद करना, इमिलने की इच्छा व्यक्त करना जितेन को बहुत अच्छा लगता है। अब जितेन के दोस्त इन दोनों को मिलने के लिए आ रहे हैं, तो दोस्तों की पार्टी तय हो गई। फिर सुमित्रा की पूछताछ शुरू हो जाती है, जैसे जितेन को कटघरे में खड़ा कर देती है वे लोग उधर खाना खाएँगे? अगर बाई नहीं आयी तो रेस्टॉरंट से मँगवाओगे? फिर ड्रिंक भी चलेगी? इसके साथ जितेन को डायबिटीज और हार्ट प्रॉब्लम की याद दिलाती है। जितेन के पास सभी प्रश्नों के उत्तर हैं। अंत में ''जो जी में आए करो'' कहते हुए करवट बदलकर लेट जाती है। अपनी तरफ से विरोध व्यक्त करने का तरीका है।

एक दिन ऐसे ही अपना सब काम निपटा कर जितेन स्टडी में आ गए। अपनी डायरी लिखने के लिए टेबल पर बैठ गए। डायरी में उस दिन की तारीख में लिखना शुरू किया- लगता है, हताशा के जंगल से निकल आया हूँ। जिंदगी जीते हुए बहुत से मोड़ आते हैं।

टेढ़े-मेढ़े और सँकरे मोड़। मेरे लिए वे सब पीछे छूट गए लगते हैं। अब आगे का रास्ता परम शांतिमय और सीधाङ्ङ्ङ। तभी सहसा उन्हें लगा कि बिजली की एक तेज लहर उनके सीने को चीरती हुई निकल गयी है और पूरा कमरा उसके चौंधियाते प्रकाश से भर गया है। दीवारों पर रोशनी के इंद्रधनुष लटक गए हैं। सैंकड़ो सुगंधियों की मिली जुली गंध उनके भीतर भरती जा रही है और वे उस सुवास में अपनी चेतना खो रहे हैं।

अगले ही क्षण उनकी गरदन डायरी के खुले हुए पन्नों पर लुढ़क गयी और एक हाथ मेज से नीचे लटक गया- उनकी साँस धीरे-धीरे थमती जा रही थी। जीवन अलग ही अनुभव का शब्दचित्र पाठकों के सामने सजीव होता है। पिछले दिनों से सुमित्रा की मृत्यु का भय लेकर जितेन जीने की कोशिश कुछ कर रहे थे। लेकिन कुछ अद्भूत ही हुआ। सुमित्रा की जीवनयात्रा धीरे-धीरे शुरू हुई और जितेन की जीवनयात्रा समाप्त हुई। सब कुछ शांत हुआ।

देवता के गुनाहः दैहिकता की कथा

- डॉ. कला जोशी

देवेश ठाकुर का उपन्यास 'देवता के गुनाह' बरबस धर्मवीर भारती के 'गुनाहों का देवता' उपन्यास की याद दिला देता है। उपन्यास पढ़ने के बाद लगता है यह सायास लिखा गया है। उपन्यास की घटनाएँ और स्थितियाँ 'गुनाहों के देवता के लेखक के जीवन को स्पर्श करती हैं। देवेश जी धर्मवीर भारती के समकालीन रहे हैं। संभव है उनसे संपर्क भी रहा हो। लेखक के जीवन के आसपास घूमती यह कृति 'गुनाहों के देवता' के पासंग नहीं है। 'देवता के गुनाह' का संबंध लेखक धर्मवीर भारती के जीवन से हो सकता है किन्तु इसमें 'गुनाहों' का देवता' का अलौकिक प्रेम सिरे से अनुपस्थित है। पूरा उपन्यास प्रोफेसर शोभनाथ के चरित्र पर केंद्रित है। उसकी रचनाधर्मिता का केवल संकेत भर दिया गया है। शोभनाथ की ऐंद्रिकता को लेखक ने गहराई से अभिव्यक्त किया है। शोभनाथ दैहिक-माँसल सौन्दर्य के समक्ष डगमगा जाता है। उसकी चेतना देह के भूगोल में विचरण करने लगती है। माया से अपूर्वा तक की यात्रा में वह ग्रामीण, अल्हढ़ सौन्दर्य में खोया है। मनजीत की आखों की गहराई में डूबा वह तभी पार लगता है, जब सुमन का दैहिक स्पर्श उसे आनंद की धारा में बहा ले जाता है। संबंधों की गहराई में रमी लेखनी 'देवता के गुनाह' को नितांत ऐंद्रिक उपन्यास बना देती है ।

प्रोफेसर शोभनाथ एक कॉलेज में पढ़ाता है। उसे अपने कविता संग्रह से प्रसिद्धि मिल चुकी है। वह महत्वाकांक्षी है। अपनी महत्वाकांक्षा के चलते वह केवल अपना यश और उन्नति चाहता है । खुशी पाने की चाह में वह दूसरों को महत्व नहीं देता भले ही वे उसके अपने हों। अपनों की पीड़ा से उसका कोई लेना-देना नहीं। उपन्यासकार उसे 'देवता' के रूप में क्यों स्थापित करना चाहता है, समझ नहीं आता। नायक विद्वान है, उसने कम उम्र में लेखन से प्रसिद्धि पा ली है, केवल ये बातें उसे देवत्व की श्रेणी में शुमार करने का कारण तो नहीं बन सकती। देवत्व की राह तो जन-जन की पीड़ा में सहभागी बनने से शुरू होती है। शोभनाथ में ऐसे कोई गुण नहीं हैं। वह तो दैहिक प्रेम के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता एक भोगी पुरुष है। भोग प्राप्ति की लालसा में वह अपूर्वा और मनजीत के जीवन से तो खिलवाड़ करता ही है, साथ ही अपनी छात्राओं के रूपरस का लोभी भी है। उसकी मानसिक कुंठा कल्पना में भी रसरंजन करती रहती है। यह व्यवहार तो किसी लम्पट युवक का ही हो सकता है। जिस गुरु ने उसे रहने को घर दिया, जो उसकी पी.एच.डी. का मार्गदर्शक-निर्देशक है, उसी की भतीजी को अपने प्रेमजाल में फँसा लेता है। भोली अपूर्वा उसे दिल दे बैठती है। शोभनाथ उसे अपने गीतों की अनामिका प्रेरणा कहकर ठगता है। अपने स्पर्श से उसे रोमांचित कर, विश्वास दिला देता है, वह उसको प्रेम करता है। इसी बीच मनजीत का माँसल सौंदर्य उसे मोहसिक्त कर देता है तो अपूर्वा उसे गँवई लगने लगती है। वह उससे पीछा छुड़ाने के लिए गुरु के पास आना बंद कर देता है। अपूर्वा बीमार हो जाती है। अनुभवी गुरु समझ जाते हैं। वह शोभनाथ को बुलाकर टटोलना चाहते हैं - 'क्या वह अपूर्वा से शादी करेगा?' शोभनाथ मुकर जाता है। ' गुरु की भतीजी से कैसा रिश्ता वह सोच भी नहीं सकता।' गुरु की उदासी साफ-साफ दिखती है कि उसने अपूर्वा को ठगा है। अपूर्वा टूट जाती

है। वह गहन अवसाद में चली जाती है। शोभनाथ का काइयाँपन तब उसके प्रति घृणा के बीज बो देता है, जब वह अपूर्वा से कहता है- 'तुम गिलहरी-सी मुझे बहुत-बहुत अच्छी लगती हो और अप्पू बेटे प्यार एकपक्षीय नहीं होता। भाई-बहन में भी प्यार होता है। जो अच्छा लग जाए, वह पुरुष हो या स्त्री उससे भी प्यार हो जाता है। मित्रों में भी प्यार होता है। तुम मुझे बहुत भाती हो, सो मैं तुम्हें प्यार करता हूँ।' अपूर्वा के लिए ये शब्द पत्थर की तरह थे। इतनी चोट खाकर वह कैसे स्वस्थ रहती किन्तु शोभनाथ को इससे कोई फर्क नहीं पड़ा।

अपूर्वा के सपनों को शोभनाथ ने तोड़ डाला। अब उसे अपूर्वा से अधिक मोहक और सुंदर मनजीत मिल गई थी। मनजीत के दैहिक भूगोल में उसका चंचल मन भटक गया वह उसे पाने की चाह में अपूर्वा के प्रथम अल्डढ़ प्रेम को छिटक देता है और सोचता है- 'नैतिकता तो परिवर्तनशील होती है। काल और परिस्थिति के अनुसार वह बदलती रहती है। अपूर्वा उनकी गति के अनुसार चल नहीं पायेगी। मनजीत उससे अधिक सुंदर है। गंभीर और संयमित भी।' उसने झटके से अपूर्वा को मन से निकाल फेंका। वहाँ अब मनजीत विराजमान थी। शोभनाथ का प्रेम दमित वासनाओं का स्फुरण है। जैसे जिंदगी यहीं तक सीमित है, जैसे तन-मन की संतुष्टि के लिए दैहिक सौन्दर्य ही पैमाना है, जैसे यही उसके स्वप्निल संगीत की तान हो। अपूर्वा का अल्हड़पन, चंचलता और वाकपटुता का आकर्षण अब फीका पड़ गया। मनजीत की देह उन्हें अपनी ओर खीच रही थी। शोभनाथ का मन भी धिक्कार रहा था- 'तुम बहुत कमीने हो। तुम्हारी सोच और तर्क निकृष्ट हैं। उसके अंतर से एक हारी हुई चीख निकली उसे धता बनाकर वे आगे बढ़ चुके थे। प्रगति के लिए राह में आए आकर्षणों की उपेक्षा करनी ही होगी।'

शोभनाथ जैसा व्यक्ति तो अपने तर्कों के साथ जीवन जीता है, अपने निर्णयों को हमेशा सही ठहराता है और किसी भी प्रकार का पराभव-भाव या अपराध बोध पैदा किए बिना। शोभनाथ ने अब तक यही किया। अपने को ऊँचे पायदान पर रखकर उन्हें आत्मसंतोष ही नहीं, गर्व का अनुभव भी होता था। अपूर्वा की प्रेमकथा को विराम देकर लेखक ने प्रेमबेलि को सुखाकर प्रेम की संभावना को खत्म कर दिया।

उपन्यासकार प्रारंभ में ही कविता से यह उद्घाटित कर देता है कि उनका कथा नायक स्त्री शरीर से मोहाविष्ट है। मैनपुरी का युवक शोभनाथ बचपन में ही अपने माता-पिता को खो चुका है। बुआ उसे देहरादून ले आती है। यहीं उसकी कॉलेज की शिक्षा पूरी हुई। अपने ही कालेज में वह व्याख्याता हो जाता है। इसी के साथ वह चर्चित कवि भी हो जाता है। उपन्यासकार उसकी विद्वता को सिद्ध करता चलता है। यहाँ सवाल आ खड़े होते हैं, विद्वता या मेधा ही क्या सबसे बड़ी उपलब्धि है देवता होने की? मेधा का यदि भटकाव हो तो? विद्वता यदि अपने को सही साबित करने के लिए निकृष्ट तर्कों का सहारा ले तो? क्या यह सात्विक गुण है समाज की प्रशंसा पाने का। समाज भले ही साहित्य से अलग नहीं हो किन्तु कृति की श्रेष्ठता का आकलन कृतिकार की निजी जिंदगी से नहीं होता। कृति को पढ़ते समय कृतिकार नजरअंदाज हो सकता है। जरूरी भी नहीं कि हर पाठक को कृतिकार के जीवन में रुचि हो।

कथा का तथाकथित प्रबुद्ध नायक अपने कुकृत्यों को अंजाम देकर उसे न्यायसंगत

ठहराने का प्रयास करता है। उसे लगता है अपूर्वा उनकी गति के अनुसार चल नहीं पायेगी। कुछ-कुछ गँवारू है। कल जो परिवेश होगा, उसमें वह फिट नहीं हो पायेगी। शोभनाथ आगे बढ़ चुके थे। अपूर्वा से अब उन्हें कोई मतलब नहीं था। उसने मनजीत से शादी कर ली। मनजीत उनकी छात्रा थी। मनजीत अपने को सौभाग्यशाली समझती है। शोभनाथ ही उसका घर-संसार था। शोभनाथ के मन में क्या चल रहा है इस सबसे अनजान वह अपने स्वप्निल संसार में खोई थी। इधर शोभनाथ मनजीत को पा लेने के बाद भी अपनी दूसरी छात्रा सुमन के प्रति आकर्षित हो रहे थे। यहाँ उपन्यासकार ने शोभनाथ की फिसलन का कारण सुमन को बनाकर कथानायक को कुछ अच्छा बनाने की कोशिश की है किन्तु वह इसमें सफल नहीं हो पाया है। शोभनाथ की चारित्रिक कमजोरियाँ, स्त्री का मोह उसे पतन की ओर ले जाता है। सुमन तो पहले से ही शोभनाथ को प्रेम करती थी किन्तु वह जता नहीं पाई थी। मनजीत उसके पहले ही शोभनाथ के जीवन में आ गई। यह उसे सहन नहीं हुआ। उसने मन बना लिया था कि वह शोभनाथ को पाकर ही रहेगी। शोभनाथ और मनजीत की शादी को अभी एक वर्ष भी नहीं हुआ था और सुमन ने शोभनाथ के जीवन में घुसपैठ कर ली। मनजीत अपनी गृहस्थी और पढ़ाई में रमी, शोभनाथ के प्रेम में आकंठ डूब गई थी। उसे कुछ भनक भी नहीं लगी। शोभनाथ व सुमन के बीच क्या चल रहा है। उपन्यासकार ने सुमन-शोभनाथ के संग-साथ की घटनाओं का लम्बा चित्रण किया है। इस चित्रण में शोभनाथ का मोहान्ध पुरुष उभकर आता है। लेखक की भाषा भी विचलन करती है। पाठक साहित्यरस की बजाय स्त्री-पुरुष के संबंधों के उथलेपन पर आकर ठगा-सा रह जाता है। जैसे किसी सत्यकथा को फलक पर उभरते देख रहा है, जैसे प्रेम की गाथा में कोई भटकाव आ गया हो, जैसे समुद्र की मर्यादित जलराशि में ज्वार-भाटे में असंतुलन ला दिया हो, जैसे शांत बहती जीवनधारा से कोई चट्टान टकरा गई हो।

मनजीत के जीवन में भूचाल आ गया। उसने अपने दाम्पत्य को बचाने को कोशिश की किन्तु जब शोभनाथ ही बह गया तो मनजीत उसे रोक नहीं पाई। सुमन शोभनाथ की आवश्यकता थी। सुमन के कारण ही वह एक बड़ी पत्रिका का संपादक बना था। सुमन ने साफ-साफ कह दिया था, मनजीत को जाना पड़ेगा अन्यथा वह सब कुछ तहस-नहस कर देगी। शोभनाथ के मुँह से एक बोल नहीं फूटा। ऐसे में मनजीत के पास घर छोड़ देने के सिवाय कोई चारा नहीं था। शोभनाथ चाहकर भी मनजीत को साथ नहीं रख सका। उसकी नन्हीं बेटी पिता के प्रेम से वंचित हो गई। लेखक ने मनजीत के संघर्ष को अधिक अवकाश नहीं दिया है। मनजीत घर छोड़ने के निर्णय की संक्षिप्त जानकारी देकर लेखक पन्द्रह-बीस साल आगे की कथा कहता है। कथानक शोभनाथ पर केन्द्रित है अतः मनजीत गौण हो जाती है। वह अपनी सहेली के पति की मदद से पुणे के स्कूल में नौकरी पा जाती है। कहकर लेखक पुनः शोभनाथ कथा को आगे बढ़ाता है। लगता है यहाँ तक तो मनजीत कथा नायिका थी। उसके चरित्र को भी विकसित होने का अवसर दिया जा सकता था। सुमन के सामने हार मानने वाला शोभनाथ यहाँ दयनीय-सा लगता है। शोभनाथ को देवता बनाने के प्रयास में उसका मौन खलता है। लगता है वह मौन उसकी धूर्तता है क्योंकि उसे सुमन का संसर्ग तो चाहिए ही है। यह मौन मनजीत के लिए

शोभनाथ का ऐसा अपराध है, जिसके लिए उसको कभी क्षमा नहीं किया जा सकता। जीवनयापन का कोई साधन न होने के बावजूद अपनी नन्हीं बेटी को लेकर घर से निकल जाना, वह भी मुंबई जैसे शहर में एक त्रासदी ही तो है। घटनाक्रमों के अनुसार तो मनजीत ही देवता नजर आती है इतना सहने के बाद भी वह बेटी का नाम क्षमा रखकर शोभनाथ को माफ कर देती है। एक मासूम बेटी अपने पिता के प्यार से वंचित रह जाती है। शोभनाथ ने जिस तरह अपूर्वा के अल्हड़ प्रथम प्रेम को छिटक दिया था, उसी तरह अपनी पत्नी और बेटी को भी जीवन से निकाल फेका है। उसे कहता है -'नैतिकता तो परिवर्तनशील होती है। काल और परिस्थिति के अनुसार वह बदलती रहती है।' बस इसी फलसफे के साथ वह दौड़ता रहता है।

कथा में प्रेम कहीं नजर नहीं आता। लेखक ने दैहिक संबंधों का खूब चित्रण किया है। मसलन यही शोभनाथ की मजबूरी है, यही उसका गुनाह है। उसने न मनजीत से प्यार किया न सुमन से। उसके लिए दोनों महज देह-सुख देने वाली हैं। उसमें भी जो आनंद है, वह सुमन ही दे पाती है। एक बुद्धिजीवी, विद्वान पुरुष की यह मनःस्थिति उसे कामी पुरुष में बदल देती है। लेखक कहाँ तो उसे देवता कहना चाहता है पर देवत्व का कोई भी लक्षण उसमें उभार नहीं पाता। लगता है लेखक ने कथानक एवं कथानायक को पहले ही गढ़ लिया था। इसलिए दूसरा कोई भी पात्र पूरी तरह उभरकर नहीं आया है। पूरे लेखन का केंद्र शोभनाथ है उसके चरित्र का आकलन, करने के लिए घटनाएं भी उसी के आसपास केंद्रित हैं। दूसरे चरित्रों के लिए कहीं कोई गुंजाइश नहीं है। शोभनाथ के आखिरी समय का संक्षिप्त ब्योरा लेखक ने दिया है। अति महत्वाकांक्षी व्यक्ति अपने परिवेश को सरसरी निगाहों से देखकर आगे बढ़ता जाता है। इसमें उसके आसपास के लोग एवं स्वजन छूटते जाते हैं। शोभनाथ के साथ यही हुआ उसके बच्चे उससे दूर होते गए। सुमन ने अपनी अलग मंडली बना ली। शोभनाथ ने अपने को काम में इस तरह झोंका था कि उसने मित्रों की कोई आवश्यकता ही नहीं महसूस की। समय के साथ अकेला होता गया। संपादक के दायित्व से मुक्त होने के बाद अकेलेपन के अवसाद से घिर गया। बच्चे दूर शहरों में थे। उन्होंने पिता को 'ओल्ड मेन' में बदल दिया। सुमन को अपनी मंडली से फुरसत नहीं मिलती थी। जिस शोभनाथ के पास समय की कमी थी, अब भरपूर समय उसे काटने को दौड़ता था ।

अब तो उसका विद्यार्थी नंदलाल बुलाने पर भी टाल जाता है। हताश वह सोचता है, यह सब अपूर्वा और मनजीत के साथ किए गए व्यवहार का फल है। मृत्यु के समय भी शोभनाथ के पास कोई नहीं था। सुमन उसे सोया जानकार अपने में रमी रहती है। सुबह जब वह बहुत देर तक नहीं उठता तब उसे वास्तविकता का भान होता है। यहाँ कथानायक के प्रति सहानुभूति उपजती है। ईश्वर ऐसा अंत किसी का ना हो। एक विचार जन्म लेता है जो जैसा करता है फल उसी के अनुसार मिलता है।

कथा एक छोटे शहर देहरादून से प्रारंभ होती है और महानगरी मुंबई की भीड़ के अकेलेपन में खो जाती है। यही अकेलापन शोभनाथ की भी नियति बन जाता है। इसी अकेलेपन में उसकी शामें डूबती हैं और एक दिन जीवन भी डूब जाता है। यह जीवन कुछ-कुछ धर्मवीर भारती के जीवन के घटनाक्रमों से साम्य रखता है। एक बड़े लेखक

का जीवन परिचय तो साहित्य का पाठक जानता ही है। साथ ही उनके 'गुनाहों के देवता' से होकर गुजरा भी है तो वह पारिजात की गोष्ठी, आशिक जी की किताब की दुकान, शोभनाथ का व्यक्तित्व और जीवन की कई घटनाओं को प्रकारान्तर में धर्मवीर भारती से जोड़कर देखने की कोशिश कर सकता है, भ्रम में भी पड़ सकता है। 'गुनाहों का देवता' के अलौकिक और दिव्य प्रेम को 'देवता के गुनाह' में ढूँढने की कोशिश में निराशा ही हाथ लगती है।

'देवता का गुनाह' कथा है मांसल दैहिकता की। प्रेम का इसमें कहीं स्थान नहीं। शोभनाथ को गढ़ने में उसका खुद का चरित्र भी पूरी तरह उभरकर नहीं आ पाता। उसके लेखकीय और बौद्धिक व्यक्तित्व को कुछ घटनाएँ बयान नहीं कर पातीं। उपन्यास एक ऐसी कथा है जो सामान्य पाठक को मनोरंजन का सामान मुहैय्या करा देती है। भाषा की दृष्टि से एक प्रवाह बना रहता है जो कथा को विस्तार देता है ।

320 इन्द्रपुरी कॉलोनी इंदौर
(मध्य प्रदेश)

नकाबियों को बेनकाब करता : देवता के गुनाह

- डॉ. श्यामसुंदर पांडेय

कभी-कभार जब एकाध कविता लिखी जाती है / अधूरी ही सही /
अच्छा लगता है / इसलिए नहीं कि मैंने कविता लिखी है /
बल्कि, अपने समय के साथ / मैं एक सार्थक संवाद में लगा हूँ।
(ए. अरविंदाक्षन - असंख्य ध्वनियों के बीच)

'देवता के गुनाह' उपन्यास इसी सार्थक संवाद का एक वास्तविक रूप है। दो दर्जन से अधिक उपन्यासों के लेखक देवेश ठाकुर का अधिकांश जीवन देश की आर्थिक राजधानी मुम्बई के उच्च क्षेत्र में व्यतीत हुआ है। देश के शीर्षस्थ लेखकों, संपादकों, आदि से उनका घरोबा भी रहा है। न केवल महानगर बल्कि अन्य स्थानों के लिए भी शिक्षा विभाग और पत्रकारिता ऐसे क्षेत्र हैं, जिनमें उच्च शिक्षा प्राप्त लोग ही प्रवेश करते हैं। समाज या शिक्षित-अशिक्षित हर वर्ग इन्हीं बुद्धिजीवियों को अपना आदर्श मानता अथवा इन्हीं के मध्य अपने आदर्शों की तलाश करता है। सामान्य जन को क्या पता कि ऊपर से स्वेत वस्त्रधारी, गंभीर अनुशासन प्रिय और भद्र दिखने वाले समाज के बीच कितनी सड़ाँध है। ऊपर से आदर्शों का लबादा ओढ़े नैतिकता की दुहाई देने वाले बुद्धजीवियों का यह वर्ग जितना अनैतिक व पतित है, उतना तो शायद कोई अधम ही हो सकता है। जहाँ आधुनिकता, सभ्यता, विकास, प्रेम, नारी-स्वातंत्र्य आदि के नाम पर क्षणिक सुख और वासना को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य मान लिया गया है। उसी बुद्धिजीवी समाज के 'बगुला भगतों' को बेनकाब करने का कार्य देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यास 'देवता के गुनाह' में किया है। यह उपन्यास उन्हीं अभद्रजनों की पोल खोलता हुआ अपने पाठकों से सार्थक संवाद स्थापित करता है।

उपन्यास का प्रारम्भ एक रंगीन मिजाजी कविता से होता है। इसके रचयिता प्रोफेसर शोभनाथ श्रीवास्तव अपनी कविता को परिष्कृत-परिमार्जित करने में लगे हुए हैं। शोभनाथ श्रीवास्तव के नाम को ही संक्षिप्त में लेखक ने शोभन नाम दिया है। रंगीन मिजाज वाले शोभन हैं तो एक प्रोफेसर, उच्च शिक्षा प्राप्त और बुद्धिजीवी लेकिन उनका अस्थिर मन हवा के साथ पूरे उपन्यास में उड़ता रहता है। जो छात्राएँ उन्हें 'गुरुजी' कहकर जोर से पुकारती हैं, वही छात्राएँ अपने मन में उनके प्रति रोमांस का भाव भी रखती हैं। दूसरी तरफ गुरु शोभन जी भी कक्षा में बातें भले ही किसी पाठ या विषय की करते हों लेकिन उनका मन कक्षा में बैठी सुमन और मनजीत जैसी सुदर्शनाओं के क्षीण कटिप्रदेशों, छोटी-छोटी सुमेरियों, उनकी अमलतासी गोलाइयों और दीपशिखा से लहराते कुंतलों में ही उलझा रहता है।

मैनपुरी में रहने वाले शोभनाथ अपने पिता की मौत के बाद अपनी विधवा बुआ रामदेई के साथ देहरादून चले आते हैं। पढ़ने में तेज बुद्धि शोभन लगभग सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण करते हैं। विश्वविद्यालय की पढ़ाई के दौरान प्रोफेसर सीताराम सक्सेना का स्वाभाविक स्नेह शोभन को मिलता है और उसके घर भी शोभन का आना-जाना शुरू होता है। शोभन प्रोफेसर सक्सेना के पी-एच. डी. छात्र बन जाते हैं। एक गुरु

के रूप में प्रोफेसर सक्सेना का पूर्ण स्नेह शोभन को मिलता है। यहाँ तक कि अपना एक घर - चंद्रावती कुटीर - तक उनको रहने के लिए दे देते हैं। दूसरी तर्फ शोभन उनकी भतीजी अपूर्वा की तरफ आकर्षित होते हैं। यह आकर्षण इतना बढ़ता है कि उसकी याद में लिखी कविताओं का संकलन 'अपनी अनामिका के लिए' भी प्रकाशित कराते हैं। अपूर्वा भी शोभन के प्रति पूर्णतः समर्पित है, जिसका कुछ-कुछ अंदाजा प्रोफेसर सक्सेना को भी है। हालाँकि लेखक बड़ी कुशलता पूर्वक इन सभी बातों का मनोवैज्ञानिक संकेत कर देता है और कहीं कुछ खुलकर लिखता भी नहीं। हाँ इतना जरूर है कि प्रोफेसर सक्सेना और शोभन के माध्यम से देवेश जी ने गुरुकृपा से फलने-फूलने वाले शिक्षा जगत के नकारात्मक पक्षों का यथार्थ उजागर किया है। उदाहरणार्थ, अपने शोध कार्य के दौरान एक दिन शोभन जब कहते हैं कि इगुरुजी, पिछले दिनों मैंने अपना पहला चैप्टर लिख लिया है। आप देख लेंगे तो मैं आगे....।' - (पृष्ठ - 20) तो डॉ . सक्सेना कहते हैं- 'उसकी चिंता मत करो। बस, जल्दी से अपनी थीसिस पूरी कर डालो। फिर किसी यूनिवर्सिटी में तुम्हारे लिए कुछ देखेंगे।' (पृष्ठ - 20)

इतना ही नहीं, प्रोफेसर सक्सेना के पास जब एम.ए. की कॉपियाँ जाँचने को आती हैं तो उन्हें वह अपने शिष्य शोभन से जँचवाते हैं, वह भी रिमाइंडर मिलने के बाद। अपना काम अपने शिष्यों से करा देना और सगे संबंधियों के अंक बढ़वा देना आदि इस प्रकार के शैक्षणिक षड़यंत्रों से देवेश जी पूर्णतः अवगत हैं। संभवतः इन सबका सामना भी करना पड़ा हो उन्हें। इस सच्चाई को और स्पष्ट करने के लिए प्रोफेसर सक्सेना और शोभन के संवाद की एक झलक देखिए - 'कोई डेढ़ सौ कॉपियाँ हैं। कल रिमाइंडर मिला तो मुझे याद आया। तुम ऐसा करो कि दो-तीन दिन में इन्हें जाँच दो, मुझे थोड़ी सुविधा हो जाएगी। ...एक रोल नंबर है - 131, उसे जरा अच्छी तरह, मेरा मतलब है उदारता पूर्वक देख लेना। तुम इसे नोट कर लो।' 'मुझे याद रहेगा गुरुजी, 131,' 'फिर भी ... बरेली के विभागाध्यक्ष की बेटी का है।'(पृष्ठ - 25)

इस उपन्यास के माध्यम से न केवल शिक्षा जगत बल्कि संपूर्ण मसिजीवी वर्ग की सच्चाइयों को लेखक ने उजागर किया है। शहर में जितने छोटे-मोटे कवि, लेखक, प्रकाशक आदि हैं, उन सबकी कुछ न कुछ सच्चाइयाँ हैं, जिन्हें सबने छिपा रखी हैं। हाँ अवसर मिलने पर, वे एक दूसरे के आधे-अधूरे रहस्यों को मिर्च मसाले के साथ चटपटा करके बतियाते अवश्य रहते हैं। कहीं न कहीं सभी असंतुष्ट हैं और बहती गंगा में हाथ धोने को आतुर। पीठ पीछे एक दूसरे की निंन्दा करने में भी वे पीछे नहीं रहते। चाहे उमानाथ 'आशिक' हों, कवि उद्भ्रांत हों अथवा कवि दिवाकर हों- सभी का यथार्थ आदर्श की चादर से ढ़का है। उमानाथ जैसे लोग यास्मिन और मनजीत जैसी युवतियों की कमजोरी का लाभ उठाने की भरपूर कोशिश में लगे रहते हैं।

उपन्यास की कथा-वस्तु के विकास के साथ-साथ शोभन अपूर्वा के अतिरिक्त मनजीत की तरफ भी आकर्षित भी होते हैं। उनका मन सुमन शर्मा की तरफ भी डोलता है लेकिन वह इन्हें 'भाई' कहकर पुकारती है और उसके पिताजी के यहाँ भी इनका आना-जाना है। इसलिए मन की बातें नैतिकता की सीमाओं को लाँघने की कोशिश नहीं करतीं। यद्यपि कि हलचल दोनों तरफ है। मनजीत से शोभन का प्यार धीरे-धीरे बढ़ने

लगता है और समय के साथ वह विवाह के संबंध में परिणत हो जाता है। उपन्यास के मध्य तक शोभन - मनजीत का विवाह, उसके पिताजी की नाराजगी, विवाह के बाद शिष्या और गुरु के पवित्र संबंधों को कलंकित करने वाले जुमलों को आदर्श की चासनी में डुबोकर चटखारे लेते लोग, कॉलेज से लेकर समाज के सभी क्षेत्रों के लोगों को शोभन द्वारा सशंकित नजर से देखना, मनजीत के माता-पिता की मान-मनौवल आदि इस प्रकार की सभी बातें सामान्य रूप से ही चलती हैं लेकिन मनजीत के विवाह के बाद सुमन के मन में शोभन के प्रति बैठा प्रेम जब तूफान बनकर बाहर निकलता है तो मयार्दा की चादर उसे रोक नहीं पाती रिश्तों और आदर्शों की सभी दीवारें भरभराकर गिर पड़ती हैं और लेखक भाई-बहन के शब्दों के पीछे छिपे असली मनोभावों को यथार्थ रूप देते हुए अपने गंतव्य तक पहुँच जाने में पूर्णतः सफल होता दिखाई देता है।

विवाह के बाद जब सुमन, मनजीत से मिलती है तो उसे बाहों में भरते हुए कहती है- 'बधाई हो। अरी तू तो छिपी रुस्तम निकली। हमें हवा भी नहीं लगने दी और हमारे भैया को ले उड़ी।' (पृष्ठ - 155) अपनापन और बधाइयों का एक सुंदर चित्र यहाँ मिलता है लेकिन किसे पता कि अपनी सहेली व भैया को बधाई देने वाली सुमन का मन एक बड़े तूफान को रोके हुए है। देवेश ठाकुर को नारी मन की अच्छी समझ है इसीलिए सुमन के मन की भवनाओं का अंदाजा तक किसी को नहीं लगता और वह धीरे-धीरे अपने प्रोफेसर शोभन को अपने आगोश में लेकर उड़ जाती है। एक तरफ अपूर्वा, शोभन और मनजीत के विवाह की खबर से आहत होती है तो दूसरी तरफ सुमन अपनी सहेली मनजीत की चिंता न करते हुए 'भाई' जैसे संबंधों और संबोधनों की मयार्दा तोड़ते हुए शोभन को पा लेने की जुगत में भिड़ जाती है। मनजीत के विवाह को वह अपनी असफलता मानती है। इसीलिए तो रात को उठकर अपने एक-एक अंग का निरीक्षण करती है- इक्या मनजीत उससे ज्यादा सुंदर है।' (पृष्ठ - 159) इसके बाद सुमन द्वारा शोभन को पाने के लिए जो जाल रचा जाता है, उसे नारी स्वातंत्र्य की अतिवादिता कहना ही उचित है। यहाँ एक नारी अपनी स्वार्थ साधना हेतु अपनी ही सहेली मनजीत को दुख के गर्त में ढ़केलती दिखाई देती है, जिसके पीछे अस्थिर चरित्र शोभन की लम्पटता तो है ही, सुमन की स्वार्थपरता और ऊँचाइयों तक पहुँच जाने की ललक को भी कम जिम्मेदार नहीं माना जाएगा। आगे की घटनाओं में सुमन का कलकत्ता जाना, अवसर देखकर अपने जीजा से शोभन के लिए मुम्बई में नौकरी की बात करना, शोभन द्वारा सम्पादक की नौकरी हेतु मुम्बई चले जाना आदि सारे दृश्य स्वाभाविकता के साथ बदलते जाते हैं। यहाँ लेखक ने उर्वशी जी के माध्यम से उन पूँजीपतियों के यथार्थ को भी अभिव्यक्त किया है, जिसमें वे पत्र-पत्रिकाओं एवं इस प्रकार के समाज सेवी कार्यों के नाम का डंका तो पीटते हैं लेकिन इन सबके पीछे अर्थोपार्जन का खेल विशेष रूप से चलता रहता है। उर्वशी जी सेठ विश्वनाथ जी की पत्नी हैं और साहित्य प्रेमी हैं। सुमन के जीजा केशव उनके सेक्रेट्री और सलाहकार हैं। उन के कहने पर शोभन की नियुक्ति संपादक के रूप में होती है। शोभन से बात-चीत के समय उर्वशी जी कहती हैं - हमने आपकी नियुक्ति का निर्णय काफी विचार-विमर्श के बाद केशव जी की सलाह पर किया है। हम चाहते हैं कि 'नया युग' देश का सर्वोत्तम साप्ताहिक बने। हम यह भी चाहते हैं

कि इसके माध्यम से भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा हो। साथ ही हमारी यह भी इच्छा है कि व्यावसायिक दृष्टि से भी यह साप्ताहिक निरंतर नई-नई ऊँचाइयों को छूता रहे। आप समझ रहे हैं न।' वास्तव में व्यावसायिक दृष्टि से नई ऊँचाइयों को छूना ही ऐसी पत्र-पत्रिकाओं का मूल उद्देश्य होता है।

मुम्बई में शोभन की नियुक्ति के बाद उपन्यास का कथानक दो परिवेशों में घटित होता है। मनजीत का गर्भवती होना, बच्चों को जन्म देना आदि देहरादून की घटनाएँ तो एक के बाद एक घटित होती जाती हैं लेकिन शोभन के दफ्तर में एक भूचाल उठ खड़ा होता है। दैनिक ढर्रे पर चलने वाले उनके सहकर्मी पत्रकार समय-सारिणी और कार्यशैली के बदलने से कितने आक्रोशित होते हैं और किस प्रकार विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं, इसका बड़ा ही सुन्दर चित्रण लेखक द्वारा यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यहाँ एक तरफ शोभन अपनी योग्यता के बल पर स्वयं को सक्षम साबित करने की चेष्टा कर रहे हैं तो दूसरी तरफ आनंद वशिष्ठ और ओम विजय वर्गीय जैसे सहकर्मी पत्रकार विद्रोह पर उतारू हो जाते हैं। 'सम्पादकीय विभाग के लगभग सभी लोग नए नियमों, थोपे गए अनुशासन और अप्रत्याशित रूप से कभी भी केबिन में बुलाये जाने से आहत होते रहते हैं लेकिन सभी अपने घर-परिवार व पेट के खातिर इस नई व्यवस्था में काम करने को विवश हैं। कहकहों, हँसी-मजाक का स्थान अब कानाफूसी और खामोशी ने ले लिया है।' (पृष्ठ - 236) अपने बड़े अधिकारियों के प्रति मातहतों का आक्रोश और अपनी जीविका छिन जाने का डर इन दोनों के बीच झूलते कर्मचारियों का एवं उनकी गुटबाजी की वास्तविकता का यथार्थ चित्रण यहाँ दिखाई देता है।

सुमन का मुम्बई आना और शोभन के साथ रहना तथाकथित आधुनिकाओं के साहस और अपनी चाहत के लिए कुछ भी कर गुजरने वाली युवतियों का सुंदर उदाहरण है। बिंदु द्वारा जब शोभन और सुमन के साथ रहने की सूचना मनजीत को दी जाती है तो मनजीत किंकर्तव्य विमूढ़ बन जाती है। जहाँ मनजीत के रूप में लेखक ने एक ऐसे पात्र की सर्जना की है जो शिक्षित होकर भी अपने अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं करती। प्रेम विवाह करने वाली मनजीत जितनी सरलता पूर्वक शोभन और सुमन को ऐश करने के लिए छोड़कर चली जाती है और उनसे नाता तोड़ लेती है, यह बात पाठक को खटकती है। आखिर, अपने पिता को अनदेखा करने वाली साहसी मनजीत पति के समक्ष इतनी नख-दंत विहीन क्यों बन जाती है। सुमन एक ऐसी युवती है जो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए साम-दाम-दंड-भेद सबका सहारा लेती है। इतना ही नहीं अपने समर्पण का भी पूरा मूल्य माँगती है और शोभन से कहती है- इअगर वह (सुमन) तुम्हें इतनी ही प्यारी थी तो तुम मुझसे क्यों जुड़े? बाहर बड़े आदर्शवादी बनते हो, लेकिन असल में तुम क्या हो, मैं अच्छी तरह जानती हूँ। मैंने, तुम्हें तुम्हारे चाहने पर अपना पोर-पोर समर्पित किया है; मेरे कारण– सिर्फ मेरी वजह से तुम्हें यह सुविधा मिली है। अन्यथा तुम क्या थे?' (पृष्ठ - 301) वास्तव में शोभन जैसे बुद्धिजीवियों की भोंडी आदर्शवादिता पर करारी चोट करने का कार्य देवेश जी ने अपने इस उपन्यास के माध्यम से बड़ी सफलता के साथ किया है।

उपन्यास के अंत में लेखक ने शोभन को जिस लाचारगी के परिवेश में पहुँचा दिया

है, जिस प्रकार सुमन के बच्चे उन्हें 'ओल्ड मैन' कहते हैं और सुमन द्वारा वे उपेक्षित कर दिए जाते हैं, वह सब स्वाभाविक था। यहाँ आकर अपने कर्मों पर खेद प्रकट करने के अतिरिक्त शोभन के पास बचा ही क्या है? शायद इसीलिए मनजीत से पैदा हुई अपनी बेटी से मन ही मन क्षमा माँगते हुए वे कहते हैं- इमैं तुम्हें कुछ नहीं दे पाया बेटे। तुम्हारे सामने मैं कितना छोटा हो गया हूँ। तुम भी, मुझे हो सके तो माफ कर देना।' (पृष्ठ - 318) शायद अब वे महसूस करने लगे थे कि निष्क्रिय आनंद की अधिकता उबा देने वाली होती है। इसलिए वे स्वयं को धिक्कारने लगते हैं और बुढ़ापे में अपने आप को खाली हाथ पाते हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बचपन में कुंती से प्रेम का इजहार करने वाले, युवावस्था में अपनी चचेरी बहन माया के साथ भाग जाने वाले, अपूर्वा को आकर्षित करने वाले, मनजीत से प्रेम विवाह करने वाले, सुगंधा के साथ खुशियाँ मनाने वाले और सुमन के लिए अपना सर्वस्व समर्पित कर देने वाले शोभन जीवन के अंत में आखिर इस स्थिति में क्यों पहुँच जाते हैं कि वे सोचने लगते हैं- लेकिन अंततः मुझे क्या मिला? उपेक्षा, क्रूरता व आत्मग्लानि। तुम मुझसे बहुत आगे बढ़ गई हो सुमन। तुम्हें सहेजना अब मेरे वश में नहीं रहा।' यद्यपि शोभन एक होनहार विद्यार्थी, अच्छे प्रोफेसर और कर्तव्यनिष्ठ संपादक आदि बहुत कुछ थे लेकिन उनके व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन दोनों बिलकुल भिन्न थे। एक तरफ पूर्णतः अस्थिरता थी तो दूसरी तरफ उनका दृढ़ निश्चय और कर्तव्य के प्रति समर्पण था, जिसके बल पर अपने विरोधियों पर विजय पाना उनके लिए चुटकी का खेल था। सच्चाई तो यह है कि लेखक ने शोभन के माध्यम से इस प्रकार की दोहरी जिंदगी जीने वाले नकाबियों को बेनकाब करने का सफल प्रयास इस उपन्यास के माध्यम से किया है। सुमन और सुगंधा जैसी युवतियों का आत्म समर्पण सफलता के सर्वोच्च सोपान तक पहुँचने के लिए अपनाया जाने वाला 'शार्ट-कट' का रास्ता है, जिस पर चलने में आज महिलाओं के एक वर्ग विशेष को कोई आपत्ति नहीं है।

उपन्यास के पात्रों की मनोवैज्ञानिकता सर्वथा सराहनीय है। कथावस्तु की समाप्ति के करीब पहुँचकर लेखक ने शोभन की तुलना में जीवन सिंह के जीवन का यथार्थ प्रस्तुत किया है। यहाँ विचारणीय है कि घर से हजार किलोमीटर दूर रहकर छोटी नौकरी करने वाला जीवन सिंह बेहतर जिंदगी जी रहा है। माँ-बाप पत्नी बच्चे सब प्रसन्न हैं, किसी को कोई शिकायत नहीं, सब को सब पर विश्वास है। जब कि बड़े पद पर नौकरी करने वाले सुविधा संपन्न शोभन की लाचारगी, उपेक्षित जीवन और उनका पश्चाताप सब कुछ दोहरी जिंदगी जीने वालों का यथार्थ है। आज पुरुष और नारी दोनों सफलता के शिखर तक पहुँचने को आतुर हैं। उनके लिए करणीय और अकरणीय जैसा कुछ भी नहीं है। सिफारिश, छल-प्रपंच आदि माध्यमों का प्रयोग कर व्यक्ति विकास तो अवश्य कर लेता है, लेकिन जीवन से सुख-शांति किस प्रकार गायब हो जाते हैं और ऊपर से सभ्य, सम्भ्रांत तथा संपन्न दिखने वाले लोगों का मन कितना व्यग्र और व्यथित है और उनकी जिंदगी में कितनी जलालत है, इसका सुंदर चित्रण इस उपन्यास में मिलता है। मानवीय रिश्तों की टूटती कड़ियाँ यहाँ जीवन को दुख के गर्त में ढकेलती दिखाई देती हैं। सुख सम्पन्नता के बीच जीवन-यापन करने वाले शोभन का दुखद अंत एक प्रकार

से महानगरीय सम्मोहन का यथार्थ है। तो जीवन सिंह का तथाकथित अभावग्रस्त जीवन आज भी ग्रामीण परिवेश की सुख-शांति और विश्वास का संकेतक है।

पात्रों के साथ-साथ देवेश जी ने परिवेश का भी यथार्थ चित्रण किया है। देहरादून की प्राकृतिक सुरम्यता हो या मुम्बई की भागमभाग जिंदगी, इनकी जो सच्चाई इस उपन्यास में व्यक्त की गई है वह काल्पनिक नहीं बल्कि लेखक इन सबसे गुजरता रहा है। कथा की कड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ती चली जाती हैं। कहीं कोई अंतराल नहीं। सब कुछ एक के बाद एक नदी के धार की तरह निरंतर प्रवाहित होता जाता है। कहीं पर कोई अनर्गल विस्तार नहीं। जो कुछ घटित होता है, वह सब पात्रों के जीवन की माँग है। पात्रों का जो मनोवैज्ञानिक चित्रण इस उपन्यास में हुआ है, उसे हम लेखक की विशेष उपलब्धि कह सकते हैं। भाषा अपनी परिस्थितियों, भावों और पात्रों के सर्वथा अनुरूप प्रयुक्त हुई है। अतः यह कहना समीचीन होगा कि देवेश जी का यह उपन्यास उनकी जागरूकता और समसामयिक परिवेश पर तीखी नजर रखने की उनकी प्रवृत्ति की परिणति है।

हिंदी विभाग
बिड़ला महाविद्यालय,
कल्याण (पश्चिम) मुम्बई

स्वप्न दंश : फिल्मी दुनिया का कड़वा सच

-डॉ. दिनेश पाठक

देवेश ठाकुर के उपन्यास 'स्वप्नदंश' को पढ़ना मेरे लिए एक नई दुनिया का साक्षात्कार करना रहा है। मुम्बई में पिछले कई दशकों से रहने और फिल्मी दुनिया के बारे में कई तरह की प्रतिक्रियाएँ सुनने के बाद भी फिल्मी दुनिया के घिनौने रूप पर यकीन कर पाना अपनी सहज और सरल प्रवृत्ति के कारण मेरे लिए मुश्किल था, किंतु उपन्यास की प्रामाणिक अनुभूतियों से गुजरने के बाद एक नया नंगा सच अपनी पूरी ताशीर के साथ मुझ में उतर गया।

उपन्यास धीमे उठान के साथ प्रारंभ होकर मन को कुमाऊँ की प्रकृति से बाँधता है। ऐसा लगता है कि जैसे हम आँचलिक जीवन से जुड़ रहे हैं। पैठानी गाँव व उसकी प्राकृतिक सुषमा का वर्णन हमारे मन को बाँधता है, इसके साथ ही ग्रामीण संस्कृति व उसकी सहजता भी उपन्यास में अनुस्यूत होती चली गई है। उपन्यास की गति नायिका गुँजन के मुम्बई आने के निर्णय के साथ तीव्र हो उठती है और उपन्यास का पटल प्राकृतिक सहजता और सौष्ठव की भूमि छोड़ संघर्ष के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। बचपन से ही गुंजन के मन में फिल्मी दुनिया की एक सुनहली छवि अंकित थी। उसे लगता था कि फिल्मी संसार उस जैसे सहज कलाकार को सिर आँखों पर बैठा लेगा; कि वह अपने अभिनय व संगीत के बल पर फिल्मी दुनिया के आकाश में छा जाएगी। किंतु .....।

मुम्बई आने पर गुंजन अपने गाँव की बचपन की सहेली बिंदिया के घर पर ठहरती है। बिंदिया व उसके पति उसकी बहुत मदद करते हैं। सम्भवतः उपन्यास का यह पक्ष मनुष्यता व मित्रता के संबंधों के अभी भी बने रहने का प्रमाण है, जिसे उपन्यासकार ने बड़ी कुशलता से चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त उपन्यास के आगे की घटनाएँ फिल्मी दुनिया के अमानवीय व क्रूर रूप को बेलौस ढ़ंग से चित्रित करती जाती हैं।

बिंदिया के पति मिस्टर नेगी गुंजन से एक बड़े भाई की तरह फिल्मी दुनिया के सच की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–'फिल्मों की दुनिया दरअसल पाखंड, शोषण और दिखावे की दुनिया है। गलाकाट स्पर्धा है वहाँ। अपनी परछाई से भी सतर्क रहना पड़ता है। हम पर्दे पर जो चमक-दमक देखते हैं, उसका जमीनी सच्चाई से कोई तालमेल नहीं बैठ पाता।' मि. नेगी के इस इशारे को समझकर भी गुंजन नहीं समझती या समझना नहीं चाहती क्योंकि उसे सुने हुए पर यकीन नहीं हो पाता। उसके रुझान व उत्साह को देख कर नेगी जी उसे फिल्मी दुनिया के कुछ संपर्क सुझाते हैं, जिसमें एक नाम उपदेश भटनागर का भी है जो राष्ट्रीय प्रसारण संस्थान की कहानी पत्रिका 'कथाचक्र' का प्रधान संपादक है और फिल्म कथा लेखन के क्षेत्र में एक स्थापित नाम बन चुका है। उपदेश भटनागर का नाम गुंजन के लिए जैसे संभावना का द्वार था। उसे लगता है कि शायद कुछ बात बन जाए। वह बड़ी आशा लेकर भटनागर से मिलती है। उपदेश भटनागर के लिए ऐसे नए चेहरों का मिलना सामान्य बात थी। वह गुंजन से कई उल्टे-सीधे प्रश्न करता है और प्रकारांतर से उसे समझाना चाहता है कि फिल्मी दुनिया में बिना कुछ दिए,

किसी को कुछ नहीं मिलता। वह गुंजन के कैरियर से ज्यादा उसके शरीर के भूगोल में रुचि दिखाता है। कई बार चक्कर लगवाने के बाद वह उसे डाइरेक्टर हितेश चामरिया के यहाँ अपना संदर्भ देकर भेजता है, वहाँ उसका फोटो सेशन होता है। फोटो सेशन के नाम पर आनंद मुखर्जी उससे बिकनी तक पहनवा लेता है। इसके बाद ऑडिशन होता है। गुंजन को लगता है कि शायद यहाँ कुछ काम बन जाए लेकिन लंबे इंतजार के बाद भी उसे कोई संदेश नहीं मिलता। इस बीच मि. डिसूजा के सहयोग से उसे दूरदर्शन की डॉक्यूमेंट्री के लिए कुछ साक्षात्कार लेने का मौका मिल जाता है। इस काम से गुंजन का अपना दैनंदिन खर्च चलने लगता है। उपन्यास के मध्य में कुछ पात्र ऐसे भी आते हैं-- जिन्हें देखकर गुंजन को कुछ राहत महसूस होती है। ऐसे पात्रों में मिस्टर व मिसेज डिसूजा को देखा जा सकता है। मिस्टर व मिसेज डिसूजा गुंजन में अपनी बेटी नैंसी का प्रतिबिम्ब देखते हैं और वे उनकी यथा संभव मदद करना चाहते हैं लेकिन वे फिल्मी दुनिया के सच को भी गुंजन के सामने रखने से भी नहीं कतराते। अपनी पूरी जिंदगी के अनुभव को निचोड़ के रूप में रखते हुए डिसूजा गुंजन से कहता है- फिल्मी दुनिया के बारे में तुम्हें मालूम ही है। जब तक तुम टॉप पर हो, तुम्हारे आगे-पीछे लोग भागते फिरेंगे। तुम फोकस से जरा हटे नहीं कि अपने ही लोग तुम्हें पहचानने से भी कतराएँगे। बड़ी अजीब दुनिया है यह।'

उपन्यास गुंजन के मायम से फिल्मी दुनिया के 'स्ट्रगलर्स' के संघर्षों व अपमानों तथा समझौतों को एक व्यापक कैनवास पर खींचता है। ऐसी ही एक स्ट्रगलर के रूप में गुंजन की रूम पर्टनर शैली है। शैली ने फिल्मी दुनिया में फिट होने के लगभग सारे नुस्खों व गुरों को सीख लिया है। वह हर तरह के समझौतों के लिए तैयार है। फिल्मी दुनिया की हकीकत को बयान करते हुए वह गुंजन से कहती है- 'यह साली इंडस्ट्री बड़ी बदजात है....तेरा कोई गॉड फादर है क्या ? तेरा यहाँ कुछ होने वाला नहीं है। तू बहुत बेवकूफ दिखती है। तेरी जैसी लड़कियों को, जिसके सर पर किसी बड़े डायरेक्टर-प्रोड्यूसर का साया नहीं होता, यहाँ कुछ नहीं मिलता। अगर मिलेगा भी तो अपनी अस्मत गवाँ कर मिलेगा।....सो मेरी जान, अगर इंडस्ट्री में कुछ करना है तो किसी मोटे, असरदार असामी को पकड़ ले। फँसा ले उसे। तब कम से कम रोजी-रोटी तो चलती रहेगी।' गुंजन को यह उपदेश देने के साथ ही वह अपने सच को भी बड़ी स्पष्टता के साथ स्वीकारते हुए कहती है-'मेरे लिए सैक्स कोई 'टेबू' नहीं है। किसी के साथ बिस्तर पर सोने के बाद ठंडे-ठंडे शॉवर में नहा लो। सब धुल-पुँछ जाता है।' शैली का यह खुलापन और हर कीमत पर सफलता पाने की अदम्य इच्छा भी उसे फिल्मी दुनिया में किसी निश्चित मुकाम पर नहीं पहुँचा पाती। अपनी महत्वाकांक्षा के चलते तमाम लोगों के शोषण का वह शिकार बनती है और अंततः घोर निराशा में वह पंखे से लटककर आत्महत्या कर लेती है। इस तरह 'स्ट्रगलर्स' के जीवन का सच उपन्यास में बड़ी बेबाकी के साथ प्रस्तुत हुआ है।

उपन्यास फिल्मी दुनिया के सच के साथ ही साथ अर्द्धफिल्मी या गैर फिल्मी दुनिया की चमक दमक का सहारा लेकर अपना धंधा चलाने वाले लेखकों के सच पर भी प्रकाश डालता है। उपन्यास में उपदेश भटनागर का चरित्र ऐसे लेखकों के चिंतन व चरित्र की एक झलक हमारे सामने प्रस्तुत करता है। उपदेश का दोहरा चरित्र स्वार्थी या अति

स्वार्थी रूप- बीबी बच्चों के साथ-साथ शैय्यासंगिनी शमीम को भी धोखा देने में जरा सी हिचक न दिखाने का दुस्साहस, अत्यंत सोची-समझी रणनीति के तहत मॉरिशस शिफ्ट या 'सैटल' होने का प्रयास, फिल्मी लेखकों के जगत पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है। उपन्यास अंततः शमीम के शातिर चरित्र का भी उद्घाटन करता है। उपन्यासकार ने विवाहेतर संबंधों से जुड़े खतरों व फजीहतों को संकेत रूप में बड़ी बारीकी से हमारे सम्मुख उकेरा है।

उपन्यास के अन्य चरित्र भी फिल्मी दुनिया के सच को हमारे सामने पूरी सच्चाई के साथ रखते हैं। इन चरित्रों में मनोज एक तरफ फिल्मी दुनिया के रंगीन सपने आखों में सँजोए महानगर में आया था और यहाँ आकर एक 'फुलटाइम स्ट्रगलर' बनकर रह गया है। दूसरी ओर स्थापित सामंतों में एक चरित्र कमलेश कपूर का आता है। कमलेश कपूर बीते दिनों के स्थापित फिल्मकारों में से रहे हैं। चमरिया की पार्टी में मि. डिसूजा गुंजन का परिचय कपूर से करवाते हैं और गुंजन को फिल्मों में अवसर देने की गुजारिश करते हैं। इस पर प्रतिक्रिया देते हुए कपूर कहता है, 'अहसान की क्या बात है भाई। तुम्हारा काम, मेरा काम। मैं जरूर इस लड़की के लिए कुछ करूँगा। लड़के से कहूँगा तो कहीं न कहीं टिका देगा। वैसे तो तुम्हें भी पता है, इस लाइन में सती-सावित्री बनकर काम नहीं चलता।' डिसूजा की पहल पर जब गुंजन मि. कपूर से मिलने उसके बंगले पर जाती है तो मि. कपूर बिना समय गँवाए बातों ही बातों में अपनी कीर्ति का उल्लेख करते हुए कहते हैं– 'बीसियों लड़कियों को मैंने काम दिया है। दूसरों से दिलवाया है। उनके पास आज रहने के लिए अपनी जगह है। किसी-किसी के पास गाड़ी भी है। इस सबके लिए कुछ समझौते भी करने पड़ते हैं। उन्होंने भी किए और आज वे खुश हैं।' साथ ही साथ बड़ी साफगोई से अपने मन की बात सीधे गुंजन के सामने रखते हुए यह भी कह देता है कि 'इस इंडस्ट्री में कोई भी लड़की बिना समझौता किए, ऐंट्री नहीं कर सकती। डिसूजा ने तुम्हें कुछ नहीं बतलाया?' यह सब सुनकर गुंजन जब नकार के भाव में अपना सिर हिलाती है तो बड़े साफ शब्दों में कपूर, 'तुम जा सकती हो' कहकर बात खत्म कर देता है। इस प्रकार उपन्यासकार फिल्म इंडस्ट्री में व्याप्त शारीरिक शोषण व समझौते की विकृति पर बड़ी साफगोई के साथ रोशनी डालते हुए, इंडस्ट्री के सामंतवादी और शोषक चरित्र पर प्रकाश डालता है।

उपन्यास में उपर्युक्त चरित्रों के साथ-साथ इंडस्ट्री में स्ट्रगलरों के मानवीय पक्ष का चित्रण भी आंशिक रूप से हुआ है। इन चरित्रों में स्ट्रगलर मनोज, मुश्ताक साहब, असलम, ब्रह्मचारी व शैली के चरित्र आते हैं। ये चरित्र खुद इंडस्ट्री में संघर्ष कर रहे हैं। इनमें से कुछ मामूली तौर पर स्थापित हो चुके हैं किंतु इन चरित्रों में मानवीय संवेदना कुछ अंशों में बची हुई है और यही कारण है कि खुद संघर्ष करते हुए ये दूसरों की मदद करने के लिए हाथ भी बढ़ाते हैं। बेकारी के दिनों में मुश्ताक साहब डॉक्यूमेंट्री बनाने का जो काम गुंजन को देते हैं, उससे गुंजन का आत्मविश्वास बढ़ता है और उसके रोज का खर्च निकलने लगता है ।

इन दो तरह के चरित्रों के साथ-साथ उपन्यास में मि. पार्थसारथी का भी एक चरित्र है जो कहने को दिखावा तो स्ट्रगलरों का पक्षधर होने का करता है लेकिन अंदर ही

अंदर वही सब चाहता और करता है जो इंडस्ट्री के स्थापित सामंत चाहते और करते हैं। पार्थसारथी 'स्ट्रगलर्स' नामक एक नाटक का डायरेक्टर और राइटर है। यह नाटक फिल्म इंडस्ट्री के स्ट्रगलर्स के जीवन के अनेक पक्षों पर रोशनी डालता है। इस नाटक के माध्यम से पार्थसारथी एक ओर तो स्ट्रगलरों का सहयोग व अपनापन अपनी तरफ खींचता है तो दूसरी तरफ वह बड़ी सोची समझी रणनीति के तहत उनका शोषण भी करता है। गुंजन, मनोज और दिवाकर के माध्यम से पार्थसारथी से मिलती है। पार्थसारथी गुंजन के जिस्म व जरूरत को आँखों ही आँखों में तौलते हुए अपनी तरफ से उसे अपनी डॉक्यूमेंट्री में काम करने का प्रस्ताव देता है। वह कहता है, 'ऐसा है मैडम, मुझे इस डॉक्यूमेंट्री को बनाने का ऑफर दूरदर्शन से मिला है। इसमें पैसा तो ज्यादा नहीं है लेकिन इसमें आर्टिस्ट के लिए काफी स्कोप है।....आप क्या कहती हैं ?' इसके बाद पार्थसारथी चलते-चलते गुंजन को बांद्रा स्टेशन तक छोड़ने के बहाने अपनी टैक्सी में बिठा लेता है। किंतु इसके बाद उसका वास्तविक चरित्र हमारे सामने उद्घाटित होता है-- पार्थसारथी की पैरों की अंगुलियाँ उसकी पिंडलियों को सहला रही थीं। उसने चौंककर पार्थसारथी की तरफ देखा। वे पहले की तरह आँखें बंद किए पसरे थे। गुंजन की पिंडलियों से उन्होंने अपना पैर हटा लिया था। दुविधाग्रस्त गुंजन यकायक कोई निर्णय नहीं ले पाई लेकिन जब दूसरी बार फिर वही क्रिया दोहराई गई तो वह सहसा उबल पड़ी। टैक्सी वाले से उसने गाड़ी रोकने को कहा और जैसे ही टैक्सी धीमी हुई, वह एक झटके से उसका दरवाजा खोलकर नीचे उतर गयी।' इस प्रकार पार्थसारथी के चरित्र की बखिया उधेड़ते हुए उपन्यासकार ऐसे दोहरे चरित्र वाले लोगों की इंडस्ट्री में मौजूदगी की ओर संकेत करता है।

उपन्यास का पटाक्षेप मार्मिक किंतु यथार्थ की ओर झुका हुआ है। गुंजन फिल्मी दुनिया के हर पहलू से गुजरते हुए एक बात अच्छी तरह समझ जाती है कि फिल्मी दुनिया में उसके जैसे अल्प साधन संपन्न और 'गॉडफादर विहीन' स्ट्रगलर का कुछ भी होनेवाला नहीं है। 'कॉम्प्रोमाइज' वह कर नहीं सकती और 'कॉम्प्रोमाइज' के बाद भी कुछ हासिल हो ही जाए, उसकी कोई गारंटी यहाँ नहीं है क्योंकि नैंसी और शैली का उदाहरण उसके सामने मौजूद है। ऐसी स्थिति में उसे जीवन के किसी भावुक क्षण में फिल्मी दुनिया में आने का अपना निर्णय बेहद हल्का व बचकाना लगने लगता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि दुनिया में और भी बहुत कुछ बेहतर करने के लिए है। उसे अपने लिए किसी और बेहतर विकल्प के बारे में सोचना चाहिए। संभवतः गाँव लौटकर दादी के साथ रहते हुए वह ज्यादा अच्छा और व्यावहारिक उद्देश्य अपने लिए चुन सकती है। इन सारे विचारों से गुजरने के बाद वह फिल्मी दुनिया के आकर्षण से अलग हटकर गाँव वापस लौटने का निर्णय लेती है। वह अपने देखे गए 'स्वप्न' के दंश का आस्वाद ले चुकी थी और अब इस दंश की पीड़ा से उबरकर एक नए भविष्य की ओर बढ़ते हुए ज्यादा सहज, उष्मित और प्रकृतिस्थ महसूस कर रही थी।

निष्कर्षतः उपन्यास 'स्वप्नदंश' फिल्मी दुनिया के स्ट्रगलरों के जीवन के कड़वे सच को बड़ी सहजता, निर्भीकता तथा ईमानदारी से प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। यह उपन्यास युवा पीढ़ी को खोखला आदर्शवादी संदेश दिए बिना सीधे-सीधे व्यावहारिक स्तर

पर यथार्थ, वस्तुपरक, बेहतर तथा व्यापक विकल्पों के चयन की बात करता है। यह उपन्यास आज की उस युवा पीढ़ी के लिए मार्गदर्शक है जो केवल फिल्मी दुनिया की बाहरी जगमगाहट व रंगीनी की दीवानी बनी इसकी तरफ खिंची चली आती हैं और फिर कभी बाहर नहीं निकल पातीं। उपन्यासकार देवेश ठाकुर शब्द-शिल्पी के रूप में विख्यात हैं। इस कृति में भी उनकी शैली का उत्कर्ष देखते ही बनता है।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
एस. आई. ई. एस. कॉलेज,
शींव, मुंबई-400022

'व्यक्तिगत' में व्यक्त संवेदनाओं का स्वर

– डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट

देवेश ठाकुर की औपन्यासिक रचनाएँ वस्तु एवं शिल्प की नवीनता के कारण पाठकों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती रही हैं। उनका अठारहवाँ उपन्यास 'व्यक्तिगत' भी एक नए कलेवर के साथ हमारे बीच आया है। इसमें लेखक ने संस्मरण व डायरी का सहारा लेकर एक नया प्रयोग पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का नायक मानस मनराल उर्फ मन्नू निम्न मध्य वर्ग से संबद्ध रखता है। जिसके जीवन में हर पड़ाव पर समस्याएँ उसका मार्ग अवरुद्ध करने के लिए मुँह बाए खड़ी रहती हैं; लेकिन मन्नू की कर्मठता, संघर्ष व गगन को छू लेने की इच्छाशक्ति के समक्ष सारी समस्याएँ दम तोड़ती दिखाई देती हैं।

मन्नू का व्यक्तित्व बड़ा ही शालीन है जिसके चलते जो व्यक्ति उससे एक बार जुड़ जाता है अंत तक जुड़ा ही रहता है फिर चाहे वे उसके मित्र हों, मैत्रिन हों या फिर उसके अपने प्रोफेसर। मन्नू की प्रगति का माध्यम उसकी शिक्षा, भोलापन और ईमानदारी रहीं है; इन्हीं के सहारे वह जीवन के इस पड़ाव तक पहुँच पाए हैं। अब उसे सिर्फ एक ही चिंता सता रही है कि वह प्रथम श्रेणी से पास हो सके लेकिन ऐसा नहीं हो पाता इसीलिए वह अपने मित्र भट्टाचार्य से बातों-बातों में कहता है कि इयार दो परसैंट से क्लास रह गयी। 58 प्रतिशत ही ले पाया।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 353) इस प्रकार मन्नू अपने परीक्षा परिणाम से काफी दुखी रहने लगता है तभी उसे उपासना की वह बात याद आ जाती है कि इकोई भी इंसान, बेचारा पैदा नहीं होता मानस। बस व्यवस्था उसे बेचारा बना देती है। और कुछ लोग खुद बेचारे बन जाते हैं और उसकी आड़ में अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। अगर इस बेचारेपन से सही अर्थों में मुक्ति पानी है तो इसके लिए संघर्ष करना होगा। हममें से आधिकांश को जो कुछ भी मिलता है, संघर्ष करके ही मिलता है। अपने रास्ते में आए अवरोधों से लड़कर ही मिलता है। सो मानस, हमें किसी भी इंसान को 'बेचारा' कहकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 457) आगे वही उपासना मन्नू को नौकरी मिलने पर खुश दिखती है- इवह उसकी प्रसन्नता में प्रसन्न हो जाती रही है। यही तो मैत्री का निकष है। '(रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 489) जीवन में प्रगति के लिए अच्छे मित्र और अच्छे सहयोगियों के मर्गदर्शन की आवश्यकता होती है। मुम्बई में नौकरी के दौरान मानस को सच्चे व अच्छे सहकर्मी के रूप में डॉ. चतुवेर्दी मिलते हैं; जो अपने निर्देशक के निर्देशन में मानस को पी-एच. डी. रजिस्टर करवा देते हैं। तब मानस सोचता है- इमैं अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे समय-समय पर किसी न किसी का सहयोग मिलता रहा है। देहरादून में प्रो. भूदेव का वरद हस्त मेरे सिर पर था। चेतन भट्टाचार्य और अब्दुल हमीद जैसे सहपाठी और मित्र थे।...और फिर उपासना जैसी...। और यहाँ डॉ. चतुवेर्दी जैसे सहकर्मी। सचमुच मैं कितना भाग्यशाली हूँ।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 523)

मानस आशावादी है। उसके जीवन में कितनी ही विषम परिस्थितियाँ क्यों न आ जाय वह उनका समाधान ढूँढ ही लेता है। वह अपने परिवार से दूर देहरादून में स्नातक की

पढ़ाई करने गया है। जहाँ ट्यूशन पढ़ाकर वह अपने व अपने परिवार का खर्च निकालता है। आज उसके कमरे में रोजमर्रा काम आने वाली चीजें समाप्त हो चुकी हैं और उसके पास मात्र सवा दो सौ रुपए बचे हैं, जिसमें से कुछ रुपए नजीबाबाद पिता को भेजने हैं। इस पर भी पिता की चिट्ठी आती है जिन्हें पढ़कर मानस अपराध-सा महसूस करता है। मानस से पिता की अपेक्षाएँ दिन-प्रतिदिन बढ़ती ही जा रही हैं; वे पत्र में मानस को लिखते हैं कि बेटा- इअब तो ऊपर भगवान है और नीचे तू है। '(रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 380) तब मानस पिता को आश्वस्त करते हुए कहता है कि इबस, आठ-दस महीने की बात और है। फिर तो कहीं काम पर लगना ही है। मुझे थोड़ा समय और दे दीजिए बाबूजी! मैं आपके सारे गिले-शिकवे दूर करने की कोशिश करूँगा। आपका आशीर्वाद साथ रहेगा तो आगे के दिनों में सब कुछ अच्छा ही होगा।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 357) बाद में मानस को मुम्बई के तिलक कॉलेज से इंटरव्यू लैटर आ जाता है। वहाँ पहुँचने पर प्रत्याशियों की संख्या देखकर वह घबरा जाता है और सोचता है- इइक्कीस प्रत्याशी। एक पोस्ट। कैसे सधेगा। असंभव। असंभव कुछ नहीं होता....। दिल को दिलासा देता है मानस। अब यहाँ तक आए हो तो जमकर इंटरव्यू दो। पूरी आस्था और विश्वास के साथ।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 475) अंततः उसका यही विश्वास उसे सफल बना देता है। जैसे ही मानस की नौकरी लगती है तो उसके माता-पिता की अपेक्षाएँ बढ़ जाती हैं। वे अब अपने बढ़ते हुए खर्चों की एक लम्बी-चौड़ी लिस्ट मानस को भेज देते हैं। उनको लगता है कि मानस को अब हजार-बारह सौ तनख्वाह मिलती ही होगी लेकिन स्थितियाँ बिल्कुल विपरीत थीं। मानस को मात्र 250 रुपये प्रतिमाह मिलते थे; इसी से वह अपने पिता को 150 रुपये प्रति माह भेज रहा था। इस सब के बावजूद मानस बड़ी ही शालीनता से अपने पिता को पत्र लिखता है- इठीक है ये परीक्षा के दिन हैं लेकिन यहाँ कुछ भी शाश्वत नहीं है। ये दिन भी निकल जाएँगे। बस, तुम थोड़ा धीरज और संयम से काम लो। बंद रास्ते भी एक दिन खुल जाते हैं। ' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 516) ऐसी स्थितियों से उबरने के लिए मन्नू को किसी कवि कि ये पंक्तियाँ अनायास ही याद आ जाती हैं -

दिन-रात बदलते हैं / हालात बदलते हैं /
मौसम के संग-संग / फूल औ' पात बदलते हैं। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 411)

मानस को याद आता है कि जब वह अपने ननिहाल से लौटते वक्त रानीखेत के जंगली रास्ते से गुजरता है तो वहाँ के प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित हुए बिना वह नहीं रह पाता। वह देखता है इऊँची-नीची पहाड़ियों पर फैला जंगल का विस्तार। आसमान को छूते चीड़ के वृक्ष। जमीन पर बिछी हुई पिरूल। वन पक्षियों की चहचहाट। जंगल के खुले भाग में चरते ढोर-डंगर। ग्वाले। बाँसुरी की उदास तानें। कहीं-कहीं पर झरनों का नाद। नीचे बहती हुई नदी। दूधिया जल। जल के बहने का कलकल स्वर ... शीतल पवन की लहरें। घने बाँझ वृक्षों की छाया। दिन में भी संध्या का आभास...।'(रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 362) आगे इसी उपन्यास में उपासना भी मन्नू व अपने बीच की चुप्पी को तोड़ने के लिए वसंत ऋतु का सहारा लेती है और कहती है- इवसंत का मौसम भी क्या मौसम होता है मन्नू। प्रकृति में पुराना अतीत हो रहा होता है और नए के स्वागत में नई

वंशावली अंकुरित हो रही होती है। तभी मन्नू भी दार्शनिक अंदाज में प्राकृतिक परिवर्तन को समाज से जोड़ते हुए कहता है- प्रकृति में ही नहीं हमारे समाज में भी तो यही होता है। पुराना; और पुराना होकर झड़ जाता है और उसके स्थान पर नई पौध पनपने लगती है।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 462)

लेखक ने लगातार भारतीय युवकों पर पड़ने वाले विदेशीकरण के प्रभाव का मार्मिक चित्रण किया है। हमारा देश युवकों की शिक्षा को लेकर तो काफी सजग है किंतु उसको; उसके कौशल के अनुकूल रोजगार उपलब्ध करा पाने में अक्षम है। अतः यहाँ का बौद्धिक वर्ग रोजागार की तलाश में विदेशों की ओर पलायन कर जाता है। जिसकी शिक्षा में देश का लाखों रुपया खर्च हुआ है; उसका लाभ विदेशी उठा रहे हैं और वहाँ जाकर ये नवयुवक देश को ही नहीं बल्कि अपने माता-पिता तक को भूल जाते हैं। इस स्थिति को लेखक ने प्रोफेसर भूदेव के नौकर के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। प्रो. भूदेव का नौकर बलवंत मानस को इनके बेटे के संबंध में बताता है- इभाई जी। इन का एक लड़का है। इंजीनियर है। विदेश में। वहीं उसने शादी रचा ली। एक मैम से। शादी के बाद वह यहाँ नहीं आया।...पहले कभी-कभी आ जाता था।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 404) आज यू.जी.सी. विद्यार्थियों के रोजागार की जिम्मेदारी प्राध्यापकों पर थोपकर सोच रही है कि उसने बहुत बड़ा क्रांतिकारी कदम उठाया है। वह आज जिसकी पहल कर अपनी पीठ थपथपाने का प्रयास कर रही है; उस कार्य को प्रध्यापक वर्ग सदियों से करता आ रहा है, जिसे 'व्यक्तिगत' के माध्यम से पुष्ट किया जा सकता है। मन्नू प्रो. भूदेव के संदर्भ में कहता है कि इकितने विद्यार्थियों की मदद की है उन्होंने। कुछ के लिए तो वे भगवान हो गए थे- जैसे मेरे लिए। उनकी ही कोशिशों से मेरी फीस माफ हुई उन्होंने ही मुझे कॉलेज के साइकिल स्टैंड पर काम दिलवाया। डॉ. बनर्जी के बेटे का ट्यूशन भी उन्हीं के कारण मिला। बी. ए. के दिनों में जब मानस ने इनसे अपनी कविताओं का संकलन छपवाने की बात की तो उन्होंने ही प्रकाशक से मात्र लागत की राशि लेने के लिए कहा। ...हे भगवान, मुझे शक्ति दो कि मैं इनकी सेवा करके कुछ तो ऋण चुका सकूँ।'(रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 405) इतना ही नहीं आगे प्रो. भूदेव जब अपनी एक किताब के प्रूफ हेतु मानस को कहते हैं तो उसकी खुशी का ठिकाना नहीं रहता- इमन्नू को अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा है। उसे लग रहा है कि जैसे उसका रक्तचाप नॉर्मल हो गया है और सारी आशंकाएँ हवा हो गईं हैं। ....और भयाक्रांत अंधेरे सीने में असंख्य बत्तियों की असंख्य कतारें जगमगा उठी हैं। अपने इस सौभाग्य पर उसका कंठ अवरुद्ध हो गया है। वह बोलना चाहकर भी कुछ बोल नहीं पाता।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 431) वह गुरु ही होता है जो अपने शिष्य में ऐसा विश्वास भर देता है कि उसके बाद शिष्य पीछे मुड़कर नहीं देखता। इसीलिए आज विद्याधर को जो नौकरी की तलाश में देहरादून से मुम्बई आया था और उसे वहाँ एक बड़े कॉलेज में नौकरी मिल गयी, सहज ही अपने गुरु प्रो. भूदेव जी की याद आ गई। वह उन्हें पत्र में लिखता है- इमेरा यहाँ आना सार्थक हो गया और आपका कहना भी। आप कहा करते थे न कि 'विद्याधर तुम विद्या को धारण करो। तुम बहुत आगे तक जाओगे। तुममें बड़ी संभावना है। आपकी भविष्यवाणी सफल हो रही है गुरुजी।' (रचनावली, भाग-1,

पृष्ठ- 469) इस तरह; इस पवित्र रिश्ते को न तो किसी बंधन में बाँधने की आवश्यकता है और न ही किसी के पैरवी की ही आवश्यकता है। यह तो सदैव सहज ही प्रवाहमान होती आई है। आज साहित्य में तरह-तरह के विमर्शों की बात की जाती रही है, जिनमें दलित विमर्श भी एक है। कुछ तथाकथित दलितों (जो दलित तो थे लेकिन आज इतने समृद्ध हो चुके है कि उन्हें अपने ही दलित भाइयों से बात करने, उनके साथ उठने-बैठने में शर्म महसूस होती है।) का मानना है कि जब तक दलित व सवर्णों के बीच रोटी-बेटी का संबंध नहीं हो जाता तब तक समानता की बात पूर्ण नहीं हो सकती। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि यह मुद्दा दलित व सवर्णों का न होकर वर्ग भेद का है। जो समाज से किसी भी सूरत में समाप्त नहीं हो सकता। यह वर्ग भेद 'व्यक्तिगत' में भी व्यक्त हुआ है। मन्नू अपनी प्रेमिका उर्वशी के पिता के बुलाने पर उसके घर तो चला जाता है किन्तु वहाँ उर्वशी की माँ द्वारा उसे जो प्रताड़ना मिलती है उससे वर्ग भेद का भाव ही उभरकर आता है। यथा- इमान लो, हम उर्वशी से तुम्हारी शादी कर देते हैं। तब तुम उसे कहाँ रखोगे? घर कैसे चलाओगे? क्या उसे वे सब सुविधाएँ दे पाओगे, जिनकी वह आदी है....।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 407) भले ही यह मानस के गरीबी पर एक करारा तमाचा था किन्तु यह भी सत्य है कि कोई भी माता-पिता बड़े लाड़ प्यार से पाल-पोसकर बड़े किए अपने बच्चों को दर-दर की ठोकरें खाने के लिए नहीं छोड़ सकते हैं।

समय बड़ा बलवान होता है। प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित समय के साथ इस संसार में प्रवेश करता है और यहाँ रहते हुए यदि वह समय को पकड़कर चलता है तो जीवन की ऊँचाइयों को छू लेता है। ऐसे लोगों के लिए संसार का कोई भी काम असंभव नहीं होता। ऐसे लोग जिस क्षेत्र में सक्रिय रहते हैं उसमें लगातार उनकी प्रगति ही प्रगति होती दिखाई देती है। 'व्यक्तिगत' में डॉ. भूदेव, मन्नू को समय का महत्त्व बताते हुए कहते हैं कि इसमय बहुत मूल्यवान होता है। उसका एक-एक क्षण, एक-एक पल महत्त्वपूर्ण है।.... एक सफल जिंदगी पाने और जीने के लिए मिनटों और सेकेंडों का हिसाब रखना होता है।...तुम्हारे लिए तो यह और भी जरूरी है। समय को गवाँओगे तो अपनी संभावनाओं को भी गवाँ बैठोगे।'(रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 409)

हमारे समाज के ठेकेदार ही आज समाज के लिए नासूर बन चुके हैं। वे अपना उल्लू सीधा करने के लिए समाज में व्याप्त गंगा-जमनी तहजीब को नष्ट कर देना चाहते हैं जबकि वे भली-भाँति जानते हैं कि यह सब कर पाना संभव नहीं है। फिर भी अपने समर्थकों के बीच जाति व धर्म को लेकर नफरत के बीज बोते हैं और तत्पश्चात उन्हें आपस में लड़वाते हैं; जिसके चलते उनके घर परिवार नष्ट हो जाते हैं। इसी तरह की एक घटना मन्नू के शहर नजीबाबाद में घटित हो जाती है जिस संबंध में मन्नू अपनी माँ से पूछता है - आपने अपने पिछले पत्र में लिखा था कि शहर में साम्प्रदायिक दंगे हो रहे हैं कि हिन्दुओं ने जगह-जगह मुसलमानों के घर जला डाले हैं पढ़कर बहुत बुरा लगा था। सभी शहरों में अलग-अलग जाति, समुदाय और धर्मों के लोग रहते हैं। आपदा में भाईचारा भी चलता है। मैं सोचता हूँ आज के युग में साम्प्रदायिकता विकृत मानसिकता की द्योतक है।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 410) इस तरह लेखक ने नजीबाबाद की घटना के माध्यम से यथार्थ अभिव्यक्ति की है। जीवन को सही दिशा देने के लिए उचित

निर्णयों की आवश्यकता होती है। तत्पश्चात उन निर्णयों के अनुकूल कार्य करना अनिवार्य हो जाता है। सही समय पर लिए गए सही निर्णय व्यक्ति के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में साक्षम होते हैं। मन्नू की बहन ममता का बनवारी पानवाले के बेटे से प्रेम चल रहा होता है। जब इसकी सूचना मन्नू को मिलती है तो वह ममता से कहता है- इतू ऐसा कर सुबह तक अपने कपड़े लत्ते, अपना सामान बाँध ले। फिर तू जैसा कहेगी, कर लेंगे। मैं या तो तुझे खुद बनवारी के घर छोड़ आऊँगा या तू चाहे तो महेन्द्र को यहाँ बुलवा लूँगा...।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 416)

शादी व्याह के मामले में कभी-कभी माता-पिता के निर्णय भी बच्चों के लिए घातक सिद्ध हो जाते हैं। उपासना के पिता चंद्रदेव उपासना का विवाह शहर के एक सम्पन्न परिवार में करते हैं लेकिन उपासना का पति प्रशांत बरात के लौटने के दौरान रास्ते में ही अपने मित्रों के समक्ष उपासना से अश्लील हरकतें करने लगता है जो उपासना के लिए अस' हो जाता है और वह मौका मिलते ही आधे रास्ते से ही वापस लौट आती है। तब दुखी उपासना को समझाते हुए चाचा भूदेव कहते हैं- इबेटा, इसमें चंद्रदेव की कोई गलती नहीं है। हर पिता पहले बेटी का सुख ही देखता है। दामाद के घर में सम्पन्नता हो, वह पढ़ा-लिखा हो, अच्छे काम में लगा हो और अगर उसका व्यक्तित्व भी आकर्षक हो तो यह तो सोने में सुहागा ही हुआ ना उपासना? ' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 427) यहाँ उपासना का निर्णय उचित प्रतीत होता है। इस तरह के व्यक्तित्व के साथ जीवन भर मर-मरकर जीने से अच्छा है; वह जीवन पर्यंत अकेले ही रहे।

लेखक समाज का प्रत्यक्षदर्शा होता है। वह अपने बुद्धि व कल्पना के माध्यम से भूत, भविष्य और वर्तमान को देखता है। इसके पश्चात इनके बीच में सामंजस्य बैठाकर समाज के कल्याण की दिशा निर्धारित करता है। इस संबंध में 'व्यक्तिगत' में लेखक के विचार इस प्रकार व्यक्त हुए हैं। उनका मानना है कि इलेखक होना ईश्वरीय वरदान है। लेखक के अंतर में सभी कुछ तो है। प्यार है, स्नेह है, मादकता है, संवेदना है, सहयोग है और साथ ही ईर्ष्या भी है, द्वंद्व भी है, घात-प्रतिघात भी है। उधर बाहर प्रकृति है- उसकी सुषमा है। बादल है, बिजली है, उजास है, हरियाली है। पर्वतों की श्रेणी है। और पक्षियों की काकली है। और साथ ही बंजर भी है, तूफान भी है, बौखलाती हुई नदी, उमड़ता हुआ सागर है और बवंडर है। इन सभी को अंतर की आँखों से देखो और अपने कथानक के अनुसार अपने लेखन में शब्दांकित करो। तुम पाओगे कि उससे तुम्हें जो दैविक आनंद और सुख-संतोष मिलेगा, वह कल्पनातीत होगा। बस, अपने लेखक के उद्देश्य को सकारात्मक बनाओ और अपने पाठकों का संस्कार करो। यदि तुम्हारे लेखन से एक भी पाठक संवेदित होता है तो मान लो तुम्हारा लिखना सार्थक हो गया।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 528) निम्नमध्य वर्ग समाज के एक बहुत बड़े हिस्से का प्रतिनिधित्व करता है। आज भी उसकी स्थिति में सुधार के लिए न तो वह तैयार है और न ही सरकारी महकमे को ही उसकी कोई चिंता है। यदि कभी योजनाएँ बनाई भी जाती हैं तो उन तक उसका लाभ नहीं पहुँच पाता है और यदि पहुँचता भी है बहुत कम मात्रा में। इसी के चलते पलायन की स्थितियाँ भी उत्पन्न होती हैं। इस बात की पुष्टि स्वयं देश के पूर्व प्रधानमंत्री स्व. राजीव गाँधी ने की है। वे गाँव के पलायन की स्थिति से भली-

भाँति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने कहा था- इहमारी योजनाओं का केवल 15% धन ही आम आदमी तक पहुँच पाता है।' सरकार की इन योजनाओं का उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों का विकास, भुखमरी हटाना, गाँव और शहर के अंतर को कम करना, खाद्य सुरक्षा प्रदान करना तथा जनता को मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध कराना है ताकि सामाजिक व अर्थिक आधार पर लोगों को सुदृढ़ बनाया जा सके। उनकी यही चिंता थी कि ये योजनाएँ सामान्य जन तक पहुँचें लेकिन अब शहरों की स्थिति भी बड़ी दयनीय होती जा रही है। शहरों में भी मिलें लगातार बंद पड़ती जा रही हैं, जिसके शिकार सुनीता शिंदे के पिता स्वयं हुए है। जो मिल बंद पड़ने के बाद से बेरोजगार हो गए हैं- कहीं देहाड़ी पर काम मिला तो उससे मिले पैसे से दारू की बाटली खरीद लेते हैं। माँ से रोज चख-चख होती है। वह कुछ बोलती है तो उसे मारने पीटने लगते हैं।... मुझे घर लौटते हुए बड़ा डर लगता है कि पता नहीं आज उन्होंने क्या तमाशा किया होगा।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 536)

दूसरी तरफ हम देखते हैं कि मजदूरों की अपनी व्यथाएँ होती हैं। 'एक मजदूरिन की दैनिकी' पढ़ते हुए मानस उसकी मनः स्थिति को व्यक्त करता है जो पत्थर तोड़ने के दौरान पास ही रखे अपने बिलखते बच्चे की तरफ ध्यान नहीं दे पाती। यह उसकी मजबूरी है। यदि उसके द्वारा पूरे दिन में एक निश्चित मात्रा में पत्थर नहीं तोड़े गए तो उसका पारिश्रमिक काट दिया जाएगा। इन सबके चलते वह यह सोचने के लिए विवश हो जाती है कि इमुझे लगता है कि मेरी ममता का स्रोत सूख गया है। सपने पीले पड़ गए हैं। मैं पत्थर तोड़ रही हूँ लेकिन दिमाग में दूसरा द्वंद्व चल रहा है। सुबह घड़े में पानी नहीं था। शाम को जल्दी-जल्दी घर लौटकर पानी भरना पड़ेगा। बाबड़ी एक कोस दूर है। क्या तब तक बाबड़ी तक जाने की ताकत मुझ में बची रहेगी?' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 542)

प्रेम व्यक्ति के जीवन का अभिन्न हिस्सा है; शायद ही कोई व्यक्ति अपनी इस प्रेमिल संवेदना को नियंत्रित रख पाया हो। इस उपन्यास का नायक भी अपनी प्रेमिल मनोभवों को नियंत्रित रख पाने में असमर्थ रहा। उसके संपर्क में जितनी भी लड़कियाँ आईं, सभी को उसने अपने दिल में स्थान तो दिया किंतु उनके समक्ष अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पाया, जिसके चलते सभी लगातार छूटती चली गई। अंत में 'भूमिका' उसके जीवन में आती है जो लगातार पिछले तीन वर्षों तक मनस की तरफ से शादी के प्रस्ताव का इंतजार कर रही थी और अंततः हारकर एक दिन स्वयं ही उसके समक्ष शादी का प्रस्ताव रख देती है। शादी के तुरंत बाद ही मानस के माता-पिता का देहांत हो जाता है। एक बार मानस को लगने लगता है कि कहीं भूमिका ही अपशकुन बनकर मेरे घर में...। लेकिन जब मानस स्वयं एक दुर्घटना का शिकार हो जाता है तब भूमिका जिस निष्ठा से लगातार छह महीनों तक उसकी सेवा करती रही; उससे भूमिका को लेकर उसके मन के सभी गिले-शिकवे दूर हो गए। मनस का प्रेमिल स्वभाव होने के कारण उसके संपर्क में जितनी भी महिलाएँ आई वे सभी मानस को उतना ही चाहती थीं जितना मानस उनको। यहाँ लेखक ने मानस के माध्यम से महिलाओं को लेकर पुरुष विचारधारा को भी व्यक्त किया है। मानस उसके जीवन में आने वाली प्रत्येक स्त्री का अपनाना चाहता है फिर चाहे वह उर्वशी हो, उपासना हो, भूमिका हो या उन पर शोध करने वाली दीपाली सावंत

हो या 'रत्न' की पढ़ाई करने वाली मालती जोशी अथवा उनकी कलीग 'सुधा कपूर'। लेकिन इनमें से भूमिका ने अपने साहस का परिचय देकर पत्नी का स्थान प्राप्त किया तो उपासना ने प्रेम की पराकाष्ठा का परिचय दिया, जिसे उसके पत्र के इस अंश में देखा जा सकता है- इतुम्हारी उपासना - जो कभी तुम्हारे सपने देखती थी लेकिन जो इतनी कायर निकली कि तुमसे अपने मन की बात भी न कह सकी।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 580) उसने भले ही अपने पिता की इच्छा को पूरा करने के लिए विश्वनाथ श्रीवास्तव से शादी कर ली हो किंतु वह मानस को अपने दिल व दिमाग से बाहर नहीं निकाल पाई थी। जिसका अहसास उसके पति विश्वनाथ श्रीवास्तव को भली-भाँति हो रहा था और जब कैंसर से ग्रस्त होने पर वह अपनी सौतेली बेटी के पास इलाज के लिए बम्बई आती है और यहाँ आकर जब वह मानस से मिलती है तो उसे लगता है कि जैसे उसकी सारी इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं लेकिन दूसरे दिन सुबह मानस को समाचार मिलता है कि पिछली रात को ही उसका निधन हो गया है। इसकी सूचना मिलते ही मानस जब श्मशान में पहुँचता है तब उपासना के पति विश्वनाथ बोलते हैं - इप्रोफेसर साब', इसे मुखाग्नि देने का अधिकार आपको ही है, मुझे नहीं। मैं तो बस निमित्त मात्र था।' और उन्होंने वह जलती हुई, छोटे-छोटी लपटों वाली लकड़ी उनकी ओर बढ़ा दी थी...।' (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 590)

इस उपन्यास में लेखक ने नए तरह के वाक्यों का प्रयोग किया है जो उपन्यास में समय और स्थान के अनुकूल सटीक बैठते हैं, जिन्हें हम सूक्ति वाक्यों के रूप में देख सकते हैं। यथा- धूप में ताप की पकड़ ढीली हो गई है। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 381) जब सामने कविता खुद ही बैठी हो तो मेरी कविता कहाँ ठहर पाएगी। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 547) जितना भी जाना है, वह तुम्हें जानने के लिए काफी है। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 546) मैं उसके देखने को देखता हूँ तो मेरा ध्यान बँट जाता है। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 523) उपासना उसकी प्रसन्नता में प्रसन्न हो जाती रही है। (रचनावली, भाग-1, पृष्ठ- 489)

निष्कर्षतः कह सकते हैं कि इस उपन्यास में मानस के माध्यम से जीवन के विविध आलोकों जिनमें मानस के विद्यार्थी-जीवन के संघर्ष, उसके उदार चरित्र, मित्रों का मित्र, अपने प्राध्यापकों के प्रति निष्ठा भाव, स्त्रियों के प्रति सम्मान, एक जिम्मेदार व्यक्तित्व तथा निम्नमध्य वर्ग का चिंतक, आदि का उल्लेख किया गया है। समग्रतः 'व्यक्तिगत' उपन्यास समसामयिक जीवन पद्धति के विविध पक्षों को उठाने में सक्षम रहा है। यह उपन्यास वर्तमान जीवन का समग्रता के साथ प्रतिनिधित्व करता है। आज जब व्यक्ति जीवन में आने वाली छोटी-छोटी समस्यओं से घबराकर जीवन को ही दाँव पर लगा रहा है तब ऐसे दौर में यह उपन्यास उन व्यक्तियों के लिए संबल का काम करेगा जो संघर्षरत हैं और जमीनी सच्चाइयों से जूझ रहे हैं। यह उपन्यास जीवन के विषम से विषमतर परिस्थितियों में पाठकों के भीतर जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टि की उद्भावना में सक्षम है।

अध्यक्ष और शोध निर्देशक
हिन्दी विभाग
रामनारायण रुइया स्वायत्त महाविद्यालय, माटुंगा, मुंबई -19.

मारिया : अंर्तद्वन्द से ग्रस्त युवती की कहानी

- डॉ बसुन्धरा उपाध्याय

उपन्यास मनुष्य के विकास के साथ-साथ विकसित होने वाली कथा परम्परा का एक सुगठित रूप है। मानव मन की अतल गहराई से लेकर उसकी समस्त सांसारिक दृष्यमान ऊँचाई, विस्तार एवं अन्य क्रिया-कलाप उपन्यास में समाहित हैं। वास्तविकता का प्रतिपादन नाटक और गीत भी करते हैं, परन्तु उपन्यास अधिक विस्तृत, गहन एवं पैना होता है। उपन्यास जीवन के लघुतम और साधारण तथ्यों को भी पूर्ण स्वच्छन्दता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करता है। उपन्यास मानव की सर्वतोन्मुखी स्वतन्त्रता की उद्घोषक विधा है। आज का मानव जीवन गायन-नर्तन और सम्मोहन तक ही सीमित नहीं है। आज अतीत की गौरव गाथा भी अपना महत्त्व खो चुकी है। धीरे-धीरे हम अब अपनी उन कथाओं को भी स्मरण कर रहे हैं। केवल कल्पना से अब लिपटे रहना और जीवन की प्रत्येक प्रेरणा उनमें देखना स्वयं को अन्धकार में रखने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। आज जीवन के सूत्र हैं - यथार्थता, स्पष्टता, ध्रुवता, मांसलता, बौद्धिकता और स्तरीय निर्बन्धता। इन तत्वों के सार से ही उपन्यास का स्परूप गठित हुआ है।

उपन्यास से हमारा घनिष्ठ और आन्तरिक जीवन चित्रित होता है, जो हमारा होते हुए भी प्रायः हमारा नहीं होता है। उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द के शब्दों में- 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है।' उपन्यास विधा में समकालीन समाज का विस्तृत और गहरा प्रतिबिंब झलकता है। इसमें सामाजिक जीवन का तथा उसकी पूरी जटिलता का यथार्थ चित्रण मिलता है। साठोत्तर कालखंड में जनतंत्र के लड़खड़ाते परंतु गतिशील रूप के कारण सामान्य मनुष्य में एक ओर अपनी अस्मिता का एहसास हुआ तो दूसरी ओर उज्ज्वल सपने तथा आदर्श बदलते भयावह परिवेश के कारण चौपट हुए। कुछ मोहभंग की स्थितियाँ उत्पन्न हुईं। राजनीतिक स्थितियों ने सामान्य व्यक्ति के जीवन को प्रभावित किया। जनतंत्रवादी साँचे में सामान्य मनुष्य का शैक्षिक संस्कार हुआ, जिससे उसके जीवन में नई आशाएँ उभर उठी हैं। प्रतिकूल परिस्थितियों के सामने रूबरू खड़ा होने की ताकत उसमें उत्पन्न हुई। इसका प्रभाव हिंदी उपन्यास साहित्य पर पड़े बगैर नहीं रहा। काल परिवर्तन के साथ सामाजिक परिवेश में बदलाव होता रहा। साहित्यकार देवेश ठाकुर ने 'भ्रमभंग' उपन्यास के प्रकाशन के साथ उपन्यास जगत में पदार्पण किया था। सन् 1975 से अब तक उनके 20 से अधिक उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं और वे अभी तक रचनारत हैं।

देवेश ठाकुर स्वयं निम्न मध्य वर्ग से हैं। इस वर्ग की समस्याएँ, अथार्भाव तथा संयुक्त परिवार का वातावरण इन्होंने स्वयं अनुभव किया है, अभावग्रस्त परिस्थिति को स्वयं भोगा है तथा जो महसूस किया, उसे ही अपने साहित्य का हिस्सा बनाया है। अनेक वर्षों से मुंबई जैसे महानगर में रहने के बाद भी वे अपनी जड़ों को भूल न सके हैं। इसी कारण महानगर का परिवेश एवं समस्याओं से परिचित हैं। अध्यापन कार्य द्वारा महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों से संबंधित होने के कारण वहाँ का शैक्षिक वातावरण, टुच्चेगिरी, परस्पर ईर्ष्या, स्वार्थान्धता एवं भ्रष्टाचार का स्वयं अवलोकन किया

है। इसी कारण उन्हें अपने साहित्य में इस यथार्थ का चित्रण करने में सफलता मिली है। उन्हें साहित्य सृजन की प्रेरणा किसी लेखक या साहित्यकार से नहीं बल्कि स्वयं के द्वारा भोगे गये यथार्थ, अपने परिवेश तथा अपनी प्रतिभा शक्ति से मिली है। सामाजिक यथार्थ के कारण उनका साहित्य मौलिक बन पाया है।

साठोत्तरी सामाज में मूल्य-विघटन तेजी से हुआ है। व्यक्ति के स्तर पर कुंठा, भय, संत्रास, अलगाव, संशय, व्याप्त है तथा स्त्री-पुरुष संबंधों में क्रांतिकारी बदलाव दिखाई देता है। सन् 1960 के पश्चात् सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक स्थितियों ने करवट बदली है। दलित, ग्रामीण, सर्वहारा वर्ग, झोपड़पट्टीवासी, नारीमुक्ति आंदोलन, महानगरीय जीवन की विकृतियाँ आदि का चित्रण उपन्यासों में होने लगा। जातीय, सांप्रदायिक तनाव पर आधारित उपन्यास लिखे जाने लगे। महंगाई, आपात्कालीन स्थिति, युद्ध की विभिषिका आदि का चित्रण उपन्यासों में होने लगा। देवेश ठाकुर का साहित्य संसार निरंतर जीवन संघर्ष का प्रतिफल है। जीवन का कड़े से कड़ा संघर्ष उनके साहित्य लेखन में रुकावट न बनकर आगे बढने का बल प्रदान करता रहा। इसके कारण उनके साहित्य में मानवीय मूल्यों की भरमार देखने को मिलती है। इस बारे में ब्रम्हदेव मिश्र का कथन द्रष्टव्य है- देवेश ठाकुर की रचनाधर्मिता मूल रूप से मानववादी मूल्यों से अनुप्राणित है। उनकी रचनात्मकता का केन्द्रीय स्वर व्यवस्था विरोध का है। इसी व्यवस्था विरोध की पृष्ठभूमि में उन्होंने मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। आज की व्यवस्था में व्याप्त विसगतियों, विद्रूपताओं और भृष्ट नेतृत्व पर उनकी लेखनी ने बार बार साहसिक प्रहार किये है।[1]

साहित्यकार जिस समाज का अंग होता है या फिर जिस समाज में रहता है उस समाज का प्रभाव उसके साहित्य पर आ ही जाता है। जिस प्रकार का वह जीवन भोगता है उसका भाव भी उसके साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। अपनी रुचि, लग्न, संस्कार तथा अभ्यास से एक मनुष्य के भीतर साहित्यकार का जन्म होता है। यह बात देवेश जैसे लेखक के विषय में कही जा सकती है। एक समय था कि आर्थिक तंगी के कारण वह लिखते थे परंतु बाद में लेखन उनका संस्कार बन गया। लेखन कार्य जारी रहा। फिल्मों के लिये उन्होंने कभी नहीं लिखा। उन्होंने स्वयं कहा है कि 'बहुत पहले फिल्मी पत्रिका माधुरी में मैंने दो-ढाई साल तक बारी-बारी से दो कॉलम लिखे थे- सामाजिक सच्चाई और सिनेमा' तथा 'साहित्य मंथन'।[2]

साहित्य के प्रति ऐसी रुचि, लगन और जिज्ञासा शायद ही कहीं मिले। उनके विषय में आलोक भट्टाचार्य जी कहते हैं कि 'देवेश स्पष्ट वादी है, फिर भी प्यारा है.... वह सच बोलता है, फिर भी मीठा है। वह स्वाभिमानी है फिर भी विनम्र है। वह शानदार है लेकिन निहायत ही सादा। वह बड़ा लेखक है लेकिन सहज सरल है।[3] यथार्थ का चित्रण करना ही उपन्यास का उद्देश्य होना चाहिए। समाज में हो रहा अन्याय, अत्याचार, अनाचार, अनीति, उत्पीड़न आदि के विरुद्ध विद्रोह और संघर्ष तथा क्रांति का स्वर उनके साहित्य में स्पष्टता से दृष्टिगोचर होता है। मानव के समग्र जीवन पर आधारित उपान्यास हैं। देवेश ठाकुर ने अपने उपान्यासों में मानवतावादी मूल्यों के साथ-साथ नारी समस्याओं पर भी ध्यान दिया है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से नारी की विविध समस्याओं को

पाठकों के समक्ष रखा है। नारी का व्यक्तिगत तथा सामाजिक संघर्ष और परिणाम स्वरूप उसमें उठने वाली विद्रोह की भावना- इन सबका चित्रण करने के साथ-साथ नारी को न्याय दिलाने का भी सफल प्रयास इन्होंने किया है।

'मारिया' महिला प्रधान उपान्यास है। कहते हैं एक कामयाब पुरुष के पीछे स्त्री का हाथ होता है किन्तु देवेश ठाकुर ने अपने इस उपन्यास में एक स्त्री की कामयाबी के लिए पुरुष को सक्रिय दर्शाया है। मार्टिन और भास्कर के रूप में देवेश ठाकुर के पुरुष-पात्र एक महिला को प्रेरित कर उसे आगे बढ़ने को प्रोत्साहित करते हैं। मारिया अपने पिता की कर्तव्य परायणता के बोझ तले अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त रहती है। भास्कर एक पत्र के माध्यम से उससे कहता है- 'मैं फिर कहता हूँ आज जिस जमीन पर तुम खड़ी हो, वह सँकरी जमीन तुम्हारे लिए नहीं है। तुममें अनंत संभावनाएँ हैं। उन संभावनाओं से आँखें मत मींचो। उसे अपनी नियति मत समझो। मैं तुम्हें एक ऐसी जमीन पर खड़ा देखना चहता हूँ, जहाँ लोकप्रियता है, सम्मान है, सफलता और सार्थकता है और हार्दिक स्वीकृति है। और इस सबके लिए, सब प्रकार के सहयोग और सहायता के लिए मैं तुम्हारे पीछे खड़ा हूँ..... बस, तुम्हारी सहमति की जरूरत है। मारिया बहुत ही जहीन और होशियार लड़की है पर वह अपने पिता को रोज तिल-तिलकर मरते देखती है। उसे अपने पिता पर बहुत दया आती है। उसके पिता पैरालाइसिस से ग्रसित हैं। वह मारिया से कहते हैं- अब यहाँ रहना ही कौन चाहता है मारिया। मैं न किसी के काम का, न धाम का। तुम लोगों पर बोझ बन कर जी रहा हूँ। यह जीना भी कोई जीना है।... मैं हर दिन अपना आखिरी दिन समझ कर जी रहा हूँ। मुझे मेरी तरह, मेरी इच्छा के मुताबिक जीने दे बेटे। और सुन, मैं खुद अपनी मौत का कारण बनना चाहता हूँ। किसी दूसरे पर कोई दोष नहीं थोपना चाहता। तू मेरी बात समझ रही है न.....अब ज्यादा मत सोच। वह अपने पिता को समझाती है। वह बहुत दुखी होती है। अपने पिता की बीमारी से परेशान है पर फिर भी उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने की कोशिश करती है। अपनी माँ की हालत देखकर वह बहुत दुखी होती है। दिनभर घर का काम करती है फिर रोशन साब के घर काम करने जाती है। जितनी देर घर में रहती है पप्पा की गालियाँ सुनती है। वह अपने अच्छे दिनों को याद करती है। उसके पिता उसे कितना प्यार कितना दुलार करते थे। उसकी बंद आँखों में पूरा अतीत घूमने लगता है।

कितने बदल गए हैं वे। उसे याद आता है, छुटपन में और बाद में भी वे उससे कितना लाड़ करते थे। काम से आते तो दालान से ही मारिया, मारिया पुकारते। मुझे गोदी में उठाकर उछालते और मुझे चूमते। पता नहीं, वे दिन कहाँ गए। पप्पा रेलवे वर्कशॉप में मैकेनिक थे। अपने काम के लिए उन्हें दो बार इनाम भी मिला था। बड़े खुश हुए थे। दोनों बार उन्होंने बड़ी सड़क पार प्रीतनगर के बड़े होटल में अपने दोस्तों को पार्टी दी थी। वह कन-कन करके टूट रहे हैं। उनकी दमकती काया अब पीली पड़ने लगी है। उनकी आँखों की उजास में बेबसी का गाढ़ा रंग घुल गया है। यह सोच कर ही उसकी नींद उड़ जाती है। हँसती-खेलती मारिया के जीवन में आए तूफान से उसकी दुनिया ही बदल जाती है।

मारिया की माँ ट्रीजा पति के जाने के बाद बहुत अकेली हो जाती है। क्या पता था

कि उसका पुत्र ही उसके पति का कातिल बन बैठेगा। वह याद करती है कि मार्टिन की अच्छाई ने उसे अपना बना लिया था। मार्टिन की तरफ वह कब आकर्षित हो गयी थी, उसे पता ही नहीं चला। मार्टिन बहुत सुंदर और महिलाओं का आदर करने वाला इंसान था। पहली बार जब वह ट्रीजा से मिला था तो बात करते-करते उसे अपने घर चलने का आग्रह किया था- 'ट्रीजा, मेरा मकान देखना चाहोगी। यहीं पास में ही है। पाँच मिनट का रास्ता है।' बात बदलते हुए मार्टिन ने ट्रीजा की ओर कुछ इस तरह देखा था कि वह मना नहीं कर पाई थी। बिना कुछ कहे,उसके साथ चल दी थी। साथ ही उसका दिल धुकधुकाने लगा था।

उस रात वह घर जाकर सो न सकी थी। वह बार-बार अपने घर की तुलना मार्टिन के घर से कर रही थी। जब हम किसी परम्परा का निर्वहन करते हैं तब उसको तोड़ना हमारे बस में नहीं होता। खास तौर पर स्त्री अपनी ही बेड़ियों को तोड़ नहीं पाती। उसका मन उसे तोड़ने की इजाजत नहीं देता। ट्रीजा अकेली होने के कारण चाहकर भी मार्टिन के साथ नहीं जा सकती थी किन्तु धीरे-धीरे वह बन्धन उसने तोड़ दिया था और मार्टिन से शादी कर ली थी। वैसे भी समाज में महिलाओं की नैसर्गिक इच्छाओं, भावनाओं, अर्जित की हुई योग्यताओं एवं स्वाभाविक क्षमताओं को नजरअंदाज किया जाता रहा है। देवेश ठाकुर अपने उपन्यास के माध्यम से कहना चाहते हैं कि घर लौटकर वह अंतर्द्वंद्वों से घिर गई थी। वह यह भी सोचने लगी कि मार्टिन ने एक सच ही तो उसके सामने रखा है। इस समाज में एक अकेली स्त्री कैसे रह सकती है। यही सोचकर वह मार्टिन से शादी कर लेती है।

मारिया भी बाहर से शांत दिख रही है लेकिन भीतर उसके मन में उमंगों का सागर लहरा रहा है। जब महिला घर में होती है तो एक अलग ही रंग होता है। उसी तरह घर की मारिया में और बाहर की मारिया में बहुत अंतर है। घर की मारिया और बाहर की इस मारिया में कितना अंतर है। घर की मारिया को चाहे कितनी ही मुसीबतों, कितनी ही समस्याओं और कितने ही अभावों से क्यों न जूझना पड़ता हो, घर से बाहर वह उन्मुक्त रहती है। हँसती-मुस्कुराती हुई, अपनेपन और सौहार्द से भरी हुई और सब से बड़ी बात यह कि वह सबकी प्रिय बनी हुई है। मारिया भीतर ही भीतर हुमक रही है। उससे कुछ कहते नहीं बन रहा। उसकी हल्की-हल्की मुस्कुराहट ही उसके मन को कह दे रही है।'

वस्तुतः महिलाएँ अपने दर्द को बड़ी आसानी से छिपा जाती हैं। कितना भी दर्द उनके सीने में हो उसका एहसास भी नहीं होने देतीं। देवेश ठाकुर ने समाज में जो देखा जैसा देखा, वही अपने साहित्य में पाठकों के समक्ष रखा। पुरुष प्रधान इस समाज में नारी सदैव से पुरुष के संरक्षण में रहती आयी है। परिवार और समाज की धुरी है नारी। मारिया को उसके माता- पिता पढ़ा-लिखाकर एक अच्छा इंसान बनाते हैं। देवेश ठाकुर शिक्षा के लिये प्रेरित करते हैं। एक स्थान पर वह कहते हैं कि शिक्षा चाहे विद्यालय स्तर की हो चाहे विश्वविद्यालय स्तर की, अपने समाज, अपनी स्थिति और अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप होनी चाहिए। ऐसी होनी चाहिए जो अपने समाज की आवश्यकता और आकांक्षा को पूर्ण कर सकने में समर्थ हो। जिसमें अस्वस्थ निष्प्राण तथा रूढ़ विश्वासों,

परम्पराओं और प्रचलनों के उच्छेदन युगानुकूल नवीन परिवर्तनों की प्रतिष्ठा में सहायक मिल सकें।'[4]

इनके उपन्यासों में गुरु-शिष्य परम्परा को बहुत महत्व दिया गया है। मारिया उपन्यास के अतिरिक्त अन्य उपन्यासों में भी शिक्षा पर बल दिया है। समाज के पुनरुत्थान के साथ नारी की स्थिति में भी परिवर्तन आया है। विभिन्न सामाजिक रूढ़ियों और परंपराओं का अंत हुआ। समाज में नारी-जागृति का स्वर मुखरित हुआ और शिक्षित नारी जागृत होकर अपने अधिकारों के प्रति सचेत हुई। समाज में फिर से नारी विषयक धारणा बदली उसको पुरुष के समान अधिकार और अवसर प्रदान किये जाने लगे। नारी भी अपनी प्रतिभा और कौशल के बल पर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में छा गयी। अपने सामाजिक योगदान से उसने अपनी पहचान बना ली और पहचान बनाने के लिए सतत प्रयत्नशील रही है। आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव से आज की नारी पहले की अपेक्षा अधिक जागृत हुई है। परंपरागत दृष्टिकोण में बदलाव आया है, उसकी मानसिकता परिवर्तित हुई है। आज वह आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर होना चाहती है। अपने तरीके से जीना चाहती है। परिवार में रहते हुए भी अपनी अस्मिता को बनाये रखने के लिए संघर्ष करती है। आज की नारी किसी भी स्थिति में पुरुष का शोषण सहन नहीं कर सकती है। अपने अधिकारों के प्रति सजग नारी अपने पति से भी पुरुष के समान अधिकार की माँग करती है और उसके शोषण के विरुद्ध विद्रोह भी करती है। देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में नारी के इस सबल पक्ष को उभारा है, जो वास्तव में प्रशंसनीय है। 'मारिया' में भी उन्होंने महिला पात्र को बहुत संवेदनशील रूप में चित्रित किया है। मारिया अपनी स्थितियों के बारे में सोचती है- 'क्या भाग्य लेकर आई है वह। पप्पा..... बेचारे पप्पा। एक अपाहिज जिंदगी जीते हुए पप्पा। फिर भी अपनी ज़िद पर अड़े रहने वाले। कभी नहीं सोचते, मम्मा कितनी मुश्किलों से घर चला रही है। पहले गाँव से नानी कुछ भेज देती थी। कुछ सुविधा हो जाती थी। दो साल पहले मर गयी। तब से अपनी जिंदगी और मुश्किल हो गयी.....पता नहीं, यह मुश्किल कब तक हमारी तकदीर से खेलती रहेगी।'[5] स्पष्ट है कि मारिया अपने बाहरी जगत द्वारा अनुशासित होने के साथ-साथ अपने अंतर्जगत से भी प्रेरित और प्रोत्साहित होती है।

सामाजिक जीवन जीते हुए प्राप्त किए गये अनुभव, जीवन और जगत के प्रति उसकी आस्था आदि उसके अंतर्मन में उत्पन्न उन विशिष्ट भावों और विचारों को जन्म देते हैं जो उसी समाज में रहने वाले दूसरे व्यक्ति के भावों और विचारों से भिन्न होते हैं। व्यक्ति की आंतरिकता के वास्तविक स्रोत पर विचार करते हुए देवेश ठाकुर कहते हैं कि 'व्यक्ति की आंतरिकता की बनावट और बुनावट भी उस सामाजिक वर्ग, परिवेश या परिस्थितियों के मध्य ही आकार ग्रहण करती है जिसमें वह रहता है। उसकी आंतरिकता, अनुभूतियाँ, संवेदना और स्वप्न सभी उसके अपने समाज के यथार्थ से उपजते और विकसित होते हैं । अतः अपनी विशिष्ट प्रकार की अनुभूतियों के लिए भी व्यक्ति समाज से ही शक्ति और प्रेरणा ग्रहण करता है।'[6]

समय के साथ-साथ व्यक्ति की जरूरतें बढ़ती रहती हैं। आज उसकी सबसे बड़ी जरूरत उसकी सामाजिक स्वीकृति ही है। वस्तुतः व्यक्ति की सभी आकांक्षाएँ, इच्छाएँ

और आवश्यकताएँ उसके अंतर्मन की उपज नहीं होती बल्कि इनका संबंध बहुत हद तक उसकी पारिवेशिक परिस्थितियों से भी होता है। इन्हीं के आधार पर उसके लक्ष्य और उद्देश्य निर्धारित होते हैं। मारिया को समझ नहीं आता कि वह क्या करे क्या नहीं। खुद में उलझी-सी प्रतीत होती है। देवेश ठाकुर ने मारिया उपन्यास के माध्यम से मारिया के मन की स्थिति का बहुत सुंदर चित्रण किया है। वे लिखते हैं - 'वह क्या करे, क्या न करे, इसका निर्णय वह कैसे करे। एक ओर पप्पा और मम्मा हैं। उनकी मजूबरी है। पूरे घर में बिखरे-फैले हुए अभाव ही अभाव हैं - रोज-रोज की नयी-नयी मुश्किलें हैं, समस्याएँ हैं और दूसरी ओर उसके सपने हैं, उसकी आशा-आकांक्षाएँ हैं, उसका भविष्य है। एक-दूसरे को काटती हुई इन दो स्थितियों के बीच फँसी हुई वह क्या करे, क्या निर्णय ले। निर्णय लेना इतना आसान होता है क्या?

चिंताएँ। अन्तर्द्वन्द्व। भय और आशंकाएँ। भविष्य के सपनों में जीना और वर्तमान के यथार्थ से जूझना मारिया अपनी भाषा में इन सबके बारे में सोचती हुई कब गहरी नींद में सो जाती है, उसे पता ही नहीं चलता।

सुबह देर से जब वह जागती है और उठ कर पापा के कमरे की ओर जाती है तो देखती है कि मम्मी गीले तौलिए से पप्पा का बदन पोंछ रही है। इस तरह देवेश ठाकुर ने मध्यम वर्गीय जीवन का सटीक चित्रण किया है। मध्यमवर्गीय व्यक्ति की जीवन गाथा आरम्भ से अंत तक एक संघर्ष गाथा होती है। मारिया अपने पिता की मौत को भूल नहीं पाती है। घर की जिम्मेदारी ने उसे बहुत समझदार बना दिया है। इतने दिन बीत गए पर उसे अपने पापा की याद बहुत आती है। बचपन से लेकर अब तक की सभी बातें उसे सालती हैं- 'जब वह किसी बच्चे को अपने पिता की अँगुली पकड़े सड़क पर चलते देखती तो उसे अपना बचपन याद आ जाता। मार्टिन भी तो उसे इसी तरह, मीठी-मीठी बातें करता हुआ प्रीतनगर के बाजार तक ले जाता। उसके लिए टॉफीज का पूरा पैकेट खरीद लेता और दो-दो आइसक्रीम खिलाता। दूसरे दिन मारिया स्कूल में टॉफीज ले जाती और अपनी सहेलियों में बाँट कर खुश होती। वह सोचती, वे दिन कहाँ चले गए। तुम इतनी जल्दी क्यों चले गए पप्पा। तुम मेरा कितना ध्यान रखते थे और जब तुम्हारा ध्यान रखने की मेरी बारी आई तो तुम मुझसे बिना मिले ही चले गए। बड़े निष्ठुर हो तुम। फिर उसकी सोच दूसरी तरफ को मुड़ जाती। वह सोचती कि बाद में पप्पा की हालत चाहे कितनी भी बुरी क्यों न हो गयी हो, वे मेरा आगे पढ़ना नहीं रुकवाते। मैं यहाँ, इस स्टोर में डेढ़ हजार की नौकरी में नहीं खट रही होती।'[7] देवेश ठाकुर के नारी पात्र अपने कर्तव्यों के प्रति सजग हैं। मारिया अपने परिवार के लिये सहारा बन गयी थी। इस बीच वह भूल गयी कि उसकी अपनी भी जिंदगी है। एक दिन वह डिकल स्टोर में भास्कर को देखती है। भास्कर से मिलकर सब बताती है कि क्यों उसे पढ़ाई छोड़कर यह नौकरी करनी पड़ी थी। भास्कर उसे समझाते हुए कहता है- 'नहीं मारिया। ऐसे नहीं होता। इंसान ही है जो अपनी 'डैसटिनी' खुद बनाता है। बस, उसमें एक जिद होनी चाहिए। अपने पर विश्वास होना चाहिए। एक लक्ष्य और एक तरह का जुनून होना चाहिए। हर दुर्घटना को 'डैसटिनी' मान कर नहीं चला जा सकता। और जिसे तुम डैसटिनी कहती हो, वह एक हादसा भर होता है। और जिंदगी उस हादसे पर खत्म नहीं हो जाती। यों अपने को

भाग्य के हवाले कर देना कोई बुद्धिमानी नहीं है। इंसान को अपने मन का कहा मानना चाहिए। इसके अलावा और सारी बातें फिजूल हैं।'[8]

वह उसे बहुत समझाता है कि तुम बहुत होशियार हो। तुम अपना भाग्य बदल सकती हो। भाग्य के भरोसे तो कमजोर लोग रहते हैं। मुझे बहुत खुशी है कि तुमने छोटी नौकरी से शुरूआत की है। पर मारिया की नियति को कुछ और मंजूर था। 'इंसान के लिए सबसे बड़ी समस्या 'भूख' की होती है। भूख के हावी हो जाने पर वह कुछ नहीं कर पाता।' मारिया भी कुछ नहीं कर पा रही थी। इस मजूबर हालत में कई बार उसके दिमाग में यह बात भी आई कि वह इस मकान को बेच दे और कहीं झुग्गी-झोपड़ी लेकर रहने लगे ...लेकिन दूसरे ही क्षण उसकी आँखों के सामने मार्टिन आ खड़ा होता- बहुत दुखी और उदास-हताश सा...। वह जैसे कहता- ट्रीजा, यही तो मेरी एक निशानी है तुम्हारे पास...। इसे बेच कर कितने दिन चला पाओगी। फिर मारिया भी तो है... मैंने उसके लिए क्या-क्या सोच रखा था। उसे लेकर किसी झोपड़ी में रहोगी मारिया, तो कैसा लगेगा। सच ... सच कहता हूँ ट्रीजा, मैंने तुम से भी ज्यादा अपनी मारिया को प्यार किया है। मैं उसे एक शानदार जिंदगी देना चाहता था, उसे नरक में ले जाने की बात मत सोचो ...। प्लीज ट्रीजा...।'[9] आर्थिक रूप से कमजोर व्यक्ति अपने सपनों को पूर्ण नहीं कर पाता। जिम्मेदारी के बोझ तले वह अपना व्यक्तित्व नष्ट कर देता है। परिवार की जिम्मेदारी ने मारिया के सपनों को भी खत्म कर दिया था। भास्कर उसे अच्छा लगने लगा था। और फिर भास्कर...। उसकी कल्पना में एक युवक का चेहरा उभरते लगता है - भोला-सा मुस्कुराता हुआ चेहरा। अनुपातिक देहयष्ठि। घुँघराली केश-राशि ... कुछ कहते हुए उसके अधर...। क्या यह जुड़ाव सच हो पायेगा। उसका मन कितना संवेदनशील है, उसकी आँखों में -कितनी तरलता है.... वह, वह कितना अच्छा है। अनायास ही मारिया का पूरा शरीर रोमांचित हो उठता है। वह अपने पैर सिकोड़ कर ट्रीजा की छाती पर हाथ रख देती है। उसे लगता है कि जैसे भास्कर को उसने अपने में समेट लिया है। उसकी बंद आँखों में एक सपना तैरने लगता है -वह कुनमुनाती है और ट्रीजा के शरीर से सट जाती है और सुबह होने तक सटी रहती है।[10]

देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में नारी के अनेक रूपों का चित्रण किया है। कहीं उसके ममतामयी सहनशील रूप को उभारा है तो कहीं आधुनिक विचारधारा से युक्त पारिवारिक जिम्मेदारियों से विमुख नारी को चित्रित किया है। जीवन और समाज की बदलती हुई परिस्थितियों के साथ-साथ जीवन मूल्यों में परिवर्तन हुआ है। आधुनिक शिक्षा के प्रसार और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से नारी की मानसिकता बदली है। वह स्वाधीन होने की दिशा में प्रेरित हुई है। इसी स्वातंत्र्य की भावना ने नारी को आधुनिक बनाया है। आज मारिया की माँ ने जो कहा, उसे सुनकर उसके तो पैरों के नीचे से जमीन ही खिसक गई। उसे कुछ भी नहीं सूझा। मारिया बड़ी उत्सुकता के साथ पूछती है मम्मा, ऐसा नहीं। तुझे मेरी कसम। बता। एक क्षण के लिए ट्रीजा के पूरे बदन में कँपकँपी हो आती है। फिर वह धीरे-धीरे कहने लगती है -मार्टिन से शादी के बाद 4 से 5 साल तक हमारी कोई संतान नहीं हुई। तब तेरे पप्पा ने गॉड से तुझे माँगा था और वादा किया था कि जब तू पंद्रह साल की हो जाएगी तो वे तुझे गॉड की सेवा के लिए दे देंगे।' फिर

जैसे-जैसे तू बड़ी होती गयी, तेरा पप्पा तुझसे और भी जुड़ता चला गया। उसका सारा लाड़-प्यार बस तुझ पर सिमिट गया। बहुत प्यार करता था तुझे वो। काम पर जाता तो तेरा माथा चूम कर जाता। वहाँ से लौटता तो तुझे पुकारते-पुकारते कमरे में आता। तुझ से वो इतना जुड़ गया था कि गॉड से किया अपना वादा भी भूल गया। कहता था, इतनी प्यारी बेटी को अपने से अलग कैसे करूँ। वह चली जाएगी तो मैं कैसे जी पाऊँगा। उधर में भी नहीं चाहती थी कि तू हमसे दूर रहे। शायद गॉड हमें इसी की सजा दे रहा है ...। कह कर ट्रीजा सुबकने लगती है।'[11]

यह सब सुनकर मारिया को लगता है कि उसने सब कुछ खो दिया है। उसे लगता है कि वह मारिया नहीं है। उसका उसके ऊपर ही अधिकार नहीं है। वह एक दोपहर मारिया की जिंदगी बदल देती है। उसे लगता है कि आसमान से झरती हुई ओस उसे भिगो रही है और वह ठंडी होती जा रही है- मौत की तरह ठंडी और निर्जीव।

मारिया सदैव द्वंद्वग्रस्त रहती है। वह जानती है कि वह जिंदगी के दोराहे पर खड़ी है। एक रास्ता संसार की ओर जाता है तो दूसरा रास्ता अपने को गॉड के चरणों में समर्पित करने की ओर जाता है, जहाँ एक शांति है, निष्क्रिय सक्रियता है और जिंदगी के छल प्रपंचों से दूर एक निश्चित शून्यता से भरा लक्ष्य है। जहाँ करुणामय गॉड है, पापा की शान्त आत्मा है और अपनी जैसी समस्याओं से ग्रस्त जीव है। इस संसार में हम अपनी इच्छानुसार कुछ नहीं कर सकते। उसकी माँ कहती है कि बेटा मेरे स्वार्थ की सजा तुझे भोगनी पड़ रही है। उसकी आँखों के सामने बार-बार उसके पिता का धुँधला-सा चेहरा आ जाता है। वह समझ नहीं पाती कि वह क्या करे। वह खुद से डरने लगी है। आज माता-पिता के कारण वह यह सब झेल रही है। मारिया सुख के दिन भूल-सी गयी है। जीने के रास्ते विकट लगने लगे हैं। 'मारिया इसी दोराहे पर खड़ी है। वह कुछ भी निश्चित नहीं कर पाती। यह अनिश्चय उसे पीड़ित करता रहता है। वह क्या करे, वह अपने को बड़ा अशक्त महसूस करती है। पिछली रात के सपने ने उसे और भी द्वन्द्व में डाल दिया है। बरामदे में बैठी वह देर तक इसी प्रकार के सोच में खोई रहती है। फिर वह अन्यमनस्क भाव से उठती है। देखती है, सामने गली के दो कुत्ते आपस में खिलंदड़ी कर रहे हैं। कुछ लड़कियाँ हँसती- बतियाती हुई उसके बरामदे के सामने से गुजर रही हैं। उसे अपने कॉलेज के दिन याद आ जाते हैं और याद आ जाती है सुभद्रा- उसकी जिगरी दोस्त। कुछ दिन पहले वह उसे प्रीतनगर के बाजार में मिली थी। शिकायत कर रही थी कि वह सालों से उसके घर नहीं आई। और, और भी बहुत कुछ ...[12]

हम जानते हैं कि स्त्री के जीवन में बदलाव आया है। आधुनिक शिक्षा और पाश्चात्य प्रभाव से नारी जाग्रत अवश्य हुई है। फिर भी कहीं न कहीं उसका अपने लिए संघर्ष जारी है। आज भी कुछ समस्याएँ उसके पैरों में बेड़ियाँ बनकर जकड़ गई हैं, जिन्हें चाहकर भी वह काट नहीं सकती। मारिया भी उसी बेड़ी में जकड़ गयी है। क्या सोचा था और आज वह क्या करने जा रही है। उसने सुखद जीवन की कल्पना की थी पर अपने माता-पिता के कारण आज स्वयं को गॉड को समर्पित कर रही है। हम कौन होते हैं किसी के जीवन का निर्णय लेने वाले। उसने कितने स्वप्न संजोय थे। वह सब धराशायी हो गए। उसकी मित्र सुभद्रा उसे समझाने की कोशिश करती है कि इस दुनिया में पत्थर

होने से काम नहीं चलता मारिया। अपने लिए, अपने मन की शांति के लिए रास्ते खुले रखने चाहिए। तभी बात बनती है। इंसान जब अंतर्द्वन्द्वों में जीता है तो वह जीता नहीं, तिल-तिल गलता और मरता है। और सारी कमजोरियाँ धीरे-धीरे उसके भीतर घुस आती हैं।...मन पक्का कर लो तो सब संभव है। असंभव तो कमजोरों के कोश का शब्द है। तू तो इतनी पढ़ी-लिखी है। सबके लिए एक आदर्श रही है। बस, अपने लक्ष्य को निश्चित कर। जीवन की सौगात अमूल्य होती है। मारिया यह सौगात हमें एक ही बार मिलती है। उसे बहुत सहेज कर, सोच विचार कर, दुलरा कर हिफाजत से रखना पड़ता है। हम अनिश्चय को अपना आदर्श नहीं बना सकते...जीवन को सड़ाँध फैलाती कमजोरियों के हवाले नहीं किया जा सकता। मारिया की मनस्थिति का यहाँ बड़ी ही बारीकी से चित्रण किया गया है। उसकी इस स्थिति पर कभी कभी दया आती है। देवेश ठाकुर ने उसका जो सँघर्ष दशार्या है, वह यथार्थ प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि मारिया हमारे समाज की कोई पात्र है।

मारिया सब कुछ त्यागकर नन बन जाती है। उसे बार बार अपना बचपन याद आता है पर अपने पिता की खुशी की खातिर वह स्वयं को ईश्वर की भक्ति में लगा देने का मन बना लेती है। समय बीतने लगता है। मारिया बड़ी ही निष्ठा से नन बनने की तैयारी करने लगती है। रह-रहकर भास्कर उसके सामने उपस्थित हो जाता है। पर धीरे-धीरे वह सब खत्म हो जाता है। एक दिन यह भी घोषणा हो जाती है कि मारिया नन बन गयी। धीरे-धीरे समय व्यतीत होने लगता है पर न जाने क्यों मारिया सदा उदास-सी रहती है। उसका अतीत उसका पीछा नहीं छोड़ता। वह सोचती है कि पप्पा को क्या मिला? और मुझे यह डोमेंट्री...। जबर्दस्ती लादा गया है। मैंने कभी इसकी इच्छा नहीं की थी। क्या सच में इस तरह से शांति मिलती है। पापा को शांति मिल गयी होगी। उसके स्वप्न में आकर भास्कर बार-बार उसे सचेत करता है कि क्या तुम इसके लिये बनी थी। पुरुष को स्त्री का सरल होना बहुत भाता है। वह कहता है-'तुम बहुत ही भोली हो मारिया। तुम्हारा यह भोलापन ही तो मुझे भाया है। तुम्हारे इस चर्च में कितनी नन्स हैं जो तुम्हारी तरह पढ़ी-लिखी और होशियार हैं। और क्या यहाँ आकर वे दूसरों के लिए सहायक और संवेदनशील हो गयी हैं। क्या उनके स्वभाव में द्वेष, स्वार्थ और एक दूसरे के प्रति संशय का भाव नहीं रह गया है...। और जहाँ तक सेवा करने का सवाल है, क्या वह चर्च में नन बन कर ही पूरा हो सकता है? क्या चर्च से बाहर के लोग एक दूसरे की सहायता नहीं करते, नहीं कर सकते। क्या बाहर वालों की सेवा से मन को शांति नहीं मिलती...।[13]

इस उपन्यास में मानवीय रिश्तों का बहुआयामी विश्लेषण किया गया है। वह रिश्ता चाहे जैसा भी हो। भाई-बहन का हो, मां-बेटी का हो, पिता-पुत्री का हो या प्रेमी-प्रेमिका का ही क्यों न हो। आजकल के रिश्तों में व्यवसायिकता आ गयी है। आजकल प्रत्येक रिश्ते में बनावटीपन दिखाई देता है। शायद रिश्तों में आ रही शिथिलता को ध्यान में रखकर ही मारिया उपन्यास का सृजन किया है। उसने खुद को अब उसी परिवेश के अनुरूप ढाल लिया था। पर इन सब बातों को सोचने से क्या होगा। वह किसी शायर को गुनगुनाने लगती है।

यहाँ किसी को मुक्कमल जहाँ नहीं मिलता।

किसी को जमीं नहीं मिलती,
किसी को आसमा नहीं मिलता।

जाने क्यों इन पंक्तियों से उसे बड़ा सुकून मिलता है। वह इसी तरह से समझौता करते हुए अपनी जिंदगी जीने लगती है कि एक दिन वह सिंधु से मिलती है। उसके सामने वह स्वयं को बहुत छोटा महसूस करती है। सिंधु कहती है कि सिस्टर, इंसान को अपने मन को सुनना सीखना चाहिए। किसी के अधिकार और आदेश तले जिंदगी जीने का कोई मतलब नहीं हैं। मारिया के पूरे शरीर में कंपन के साथ-साथ रोमांच हो आता है। वह सोचती है कि इस लड़की की तुलना में वह कितनी कमजोर है। वह तो अपने मन को मार कर गिरजाघर की इन दीवारों में कैद होकर रह गयी है, कि उसकी जिंदगी तो समझौता करते-करते ही बीती है। अपने अच्छे दिनों में अपने लिए क्या-क्या नहीं सोचती थी। वह एक कलाकार की जिंदगी जीना चाहती थी। ऐसी जिंदगी जहाँ संगीत था, अभिनय की ललक थी। और जहाँ एक खुशहाल वातावरण था ...लेकिन। इस 'लेकिन' पर वह अटक जाती है। आज वह सोचती है कि वह कितनी कमजोर है। आज जो है उसमें उसका अपना क्या रहा। सुंदर थी, हँसमुख थी। सदा दूसरों के आदेशों पर नाचती रही। उसने अपने मन की बात भास्कर से भी न कही। अगर बता देती तो भास्कर अवश्य कोई न कोई समाधान तो निकलता। फादर से अपने मन की बात कहकर वह खुद को हल्का महसूस कर रही थी। उसे ऐसा लग रहा था कि जैसे किसी हमदर्द को अपने मन का दर्द कह दिया हो। आज यहाँ जो भी आएं हैं सब अपने मन से आएं हैं। एक वही है जो बिना मर्जी के यहाँ आयी है। काश वह भी अपनी भावनाओं को अपने मन के अनुसार ढाल पाती। आज मारिया अपने किसी निर्णय पर पहुँचना चाहती है। आज भास्कर उससे मिलने आता है। वह अपने घर में कुछ कार्यक्रम रख रहा है। समय के साथ सब बदल जाता है। इतने दिनों के बाद भास्कर को देखकर वह परेशान हो उठती है। आज सब बदल चुका है। उसके जीवन में इतने उतार-चढ़ाव आ गए हैं कि पीछे की जिंदगी अब एक स्वप्न-सी लगती है। जो खत्म हो गया है फिर से वही अध्याय क्यों। लेकिन अब तो हालात बिल्कुल बदल चुके हैं। भास्कर का अपना घर-संसार है। सुंदर पत्नी है। भोली, सहज और आकर्षक बेटी है। वह हर तरह से संपन्न और सुखी है। और फिर स्वयं उसकी अपनी जिंदगी भी कितनी बदल गयी है। कभी वक्त था, जब वह खुले पक्षी की तरह चहचहाती रहती थी। उसकी सहेलियाँ उससे बहुत प्यार करती थीं। अपनी सहेलियों की टोली को वह हमेशा लीड करती थी। चाहे पढ़ाई का सवाल हो या खेलकूद का या संगीत-कला का। तब सभी उसका लोहा मानती थीं। लेकिन अब वह क्या रह गयी है- चर्च की चाहरदीवारी में बंद उसके प्राण, उसके सपने, उसकी आशा-आंकाक्षाएँ...। कहीं कोई समानता, कोई सहजता नहीं रह गयी है। तो फिर, फिर से यह नया अध्याय क्यों?[14]'

देवेश ठाकुर के नारी पात्र स्वभावतः संस्कारों से मंडित हैं। कहीं वे आदर्शों से युक्त नारी का वर्णन करते हैं तो कहीं अपने लिये आवाज उठाने वाली महिला का। मानवीय मूल्यों, नैतिक आदर्शों, अपने परिवार के प्रति उत्तरदायित्व निभाने का उन्होंने पूरा प्रयास किया है। कभी-कभी तो यह इतना अधिक हो जाता है कि दायित्व निभाने वाले का

अस्तित्व ही खत्म हो जाता है। देवेश ठाकुर मारिया उपन्यास में अंत में सकारात्मक सोच को ही सर्वोपरि रखते हैं। भास्कर की बातें पढ़कर मारिया के मन में बाद में भी कुछ अच्छी बातें आती हैं। उसके जीवन में सकारात्मक सोच पल्लवित होने लगता है। मारिया के माध्यम से उपन्यासकार ने एक आशावादी एवं संघर्षशील युवती का चरित्र पाठकों के सम्मुख रखा है। मारिया जो अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त थी, उसके चरित्र से पाठकों को भी प्रेरणा मिलती है। कभी-कभी पाठक को उसके साथ सहानुभूति-सी हो जाती है। अनेक कष्टों का मुकाबला वह बड़ी ही सहजता से कर लेती है। मारिया के माध्यम से देवेश ठाकुर ने सच्चाई के साथ अपना कर्तव्य निभाने वाली युवती के रूप में बहुत सुंदरता से चित्रण किया है। देवेश ठाकुर ने मारिया के रूप में एक सघर्षशील, अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त, माता-पिता की भक्त, आस्तिक, आज्ञाकारी, चरित्रवान एवं कर्मठ, जुझारू व्यक्तित्व को हमारे सम्मुख साकार किया है। मारिया के माध्यम से देवेश ठाकुर ने एक नारी-हृदय की पीड़ा, विवंचना, उसकी व्यथा को अत्यंत आत्मीयता, मार्मिकता एवं बारीकी से चित्रण किया है। मारिया नई उम्मीद के साथ जीवन जीने की प्रेरणा देती है।

'देवेश ठाकुर ने इस उपन्यास के माध्यम से एक आदर्श नारी-चरित्र को चित्रित किया है। आज का युग नारी-युग है, वे भलीभाँति जानते हैं। इसलिये उन्होंने नारी को अपने अधिकारों एवं उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक दिखाया है। उनके उपन्यासों में नारी अपने अधिकारों के लिये जागृत भी दिखाई है। देवेश ठाकुर की नारी पात्र अबला नहीं सबला बनकर हमारे सामने आती है। उनकी नारी पात्र स्वावलंबी आत्मविश्वास से ओतप्रोत और कर्मठता से जीने वाली हैं। मारिया और भास्कर दोनों का सच्चा रिश्ता है। देवेश ठाकुर के उपन्यासों में सच्चे आत्मिक प्रेम की झलक देखने को मिलती है। नारी को समाज का अर्धांग माना गया है। इसका विकास होगा तो समाज का विकास हो ही जायेगा। इनके उपन्यासों में नारी उपभोग की वस्तु नहीं है बल्कि वह उपभोग लेने में विश्वास रखती है। वह परित्याग भी करती है। वर्तमान समय में अपने जीवन का निर्णय वह स्वयं लेती हैं।अंततः यही कहेंगे कि देवेश ठाकुर के उपान्यासों में नारी शिक्षित व चेतना से युक्त है और समर्पण करने के साथ-साथ वह स्वयं का सम्मान भी चाहती है।

सन्दर्भ :

1. सम्पादक डॉ ब्रह्मदेव मिश्र, पांडुलिपि, पृष्ठ- सम्पादकीय
2. डॉ. भानुदेव शुक्ल- देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में, पृष्ठ-28
3. डॉ. अरुणा दुबलिश, एक पारी और, पृष्ठ-29
4. डॉ. भानुदेव शुक्ल- देवेश ठाकुर प्रश्नों के घेरे में, पृष्ठ 83
5. देवेश ठाकुर रचनावली, खण्ड- 5, पृष्ठ-409
6. देवेश ठाकुर, साहित्य की सामाजिक भूमिका, पृष्ठ-9
7. देवेश ठाकुर रचनावली, खण्ड-5, पृष्ठ-420
8. वही, पृष्ठ 421, 9. वही, पृष्ठ 425, 10. वही, पृष्ठ 426,11. वही, पृष्ठ 430, 12. वही, पृष्ठ-436, 13. वही, पृष्ठ-458,14. वही, पृष्ठ-515

- सहायक प्राध्यापक,
हिंदी विभाग, एल.एस.एम. राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, पिथौरागढ़ उत्तराखंड

'मारिया' उपन्यास की मूल संवेदना

- शरेशचन्द्र चुलकीमठ

गत सात दशकों से साहित्य-सृजन के लिए समर्पित व्यक्तित्व के रूप में देवेश ठाकुर की हिंदी साहित्य के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान है। उनके साहित्य का धरातल किन्हीं साहित्य के सिद्धांतों से नहीं, अपितु सामाजिक सरोकारों से संबद्ध जीवन-मूल्यों से निर्मित है। उनकी रचनाओं के केंद्र में व्यक्ति और समाज है और है वह व्यवस्था जो इन दोनों को प्रभावित ही नहीं करती, इनको नियंत्रित भी करती है। देवेश ठाकुर का सृजन कल्पना-लोक में विचरण करने वाली रूमानी प्रवृत्ति से प्रेरित नहीं बल्कि यथार्थ की भूमि पर खड़े सामान्य व्यक्ति की व्यथा-कथा और उसके संघर्ष से उत्प्रेरित है। आज हम देखते हैं कि अपने आकाओं के गौरवगीत गाने वाले तथाकथित रचनाकार बहुत मिलते हैं, लेकिन उनके मुखौटों को उतारकर दहकते नंगे यथार्थ को दशार्ने वाले रचनाकारों की संख्या काफी कम है। देवेश ठाकुर इसी 'अल्पसंख्यक वर्ग' से जुड़े लेखक हैं।

देवेश ठाकुर मूलतः एक कथाशिल्पी है। उनके समग्र साहित्य को देखा जाय तो उसमें उपन्यासों की संख्या ही अधिक है। प्रथम उपन्यास 'भ्रमभंग' से लेकर आज तक उन्होंने दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। बहुधा यह कहा जाता है कि लेखक अपनी हर रचना में अपने को दुहराता है। किंतु देवेश ठाकुर के संदर्भ में यह बात गलत साबित होती है। उनका हर उपन्यास अलग-अलग कथ्य और संवेदना से युक्त है, साथ ही हर उपन्यास का रचना-शिल्प भी अलग है। हाँ, उनमें अंकित जीवन यथार्थ उनको एक ही पंक्ति में रख देता है। इस दृष्टि से २०१९ में रचित 'मारिया' भी एक अलग प्रकार की विशिष्ट संवेदना एवं चिंतन से युक्त उपन्यास है।

'मारिया' इस शीर्षक से ही स्पष्ट है कि उपन्यास का केंद्रीय चरित्र 'मारिया' नामक महिला है। अन्य सभी पात्र इसके इर्द-गिर्द ही चक्कर काटते हैं। सारे कथा-संदर्भ उसकी मानसिकता को ही उघाड़ने के स्रोत बनते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि उपन्यास की मूल संवेदना मारिया के एहसास, उसकी सोच और आचरण द्वारा अभिव्यक्त होती है। मारिया एक गरीब परिवार की लड़की है, जो कॉलेज में पढ़ती है। वह पढ़ाई, खेल-कूद और कला-प्रदर्शन आदि हर क्षेत्र में निष्णात है। उसमें क्रियाशीलता है और साथ ही सृजनशीलता भी। इस सबके बावजूद कॉलेज की पढ़ाई के बाद उसका भविष्य अंधकारमय बन जाता है। इसके लिए कारणीभूत है उसकी आर्थिक परिस्थितियाँ और पारिवारिक-सामाजिक परिवेश जो उसके जीवन को संघर्षमय बना देते हैं।

उपन्यास के आरंभिक चरण में मारिया की माँ ट्रीजा के गत जीवन के ऐसे प्रसंग प्रस्तुत किए गए हैं जो उसकी दर्दनाक दास्ताँ प्रस्तुत करते हैं। आरंभ में माँ बेटी के जीवन का चित्रण समांतर रूप से हुआ है। बाद में उपन्यास मारिया पर ही केंद्रित हो गया है। ट्रीजा स्वयं अपने बीते जीवन को मारिया के सामने खोल के रख देती है। वह अपने पहले पति पैट्रिक के बारे में बताती है कि किस तरह बेटे डेविड के हाथों ही उसकी हत्या हुई है। बेटे के जेल जाने के बाद उसके उपद्रवों से वह मुक्ति तो पा लेती है, लेकिन पति का सहारा छूटने के कारण वह अकेली पड़ जाती है। बाद में उसके जीवन में नया मोड़

तब आता है, जब मार्टिन से अचानक उसकी भेंट होती है। पहले वे दोनों एक-दूसरे के प्रति आकर्षित होते हैं और फिर वह आकर्षण विवाह में बदल जाता है। मारिया के जन्म तक की सारी कहानी वह बयान करती है। असल में वह कहानी अधूरी रहती है क्योंकि वह उसे एक राज की बात नहीं बताती। वह राज जो बाद में मारिया की जिंदगी की दिशा को ही बदल देने वाली रही।

मारिया का पिता मार्टिन दुर्घटना का शिकार होकर अपाहिज हो जाता है। परिवार का निर्वहण मुश्किल हो जाता है। घर चलाने के लिए माँ और बेटी - दोनों को काम पर जाना पड़ता है। मारिया किसी स्टोर में सेल्सगर्ल बन जाती है तो माँ किसी बड़े घर में कामवाली। मारिया को यह महसूस होता है कि 'उसके लिए वर्तमान का एक-एक क्षण चुनौती बन गया है...टुकड़ा-टुकड़ा जिंदगी को जीने के लिए वह अभिशप्त हो जाती है'।

मारिया को अपनी इस समस्या का कोई समाधान दिख नहीं पड़ता। चिंताएँ, अंतर्द्वंद्व, भय और आशंकाएँ उसकी जिंदगी को घेर लेती हैं। ऐसे में उसकी माँ उसके सामने एक रहस्य की बात खोल देती है जिसे वह बहुत दिनों से उसे बताने के लिए हिचकिचा रही थी। वह मारिया से कहती है कि '...मार्टिन से शादी के बाद चार-पाँच साल तक हमारी कोई संतान नहीं हुई। तब तेरे पापा ने गॉड से तुझे माँगा था और वादा भी किया था कि जब तू पंद्रह साल की हो जाएगी तो वे तुझे गॉड की सेवा के लिए दे देंगे'। यह सुनकर मारिया एकदम सुन्न रह जाती है। उसे लगने लगता है कि जैसे उसके पैर तले की जमीन खिसकती जा रही है। तभी से वह विकट द्वंद्व में घिर जाती है। उसके भीतर तूफान-सा उठने लगता है। माँ की बात उसके कानों में हमेशा गूँजती रहती है। इसके परिणाम स्वरूप उसके सपने में उसका पिता आकर बोलने लगता है कि 'मारिया, बेटे मैंने तुझे कितना प्यार किया। तेरी हर इच्छा पूरी की...मैंने क्या-क्या सोचा था। मेरी मौत ने सब गड़बड़ा दिया। तू और तेरी माँ वहाँ दुखी हैं। मैं यहाँ दुखी हूँ। मेरी आत्मा भटक रही है। बेटे और कुछ नहीं तो मेरी आत्मा की शांति के लिए ही कुछ कर...तुझे लेकर मुझे बड़ा मोह हो गया था। इसीलिए लॉर्ड को दिया वचन भी पूरा नहीं किया...शायद मुझे उसी का दंड मिल रहा है....मैं पश्चाताप की आग में जल रहा हूँ....बस कुछ ऐसा कर कि मेरी आत्मा शांत हो सके....उसका भटकना बंद हो सके....बस कुछ दिन ऐसे ही चला तो मुझे एक बार फिर मरना पड़ेगा'। वह कुछ समझ पाती। तभी उसे लगता है कि जैसे सूली पर लटका ईसा का चेहरा उसके सामने घूम रहा है और मानो ईसा के हाथ आशीर्वाद देने की मुद्रा में उठते हैं और वह स्पष्ट कह रहा है कि 'बेटे, दुविधा में मत रहना। मेरी शरण में आ जाना'।

मारिया अपने को दो राहे पर खड़ी पाती है। एक रास्ता उसे शरणागति की ओर ले जाता है तो दूसरा रास्ता उसके विपरीत उसके अपने निजी अस्तित्व की खोज के मोड़ पर ला कर खड़ा कर देने वाला है। उसकी सहेली सुभद्रा और उसका आत्मीय मित्र भास्कर - दोनों की सलाह है कि वह 'मन का कहना माने'। यह सोच ही उपन्यास की धुरी है।

मारिया आधुनिक सोच वाली युवती होने पर भी उसके कुछ संस्कार उसको परंपरा

की बेड़ियों में जकड़े रहे। अपने पिता को लेकर उसके मन में जो उत्कट प्रेम है उसकी गिरफ्त से मारिया अपने को मुक्त कर नहीं पाती। पिता के द्वारा गॉड से किया गया वादा उस पर इतना हावी हो जाता है कि बार-बार उसका पापा सपने में आकर याचना करने लगता है। सपने में वह देखती है कि '....सामने की दीवार पर पप्पा को बाँधकर लटका दिया गया है। वे बिलकुल ईसा मसीहा लग रहे हैं। उसके सीने में कीलें ठुकी हुई हैं और वहाँ से खून की बूँदें टपक रही हैं। टप-टप....।' मारिया की दृष्टि में उसका पप्पा ईसा मसीहा से भी अधिक पीड़ा झेल रहा है क्योंकि उसके सीने में भी कीलें ठोंक दी गई हैं। आखिर मारिया पिता की मन्नत उतारने के लिए नन बन ही जाती है, लेकिन उसकी सोच में, उसके आंतरिक जगत में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होता। हाँ, उसको इस बात का सुकून है कि उसने अपने पिता की कसम पूरी की। किंतु उसका अंतर्मन उससे सवाल करता रहता है कि क्या उसकी जिंदगी इसी दायरे में सिमटकर रह गई है? क्या उसका अपना कोई पृथक निजी अस्तित्व नहीं है? क्या जिंदगी की कुल कमाई यही है और इसी के साथ उसकी जिंदगी खत्म हो जाएगी? अपने को पूरी तरह इंसान और समाज की सेवा में व्यस्त रखने के बावजूद एकांतिक क्षणों में उसके भीतर एक तरह की हूक-सी उठती रहती है। एक अंजान शूल उसके मर्म को चुभता रहता है। उपन्यासकार ने विभिन्न संदर्भों के अंकन द्वारा मारिया के अंतर्द्वंद्व उसके अकेलेपन और सूनेपन को अंकित किया है।

मारिया ऐसी कई घटनाओं की साक्षी बनती है जो उसको बार-बार अपने भीतर झाँकने के लिए विवश करती हैं। उसकी एक सहकर्मी नर्स की आत्महत्या उसे हिलाकर रख देती है। विधर्मी से विवाह रचाने के लिए घर से भाग आयी सिंधु उसको एक अलग सबक दे जाती है। मारिया पहले भी यह सोचती रही कि 'अरमानों की होली जलाना और भविष्य का होम कर देना आत्महत्या जैसा नहीं है'? मारिया की जिंदगी का एक-एक पल चुनौती बनकर उभरता है और वह निरंतर अपने को संघर्ष में घिरी पाती है। वह यह महसूस करती है कि वह एक अभिशप्त युवती है जिसके सामने जिंदगी को टुकड़ों में परोसा गया है किंतु यह निराशा एवं हताशा की जो अनुभूति है वह उसके चरित्र का स्थायी भाव नहीं है। वह यह भी सोचती है कि 'लाचार और बेबस होकर जीना नहीं होता। जिंदगी जीने के लिए जमीन की मिट्टी से नाता जोड़ना होता है। मुश्किलें किसके जीवन में नहीं आतीं। इन मुश्किलों को लाँघकर आगे बढ़ जाना ही जीवन है....'। यथार्थ की स्वीकृति के साथ उसको बदलने का हौसला रखने वाली यह सोच मारिया के व्यक्तित्व के सबल पक्ष को उद्घाटित करती है।

मारिया के व्यक्तित्व के कई पहलू हैं। वह एक प्रबुद्ध, चिंतनशील शिक्षित युवती है जिसमें अपार सृजनात्मक क्षमता भरी हुई है। वह वात्सल्य से सराबोर पिता से गहरा लगाव रखनेवाली ममतामयी स्त्री भी है और वह अपने स्वर्गीय पिता की इच्छा पूर्ति के लिए कृत संकल्प है। वह अपने निजी अस्तित्व की खोज में लगी स्वतंत्रचेता आधुनिक नारी भी है। यह उसके व्यक्तित्व का प्रबल पक्ष है। उपन्यास के अंत में मारिया को उसके अंतरंग मित्र भास्कर का उद्बोधन भरा पत्र मिलता है जिसे पढ़ने के बाद आज तक उमड़ते-घुमड़ते संशय, निराशा, द्वंद्व और हताशा के बादल छंट जाते हैं। तब मारिया को

लगता है कि असीम, साफ तथा खुला आसमान उसको अपनी बाहों में भरने के लिए आकुल है और उसके स्वागत में खड़ा है। वह लंबा खत मारिया और भास्कर के बीच के निश्छल मित्रता के भाव को स्पष्ट कर देता है। उस खत से मारिया के भीतर अपने निजी व्यक्तित्व को पहचानने और उसको अपनी संपूर्णता में स्वीकार करने की चेतना जागृत हो जाती है। भास्कर ने उसमें लिखा था कि -'...मेरी तुम्हारे प्रति आसक्ति तुम्हारी प्रतीक्षा के कारण है....मेरे पास साधन है और तुम्हारे पास प्रतिभा है। इस पत्र के माध्यम से मैं तुम्हारी ओर मित्रता का हाथ बढ़ाता हूँ। निश्छल, निस्वार्थ और निष्ठावान मित्रता का। ...आदर्श बेटी बन कर तुमने बहुतों की सेवा कर ली...तुममें अनंत संभावनाएँ हैं। उन संभावनाओं से आँखें मत मींचो...सब प्रकार के सहयोग सहायता के लिए मैं तुम्हारे पीछे खड़ा हूँ...।'

उपन्यास के अंत में प्रस्तुत सुदीर्घ पत्र को देखकर लगता है कि देवेश ठाकुर में पहले से ही पत्र-लेखन के प्रति विशेष आकर्षण रहा है। उन्होंने अपने उपन्यास-लेखन की यात्रा के आरंभिक दौर में एक ऐसे उपन्यास की रचना की थी जो एक अत्यंत सुदीर्घ पत्र के दायरे में सिमटकर रह गया था। इस उपन्यास का शीर्षक है - 'प्रिय शबनम'। एक अत्यंत सुदीर्घ पत्र को उपन्यास का स्वरूप प्रदान करना या एक उपन्यास को सुदीर्घ पत्र का जामा पहनाना आसान काम नहीं है। यह देवेश ठाकुर जैसे विशिष्ट प्रतिभा संपन्न प्रयोगधर्मा रचनाकार के बस की ही बात है। यह लेखक की औपन्यासिक कला की अन्यतम उपलब्धि कही जा सकती है। जहाँ तक आलोच्य उपन्यास का संबंध है, उसका अंत एक लंबे खत के साथ करने के कारण संभव है कि शिल्प की दृष्टि से रचना के कसाव में थोड़ी-सी शिथिलता आ गयी हो किंतु यह भी सही है कि उपन्यास का मूल आशय उसी के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। लेखक के लिए शायद वह अनिवार्य बन गया था। जब इस तरह की अनिवार्यता रचना प्रक्रिया की माँग बनकर उभरती है तो वह अस्वीकार्य नहीं हो सकती। क्योंकि कोई भी कृति हो उसमें सदा कलात्मकता से बढ़कर कथ्य के संप्रेषण का महत्व अधिक रहता ही है। कभी-कभी शिल्प का कमजोर पक्ष कथ्य के प्रबल पक्ष के रूप में परिणत हो जाता है।

इस उपन्यास का एक विशिष्ट अंश है - चर्च के घड़ियाल की उपस्थिति। पूरे उपन्यास में किन्हीं निर्णयात्मक संदर्भों में रह-रहकर बज उठनेवाला चर्च का घड़ियाल अपनी विशिष्ट भूमिका निभाता है। उसकी आवाज बार-बार मारिया को चेताने का काम करती है। जब भी हालातों की मारी त्रस्त मारिया अपने को दुविधा की अवस्था में पाती है और किंकर्तव्यमूढ़ महसूस करती है तब उसके भीतर चेतना का एक अलग स्वर बज उठता है। घड़ियाल स्थिति की साक्षी मात्र नहीं पात्र का हमदर्द बन कर भी उपस्थित हुआ है। इस प्रकार एक निर्जीव वस्तु अपनी जीवंत उपस्थिति का एहसास दिलाती है।

उपन्यासकार अपनी रचना में चित्रित पात्रों के माध्यम से संवाद स्थापित करता है। वह ऐसी स्थितियों और परिस्थितियों को अंकित करने का प्रयास करता है जो पाठक के हृदय के तारों को झंकृत कर सके तथा उसके मस्तिष्क के तंतुओं में कंपन पैदा कर सके। फलतः पाठक के भीतर अनायास ही कई सवाल भी उठ खड़े होते हैं। लेखक पात्रों की सोच एवं मानसिकता की अभिव्यक्ति के द्वारा उनके समाधान की खोज करता

है। इस प्रयास में वह कभी-कभी विभिन्न पात्रों की भूमिका में वह स्वयं उतर कर आ जाता है। तब पाठक महसूस करता है कि पात्र नहीं रचनाकार ही बोल रहा है। जुबान पात्र की होती है, लेकिन बोलता लेखक ही है, दिमाग पात्र का होता है किंतु सोचनेवाला लेखक ही होता है। प्रस्तुत उपन्यास में ऐसे चंद संदर्भ पाये जाते हैं। इसके संबंध में निम्नलिखित उदाहरण दिये जा सकते हैं। विधर्मी से शादी करने के लिए कटिबद्ध सिंधु मारिया के सामने अपने प्रेमी शौकत के विचारों को रखती है कि - 'वह कहता है कि इस दुनिया के सभी बाशिंदे एक हैं। कुछ सिरफिरे खुदगर्ज लोगों ने इसे अलग-अलग धर्मों और जातियों में बाँटकर अपना उल्लू सीधा किया है। और यहाँ तक आते-आते पूरी दुनिया अलग-अलग टुकड़ों, अलग-अलग खेमों और धर्मों में बँट गयी है। अलग-अलग धर्मों और जातियों की सोच ने इंसानी दुनिया को बहुत नुकसान पहुँचाया है... ।'दुनिया और मानव समाज की व्यवस्था पर की गयी यह टिप्पणी और यह गहरी सोच एक सामान्य प्रेमी की सोच से बढ़ कर एक चिंतनशील गंभीर रचनाकार की सोच अधिक प्रतीत होती है।

मारिया स्कूल की लड़कियों के सामने आत्मविश्वास की व्याख्या इस तरह प्रस्तुत करती है- 'आत्मविश्वास का मतलब है अपने पर विश्वास करना, अपनी सोच पर, अपने व्यवहार पर विश्वास करना। ...दरअसल, अपनी शक्तियों के साथ-साथ अपनी सीमाओं को जानकर स्वीकार करना ही आत्मविश्वास है। हमें दूसरों को अपनी श्रेष्ठता का विश्वास दिलाने की जरूरत नहीं है, हमें खुद को विश्वास दिलाना होता है कि हम श्रेष्ठ हैं।...आत्मविश्वास को इतना न खींचें कि वह अतिविश्वास बन जाय...'स्कूल की बच्चियों के सामने एक टीचर के इस भारी-भरकम लेक्चर को एक प्रबुद्ध चिंतक का वजनदार वक्तव्य कहना अधिक समीचीन होगा।

भास्कर के फादर ने स्कूल के एनुअल डे के अवसर पर अपने संबोधन में यह कहा था -'ईश्वर की इस धरती को लोगों ने अलग-अलग तरह से बाँट कर ईश्वर की तौहीन की है।.... फिर भी हमें कोशिश करते रहना चाहिए कि इंसानों की अलग-अलग कौमों में अपनेपन के फूल खिलें। दीन-दुखियों की मदद के लिए इंसान अपनी जाति, धर्म और देश-प्रदेश को भूलकर उनकी समस्याओं को सुलझाने के लिए आगे आएँ। तभी इस दुनिया में शांति का प्रसार होगा ...।' यह तो एक राजनीतिक नेता के पब्लिक भाषण सरीखे नजर आता है। लगता है यहाँ भी लेखक ने अपने मन की बात कहने के लिए अवसर की सृष्टि की है।

उपन्यास के अंत में भास्कर का जो सुदीर्घ पत्र दिया गया है उसमें वह अपने और मारिया के रिश्ते की अहमियत को उजागर करते हुए कहता है कि - '... मानता हूँ कि पति-पत्नी का रिश्ता बहुत ऊँची चीज होता है। लेकिन वह सब कुछ तो नहीं होता। और कुछ भी संबंध होते हैं जो मेरे हिसाब से पति-पत्नी के रिश्ते से बहुत अलग और बहुत खास होते हैं। एक रिश्ता दोस्ती का होता है जिसकी तुलना किसी और रिश्ते से नहीं की जा सकती। दूसरे रिश्ते तो हम पर लाद दिये जाते हैं, लेकिन दोस्ती का रिश्ता हम खुद बनाते हैं। वह हमारी रुचि का रिश्ता होता है। मुझे उसकी तुलना में बाकी रिश्ते बहुत बौने और बासी लगते हैं.... आदर्शों की एक सीमा होती है। मात्र आदर्श

से जीवन नहीं चलता, जीवन जीने के लिए व्यावहारिकता भी जरूरी होती है....।' इस संदर्भ में सहज ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि भास्कर की सोच कितनी सही है? मित्रता को अत्यधिक महिमा मंडित करने के फिराक में कहिए या अतिशय उत्साह में भास्कर भावावेश से प्रेरित होकर अन्य ऊँचे संबंधों को चंद क्षणों के लिए भूलकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा है। क्या अपने एक खास संबंध के महत्व को स्थापित करने के लिए दूसरे सारे संबंधों को नीचा दिखाना जरूरी है? विभिन्न संबंधों का तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा उनका मूल्यांकन करना और किसी एक संबंध को बहुत मूल्यवान मानना, उसे महान और श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास करना कितना संगत है? कोई भी मानव संबंध बौना और बासी नहीं होता। हर मानव संबंध सुंदर होता है। वह महान और मूल्यवान भी हो सकता है। समय-संदर्भ, स्थिति-परिस्थिति, मानसिकता और परिवेश के आलोक में उसका उज्ज्वल रूप प्रकट होता है। उसके साक्षात्कार के लिए बस एक निर्भ्रांत संतुलित दृष्टि की आवश्यकता होती है। हाँ, इस सबके बावजूद यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि उपन्यासकार ने मारिया और भास्कर के निष्कलुष मित्रता के गहरे आत्मीय संबंध के अंकन द्वारा एक ऊँचा आदर्श दर्शाया है। वह किसी के लिए भी ग्राह्य एवं अनुकरणीय है।

समग्र दृष्टि से मारिया उपन्यास पर विचार करने पर यह विदित होता है कि उसकी मूल संवेदना का आधार वह चिंतन है, जिसे जीवन दर्शन की बजाय एक जीवन-दृष्टि कहना अधिक संगत होगा वह चिंतन है - 'मन की सुनो और उसी को मानो' वाली व्यावहारिक फिलासफी। उपन्यास का अंत सांकेतिक रूप में इसकी पुष्टि करता है।

इस उपन्यास में आधुनिक बोध भी है और आदर्शवादिता की आधुनिकता को आदर्शवादिता के विरोधी तत्व के रूप में स्वीकारना सीमित या खंडित दृष्टिकोण का परिणाम भी कहा जा सकता है। सुचिंतित दृष्टिकोण से निसृत आदर्श की परिकल्पना - चाहे वह आदर्श व्यक्ति का हो, आदर्श व्यवस्था या समाज की हो, वह कदापि हवाई किला नहीं हो सकती। यथार्थ के ठोस धरातल पर निर्मित तथा निर्भ्रांत चिंतन की नींव पर खड़ी इमारत किन्हीं भी विपरीत परिस्थितियों में भी हिल नहीं जाती बल्कि और भी मजबूती के साथ टिकी रहती है। प्रस्तुत उपन्यास में इसी प्रकार के आदर्श की प्रतिष्ठापना हुई है। यथार्थ की भावभूमि पर रूपायित रचना का कथ्य अवश्य ही स्तुत्य होता है और ग्रहणीय भी। अपने जीवन के अंत तक हिंदी के महान कथाकार प्रेमचंद जिन मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध रहे, आज के बदले हुए आधुनिक संदर्भ में भी अपनी समूची आधुनिक चेतना के बावजूद उन मूल्यों को अपनी रचनाओं में अंकित करने में जो लेखक सफल रहे हैं उनमें देवेश ठाकुर का एक पृथक एवं विशिष्ट स्थान है।

संदर्भ :

1. मारिया, पृष्ठ 58, 2. वही, पृष्ठ 62, 3. वही, पृष्ठ 62, 4. वही, पृष्ठ 71,
5. वही, पृष्ठ 41, 6. वही, पृष्ठ 159, 7. वही, पृष्ठ 123, 8. वही, पृष्ठ 129-130,
9. वही, पृष्ठ 142-143, 10. वही, पृष्ठ 159

उच्च शिक्षा की जमीनी हकीकत : कैंपस कथा

- डॉ. महेश दवंगे

'हमारे स्कूलों और कॉलेजों में जिस तत्परता से फीस वसूल की जाती है, शायद मालगुजारी भी उतनी सख्ती से नहीं वसूल की जाती। ऐसे कठोर नियमों का उद्देश्य इसके सिवा और क्या हो सकता था कि गरीबों के लड़के स्कूल छोड़कर भाग जाएँ।'[1]

-'कर्मभूमि' उपन्यास

प्रेमचंद जी ने बहुत पहले भारतीय शिक्षा व्यवस्था की सच्चाई को अभिव्यक्त किया था। वर्त्तमान समय में भी इस स्थिति में परिवर्तन नहीं आया है। सरकार द्वारा 'सर्व शिक्षा अभियान' के तहत गाँव-देहात के बच्चों को मुफ़्त में शिक्षा मिले, इसका प्रावधान किया गया है किंतु आज भी कई प्राथमिक स्कूल इन सुविधाओं से कोसों दूर हैं। वैसे किसी भी समाज व्यवस्था के विकास एवं संस्कार की नींव शिक्षा में ही निहित है। शिक्षा देश एवं समाज को आगे ले जाने की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण है किंतु वर्त्तमान में शिक्षा दान का नहीं, नीलामी का माध्यम हो गया है। सरकार ने धीरे-धीरे अपने दायित्व को सिकोड़ते हुए निजी शिक्षा संस्थाओं को लोगों को लूटने की खुली छूट दी है। यही वजह है आज निजी स्कूलों की बाढ़-सी आयी है। उसमें भी गाँव-देहात के बच्चे जैसे-तैसे दसवीं तक आते हैं, किंतु फीस के अभाव में आगे की शिक्षा अर्जित नहीं कर पाते। यही वजह है, आज भी कई युवा शिक्षा क्षेत्र से कोसों दूर है। व्यावसायिक शिक्षा अर्जित करना तो गरीब छात्रों के बस की बात ही नहीं है। लाखों की फीस जमा करना उनके खेतिहर पिता के लिए मुश्किल है। ऐसे में काबिलियत होते हुए भी कई छात्र उच्च शिक्षा हासिल करने में नाकामयाब हो रहे हैं। शिक्षा महज रोजगार का साधन नहीं है। वह व्यक्ति के भीतर बोलने और लड़ने का साहस भरती है, निडर बनाती है किंतु आज की शिक्षा छात्र को महज रोजगारार्थी बना रही है, जिससे देश का सबसे बड़ा नुकसान हो रहा है। हम शिक्षा से ऐसी पीढ़ी बना रहे हैं, जो दूसरों के ही नहीं, अपने हक और अधिकार के लिए भी लड़ना नहीं सिखाती। अंग्रेजी शासन काल मेंलॉर्ड मेकॉले ने अपने शासन को चलाने हेतु कूटनीति का प्रयोग कर शिक्षा द्वारा ऐसी पीढ़ी का निर्माण किया जो अंग्रेजी हुकूमत के लिए काम करने लगी। दरअसल शिक्षा ही आनेवाली पीढ़ी का निर्माण करती है। पर दुर्भाग्य से शैक्षिक संस्थाओं की स्वार्थ नीति हमारे आने वाली पीढ़ियों का भविष्य खतरे में डाल रही है। यह खुला रहस्य है जिस पर कोई बहस नहीं करना चाहता किंतु कुछ रचनाकारों ने इस महत्वपूर्ण विषय को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। मदन दीक्षित, चंद्रमोहन प्रधान, तेजिंदर, गिरीराज किशोर, सत्यप्रकाश, मोहनदास नैमिशराय, देवेश ठाकुर आदि कई रचनाकारों ने शिक्षा के महत्व को स्थापित करते हुए वर्त्तमान शिक्षा व्यवस्था की सच्चाई से पाठकों को रूबरू कराया है।

देवेश ठाकुर का सन् 2022 में प्रकाशित 'कैम्पस कथा' उपन्यास इसी शिक्षा व्यवस्था पर आधारित है। देवेश ठाकुर अपने समय की सच्चाइयों को उकेरने वाले कुशल चितेरे हैं। भारतीय शिक्षा व्यवस्था पर काफी कुछ लिखा गया है, लिखा भी जा रहा है, किंतु यह उपन्यास सीधे-सीधे वर्तमान भारतीय शिक्षा व्यवस्था का मर्मांतक चित्र

हमारे सामने प्रस्तुत करता है। इसमें प्रातिनिधिक रूप में रामेश्वर कॉलेज ऑफ आर्ट्स एण्ड साइंस का उल्लेख हुआ है जिसके प्रधानाचार्य डॉ. राधाकृष्णन हैं। किसी भी महाविद्यालय के विकास में प्रधानाचार्य की भूमिका सबसे अहम् होती है। उनकी दूरदृष्टि और नेतृत्व पर ही छात्रों का हित अवलंबित होता है पर दुर्भाग्य से शैक्षिक संस्थान अपने मूल दायित्व को भूलकर ऊँच-नीच की राजनीति में फँस गए हैं। हर कोई सीढ़ी की तरह महाविद्यालय का इस्तेमाल कर रहा है। नैतिक एवं मानवीय मूल्य को कुचलकर हर कोई ऊँचे ओहदे को हासिल करने में लग गया है। राधाकृष्णन का चरित्र भी घोर स्वार्थी और अनैतिक है। उन्होंने जब से इस पद को हासिल किया है, हर निर्णय अपने स्वार्थ में ही लिया है। महिला अध्यापकों के प्रति उनका नजरिया भी कामुक रहा है। इस अनैतिक आचरण ने उन्हें कई मुसीबतों में डाला, मगर उनकी दृष्टि में कोई परिवर्तन नहीं आया है। वे हमेशा अवसर की तलाश में ही रहते हैं। उनका काम करने का अंदाज बिलकुल अलग है। अंग्रेजों की तरह 'तोड़ो-फोड़ो और राज करो' वाली नीति को ही उन्होंने अपनाया। अध्यापकों को आपस में भिड़ाकर वे बड़ी शांति से अपने स्वार्थ को पूरा कर रहे थे- 'प्रि. राधाकृष्णन को कॉलेज ज्वाइन किए लगभग तीन महीने हो गए थे। इसी बीच उन्होंने अपने स्टाफ से अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया था। विशेष कर भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्षों से। उनमें से कुछ पर वे विशेष तवज्जो दे रहे थे। अपनी वकीली नजरों से वे ताड़ लेते थे कि वे कौन-कौन से अध्यापक हैं, जो आगे चल कर उनके काम आ सकते हैं। जानते थे कि कुछ अध्यापकों को आपस में भिड़ाकर, कुछ को दाना डालकर और कुछ के साथ कड़क होकर बड़ी आसानी से अपना स्वार्थ साधा जा सकता है। अपना स्वार्थ साधन उनकी प्रवृत्ति थी और प्राथमिकता भी।'[2]

दरअसल महाविद्यालय से ज्यादा उन्हें अपने विकास में रुचि थी। उनके इसी स्वार्थ और अनैतिक आचरण से तंग आकर उनकी पत्नी श्यामला उन्हें छोड़कर जा चुकी थी लेकिन इस घटना से भी वे आहत नहीं बल्कि खुश हुए थे क्योंकि अपनी मनचाही जिंदगी जीने के लिए उन्हें आजादी मिल गई थी।

किसी भी विश्वविद्यालय या महाविद्यालय में छात्र और अध्यापक ही महत्वपूर्ण केंद्रबिंदु होते हैं। छात्रों का बौद्धिक एवं मानसिक विकास अध्यापक के अध्ययन एवं मेहनत पर ही निर्भर करता है। भारतीय परंपरा में गुरुका स्थान सबसे ऊँचा रहा है। कबीर, जायसी, सूरदास, तुलसीदास आदि तमाम कवियों ने ईश्वर से भी अधिक महत्व गुरु को दिया है। भारत में पहले गुरुकुल प्रणाली थी। छात्र अपना घर त्यागकर गुरु के आश्रम में ही शिक्षार्जन करता था। आधुनिक समय में वही कार्य अध्यापक कर रहे हैं। आज माता-पिता से ज्यादा सम्मान अध्यापकों का किया जाता है किंतु वर्त्तमान में कुछ अध्यापक ऐसे भी हैं, जो अपने शैक्षिक दायित्व को भूलकर महज पैसे कमाने के लिए इस क्षेत्र का उपयोग कर रहे हैं। लेखक देवेश ठाकुर जी लंबे समय तक उच्च शिक्षा के साथ जुड़े रहे। यहाँ चलने वाली गतिविधियों के वे स्वयं साक्षी रहे हैं। अतः महाविद्यालयीन स्तर की यथार्थ सच्चाई को उन्होंने इस रचना में अभिव्यक्त किया है। दरअसल अध्यापक अब पढ़ाई से ज्यादा अपना प्रमोशन और ऊँचे ओहदे को हासिल करने में ही धन्यता मान रहे हैं। अनुसंधान कार्य से वे कोसों दूर हैं। इसके लिए कुछ

अध्यापक अवश्य अपवाद हैं किंतु उनकी संख्या काफी कम है और शैक्षिक संस्थानों की सफलता उन्हीं पर निर्भर है। कई विभाग तो आपसी राजनीति के शिकार हैं। यहाँ कार्यरत कई अध्यापकों का समय एक-दूसरे को नीचा दिखाने में ही चला जाता है। बच्चों को पढ़ाने में उनका बिलकुल इंटरेस्ट नहीं होता। इनके पास सालों-साल बनाएँ नोट्स होते हैं, जिन्हें महज क्लास में डिक्टेट करने का काम किया जाता है। अब धीरे-धीरे महाविद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन की रुचि कम हो रही है। कैंपस कथा की रत्न ावली मैडम अपनी सहयोगी आनंदी से कहती हैं, 'मैडम, पढ़ने-पढ़ाने कौन आता है, इस कॉलेज में। मस्ती करते हैं। स्टूडेंट्स भी और टीचर्स भी। तभी तो रिजल्ट 30-35 परसेंट से ज्यादा नहीं आता। करीब 25 साल हो गए है कॉलेज को स्टार्ट हुए। अब देखो, सामने इजी चेयर पर प्रो. देशपांडे बैठे हैं पालथी मार कर। पिछले पंद्रह मिनटों से हथेली पर तंबाकू मल रहे हैं। पीरियड की घंटी कबकी बज चुकी है। लेकिन वे बैठे हैं मजे में। थोड़ी देर में तंबाकू फाँक कर क्लास की तरफ जाएँगे। देखेंगे, बच्चे तो इंतजार करके चले गए हैं।'[3] यह वर्तमान समय की सच्चाई है। अध्यापक छात्रों को पढ़ने और पढ़ाने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर रहे हैं। उन्हें लगता है बच्चे पढ़कर आएँगे, तो खुद अध्यापक महोदय को भी पढ़कर आना होगा। गलती से तासिकाओं में गए भी तो अपने पारंपरिक ज्ञान के आधार पर बच्चों को गुमराह किया जाता है। ऐसी स्थिति में छात्र अधिक अंक पाकर तासिकाओं की अनुपस्थिति के दुःख को भूल जाता है बल्कि अधिक अंक देने वाले अध्यापक ही छात्रों के प्रिय अध्यापक बन जाते हैं। उस समय छात्र यह समझ नहीं पाते कि अध्यापक उनके भविष्य के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। वैसे, परीक्षाएँ छात्रों की काबिलियत को समझने का महत्वपूर्ण औजार है। इससे छात्रों की कमजोरी और मजबूती पता चलती है। अध्यापक का यह दायित्व है कि वह छात्रों के भीतर के कलागुणोंका विकास करे। उसके भीतर मानवीय एवं नैतिक मूल्यों का रोपण करे, पर दुर्भाग्य से अध्यापक ही अनैतिक आदर्श स्थापित करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। अब उनका ध्यान पुरस्कार प्राप्ति में ज्यादा लग रहा है। एक समय था जब पुरस्कार से सम्मानित होना उपलब्धि माना जाता था, आज तो पुरस्कार की बाढ़-सी आने लगी है। पुरस्कार भी बेचने-खरीदने की वस्तु हो गई है। देवेश जी ने इस स्थिति को बखूबी पकड़ा है। अब पुरस्कार भी आपकी काबिलियत पर नहीं आपके राजनीतिक रिश्ते पर ही निर्भर है। जैसे, प्रो. देसाई अपने सहयोगी प्रो. देशपांडे जी से कहते हैं, 'आपको हर साल अकादमी का या और किसी संस्था का एवार्ड मिल जाता है। क्या जादू और क्या रहस्य है इसमें। आज सुबह 'गुजरात समाचार' में आपके बारे में पढ़ा तो दिल बाग-बाग हो गया।'[4] दरअसल अध्यापक को अपने अध्यापन एवं अनुसंधान कार्य के लिए सम्मानित करना चाहिए ताकि यह आदर्श आने वाली पीढ़ी को पता चले पर छात्र-हितैषी अध्यापक हमेशा पुरस्कार से दूर ही रह जाता है और जो सत्ता से समझौता करता, वहीं सम्मानित होता है। एक अध्यापक को पुरस्कार के लिए नहीं छात्र हित के लिए अपना दायित्व निभाना चाहिये।

किसी भी देश का विकास वहाँ की शिक्षा पद्धति पर अवलंबित होता है। शिक्षा से ही सामाजिक समस्याओं का अंत संभव है। आनेवाला समय हमारे लिए चुनौतीभरा

है, इसमें संदेह नहीं। यही वजह है, शिक्षा व्यवस्था और सरकार पर से भी युवाओं का भरोसा धीरे-धीरे कम हो रहा है। अब भारत को सक्षम और काबिल नेतृत्व देने का दायित्व अध्यापक का ही है। स्कूली शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक छात्रों के व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से हमें योजनाएँ बनानी होगी और उसका कार्यान्वयन अध्यापक को ही करना होगा। उसे अपने क्षुद्र स्वार्थ से ऊपर उठकर देश और सामाजिक विकास में भूमिका निभानी होगी। देवेश ठाकुर ने शिक्षा जगत की जिस सच्चाई को उठाया है, वह बेहद मुश्किल कार्य है पर उनके भीतर के शिक्षक और संवेदनशील व्यक्ति ने यह पहल करने के लिए उन्हें मजबूर किया है। वे एक सफल और छात्र-प्रिय अध्यापक रहे हैं। यही वजह है, छात्र-हित की दृष्टि से वे इस क्षेत्र में परिवर्तन चाहते हैं। और इस परिवर्तन का दायित्व अस्मिता, सुजाता एवं महुआ मैडम जैसी अध्यापकों पर है, जिन्होंने इस पेशे को चैलेंज के रूप में स्वीकार किया है। इनका हर कदम छात्र-हित में ही आगे बढ़ता है। अपने सहयोगी कई अध्यापकों द्वारा इनकी झूठी शिकायत प्रिंसिपल से की जाती है, जिसके आधारपर मिस महुआ को कई बार मेमो भी दिया जाता है पर वह अपने सामाजिक दायित्व से मुकरती नहीं। इस निर्णय में उसके पिता हमेशा उसका साथ देते हैं। वे कहते हैं, 'शिक्षा अपने को जानने-पहचानने में मदद करती है और शिक्षक होना तो और भी बड़ी और अच्छी बात है। इसमें बच्चों को सिखाने के साथ-साथ खुद भी सीखने की प्रक्रिया चलती रहती है। फिर यह सबसे अधिक सम्मानित पेशा है ही। साथ ही अच्छा शिक्षक बच्चों के लिए प्रेरणा का कारक भी बनता है। अगर तुम अपने पूरे कार्यकाल में दो-चार बच्चों को सही राह दिखलाने में सफल हो जाते हो, तो तुम्हे अंततः बड़ी शांति मिलती है। मैंने यही सब सोचकर तुम्हें शिक्षक बनने के लिए प्रेरित किया था।'[5] दरअसल महुआ के पिता जी ने सोच-समझकर उसे शिक्षक बनाया था। वे चाहते थे कि महुआ आनेवाली पीढ़ी के सुनहरे भविष्य का निर्माण करे किंतु वह धीरे-धीरे महाविद्यालयीन राजनीति का शिकार होने लगती है। वह पढ़ने और पढ़ाने में तेज है, जिससे उसकी हेड मिसेस फूलमती इर्ष्या और द्वेष से जलती है। वह षड़यंत्र के तहत प्रिंसिपल के माध्यम से कई मेमो दिलवाती है, ताकि उसकी नौकरी नियमित न हो सके पर मिसेस महुआ निडर होकर अपने अध्यापकीय दायित्व का निर्वहन करती है। वह हमेशा सोचती है क्या शिक्षक होना उतना सम्मानित पेशा रह गया है, जितना बाबूजी और पुरानी पीढ़ी समझती है। क्या सच में शिक्षक उतने आदर्शवादी और चरित्रवान हैं, जो छात्रों के लिए आदर्श बन सकें। यह सच है कि वर्त्तमान समय में अध्यापक को वह सम्मान प्राप्त नहीं हैं, जो पुराने पीढ़ी के अध्यापकों को प्राप्त था। अब हमें नए सिरे से एक-जुट होकर इस धारणा को बदलने के लिए कोशिश करनी होगी। मिसेज पिल्लई, मिसेज फूलमती, मिस्टर कुट्टी जैसे कई अध्यापकों को अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर छात्र-हित में अपना योगदान देना होगा।

'कैम्पस कथा' में शैक्षिक क्षेत्र के भ्रष्टाचार को प्रमुखता से उठाया गया है। भारतीय समाज व्यवस्था में भ्रष्टाचार की जड़ें काफी गहराई तक धँसी हुई हैं। यहाँ कोई काम बिना पैसे के संभव नहीं है। यदि गलती से हो जाए तो वह किसी आश्चर्य से कम नहीं है। अतः भ्रष्टाचार सड़क से लेकर संसद तक फैल चुका शिक्षा क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं है।

बल्कि आधुनिक समय में यह पैसा कमाने का महत्वपूर्ण द्वार बन गया है। आज हर कोई निजी शिक्षा संस्थान स्थापित कर करोड़ों रुपए कमाना चाहता है। सरकार ने भी निजी संस्थानों को खुली छूट दे रखी है, जिससे भ्रष्टाचार को अधिक बढ़ावा मिल रहा है। अब शैक्षिक योग्यताओं से ज्यादा पैसे का वजन रोजगार दिलाने में भूमिका निभाता है। सरकार और प्रशासन भी इसे जानता है लेकिन सब मौन है। मिस महुआ अपने पिता को बताते हुए कहती है, 'देश के इस हिस्से में और आगे निचले हिस्सों में टीचर्स की खरीद-फरोख्त होती है। खासतौर पर कस्बई कॉलेजों में। मेरी एक अच्छी दोस्त बनी है, कॉलेज में। सुजाता। वह बतला रही थी कि इधर नियुक्तियों के लिए पांच-छह लाख तक लिए जाते हैं।'[6] यह शिक्षा व्यवस्था की सच्चाई है। अब पांच-छः नहीं, चालीस-पैतालीस लाख तक की बात की जा रही है। सामान्य परिवार के मेधावी छात्रों के लिए अध्यापक बनना सपना ही बन गया है। उन्होंने पूरी जिंदगी में इतनी राशि एक साथ देखी भी नहीं है, देना तो दूर की बात है। अब सवाल यह आता है, जो अध्यापक पैसे देकर नौकरी में आएगा, वह पढ़ायेगा ही नहीं। वह तो पहले दिन से ही पैसे वसूलने के रास्ते खोजने में लग जायेगा। अब आवश्यकता है कि जो छात्र काबिल है, उसे ही अवसर मिलना चाहिये। अन्यथा शिक्षा क्षेत्र को दलदल होने से कोई नहीं बचा सकता। देवेश ठाकुर जी ने इस महत्वपूर्ण मुद्दे को उठाकर हमें आत्ममंथन के लिए मजबूर किया है। साथ ही उन्होंने सीएचबी अध्यापकों के शोषण को भी अभिव्यक्त किया है। सरकार ने नियमित अध्यापकों के पद भरने के बजाए सीएचबी पर अध्यापकों को नियुक्त करने की नीति स्वीकार की है। इस निर्णय ने उच्च शिक्षा व्यवस्था में नयी शोषित पीढ़ी का निर्माण की है। सालों-साल आठ या दस हजार पर यह अध्यापक महाविद्यालय में पढ़ाने का काम कर रहे हैं। इसमें से कईयों ने इस व्यवस्था से तंग आकर आत्महत्या भी की है। फिर भी सरकार की नीतियों में कोई बदलाव नहीं आया है। मुझे लगता है सीएचबी अध्यापकों की इस दुर्दशा के लिए जितनी सरकार जिम्मेवार है। उससे कम वे अध्यापक नहीं है, जोइन अध्यापकों का शोषण करते हैं। सीएचबी के नाम पर तासिकाओं के अलावा इन्हें अतिरिक्त कई काम करने पड़ते हैं, जिसका श्रेय इन्हें कभी नहीं मिलता। नियमित अध्यापकों की तासिकाएँ भी यही अध्यापक पूर्ण करते हैं। इन्हें अपनी इच्छानुसार छुट्टी लेने या जल्दी जाने की अनुमति नहीं दी जाती। इन्हें हमेशा हेड पर निर्भर रहना पड़ता है और हेड़ गुलाम की तरह इनके साथ व्यवहार करता है। उच्च शिक्षा व्यवस्था में सर्वाधिक काम करने वाला यह वर्ग आज सर्वाधिक उपेक्षित है। बहुत कम अध्यापक है, जो इनके साथ मानवीय व्यवहार करते हैं, पर उनकी संख्या कम है। विवेच्य उपन्यास की अस्मिता जोशी भी सीएचबी अध्यापक है। वह महुआ से कहती है, 'हमारे कॉलेज में कई प्रोफेसर कॉन्ट्रैक्ट बेसिस पर है ...बेचारेह्न्न! महीने में 8000 रुपए मिलते हैं। उनसे काम फुल टाइम का लिया जाता है। अब तुम्हीं सोचो, कहाँ रेगुलर टीचर्स के 45-45 हजार और कहाँ 8000। उसी और उतने ही काम के... वे कैसा सोचते होंगे।'[7] यह हमारे समय का भयावह चित्र है। 10-10 साल नौकरी करने के बाद भी 10 हजार से ज्यादा उन्हें तनख्वा नहीं मिलती। नियमित पोस्ट आने पर लाखों रुपयों की रिश्वतदेकर कोई दूसरा व्यक्ति उनके पद पर आ जाता है और इन्हें कॉलेज छोड़ना पड़ता है। सरकार

द्वारा इस स्थिति में सुधार करने की आवश्यकता है। अन्यथा कई युवा अध्यापकों का भविष्य हमेशा के लिए अँधेरी गुफाओं में गुमनाम हो जायेगा।

विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों को अध्ययन-अध्यापन एवं अनुसंधान करने हेतु यूजीसी एवं अन्य कई सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाओं की तरफ से अनुदान दिया जाता है। यह अनुदान महाविद्यालय द्वारा छात्रों को दी जा रही सुविधाओं के आधार पर दिया जाता है। 1994 से विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालय के लिए नैक मूल्यांकन अनिवार्य किया गया है। इससे छात्रों के लिए कई सुविधाएँ दी जा रही हैं। धीरे-धीरे स्वायत्त महाविद्यालयों की संख्या में भी इजाफा हो रहा है। निजी विश्वविद्यालयों की संख्या भी बढ़ रही है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के तहत विदेशी विश्वविद्यालयों को भारतीय जमीं पर कैम्पस खुलवाने की अनुमति दी गयी है। इसका अर्थ यह है हम धीरे-धीरे निजी शिक्षा क्षेत्र की तरफ बढ़ रहे हैं। सरकार विश्वविद्यालय एवं महाविद्यालयों को स्वयं आर्थिक सक्षमता हासिल करने के लिए सुझाव दे रही है, जिसका परिणाम है अब सरकार की तरफ से अनुदान में कटौती की जा रही है। हमारे शिक्षा संस्थानों के पास फीस के अलावा अर्थ प्राप्ति के कोई संसाधन नहीं है। अलग-अलग कोर्स के बहाने छात्रों से फीस वसूली जाती है। लायब्रेरी, जिमखाना, शॉर्ट टर्म कोर्स, विकास फंड आदि कई कारणों से महाविद्यालय छात्रों से फीस वसूल करता है, पर उन्हें सुविधा मुवैया नहीं कराता। जैसे, मिसेज पिल्लई अपनी सहयोगी मिसेज रेड्डी से कहती है, 'मैडम, हम स्टूडेंट्स से इतना पैसा लेते हैं और उन्हें कोई सहूलियत नहीं देते। जिमखाना में दो कैरम बोर्ड हैं, टेबल टेनिस की एक मेज है, एक फुटबाल है, पिछले तीन सालों से कहा जा रहा है कि फील्ड के एक कोने में बैडमिंटन कोर्ट बनवाया जायेगा। लेकिन कहा ही गया, बनवाया नहीं गया। स्टूडेंट्स आकर बार-बार पूछते हैं कि कोर्ट कब बनेगा, उन्हें जवाब देते नहीं बनता।'[8]

दरअसल फीस के नाम पर छात्रों से लाखों रुपए वसूल किये जाते हैं। फीस उनके लिए एक मात्र पैसे कमाने का हथियार है। निजी शिक्षा क्षेत्र में तो संस्थानों को सरकारी नियमों का बंधन ही नहीं होता। वह अपने तरीके से नियम बनवाते हैं और कार्यान्वयन भी। पर कोई देश निजी शिक्षा व्यवस्था पर सफलता हासिल नहीं कर सकता। विश्व में सफल अध्ययन-अध्यापन के लिए जाने वाले अधिकतम शिक्षा संस्थान सरकारी है। जैसे, 'विश्व में कोई भी देश निजी उच्च शिक्षा क्षेत्र के बलबूते सफलता-समृद्धि की सीढ़ियाँ आज तक नहीं चढ़ सका है। दुनिया के घनघोर पूँजीवादी राष्ट्र भी उच्च शिक्षा केलिए निजी विश्वविद्यालयों और महाविद्यालयों पर विश्वास नहीं करते। जिन भी देशों ने इन निजी संस्थानों का दामन थामा है उनकी नैया विकास के बीच मझधार में ही डूबी हुई है।'[9] यह वैश्विक उच्च शिक्षा व्यवस्था की सच्चाई है। निजी शिक्षा व्यवस्था हमेशा पूंजीपतियों के लिए समर्पित होती है। छात्र या देश का विकास उनका लक्ष्य नहीं होता। अतः छात्रों से अलग-अलग कारणों से फीस वसूली जाती है। पर सुविधाएँ नहीं दी जाती। वैसे भी भारत में उच्च शिक्षा संस्थान निजी हो या सरकारी किसी के पास अर्थ प्राप्ति के गैर विद्यार्थी स्रोत नहीं

दरअसल 'कैम्पस कथा' उपन्यास भारतीय उच्च शिक्षा की स्थिति को प्रामाणिकता

से अभिव्यक्त करता है। भारत में स्कूली शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा तक कुछ महत्वपूर्ण बदलाव की आवश्यकता है। हमें महज साक्षरता का प्रतिशत नहीं बढ़ाना है, बल्कि कार्यक्षम, पढ़ाकू, विवेकशील और सर्जनशील पीढ़ी का निर्माण करना है। यह सच्चाई है कि डिग्री हासिल करने वाले कई छात्रों के पास अपने विषय का सामान्य ज्ञान भी नहीं है। देवेश जी ने बेखौफ उच्च शिक्षा की सच्चाई का पदार्फाश किया है। यह आनेवाली पीढ़ी की दृष्टि से महत्वपूर्ण पहल है। 'कैम्पस कथा' में उच्च शिक्षा व्यवस्था की कई कमजोरियों एवं अभावों को अभिव्यक्त किया गया है। इसमें सुधार किये बिना कोई भी शिक्षा नीति की सफलता प्रश्नांकित ही है। यदि हमें सच में भारत को वैश्विक ज्ञान महाशक्ति बनाना है, युवाओं के भविष्य का निर्माण करना है, तो उच्च शिक्षा की जमीनी हकीकत को जानना जरूरी है, जो 'कैम्पस कथा' उपन्यास में प्रामाणिकता से दर्ज है।

संदर्भ :

1. समयांतर पत्रिका, सं. पंकज बिष्ट, 2018, पृ. 31
2. कैम्पस कथा, देवेश ठाकुर, नमन प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 27
3. वहीं, पृ. 24
4. वहीं, पृ. 47
5. वहीं, पृ. 62
6. वहीं, पृ.61
7. वहीं, पृ. 22
8. वहीं, पृ. 15
9. समयांतर पत्रिका, सं. पंकज बिष्ट, 2018, पृ.17

सहायक अध्यापक, हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फुले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे. 07

उच्च शिक्षा व्यवस्था की परतें खोलता उपन्यास- 'कैम्पस कथा'

- डॉ. आरिफ शौकत महात

मानव जीवन में शिक्षा का स्थान महत्वपूर्ण है। विशेषतः उच्च शिक्षा के लिए महाविद्यालय स्तर तक आते-आते विद्यार्थियों का शारीरिक विकासअपने चरम तक पहुँच जाता है। यही वह समय भी है, जब मनुष्य अपने भविष्य को सही दिशा की ओर बढ़ाता है। इसीलिए उसके बौद्धिक विकास में उच्च शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उच्च शिक्षा की ओर अनदेखा करना किसी भी समाज या राष्ट्र के लिए हितकारी नहीं होता। देवेश ठाकुर जी का उपन्यास 'कैम्पस कथा' वर्तमान उच्च शिक्षा-व्यवस्था की विसंगतियों पर करारा प्रहार करता है। आज की शिक्षा व्यवस्था और उसे संचालित करने वाले अध्यापक एवं महाविद्यालय-प्रशासन का यथार्थ रूप विवेच्य उपन्यास में चित्रित हुआ है। यद्यपि यह उपन्यास रामेश्वरम कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड साइंस के कैम्पस की कथा को उजागर करता है लेकिन इसका कलेवर इतना बड़ा है कि यह भारत देश के किसी भी क्षेत्र में कार्यरत कॉलेज की कथा कही जा सकती है।

इस उपन्यास की कथावस्तु रामेश्वरम कॉलेज एवं उसमें कार्यरत अध्यापकों एवं प्राचार्य के इर्द-गिर्द घूमती है। उपन्यास की शुरुआत गर्मी की छुट्टियों के बाद कॉलेज के खुलने और नए प्राचार्य की नियुक्ति के साथ होती है। इस उपन्यास में रामेश्वरम कॉलेज में घटने वाली हर घटना देश के किसी भी कॉलेज में घटने वाली घटना से विपरीत नहीं है। प्रस्तुत उपन्यास के माध्यम से उपन्यासकार ने वर्तमान शिक्षा व्यवस्था पर भाष्य करने के साथ देश में वर्तमान उच्च शिक्षा की स्थिति, अध्यापन करने वालों का स्तर और उनकी मानसिकता, शिक्षा व्यवस्था में पनपता भ्रष्टाचार आदि पर प्रकाश डाला है। अतः कह सकते हैं कि यह उपन्यास महाविद्यालयीन उच्च शिक्षा व्यवस्था की परतें खोल उसकी हर कोने से चिकित्सा करता है।

हमारे देश की संस्कृति में अध्यापन करने वाले गुरु का दर्जा ईश्वर के समान माना गया है। इस कार्य की अपनी गरिमा है। वर्तमान दौर में यह पूजनीय कार्य भी व्यवसाय बन चुका है। उपन्यास की पात्र महुआ के पिता उन्हें अध्यापक बनने के लिए इसलिए प्रोत्साहित करते हैं क्योंकि इस क्षेत्र की अपनी गरिमा है। समाज में इसका रुतबा है लेकिन इस क्षेत्र में आने के बाद महुआ को इस पावन क्षेत्र में पनपती व्यवस्था परेशान करती है। उनका यह स्पष्ट मत बन जाता है कि 'अब हर कोई टीचर बन जाता है। जिसे कहीं नौकरी नहीं मिलती वह टीचर बनने का जुगाड़ करने लगता है। आज बहुत कम ही टीचर हैं जो शिक्षा के आदर्श को लेकर इस क्षेत्र में आते हैं।' प्रस्तुत बानगी को ध्यान में रखते हुए आज की शिक्षा व्यवस्था में आयी गिरावट को, उसके बदलते स्वरूप को, भारतीय शिक्षा व्यवस्था की वास्तविकता एवं उसके भविष्य को 'कैंपस कथा' उपन्यास के माध्यम से समझने का प्रयास करते हैं।

रामेश्वरम कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड साइंस में नए प्रिंसिपल डॉ. राधा कृष्णन को इस लिए कॉलेज की कमान सौंपी जाती है कि वह अपने अनुभव के जोर पर कॉलेज का

अकादमिक स्तर बढ़ाकर कॉलेज में इस वर्ष आने वाली नैक कमेटी के माध्यम से दी जाने वाली ग्रेड में इजाफा करें। हर कॉलेज की अपनी कमजोरियाँ होती हैं। रामेश्वरम कॉलेज मुंबई का सबसे फिसड्डी कॉलेज है। यहाँ ज्यादातर गरीब तबके के लोग पढ़ते हैं। इनकी अपनी समस्याएँ हैं। किसी भी बीमार की चिकित्सा तभी संभव है जब उसकी बीमारी का पता चले। अतः बीमारी को समझने के लिए बीमार की हर कोने से जाँच करना जरूरी बन जाता है। तभी सही चिकित्सा करना संभव है। रामेश्वर कॉलेज की मूल समस्याओं को जाने बिना प्रिंसिपल डॉ. राधा कृष्णन ने सुनी सुनाई बातों पर और किसी गुट विशेष की सहायता से कॉलेज का कार्य करने की कोशिश की जिसके कारण वह मूल समस्याओं तक पहुँच नहीं पाए और अपने चरित्र की कमजोरियों के चलते वह दलदल में फँसते चले गए।

महाविद्यालय के हर कार्य एवं कार्यान्वित घटक के केंद्र में विद्यार्थी ही होता है लेकिन रामेश्वरम कॉलेज के केंद्र में विद्यार्थी नदारत हैं। यहाँ पढ़ाने के लिए अध्यापक पढ़ते नहीं हैं। जो नोट्स शुरू के साल में तैयार किया था, वहीं सालों साल चलाते हैं। असल में चिंता की बात यह है कि उन्हें इसका अफसोस नहीं हैं बल्कि इस कार्य को भी अपना हुनर मानते हैं। प्रो. फूलमती अरोड़ा और मिसेस आनंदी की बातचीत इसी ओर इशारा करती हैं-

'अरे पढ़ाने के लिए तुम पढ़ती हो क्या?'

-भई, कुछ, थोड़ा बहुत तो देखना ही होता है।'

-मैंने तो अपने पहले और दूसरे साल में ही नोट्स बना लिए थे। उन्हीं को क्लास में डिक्टेट कर देती हूँ। पाँच साल से कुछ ज्यादा ही हो गए हैं। वे ही चल रहे हैं।'

-हाँ, हिस्ट्री में चल जाता होगा। एकॉनामिक्स में नहीं चलता।

-चलाने वाला चाहिए, सब चल जाता है।'[1]

इस तरह से काम चलाने वाले अध्यापकों की भरमार देश के हर महाविद्यालय में मौजूद है। मिसेस रेड्डी इन्चार्ज प्राचार्य मिसेस पिल्लई जी से महाविद्यालय के स्पोर्ट्स सेक्शन में विद्यार्थियों को सहूलियत देने की बात करती हैं, स्पोर्ट्स के लिए बच्चों से जितनी फीस ली जाती है, उससे आधा भी खर्चा स्पोर्ट्स पर न करने की शिकायत करती हैं और यह बताने से भी नहीं चूकतीं कि हमारे बच्चे स्पोर्ट्स में अच्छे हैं, उन्हें सपोर्ट करें तो और अच्छा करेंगे। लेकिन उनकी इस बात को अनदेखा किया जाता है और स्पोर्ट्स का पूरा खर्चा किसी और कार्य में लगा दिया जाता है। उनके द्वारा जब यह बात कही जाती है कि हमारे ज्यादातर बच्चे झोपड़पट्टियों, चालों और ऐसी जगह से आते हैं, जहाँ पढ़ाई के प्रति उनमें जागृति लाना बड़ा कठिन काम है लेकिन वह लोग इंटरेस्ट ले रहे हैं तो हमें उनके लिए ऐसी जमीन तैयार करनी चाहिए ताकि उन्हें मौका मिल सके। मिसेस रेड्डी जैसे प्रामाणिक एवं विद्यार्थियों के हित को प्राथमिकता देने वालों की बातों को अनदेखा करना आज आम बनता जा रहा है। आज सभी महाविद्यालयों की यही स्थिति है। यहाँ पढ़ने और पढ़ाने कोई नहीं आता और जो पढ़ने और पढ़ाने आते हैं, उन्हें उनका काम करने नहीं दिया जाता। 'मैडम, पढ़ने-पढ़ाने कौन आता है इस कॉलेज में सब मस्ती करते हैं। स्टुडेंट्स भी और टीचर्स भी। तभी तो रिजल्ट ३०-३५ परसेंट से

ज्यादा नहीं आता। करीब २५ साल हो गए हैं कॉलेज को स्टार्ट हुए। अब देखो, सामने इजीचेयर पर प्रो. देशपांडे बैठे हैं पलथी मार कर। पिछले पंद्रह मिनटों से हथेली पर तम्बाकू मल रहे हैं। पीरियड की घंटी कब की बज चुकी है लेकिन वे बैठे हैं मजे में।... थोड़ी देर में तम्बाकू फाँक कर क्लास की तरफ जाएँगे। देखेंगे, बच्चे तो इंतजार करके चले गए हैं।'[2] यहाँ कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जो पिताजी के बीमारी का बहाना बनाकर गाँव चले जाते हैं। 25 दिन बाद आकर अटेंडेंस रजिस्टर पर साइन कर देते हैं। बाद में पता चलता है कि वह गाँव जाकर खेतों की बुवाई का काम कर रहे थे। बहुत सारे अध्यापकों के पास विषय ज्ञान न के बराबर है। न उनकी भाषा सही है। वर्तनी में दसियों गलतियाँ होती हैं। नोट्स के बहाने क्लास में किताब खोलकर बाँचते हैं। इस दौर में विद्यार्थियों से अध्यापक का संबंध कृत्रिम बनते जा रहा है।

आज जहाँ अध्यापकों का ऐसा स्तर है वहाँ के विद्यार्थियों के बारे में बात करना बेमानी हो जाता है। इन परिस्थितियों के चलते आज कॉलेज सिर्फ कागजी सर्टिफिकेट बाँटने के कार्यालय बन चुके हैं। बच्चों के पास डिग्री है लेकिन नॉलेज नहीं है। कमोबेश सभी उच्च शिक्षा का यही हाल है। वास्तविक रूप में चिंता इस बात की है कि दिन-ब-दिन यह व्यवस्था खत्म होने की बजाय बढ़ती जा रही है। कहा जाता है जिस देश में युवाओं की संख्या ज्यादा हो उस देश का भविष्य उज्ज्वल होता है। यह सच है लेकिन यह भी सच है कि अकार्यक्षम युवा देश को अँधेरे गर्त में ले जाते हैं। हमारी संस्कृति में यह दर्ज है कि एक अध्यापक या गुरु का अकार्यक्षम होना मतलब एक पीढ़ी का खराब होना। अतः वर्तमान दौर की शिक्षा व्यवस्था एवं उसे संचालित करते गुरुओं के स्तर पर प्रकाश डालें तो पता चलेगा कि हम कितनी पीढ़ियों के साथ ही देश को बर्बादी के रास्ते पर ले जा रहे हैं।

आज हर महाविद्यालय राजनीति का अखाड़ा बन गया है। राजनेताओं को भी लज्जा आए, ऐसी राजनीति शिक्षा संस्थानों में परवान चढ़ रही है। हर कोई अपने स्वार्थ साधने में किसी से कम नहीं है। प्रिंसिपल डॉ राधा कृष्णन कुछ अध्यापकों को आपस में भिड़ा कर, कुछ में फूट डाल कर, कुछ के साथ सख़्ती दिखाकर अपना स्वार्थ साध रहे हैं। वह महाविद्यालय के हर कार्य के माध्यम से अपने स्वार्थ को साधना चाहते हैं फिर चाहे उसके लिए महाविद्यालय कितनी भी खस्ता हालत में क्यों न चला जाए।

हमारे देश की सबसे बड़ी समस्या भ्रष्टाचार है। कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं है। शिक्षा के क्षेत्र में भी भ्रष्टाचार अब शिष्टाचार बन गया है। कॉलेज के कैंटीन के कॉन्ट्रेक्ट से लेकर कॉलेज में खरीद की जाने वाले हर चीज में भ्रष्टाचार फैल चुका है। कैंटीन वाला बच्चों से दोगुना पैसे लेता है और चीजें भी सही नहीं देता यह बात प्रिंसिपल को पता है, साथ ही प्रोफेसर पिल्लईभी इस बात को जानती हैं लेकिन प्रोफेसर पिल्लई का हर रोज का पूरा चाय-नाश्ता शेट्टी के तरफ से फ्री में आता है। कभी कभी घर से लंच बॉक्स न आये तो लंच भी कैंटीन से आता है। उन्हें अब इसकी आदत पड़ चुकी है। अतः वह नहीं चाहतीं कि कोई नया कैंटीन मैनेजर आये।

- सर, पिल्लई मैडम ने आप से मिलने को कहा था।' कहते हुए उसने जेब से एक लिफाफा निकाला और उसे मेज पर रखकर राधाकृष्णन की ओर सरका दिया।

राधाकृष्णन ने कुछ देर तक लिफाफे को वहीं पड़े रहने दिया और फिर बोले- हमने पिल्लई मैडम के कहने पर तुम्हारा कॉन्ट्रैक्ट रिन्यू किया है। वैसे तुम्हें पता चल ही गया होगा कि ६-७ लोगों के टेंडर आए थे। पिल्लई मैडम बोलीं कि तुम कई साल से कैंटीन चला रहे हो। सो, तुम्हीं को अगले तीन साल का काट्रैक्ट भी दे दिया जाय...।'[3] इस तरह का लेन-देन अब शिष्टाचार बनता जा रहा है। जो कैंटीन बच्चों की सहुलियत के लिए महाविद्यालय में होता है, ऐसे कारणों की वजह से ही वह उन्हें चूसने का हथियार बन जाता है। ऐसा नहीं है कि सभी मामलों में प्रशासन एवं प्रिंसिपल भ्रष्टाचार में लिप्त रहते हैं। वैसे जहाँ अर्थ से जुड़े मामले रहते हैं, वहाँ ज्यादातर लोगों का ईमान डाँवाडोल हो जाता है। अब तो भ्रष्टाचार बिन बुलाए मेहमान की तरह बन चुका है। बिन बुलाए मेहमान को जैसे चाहकर भी बाहर का रास्ता दिखा नहीं सकते, वैसे ही शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार शिष्टाचार का चोला पहन चुका है। एक बानगी देखिए। मैडम अस्मिता का अपॉयमेंट दो साल पहले हुआ था। शुरू के छह महीने का वेतन 'एरियर' मिलना बाकी था। इस 'एरियर' को याने अपना पैसा पाने के लिए भी चढ़ावा चढ़ाना पड़ता है। जो चढ़ावा नहीं चढ़ाते उनका 'एरियर' सालों साल लटकता रहता है। पिछले 2 सालों से अस्मिता मैडम का एरियर बाकी था अतः प्रिंसिपल के कहने पर वह और उनके तीन साथी मिलकर 5-5 हजार रुपए ज्वाइंट डायरेक्टर को देने के लिए जमा करते हैं। जिस दिन बीस हजार रुपए प्रिंसिपल सर जी के हाथ में दे दिए जाते हैं, उसके दूसरे ही दिन में अस्मिता मैडम के अकाउंट में भी पैसे जमा हो जाते हैं।

आज शिक्षा के क्षेत्र में नौकरी लगते समय पैसे दो, लगने के बाद पेमेंट निकलवाने के लिए पैसे दो, इंक्रीमेंट मिलने के बाद उसकी कागजों की पूर्ति के लिए पैसे दो। हर जगह पर इस भ्रष्टाचार ने पैर फैला दिए हैं। इस कॉलेज में नियुक्ति के लिए ली जाने वाली रकम को उजागर करते हुए सुजाता महुआ से कहती है 'हमारे डिपार्टमेंट में तीन साल पहले मिसेज नाडार का एप्वाइंटमेंट हुआ था। पता है, उन्होंने कितना दिया।

-कितना दिया?'

- पाँच लाख...।'

- क्या?'

- हाँ, पाँच लाख...। उसके बाद भी इस साल पमार्नेंट हुई हैं।' -सुजाता, मैं तो सोचती थी कि शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा नहीं होता होगा।' - तुम अभी नयी हो। धीरे-धीरे और भी बहुत सी बातें मालूम हो जायेंगी तुम्हें।'

-अच्छा सुजाता, एक बात बताओ। यह पैसा जाता कहाँ है।'

- यह पैसा जाता कहाँ है, कितने इसके भागीदार हैं इत्यादि यह अलग शोध का विषय है। उच्च शिक्षा में या शिक्षा क्षेत्र में नियुक्ति कार्य के लिए चलने वाला यह तंत्र कमोबेश देश में सभी जगह कार्यरत है। कहीं-कहीं तो यह रकम पाँच लाख से पचास लाख तक पहुँची है।

इस व्यवस्था के चलते इतना तो तय है कि कुछ लोग इससे मालामाल हो जायेंगें। जिन्हें नौकरी की जरूरत है वह कुछ-न-कुछ जुगाड़ कर ही लेंगें। आखिर में सवाल अपनी जगह बना ही रहता है कि समस्त शिक्षा व्यवस्था का यह तामझाम जिन विद्यार्थियों

के लिए चल रहा है, वह इन नीतियों में कहाँ हैं? उनके बारे में सोच कौन रहा है? जो लोग इतना सारा पैसा देकर अध्यापक बन रहे हैं, क्या वह इस पेशे को सेवा मानेंगें? नहीं, वह तो इसे व्यापार के रूप में ही देखेंगें। अतः आज शिक्षा व्यवस्था में प्रचलित अध्यापक नियुक्ति का यह चलन शिक्षा के स्तर को कहाँ ले जाएगा इस ओर उपन्यासकार इशारा कर हमें सोचने के लिए बाध्य करते हैं।

प्रोफेसर पिल्लई स्टाफरूम की टाइल्स बनवाने के लिए झुनझुनवाला से भाव-ताव करती हैं और काफी चर्चा और बहस के बाद 550 रुपए पर सौदा तय करती हैं।

'देखो, झुनझुनवाला, एक बात कहनी रह गयी। ---अब आप यह कीजिए कि बिल ७५० रुपये

प्रति डिब्बे के हिसाब से बनवाइए।'

झुनझुनवाला मुस्कराने लगे। मिसेज पिल्लई भी मुस्करा दीं। एक रिक्वेस्ट है आपसे। झुनझुनवाला बोले- कुछ परसेंट हमारा भी होना चाहिए।' उनकी आवाज बहुत धीमी थी। मिसेज झुनझुनवाला कुछ सोचने की मुद्रा में आ गयीं। फिर पानी के गिलास को एक तरफ सरका कर बोलीं- आप के लिए यह भी कर देंगे। बिल ८७५ रु. के हिसाब से बनवा कर प्रिंसिपल के नाम से भेज दें।'[5] इसी भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति के कारण कॉलेज में बच्चों के लिए जो फंड जमा होता है, वह पैसा बच्चों के बेहतरी के लिए इस्तेमाल न होकर इन लोगों की जेब में पहुँचता है।

जिस तरह से देश को आजाद कराने में बहुतों ने अपने जीवन को खर्च किया है, वैसे ही देश आजाद होने के बाद समाज की उन्नति के लिए कुछ लोगों ने समाजकार्य एवं देशकार्य हेतु शिक्षा की गंगोत्री को देश के विभिन्न क्षेत्रों तक पहुँचाने का सराहनीय कार्य किया। इन लोगों का मकसद आज के शिक्षाविदों की तरह संपत्ति एवं शोहरत कमाना नहीं था। महाराष्ट्र में कर्मवीर भाऊराव पाटील, शिक्षणमहर्षि डॉ बापूजी साळ-ुंखे, पंजाबराव देशमुख आदि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। पश्चिम महाराष्ट्र में शिक्षणमहर्षि डॉ बापूजी साळुंखे जी ने श्री स्वामी विवेकानंद शिक्षण संस्था की स्थापना कर महाराष्ट्र एवं कर्नाटक के दुर्गम क्षेत्रों में शिक्षा की गंगोत्री को पहुँचाया। शिक्षणमहर्षि डॉ बापूजी साळुंखे शिक्षादान का कार्य जिम्मेदारी वाला एवं पवित्र मानते थे। उनके अनुसार गुरुदेव कार्यकर्ता याने अध्यापक का चरित्र सर्वगुण संपन्न होना चाहिए। शिक्षणमहर्षि डॉ बापूजी साळुंखे का मानना था कि गुरुदेव कार्यकर्ता को हमेशा 'ससंसु' से दूर रहना चाहिए। 'ससंसु' याने, स- सत्ता, सं- संपत्ति और सु- सुंदरी। जो गुरुदेव कार्यकर्ता इस 'ससंसु' में फँस जाता है, उसका नैतिक पतन होना शुरू हो जाता है।

'कैम्पस कथा' उपन्यास के प्रमुख पात्र प्रिंसिपल डॉ राधा कृष्णन के चरित्र पर प्रक-ाश डालें तो पता चलता है कि 'ससंसु' में लिप्त रहते ही उनके चरित्र में गिरावट आनी शुरू होती है। प्रिंसिपल के पद पर कार्यरत होते ही ये कुछ प्राध्यापकों का गुट बनाकर सभी को नियंत्रित करने की जद्दोजहद में लग जाते हैं। ज्वाइन होते ही तीन महीनों में ही उन्होंने 'अपने स्टाफ से अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया था। विशेष कर भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्षों से। उनमें से कुछ पर वे विशेष तवज्जो दे रहे थे। अपनी वकीली नजरों से वे ताड़ लेते थे कि वे कौन-कौन से अध्यापक हैं जो आगे चल कर उनके काम

आ सकते हैं।'[6] अपनी इसी प्रवृत्ति के चलते आप मैडम रेवती, प्रोफेसर पिल्लई मैडम, मिसेज फूलमती, प्रोफेसर करंदीकर, प्रोफेसर रामनाथन और प्रो. गणेशन को अपने गुट में शामिल कर सत्ता का मजा चखते रहे। इसी के चलते मैडम रेवती के द्वारा मिस महुआ के साथ सौतेले व्यवहार को वह नजरअंदाज करते रहे। उन्हें छोटी-छोटी बातों पर मैडम रेवती के कहने पर मेमो देते। इसका नतीजा ये निकला कि मिस महुआ ने यूनिवर्सिटी में कंप्लेन की जिसके चलते कॉलेज के प्रिंसिपल को यूनिवर्सिटी की ग्रिवेंस कमेटी के समक्ष प्रस्तुत होना पड़ा। अपनी इसी सत्ता की खुमारी में प्रिंसिपल राधा कृष्णन संपत्ति के मोह में भी आ जाते हैं। जिसके चलते भ्रष्टाचारी बन जाते हैं। शेट्टी का कॉन्ट्रैक्ट रिनिव करने के लिए उससे रिश्वत लेते हैं जबकि जानते हैं वह कैंटीन में बच्चों से ज्यादा दाम लेता है और खाना भी ढंग का नहीं देता। अस्मिता मैडम और उनके साथियों से बकाया एरियर निकलवाने के लिए ज्वाइंट डायरेक्टर के नाम पर बीस हजार लेते हैं जबकि उनकी करतूत सबको पता है- 'प्रिंसिपल समझते हैं कि वे बड़े होशियार हैं। कायदे-कानून जानते हैं लेकिन वो भी गच्चा खा गए। भला २४ घंटे में डिप्टी डाइरेक्टर को एप्रोच करना, उसका उन्हें एकाउंट नंबर भेजना, फिर बैंक में जमा होना और फिर मेरे पास मैसेज आना। ...'हमारे सिस्टम ने कितनी प्रोग्रेस कर ली है न।' खुल कर हँसते हुए अस्मिता बोली।'[7]

सत्ता के नशे और संपत्ति को बेईमानी से इकट्ठा करने में वह सब कुछ भूल जाते हैं। सुंदरी के मोह से भी वह अपने आप को रोक नहीं पाते। अपने पुराने कॉलेज में अपनी सहायक से संबंध बनाते पत्नी के हाथों पकड़े जाते हैं। पत्नी उनसे रिश्ता तोड़ मायके चली जाती है। उनकी यही आदत उनको आगे भी परेशानी में डालती है। शेट्टी की कैंटीन में काम करने वाले लतिका की बेटी को अपने घर काम के लिए रखते हैं। प्रिंसिपल सर को गलत इरादे से छूते देख वह काम पर आना छोड़ देती है और अपने माँ से शिकायत करती है। जब शेट्टी इस बात को बताने के लिए प्रिंसिपल साहब के पास आते हैं तो वहीं उस पर चिल्ला कर कहते हैं कि किस लड़की को तुमने मेरे पास भेज दिया लेकिन जब पता चलता है कि लड़की की माँ उनके खिलाफ पुलिस में जाने वाली है तब इनका सारा जिस्म बर्फ बनकर जड़ हो जाता है और किसी तरह इस मामले को निपटाने के लिए शेट्टी को पाँच हजार देते हैं। अपने इसी 'ससंसुं' में लिप्त रहने की प्रवृत्ति के चलते ही कॉलेज के मैनेजमेंट की तरफ से आपके ऊपर सत्ता का दुरुपयोग, गुटबाजी को बढ़ावा देना, कॉलेज में सांप्रदायिक भावना केप्रवेश करने पर भी उस पर प्रतिबंध न लगाना, खिलाड़ी स्टूडेंट की सुविधाओं को नजरअंदाज करना, कैंटीन में दी जाने वाली खाने की क्वालिटी बद से बदतर होते हुए भी शेट्टी को ही आगे के तीन साल के लिए कायम रखना आदि कारणों के चलते उन्हें प्रशासन की तरफ से वॉल्येंट्री रिटायरमेंट लेने के लिए कहा जाता है।

पहले के शिक्षाविदों ने शिक्षा के क्षेत्र को इस लिए चुना था कि यह रास्ता समाज एवं देश की उन्नति के राह पर ले जाने वाला है। वह शिक्षा के माध्यम से समाज के हर वर्ग को बिना किसी भेदभाव के उन्नति के रास्ते पर अग्रेसित करना चाहते थे। उनका मानना था कि जब समाज का हर वर्ग शिक्षा ग्रहण कर कार्यक्षम बनेगा तभी देश मजबूत

होगा। इसलिए इन्होंने शिक्षा संस्थानों का निर्माण कर इसे सुचारु रूप से चलाने वाले प्रशासन एवं अध्यापकों आदि के लिए अपने अनुभवों के आधार पर कार्यप्रणाली को विकसित किया। जब तक इन शिक्षाविदों एवं तपस्वियों की कार्यप्रणाली को ध्यान में रख कर शिक्षा संस्थान कार्यरत रहे तब तक शिक्षा का क्षेत्र देश की सेवा की महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा। वर्तमान दौर में शिक्षा का क्षेत्र सेवा न रहकर व्यापार बन गया है। यही कारण है कि वर्तमान शिक्षा व्यवस्था रसातल पर पहुँची है। उपन्यासकार शिक्षा क्षेत्र की इस बदलती कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालता है।

ऐसा नहीं है कि उपन्यासकार ने शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त काले पक्ष को ही हमारे सामने रखा है। लेखक ने रामेश्वरम कॉलेज के दोनों पक्षों को ईमानदारी से रखा है। यहाँ मिस महुआ, डॉ शंकरन जैसे लोग हैं जो शिक्षा के क्षेत्र को जिम्मेदारी वाला मानते हैं। अपना काम पूरी ईमानदारी से करने के पक्ष में हैं। उनके इस काम में उनको सताया भी जाता है लेकिन वह अपने मकसद से हटते नहीं, डटे रहते हैं। हर मुश्किल का सामना करते हैं अंत में जीत भी जाते हैं। वास्तविक रूप से कहें तो शिक्षा-क्षेत्र में ऐसे लोग होने के कारण ही इस क्षेत्र की गरिमा अभी बनी हुई है।

इस तरह कह सकते है कि देवेश ठाकुर जी ने 'कैम्पस कथा' के माध्यम से वर्तमान उच्च शिक्षा व्यवस्था की सभी परतें खोलने का उल्लेखनीय कार्य किया है। उपन्यासकार ने उच्च शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार, अध्यापकों की मानसिकता आदि की प्रामाणिक तस्वीर प्रस्तुत की है। भले ही इस उपन्यास का केंद्र मुंबई स्थित रामेश्वरम कॉलेज है लेकिन इसका कलेवर इतना विस्तृत है कि अगर इस देश के किसी भी कोने के किसी भी कॉलेज का नाम लें तो उसकी भी यही तस्वीर उभर कर सामने आएगी, जो उपन्यासकार ने प्रस्तुत की है।

संदर्भः

1. ठाकुर देवेश- कैम्पस कथा, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ क्र.11-12
2. वही पृष्ठ क्र. 24
3. वही पृष्ठ क्र. 43
4. वही पृष्ठ क्र. 53
5. वही पृष्ठ क्र. 133
6. वही पृष्ठ क्र. 27
7. वही पृष्ठ क्र. 164

हिंदी विभाग प्रमुख एवं सहायक प्राध्यापक
विवेकानंद कॉलेज, कोल्हापुर (स्वायत्त)

स्मृतियों के कोलाज में व्यक्त संवेदना

- डॉ. रूपा चारी

रचनाधर्मी साहित्यिक और प्रगतिशील विवेचक के रूप में ख्यात डॉ. देवेश ठाकुर ने सिर्फ कथा साहित्य और शोध-समीक्षा ही नहीं बल्कि एकांकी, कविता, आत्मकथा, जीवनी तथा बाल साहित्य इत्यादि अनेक अन्य विधाओं में भी प्रचुर लेखन किया है। 'स्मृतियों के कोलाज' उनका सद्यः प्रकाशित डायरी शैली में लिखा गया संस्मरण है।

संस्मरण' का सामान्य अर्थ है - सम्यक स्मरण। किसी घटना, व्यक्ति विशेष सम्बन्धी स्मृतियों, महत्वपूर्ण घटनाओं, कृत्यों आदि का जब उल्लेख एवं प्रकाशन होता है, तभी संस्मरण की रचना होती है। डॉ. भगवतशरण भारद्वाज के शब्दों में- 'व्यक्तिगत सम्पर्क के आधार पर तथ्यात्मक पद्धतियों का त्यागकर जब किसी व्यक्ति के जीवन की चारित्रिक निजताओं को प्रकट करने वाली रोचक या मार्मिक घटनाओं को क्रमबद्ध किया जाता है, तो उसे संस्मरण के नाम से अभिहित करते हैं।'[1] इसे ही डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने एक भावुक कलाकार द्वारा अतीत की अनन्त स्मृतियों में से कुछ स्मरणीय अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अनुरंजित कर तथा अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से वेष्ठित कर व्यंजनामूलक संकेत शैली में रोचक ढंग से व्यक्त करने को संस्मरण कहा है।[2] इस रूप में संस्मरण गद्य साहित्य की उस विधा को कहते हैं जिसमें लेखक अपने जीवन की अनन्त स्मृतियों में से कुछ विशिष्ट अनुभूतियों को अपनी कोमल कल्पना से अलंकृत करके लाक्षणिक शैली में आत्मीय राग एवं निजी विशिष्टताओं का सम्बल देकर रोचक तथा आकर्षक रूप से चित्रित करता है। इसके समानान्तर डायरी किसी व्यक्ति के अपने अनुभवों, सोच और भावनाओं को लिखित रूप में अंकित करना है। डायरी भी गद्य साहित्य की एक प्रमुख विधा है, जिसमें लेखक आत्म साक्षात्कार करता है। डायरी लेखन व्यक्तिगत अनुभवों, सोच और भावनाओं का लिखित रूप है, जिनसे कई लोगों को प्रेरणा मिलती है। डायरी का स्वरूप व्यक्तिगत भी हो सकता है या वास्तविक, काल्पनिक और साहित्यिक भी। डायरी प्रस्तुत संस्मरण में देवेश ठाकुर ने अपनी पत्नी सुशीला ठाकुर की मृत्यु के बाद व्यक्तिगत पीड़ा को मार्मिक अभिव्यक्ति दी है लेकिन इसके माध्यम से न सिर्फ पति-पत्नी के सम्बन्धों में परस्पर समर्पण, त्याग और एक दूसरे के के दुख को अनुभव करने की ईमानदारी जैसी अनेक परतें खुलती हैं बल्कि एक रचनाकार की साधना और रचनाशीलता के पीछे परिवार के योगदान की भूमिका भी स्पष्ट होती है। अपनी पत्नी के निधन से उन्होंने दो व्यक्तियों को एक साथ खोया था। एक अपनी जीवन संगिनी को और दूसरे अपने सबसे प्रिय मित्र को। उनके लिए शीला पत्नी तो थीं ही, किन्तु उससे कहीं अधिक मित्र, सहयोगिनी और प्रेरणा थीं। उनके कारण वे इतना कुछ कर सके। उनके कारण ही वे इतना निर्द्वन्द्व जीवन जी सके और उन्हीं के कारण अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों से स्वयं को मुक्त अनुभव करते रहे। उन्होंने अपने लम्बे जीवन में जो कुछ और जितना भी अर्जित किया है, उसके मूल में कुछ शुभाकांक्षी मित्रों के सहयोग के साथ-साथ उनकी पत्नी शीला का देय ही विशिष्ट है। अब उनके न होने से कभी-कभी न जाने कैसा कैसा लगने लगता है उन्हें। शीला के निधन से लेखक लगभग टूट-सा गया था। कभी सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और

सफलता संघर्षो की गहमागहमी से भरा अपना घर अब काट खाने को आता था। नितांत अकेला रह जाने की मारक स्थिति कभी-कभी बहुत भयभीत और उदास कर देती थी। इसीलिए अकेलेपन के आरंभिक दिन उनके लिए बहुत मुश्किल बन गए थे। हालाँकि उनके निधन के दिन से ही उन्होंने अपनी भावनाओं को शब्दबद्ध करना आरंभ कर दिया था- `२सोचता था कि आगे के दिनों में उस सब को पढ़कर, हो सकता है, उसके न रहते हुए भी उसके अपने निकट होने का अहसास कुछ सांत्वना और कुछ शांति दे सके।' इसी सोच के मद्देनजर लेखक ने प्रथम खंड (तुम्हारे लिए) में उन घटनाओं और स्थितियों को शब्दबद्ध किया है जो अनायास ही अकेलेपन के उन प्रारंभिक दिनों में उनकी चेतना से ओझल ही नहीं हो पा रही थीं।

पुस्तक के दूसरे खंड में लेखक नेअपनी डायरी के कुछ पन्नों का संकलन किया है। उन्होंने १९७३ से डायरी लिखना आरंभ किया था। यह सिलसिला २००६-२००७ तक अनवरत रूप से चलता रहा। बाद में पत्नी की लम्बी गंभीर बीमारी और स्वयं भी अस्वस्थ रहने के कारण यह आगे के वर्षों में नहीं चल पाया।

प्रस्तुत पन्नों में देवेश जी ने अपने दैनिक जीवन की कतिपय घटनाओं, पारिवारिक स्थितियों, व्यक्तिगत और सामाजिक सोच के बिंदुओं तथा साहित्यिक और शिक्षा क्षेत्र में व्याप्त कुछ दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों के विवरण संकलित किए हैं। साथ ही, डायरी लेखन के दौरान पढ़े गए कतिपय ग्रंथों और पत्र-पत्रिकाओं से उद्धृत विवरण भी हैं। इनमें से कुछ रचनाओं के नाम नहीं दे सके हैं लेकिन ऐसी टिप्पणियों, विवरणों, वक्तव्यों, कविताओं आदि पर देवेश जी ने दिनांक के साथ एक 'स्टार' भी लगा दिया है। इन पन्नों के माध्यम से देवेश जी का प्रयास अपनी सोच, अपनी संवेदना, अपने अनुभवों तथा अपनी प्रतिबद्धता को चित्रित करके पाठकों के सामने रखना रहा है।

देवेश जी ने संस्मरण में कई स्थानों पर उनका जिक्र किया है। शीला के निधन के बाद वे बहुत दुःखी रहते रहे। अपने को सँभाल सकना कठिन लग रहा था। एक स्थान पर इसका संकेत कराते हुए इन्होंने लिखा है- ''अब स्मृतियों के दंश ही शेष बचे हैं। तुम मुझसे बिना मिले ही चली गयीं। आखिरी वक्त में इस तरह विदा होना यह अच्छा नहीं किया तुमने शीला, हम दोनों पति-पत्नी ही नहीं, एक-दूसरे के बहुत गहरे मित्र भी रहे हैं। मित्रता में सब चलता है। प्यार-मनुहार और नोक-झोंक भी। मेरे गलत कामों और गलत निर्णय के क्षणों में तुमने ही मुझे सँभाला है। अब भी सँभालती रहना अन्यथा मेरा जीना मुश्किल हो जाएगा।''[3] लेखक के लिए छोटी-छोटी घटनाओं को भूलना मुश्किल होता जा रहा है। शीला के बिना उनकी जिंदगी नहीं कटती है। पत्नी के संग की कई यादों से उनके आँसू बहने लगते हैं। बार-बार लेखक को पास में कुर्सी पर बैठी पत्नी दिखलाई पड़ती है। पत्नी ने परिवार में आत्मीयता बनाकर रखी थी। उनके लिए जिंदगी अकेली हो जाती है, शीला की यादें उनके पास शेष रह जाती हैं। शीला की शोक-सभा रखी जाती है, उसमें शीला के सभी परिचित आते हैं। उसमें उनकी सभी यादों को याद किया जाता है। लेखक भी उनको याद करते हुए कहते हैं- ''आज तुम्हारा न होना अनजाने ही आँखों में आँसू भर देता है। क्या करूँ मुझे महसूस होता है कि मैं टूट गया हूँ, तुम शांति से चली गयीं। तुमने जाने का भी ऐसा वक्त चुना कि किसी को कोई तकलीफ न हो। तुम

जीते जी भी किसी को कोई कष्ट नहीं देती थीं और जाने के वक्त भी तुमने इसका पूरा ख्याल रखा। ईश्वर तुम्हारी इतनी उदात्त आत्मा को शांति दे।''[4]

शीला का स्वभाव एडजस्ट करने का था परिवार में। वह बहुत सहज, संवेदनशील और मैच्योर थीं। वह लेखक को बीमारी के समय दवाइयाँ देकर उनका बहुत ध्यान रखती थीं। लेखक ने एक स्थान पर उनका जिक्र इस तरह किया है- ''मैं अचकचाकर आँखें खोलता तो तुम सामने खड़ी हुई मिलती थीं। तुम्हारे एक हाथ में पानी का गिलास और दूसरे हाथ में दवाइयों की कटोरी होती थी।''[5] शीला अपनी इच्छा को किसी पर थोपती नहीं थी। वे जल्द ही अपने परिवेश और अपने आसपास में ढल जाती थीं। वे परमार्थ अधिक करती थीं। व्यवहार में भी वे अधिक संतुलित स्त्री थीं। वे लेखक की पत्नी से अधिक उनकी मित्र थीं। विवाह, विवाह के बाद का संघर्ष, खर्च इत्यादि के संस्मरण स्मृतियों का कोलाज विस्तार से विश्लेषित हुआ है।

इस संस्मरण के दूसरे भाग में डायरी लेखन का अंश प्रस्तुत किया गया है। उनके जीवन-संघर्ष के आरंभिक दिन जब वे ईमानदारी से अपना जीवन-भविष्य गढ़ने में लगे थे, वे मानसिक रूप से थोड़ी शांति का अनुभव कर रहे थे- ''अपना परिवार पूरा हो गया है। इस छोटे से घर में हँसती-खेलती अपनी दो बेटियों ने मेरे बीहड़ से जीवन में फिर से सुख-शांति के फूल खिला दिये हैं। मैं प्रसन्न हूँ।''[6] तिरस्कार, उपेक्षा और संघर्षों के झमेलों को झेलते और उनसे ऊपर उठने के बाद व्यक्ति जब खुली हवा में साँस लेता है तब उसकी सारी थकान मिट जाती है। एक प्रकार की सकारात्मकता उसके व्यक्तित्व में बस जाती है। वह सोचने लगता है कि जितना भी जीवन मिला है, उसे संपूर्ण निष्ठा और खुलेपन के साथ क्यों न जिया जाय। राग, द्वेष और ईर्ष्या में क्या रखा है। हम अपने वर्तमान को सुंदर बनाएँ, भविष्य स्वयं सुंदर बनता जाएगा। जीवन की कल्मषता के बीच उसे सुंदर बनाने का उपक्रम एक आस्थावान साधना है।

डायरी के पन्नों में लेखक की पत्नी-बच्चों का वर्णन है। रविवार के दिन का वर्णन किया गया है-

''रविवार का दिन / मेरे प्रिय / राजा मेरे / अब जाग भी जाओ / सुबह हो गयी है / किचन में जाकर चाय का पानी रख दो / बोतल उठाओ / दूध ले आओ। /
कपड़े जो धोने को हैं / ऐसा करो / उन्हें सर्फ.में डाल दो, / पेस्ट कर लो /
कुरता पहन लो / सुबह-सुबह आदमी बन जाओ / अच्छे पति की तरह।
अखबार आ गया होगा, / मुझे दे जाओ / इतना तो हो / आज एक दिन ही सही / मुझे भी लगे / मैं तुम्हारी पत्नी ही नहीं / दोस्त भी हूँ। / कि मेरे कहने पर ही सही /
तुम भी मेरा ख्याल रखते हो / और अहसासते हो / कि मैं भी नौकरी करती हूँ /
दिन भर घर से बाहर रहती हूँ / इसीलिए / राजा मेरे / मेरे मियाँ /
आज की चाय तुम बनाओ। ''[7]

इस तरह लेखक ने दैनिक क्रिया का यहाँ निरूपण किया है। डायरी में कई वाक्यांश, कविता के अंश, लेखन कार्य इत्यादि का अध्ययन किया गया है। कहानीकार निर्मल वर्मा, धूमिल, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु, रांगेय राघव, गांधी, समाजवाद, अमृतलाल नागर, रामजेठमलानी, संजय कुंदन, गीता डोगरा, प्रेमचन्द, दुष्यंत कुमार

इत्यादि साहित्यकारों के मूल्यों का देवेशजी ने बहुत गंभीरता से मूल्यांकन डायरी के पन्नों में किया है।

संदर्भ :

1. Mjprustudypoint.com
2. वही
3. स्मृतियों के कोलाज, देवेश ठाकुर, पृ. 6
4. वही, पृ.10
5. वही, पृ. 22
6. डायरी के पन्ने, देवेश ठाकुर, पृ. 84
7. वही, पृ. 92-93

बाजार का दबाव और चिकित्सा जगत का भयावह सच : ऐसा भी होता है

– डॉ. सतीश पांडेय

आज हम जिस अंधकारमय समय में जी रहे हैं या जिस तरह से जीना पड़ रहा है, वहाँ सब कुछ उत्पादन-वितरण, बाजार, और उपभोग के साथ-साथ लाभ की संस्कृति के आधार पर संचालित हो रहा है। मनुष्य नामक इकाई का लोप होता जा रहा है। उसकी स्मृतियाँ और कल्पनाएँ, उसकी सामुदायिक चेतना तथा परंपरा से संचित मानवीय मूल्य खाली होते जा रहे हैं। तकनीकी तौर पर तेज गति से हो रहे तथाकथित विकास और वैश्विक स्तर पर हो रहे बदलावों का मनुष्य-जीवन के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक ताने-बाने में संतुलन बनाए रखने से कोई ताल्लुक नहीं रह गया है। बाजार की शक्तियाँ इतनी प्रभावी हो गई हैं कि सब कुछ उत्पादक, विक्रेता और उपभोक्ता के नजरिए से देखा-परखा जाने लगा है। बाजार और सूचनाओं के अंबार के दुश्चक्र में फँसा मनुष्य अपने सभी जीवन मूल्यों और सरोकारों को छोड़ता चला जा रहा है। परंपरागत नैतिकता-बोध और उदात्त जीवन मूल्यों को भोग-विलास की संस्कृति ने अपदस्थ कर दिया है। आज हर चीज, यहाँ तक कि निजी पारिवारिक रिश्ते भी परिणामोन्मुख हो गए हैं। जो वस्तु या व्यक्ति आज नितांत आवश्यक है, वही 'यूज एंड थ्रो' की संस्कृति में कब बासी रिश्तों की तरह अनुपयोगी घोषित करते हुए छोड़ दिया जाएगा, कहा नहीं जा सकता। यहाँ तक कि शिक्षा और चिकित्सा जैसा गरिमाशाली क्षेत्र भी इससे अछूता नहीं रह गया है। जो शिक्षक कल तक 'गोविंद से भी श्रेष्ठ' माने जाते थे, आज वे भी बाजार के नजरिए से देखे जाने लगे हैं। जो डॉक्टर 'ईश्वर के प्रतिरूप' माने जाते थे, उनका स्वयं का दृष्टिकोण भी व्यावसायिक एवं निष्ठुर या अमानवीय हो गया है। ऐसे ही संवेदनशील विषय पर केंद्रित है देवेश ठाकुर की सद्यः प्रकाशित औपन्यासिक रचना 'ऐसा भी होता है'। इसमें चिकित्सा के क्षेत्र में प्रविष्ट व्यवसायिकता जन्य अमानवीयता और जाति-धर्म के बंधन से मुक्त सच्चे उदात्त प्रेम की अत्यंत ही संवेदनशील अभिव्यक्ति हुई है।

इसकी कथा प्रार्थना की बीमारी के इर्द-गिर्द बुनी गई हैं, जिसमें उसके प्रेम और विवाह का मार्मिक प्रसंग आनुषंगिक रूप से कई उदात्त मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा करता है। इसका कथानक बस इतना-सा ही है कि बहुत ही कम उम्र में प्रार्थना का लीवर खराब हो जाता है, जिसे ट्रांसप्लांट कराना है। प्रार्थना का मध्यवर्गीय परिवार अपना सब कुछ दाँव पर लगा कर उसे बचाना चाहता है। पैसे का इंतजाम वे जैसे-तैसे करने को तैयार होते हैं लेकिन कोई लीवर डोनेट करने वाला नहीं मिलता। अंत में वही हमीद अपना लीवर देकर उसे बचाता है, जिसके विधर्मी होने के नाते प्रार्थना के घर वालों ने उसके साथ प्रार्थना का विवाह करने से मना कर दिया था। इसके विपरीत जिस स्वधर्मी और सम्पन्न परिवार वाले आकाश पुरी के साथ उसकी सगाई हो गई थी, वे इस कठिन समय में उसके साथ विवाह करने से मुख मोड़ लेते हैं। इस कथानक के माध्यम से उपन्यासकार ने जहाँ चिकित्सा-क्षेत्र में व्याप्त व्यावसायिकता, अवसरवादिता,

स्वार्थजन्य अर्थ-लोलुपता, अमानवीयता एवं पतनोन्मुख जीवन मूल्यों की पराकाष्ठा को चित्रित किया है, वहीं डॉ. अनुश्री जैसे संवेदनशील चरित्र के माध्यम से सकारात्मक सोच एवं मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था और विश्वास की प्रतिष्ठा भी की है। साथ ही, प्रेम और विवाह को धर्म और जाति की संकीर्णताओं से परे बताते हुए प्रेम की उदात्तता भी चित्रित की है।

चिकित्सा के क्षेत्र में दलाली एवं 'कट-मनी' का एक बड़ा रैकेट काम करता है। डॉ. यादव जैसे छोटे-छोटे डॉक्टर डॉ. सक्सेना और डॉ. अवस्थी को पेशेंट भेजते हैं। इसके लिए उनका 'विशेष ख्याल' रखा जाता है। इसीलिए डॉ. सक्सेना विशेष तौर पर डॉ. यादव से मिलने जाते हैं। डॉ. यादव भी उन्हें आश्वस्त करते हैं कि 'बरसात आने वाली है। इस मौसम में मरीज बढ़ जाते हैं। तब आपको हमसे कोई शिकायत नहीं होगी।' (पृ.79) डॉ. सक्सेना भी आश्वस्त भाव से कहते हैं कि 'हमें याद दिलाने का इंतजार मत किया करो यादव। झरने का पानी बहता रहना चाहिए, तभी नदियाँ भी बहती जाती हैं। ...नहीं तो। (पृ.80) हर्निया वाले पेशेंट को डॉक्टर सक्सेना डिस्चार्ज इसलिए नहीं करते क्योंकि वह बहुत बड़ा बिजनेसमैन है। डॉ. सक्सेना से अलग वर्ग डॉ. कैलाश कपूर जैसे डॉक्टरों का है, जो मरीज को अनावश्यक अस्पताल में रखकर बिल बढ़ाने का षड्यंत्र रचते हैं। इसीलिए विनोद चव्हाण को वे हफ्ते - दो हफ्ते अस्पताल में रखना चाहते हैं क्योंकि उन्हें पता है कि वह तो गरीब है लेकिन जिसकी गाड़ी चलाता है, वह तो करोड़पति है।

वस्तुतः कुछ लोगों ने इस प्रोफेशन की गरिमा को तार-तार कर दिया है। डॉक्टरों को लोग भगवान समझते हैं लेकिन कुछ ऐसे हैं, जो अपने राक्षसपने से बाज नहीं आते। डॉ. दास ऐसे ही डॉक्टरों में से एक हैं। उनके पास पथरी का एक मरीज आता है तो उसका इलाज करते हुए उसकी एक किडनी ही निकाल लेते हैं। डॉ. सिद्धार्थ मानते हैं कि 'हमीं में से कुछ लोग इसे पैसा बनाने की मशीन मानकर चलते हैं।... भ्रष्टाचार के मामले में डॉक्टरी का पेशा शिक्षा के बाद दूसरे नंबर पर आता है। हमारे अस्पताल का ही उदाहरण ले लो। यहाँ क्या दास जैसे डॉक्टर नहीं है। ...सच तो यह है कि अपना समाज अब भ्रष्टाचार की नींव पर खड़ा है। हर जगह भ्रष्टाचार है। एन.जी.ओ. ले लो, राजनीति ले लो, प्रशासन ले लो, नेताओं के चरित्र...।' (पृ. 116)

बाजारवाद के इस समय में चिकित्सा के क्षेत्र में भी नैतिक मूल्यों के पतन का प्रमुख कारण पैसे की प्रमुखता को मानते हुए डॉ. अनुश्री कहती है- 'आज पैसा ही सब कुछ हो गया है। मेरे फादर के जमाने में लोग देश, समाज, नैतिकता और जीवन मूल्यों को लेकर जीते थे। हाँ कुछ अपवाद हो सकते हैं। वह तो हमारे देश की ही नहीं पूरी दुनिया की सच्चाई है लेकिन इंसान जितना स्वार्थी और आत्मकेंद्रित हो गया है, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था।' (पृ.116)

चिकित्सा क्षेत्र में कमीशनबाजी का एक रूप और भी है। फार्मेसी कंपनियाँ डॉक्टरों को इसलिए पैसे और उपहार देती हैं कि वे उनकी दवाएँ मरीजों को रिकमेंड करें। 'गुड हेल्थ फार्मेसी' के यहाँ पड़ी रेड में डॉ. सक्सेना और डॉ. भट्टाचार्य जैसों के नाम सामने आते हैं। 'गुड हेल्थ' डॉक्टर सक्सेना और उनकी पत्नी को एक इंटरनेशनल सेमिनार

में अमेरिका जाने का पूरा खर्च उठाती है। डॉ. भट्टाचार्य की बेटी की शादी में एक कार तोहफे में दी जाती है और 5 लाख कैश ऊपर से। प्राइवेट हॉस्पिटल और नर्सिंग होम में डॉक्टर लोग मरीजों को ठीक होने के बाद भी किसी न किसी बहाने रोके रखते हैं ताकि उनके चार्ज बढ़ते रहें। मरीज को जरूरत के बिना भी महँगी दवाइयाँ प्रिस्क्राइब कर दी जाती हैं ताकि उधर से भी कुछ आमदनी हो। छोटे-बड़े सभी अस्पतालों में भ्रष्टाचार का यह जहर फैला हुआ है। तकलीफ आम आदमी को होती है। वह बेचारा अच्छे इलाज की उम्मीद में इधर से उधर भटकता रहता है। अमानवीयता की हद तो यह है कि अस्पताल में कोई बेड खाली न होने की बात कह कर किसी गर्भवती को अस्पताल से बाहर कर दिया जाता है और वह बेचारी फुटपाथ पर ही अपने बच्चे को जन्म देने के लिए मजबूर हो जाती है। (पृ. 131)

अनुश्री के अनुसार 'मेडिकल प्रोफेशन में भ्रष्टाचार का कारण यह होता है कि धनी माँ-बाप अपने बेटे-बेटियों के एडमिशन के लिए प्राइवेट कॉलेजों में लाखों रुपए झोंक देते हैं। मैंने सुना है कि प्राइवेट कॉलेज वाले पंद्रह-पंद्रह बीस-बीस लाख रुपए डोनेशन के रूप में लेते हैं। अब अगर इतना रुपया खर्च करके एडमिशन मिलता है और इतना ही रुपया उन्हें डिग्री दिलवाने में खर्च होता है तो वह कहीं न कहीं से तो उसे निकालेंगे और यही हो रहा है। (पृ.117)

इससे अधिक चिंता की बात यह है कि यह डोनेशन देकर सीट पाने वाले लोग जब डॉक्टर बनकर निकलते हैं तो बहुत ही ज्यादा मीडियॉकर होते हैं। अच्छे-बड़े अस्पतालों में उन्हें कोई नहीं पूछता, सो अपना क्लीनिक खोल लेते हैं और गरीब, सधानहीन पेशेंट्स को निचोड़ कर अपनी तिजोरी भरते रहते हैं। डॉक्टर होने के नाते उन्हें शादी के बाजार से भी अच्छी खासी रकम मिल जाती है। भले ही उन्हें कैथेडर लगाने न आता हो। (पृ.117) अनुश्री मानती है कि 'इस सब में हमारी रिजर्वेशन पॉलिसी भी जिम्मेदार है। आप देखिए न, मेडिकल और टीचिंग की क्या हालत हो गई है। ओपन सीटें हर साल सिकुड़ रही हैं। मेधावी छात्रों को 90 प्रतिशत मार्क्स लेकर भी एडमिशन नहीं मिल पाता जबकि रिजर्वेशन के अंदर 60 प्रतिशत पाने वाले दोयम दर्जे के छात्र मेडिकल में सीटें ले लेते हैं।(पृ.117)

रिजर्वेशन का यह मुद्दा भारतीय समाज में बेहद संवेदनशील रहा है। एक तरफ अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ आरक्षण का लाभ पाकर निश्चित रूप से लाभान्वित होती रही हैं लेकिन अन्य पिछड़ी जातियाँ भी आरक्षण का लाभ पाने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं और वोट की राजनीति के कारण राजनेताओं का उन्हें पूरा समर्थन मिलता है। अनुसूचित जतियों और जनजातियों के सम्पन्न लोग भी अवसर का लाभ लेते हैं और अगड़ी जातियों के मेधावी युवा उचित अवसर से वंचित रह जाते हैं। इसीलिए अनुश्री का मानना है कि 'रिजर्वेशन जातियों के आाार पर निश्चित किया गया जबकि इसे आर्थिक आधार पर दिया जाना चाहिए था। क्या विडंबना है कि जगजीवन राम जैसे बड़े और धनी नेताओं को तो रिजर्वेशन मिल जाता है और किसी पूजा-पाठ करने वाले गरीब ब्राह्मण को वह सहूलियत नहीं मिल पाती। सच्चाई तो यह है कि नेताओं की ब्राह्मणवादी मानसिकता के चलते सब गुड गोबर हो गया है।... अर्धशिक्षित प्रजातंत्र में ऐसा होना

स्वाभाविक है। कहाँ तो रिजर्वेशन की परंपरा और मजबूत होती जा रही है। जबकि अब तक इसे इतिहास बन जाना चाहिए था। (पृ. 118) इसके लिए जिम्मेदार यथास्थिति बनाए रखने वाले लोग भी हैं। इनमें ईमानदारी नहीं है। इसीलिए वे यह मानकर चलते हैं कि जो चल रहा है, चलने दो। यह मानसिकता भी कम अपराधी नहीं है।

अनुश्री के अनुसार भ्रष्टाचार का अंत तभी हो सकता है जब आज की भ्रष्ट पॉलीटिकल कल्चर को उखाड़ फेंका जाय। आज सब कुछ में गंदी पॉलिटिक्स घुस गई है। यहाँ तक कि इंसान-इंसान के रिश्तों तक में भी पॉलिटिक्स आ गई है। एक बार इस भ्रष्ट राजनीति को उखाड़ फेंका जाय तो हमारा समाज और हमारा देश जल्दी ही ऊँचाई पर पहुँच जाएगा। इसके साथ-साथ हम अपना काम मन लगाकर ईमानदारी से करें, हमारे लिए यही बहुत है। अगर इस व्यवस्था में हर इंसान अपनी-अपनी जिम्मेदारी संजीदगी से निभाए तो बहुत कुछ बदल सकता है लेकिन यहाँ तो पैसा बड़ा हो गया है और इसमें मेडिकल प्रोफेशन भी पीछे नहीं है।

चिकित्सा के इस भ्रष्ट परिवेश में भी अनुश्री जैसे कुछ डॉक्टर हैं, जो अपने मरीज के प्रति अधिक संवेदनशील हैं। वह प्रार्थना के साथ अधिक जुड़ाव अनुभव करती है। इसीलिए मन और भावना को भी तरजीह देती है। यद्यपि डॉ. सिद्धार्थ भावुक न होकर बुद्धि का उपयोग करते हुए इलाज करने को महत्व देते हैं। उनके अनुसार 'हमें निरपेक्ष भाव से बहुत सोच-विचार के साथ पेशेंट का इलाज करना होता है, सिर्फ भावुकता और संवेदना से इस प्रोफेशन में कुछ नहीं होता।'

चिकित्सा जगत की एक और समस्या की ओर इस उपन्यास में देवेश ठाकुर ने संकेत किया है। भारतीय समाज में खास कर निम्न और निम्न मध्य वर्ग में अंगदान के प्रति उदासीनता दिखाई देती है। विश्वकर्मा के बेटे प्रताप की एक्सीडेंट में ब्रेन डेथ हो जाती है। उसको डॉ. केलकर और डॉ. आस्था अंगदान के लिए प्रेरित करते हैं। डॉ. केलकर उसे समझाते हैं कि 'अंगदान देना बड़े पुण्य का काम है। एक इंसान अपने अंग देकर कितने ही लोगों को जिंदगी दे देता है। तुम्हारा बेटा उन सब में जिंदा रहेगा और फिर... और फिर तुम्हें भी इस बात का संतोष रहेगा कि इतने लोगों को नई जिंदगी देकर तुमने बड़ा पुण्य कमाया है।' डॉ आस्था भी उसे समझाती है कि 'डॉ. साहब जो कुछ भी कह रहे हैं, उससे तुम्हारा कुछ नुकसान नहीं हो रहा। उल्टे तुम्हें यह सोचकर संतोष होगा कि मरने के बाद भी तुम्हारा बेटा कितने लोगों को जिंदगी दे गया है। तुम समझने की थोड़ी कोशिश करो तो।' किन्तु विश्वकर्मा का सोचना अलग है। इसीलिए वह कहता है, 'डॉक्टर तुम मेरे हिसाब से क्यों नहीं सोचती। तुम्हारी बात अगर मैं मान भी गया तो पता है क्या होगा। मुझे जिंदगी भर अपने बेटे के बिखरे हुए टुकड़े ही महसूस होते रहेंगे। अब आप ही बताओ, मैं उस सबको सह पाऊँगा क्या... ।' (पृ.56)

विश्वकर्मा के साथी का विचार उसके समूचे वर्ग की मानसिकता को उजागर करता है। वह कहता है, 'डॉक्टर साहब हम इतने पढ़े-लिखे नहीं हैं कि इन बड़ी-बड़ी बातों को समझ सकें। अपने बच्चे का अपने हाथों अंतिम संस्कार करके हमें शांति मिलेगी। हमारे अपने संस्कार हैं, अपने विश्वास हैं। ...हम तो यह सोचते हैं कि जाने वाले का किरिया-करम करके उसकी आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करें।...आप जिस अंगदान

की बात कह रहे हैं, वह तो हमारी सोच से बहुत बाहर की बात है। (पृ.57)

इस उपन्यास की कथा के केंद्र में प्रार्थना की बीमारी है। प्रार्थना स्पष्टवादी है। उसका खुलापन, साथी-संगियों के बीच उसकी मस्ती और इन सब के साथ अपनी पढ़ाई के प्रति अत्यंत गंभीर और ईमानदार रहना उसके व्यक्तित्व को अलग गरिमा प्रदान करता है। इसी प्रार्थना को धार्मिक कारणों से अपने मनपसंद जीवन-साथी का चुनाव करने की स्वतन्त्रता नहीं मिलती। वस्तुतः आज के अपेक्षाकृत वैचारिक-लैंगिक समानता के युग में भी हमारी सामाजिक-धार्मिक मान्यताएँ प्रेम और विवाह जैसी निजी धारणाओं को प्रभावित और नियंत्रित कर रही हैं। देवेश ठाकुर ने इस उपन्यास में प्रेम और विवाह को मर्म या जाति की संकीर्णताओं से परे एक नितांत मानवीय संवेदना के धरातल पर प्रस्तुत किया है। प्रार्थना, हामिद और आकाश के त्रिकोण के माध्यम से प्रेम और विवाह की जटिल स्थिति को लेखक ने उद्घाटित किया है। एक तरफ हमीद से प्रार्थना की घनिष्ठता है, जिसको लेकर उसके परिवार में कोहराम मच जाता है। एक विधर्मी से घनिष्ठता को न तो उसके बाबूजी स्वीकार पाते हैं और न ही उसकी माँ। पूरे परिवार की खुशहाली गमगीन उदासी में बदल जाती है। यहाँ तक कि छोटे भाई कार्तिक से भी बहुत कम शब्दों में प्रार्थना की बातचीत होती है। एक दर्दीली चुप्पी पूरे परिवार के मन प्राणों पर छा जाती है। उसकी अम्मा तो साफ शब्दों में कह देती हैं- 'तुझे इतनी बड़ी दुनिया में एक विधर्मी ही रह गया था प्यार करने को। हमारे खानदान में ऐसा कभी नहीं हुआ। रिश्तेदारों को पता चलेगा तो वे क्या सोचेंगे। तू हमारी नाक कटाने पर क्यों तुली हुई है?'(पृ.71) यहाँ तक कि वह आत्महत्या तक करने की कोशिश करती हैं। इस विडम्बना पर प्रार्थना सोचती है कि एक सरल संवेदनशील और प्रतिभाशाली इंसान से वह क्या इसलिए दूर हो जाए कि वह दूसरे धर्म का है। इसी धर्मांधता के कारण परिवारों में, समाज में इतनी अशांति है। विधर्मी होने के कारण हमीद के साथ संबंध रखने पर परिवार की अस्वीकृति को लेकर प्रार्थना कभी-कभी सोचती है कि ऐसी जिंदगी किस काम की जो दूसरों के निर्देशों पर चलाई जाए लेकिन जीवन के प्रति अपने सकारात्मक दृष्टिकोण के कारण ही वह अपनी इस कमजोरी से उबर पाती है और सोचती है कि जीवन से सुंदर और कुछ भी नहीं है। जीवन को, जीवन की सुंदरता को नष्ट करना अपराध है।

अपनी इसी सकारात्मकता के कारण परिवार की खुशी के लिए वह हमीद के साथ अपने संबंधों को भूलकर जीवन में आगे बढ़ने का निश्चय करती है। वह हमीद को एक पत्र लिखकर अपनी भावनाओं को इस तरह व्यक्त करती है- 'हामिद, हमारी कहानी अधूरी ही रह गई, कोई बात नहीं। प्यार का मतलब विवाह तो नहीं होता। प्यार में लेना नहीं, देना होता है। मैंने तुमसे, सिर्फ तुमसे प्यार किया है। मैं अपनी सारी निष्ठा के साथ तुमसे प्यार करती रहूँगी। मैंने तो निश्चय कर लिया है कि मैं अब तुम्हारे प्यार की गंध में साँस लेती हुई अपनी शेष जिंदगी जी लूँगी।' सच्चा प्यार धर्म, जाति और वर्ग नहीं देखता। वह तो त्याग-भावना से जुड़ा होता है। इसीलिए प्रार्थना के घर वालों के नकारने के बाद हामिद भी नहीं चाहता की प्रार्थना अपने घर वालों से विद्रोह करके उसके जीवन में आए। वह अपने आप को समझा लेता है कि 'सबके सब सपने पूरे नहीं होते। तुमने तो प्यार किया है न... बस, उसे प्यार करते रहो।... अपनी भावनाओं में, अपनी कल्पनाओं

में और अपने अकेले क्षणों में।' (पृ.143)

ऐसा प्यार करने वालों के बीच धर्म की आड़ लेकर लोग उन्हें अलग कर देते हैं। धर्म को लोगों ने झुनझुना बनाकर रख दिया है। कई बार ऐसा होता है कि धर्म इंसानियत के आड़े आ जाता है। इंसान जब पैदा होता है तो वह सिर्फ इंसान होता है। उस वक्त उसका धर्म से कोई लेना-देना नहीं होता। बाद में उसके परिवार वाले उस पर धर्म का मुलम्मा चढ़ा देते हैं। इसीलिए हमीद सोचता है- 'धर्म भी क्या चीज है जो इंसान को इंसान से दूर कर देती है। धर्म को कठमुल्लाओं ने कितना संकीर्ण बना दिया है। इस संकीर्णता के कारण ही एक कौम दूसरे कौम की दुश्मन बन जाती है। घृणा, द्वेष, मार-काट और संहार। धार्मिक कहे जाने वाले लोग आस्था, विश्वास और मानवीयता की बात तो करते हैं लेकिन उसे व्यवहार में नहीं ला पाते। इसीलिए तो संकट उभर आता है और अलगाव को उगने के लिए जमीन मिलती है। (पृ. 134)

प्यार की इसी संवेदना के कारण प्रार्थना और उसके परिवार को बिना बताए हमीद अपना लिवर डोनेट करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत उपन्यासकार ने आकाश पुरी के माध्यम से एक ऐसे चरित्र का उद्घाटन किया है, जो प्रार्थना से प्रेम करने और उसी से विवाह करने की जिद अपने माँ-पिता से करता है। उसके पिता मिस्टर पुरी उसकी जाति और क्लास की भिन्नता की बात उठाते हैं लेकिन आकाश की जिद के आगे उन्हें झुकना पड़ता है। प्रार्थना के प्रति आकाश का लगाव एकतरफा है लेकिन हमीद के साथ सम्बन की प्रतिक्रिया में प्रार्थना के घर वाले भी उसकी सगाई आकाश से कर देते हैं। जब उसकी बीमारी का पता आकाश के माता-पिता को चलता है तो वे इस विवाह के पक्ष में नहीं रह पाते। माँ मिसेज पुरी बेटे को समझाती हैं कि भावनाओं को लेकर जिंदगी नहीं जी जाती। विवाह एक लंबी यात्रा होती है। यह पति पत्नी दोनों को मिलकर तय करनी होती है। उन्हें लगता है कि प्रार्थना की बीमारी के कारण उसके बेटे आकाश की जिंदगी कहीं अभिशाप न बन जाए। मिस्टर पुरी की दुविधा दूसरी तरह की है। उन्हें लगता है कि पड़ोसी, संबंधी और जान-पहचान के लोग क्या कहेंगे? फिर वे यह भी मानते हैं कि आकाश के भविष्य का निर्माण करने का अधिकार उन्हें नहीं है। वे जानते हैं कि प्रार्थना के पिता विनायक जी के परिवार की वैल्यूज अलग किस्म की हैं। आकाश का व्यक्तित्व माँ की आज्ञाकारिता में दबा हुआ है। वह वही निर्णय लेगा जो उसकी माँ चाहेगी। आकाश भी आत्म संघर्ष के दौर से गुजरता है। वह स्वयं मिस्टर पुरी से कहता भी है- 'पापा मैं क्या कहूँ। मैं कोई निर्णय नहीं ले पा रहा। अम्मा की बात सुनता हूँ तो लगता है कि वह सही कह रही हैं। आपकी बात सुनता हूँ तो लगता है कि आप सही कह रहे हैं। मैंने जिद की, आपने मान लिया। यह जानकर भी मान लिया कि वह हमारे वर्ग की नहीं है लेकिन अब अम्मा जो कह रही हैं, उसमें भी सच्चाई तो है ही।' (पृ.111) इस तरह एक तरफ अंतर्द्वंद्व में उलझे आकाश का सतही प्रेम है जो परिस्थितियों के बीच डरकर उसे बीच राह में छोड़ देता है। दूसरी तरफ हमीद है, जो कठिन समय में अपना अंगदान करके न सिर्फ प्रार्थना की जान बचाता है बल्कि उसके प्रति अपने प्रेम की पराकाष्ठा को साबित भी करता है।

प्रसंगवश उपन्यासकार ने शिक्षा जगत के भ्रष्टाचार और नैतिक पतन, निम्नवर्गीय

जीवन-संघर्ष और राजनीति के क्षेत्र में व्याप्त व्संगतियों पर भी टिप्पणी की है। डॉ. देवेश ठाकुर शिक्षा जगत से लंबे समय तक जुड़े रहे हैं। अतः उन्होंने अपने सभी उपन्यासों में इस क्षेत्र की यथार्थ स्थितियों का वर्णन किया है। इस उपन्यास की केंद्रीय कथा प्रार्थना के इर्द-गिर्द बुनी गई है। प्रार्थना एक कॉलेज में पढ़ाती रही है। वह वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में अध्यापकों की स्थिति का यथार्थ बयान करते हुए कहती है कि 'कॉलेज की टीचरी में कुछ नहीं रखा है। जबसे यूजीसी के नए निर्देश आए हैं, हम लोग क्लर्क बनकर रह गए हैं। अब हर काम के लिए प्वाइंट्स दिए जाते हैं। तुम्हारे कितने आर्टिकल प्रकाशित हुए, तुमने कितने सेमिनारों में हिस्सा लिया, कितने प्रपत्र लिखे वगैरह-वगैरह। इसी में सारा समय निकल जाता है। (पृ.12)

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में निम्न और निम्न मध्य वर्ग का संघर्ष कथानक के केंद्र में रहा है। संघर्ष के साथ-साथ इन्होंने जिजीविषा को भी महत्व दिया है। इसीलिए प्रार्थना का भाई कार्तिक अस्पताल में मरीजों को देखकर सोचता है- 'यहाँ सभी तो दुखी हैं...बीमारी, अकेलापन, दुर्घटना। अभाव, अवशता और चिंताएँ। पता नहीं इन सबके रहते हम कैसे जी लेते हैं। शायद इसीलिए कि इंसान में जिजीविषा होती है। इसी जिजीविषा के रहते वह संघर्ष करता है। पूरी जिंदगी इसी तरह बीत जाती है। जन्म लेते ही चाँदी के चम्मच तो गिनती के लोगों को मिलते हैं। शेष आबादी तो दाने-दाने के लिए, अपनी छोटी-छोटी सुविधाओं के लिए, हर दिन लड़ाई लड़ती है। (पृ.14) आगे भी जीवन में जिजीविषा के महत्व को इसी तरह प्रतिपादित करते हुए वह कहता है- 'जिंदगी भले ही कितनी ही अनिश्चित क्यों न हो, इंसान की जिजीविषा अंतिम क्षणों तक बनी रहती है। यही जिजीविषा व्यक्ति को संघर्ष करने का, प्रयास करते रहने का रास्ता दिखाती है। समस्या चाहे भीतर की हो या बाहर की, उसको झेलने और उसका समाधान खोजने के लिए जिजीविषा बहुत बड़ी प्रेरणा होती है। (पृ.34)

प्रासंगिक रूप से उपन्यासकार ने राजनीतिक संदर्भों पर भी अपनी टिप्पणी की है। डॉ. रशीद कहते हैं- 'इस देश में इतने सालों से इलेक्शन लड़े जा रहे हैं लेकिन नेताओं के भाषणों में इतनी गिरावट कभी नहीं देखी गई। सत्ता पक्ष संस्कृति, राष्ट्रवाद, आतंकवाद की बातें तो करता है लेकिन आम आदमी की बेसिक समस्याओं को किनारे धर देता है। भाई-भतीजावाद, जातिवाद तो पहले से ही हमारी राजनीति का हिस्सा रहे हैं। इस बार धर्म और सांप्रदायिकता का शोर भी सीमा पार कर गया है। देश के लगभग सभी सार्वजनिक संस्थान सत्ता पक्ष की धमकियों के आगे दुम हिलाते नजर आते हैं।' (पृ.39)नइस तरह इस उपन्यास की मूल कथा तो मुख्य रूप से चिकित्सा क्षेत्र में फैली विसंगतियों, स्वार्थ एवं अर्थ-लोलुपता के कारण हो रहे नैतिक पतन तथा संवेदनहीनता को उद्घाटित करती है लेकिन प्रासंगिक रूप से ही सही उपन्यासकार ने समूचे समाज में फैले भ्रष्टाचार और नैतिक-मानवीय मूल्यों के ह्रास की ओर संकेत किया है। साथ ही, प्रेम जैसी उदात्त भावना में त्याग के महत्व को प्रतिपादित करते हुए यह संकेत भी किया है कि प्रेम जाति और धर्म की संकीर्णताओं से परे की भावना है, जिसमें स्वार्थ, हानि-लाभ और सहूलियत के लिए कोई स्थान नहीं होता। इसमें परस्पर विश्वास, समर्पण और त्याग की भावना होती है, जो संवेदनात्मक रूप में एक दूसरे को जोड़े रखती है।

बहुस्तरीय लड़ाई का सच : तीसरी लड़ाई

– डॉ. श्यामसुंदर पाण्डेय

वर्ष २०२३ में प्रकाशित देवेश ठाकुर का चर्चित उपन्यास 'तीसरी लड़ाई' पहाड़ी जीवन की सच्चाइयों के साथ-साथ ग्रामीण जीवन की उन मुख्य समस्याओं को बड़ी बारीकी से व्यक्त करता है, जो आज अन्य भारतीय गाँवों की भी मुख्य समस्याएँ बनी हुई हैं । ऐसी समस्याओं में गाँवों से युवा पीढी का पलायन, बढ़ती नशाखोरी, परिवारों का टूटन और वृद्ध जनों का अकेलापन आदि प्रमुख हैं। आजादी के बाद गाँवों का युवा वर्ग शहरों की तरफ विशेष रूप से आकर्षित हुआ। इस आकर्षण का मुख्य कारण शहरों में रोजगार की संभावनाएँ और सुविधाएँ रहीं। देखते ही देखते आज गाँव सिर्फ कुछ वृद्धजनों के निवास के केंद्र बन कर ही रह गये हैं । कुछ दशक पहले तक शहरों में नौकरीशुदा कुछ लोग अवकाश प्राप्ति के बाद गाँवों की तरफ लौटते थे और एक नए जीवन की शुरुआत होती थी लेकिन आज वह घर वापसी भी बंद हो चुकी है। गाँवों का यही दर्द इस उपन्यास का एक प्रमुख पक्ष है- 'गाँव उजड़ रहे हैं। लड़के पाँच-साढ़े पाँच फिट के होते हैं तो बाहर निकल जाते हैं। खेती-बारी में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। उन्हें तो बस शहरों की जिन्दगी अच्छी लगती है। एक दिन आयेगा कि गाँव में कोई जवान लड़का दिखाई नहीं देगा।' (पृष्ठ- 43) लेखक की यह चिंता अब सत्य सिद्ध होने लगी है। अब तो एक समस्या यह भी दिखने लगी है कि यदि नौकरी पूरी करने के बाद कोई लौट कर गाँव में वापस आ भी गया तो गाँव के लोग उसे स्वीकार करने को बिलकुल तैयार नहीं हैं। यह उपन्यास ऐसे ही निराशापूर्ण वातावरण में मित्रता का एक नया आदर्श स्थापित करता है।

उपन्यास के कथानक का प्रारंभ फौजी उत्तम सिंह के गाँव वापसी से होता है। इन पहाड़ी क्षेत्रों के युवकों का भारतीय सेना के प्रति विशेष आकर्षण पहले से ही रहा है। उत्तम सिंह भी उन्हीं युवकों में से एक था जब उसे सेना में नौकरी मिली थी। कुछ दिनों तक देश सेवा करते हुए आतंकवादियों के साथ मुठभेड़ में वह घायल होता है और एक पैर बेकार पड़ जाता है। उसी के साथ उसकी नौकरी भी पूरी हो जाती है। घर लौटते डेढ़ पैर के उत्तम का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यहाँ लेखक द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह पाठक की आँखों को उपन्यास के प्रारंभ में ही नम कर देता है। अपने फौलादी विचारों और साहस के बाद भी उत्तम सोचता है-'अब तो इन्हीं पहाड़ों पर रहना है। नौकरी छूट गई है। फौज के संगी-साथी छूट गए हैं।....लेकिन इस डेढ़ पैर से इतनी दूर चलना हो सकेगा क्या... लेकिन कोशिश तो करूँगा।' (पृष्ठ-11) इन सबसे गुजरते हुए लेखक ने बसों, गाड़ियों, बस स्टेशनों, सड़कों की चढ़ाइयाँ, गाड़ियों का इंतजार करते और टपरी के चाय की चुस्कियाँ लेते लोगों का यथार्थ चित्रण किया है। इस क्षेत्र के अधिकांश लोग सेना में जाते हैं शायद इसीलिए सामान्य लोगों के मन में सैनिकों के प्रति सम्मान के अनेक उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं। घर पहुँचने पर उत्तम को संयुक्त परिवार की अनेक दैनिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह गाँवों में होते बदलावों और घर के सदस्यों के विचारों में हुए परिवर्तनों को भी महसूस करता है। घर की रोज-रोज

की खिटखिट उसे बहुत व्यथित करती है। वह देखता है कि उसकी पत्नी दिन भर मेहनत करती है फिर भी तमाम किस्म की समस्याएँ जन्म ले रही हैं। इन सबके पीछे उत्तम अपनी डेढ़ पैर की लाचारी मानता है। इसी दौरान गाँव की ही एक बारात में उसकी मुलाकात बचपन के मित्र रघु से होती है, जो अब अमीर बन चुका है। दयालु और सहयोगी स्वभाव का रघु अपने सैनिक मित्र उत्तम को अपने गाँव में घर बनाने और कुछ खेती करने की जमीन देने का प्रस्ताव रखता है। उत्तम रघु की बात मानकर उसके गाँव में चला जाता है और वहीं घर बनवाकर एक नई जिन्दगी शुरू करता है। बीच-बीच में छोटी-बड़ी अनेक ऐसी घटनाएँ होती हैं जो पाठक को उद्वेलित करती चलती हैं। घर छोड़ते युवकों के पिता की लाचारी और क्षेत्रीय गरीबी जैसे पक्ष भी इस उपन्यास में कथानक के मुख्य बिंदु हैं। कुल एक सौ बयानबे पृष्ठों के इस उपन्यास का कथानक जिस परिवेश से गुजरता है उसके सम्पूर्ण पक्षों को स्पर्श करते चलता है। सामाजिक उन्नति, सरकारी दावे, सैनिकों की जिन्दगी, गाँवों से लोगों का पलायन, बुढापे का अकेलापन, संयुक्त परिवारों की टूटन आदि अनेक मुद्दों पर लेखक कुछ ऐसे प्रश्न खड़े करता है जो प्रश्न पाठकों को एक बार ठहर कर विचार करने की सलाह देते हैं। वैसे भी देवेश ठाकुर की पहचान पूर्ण दृढ़ता से धारा के विरोध में लेखनी चलाने वाले लेखक के रूप में ही रही है और उनकी वही पहचान यहाँ पुष्ट होती है।

यह उपन्यास आजादी के अमृत महोत्सवी वर्ष की समाप्ति के साथ प्रकाशित हुआ है, जब हम पाँचवीं अर्थ व्यवस्था बन जाने के बाद तीसरी अर्थव्यवस्था बनने के सपने देख रहे हैं। ऐसे समय में भी देश के तमाम ऐसे क्षेत्र हैं, जहाँ विकास की किरणें दिखावे मात्र की ही पहुँच पाई हैं। हाँ, कागजी घोड़े अवश्य वास्तविक उन्नति से अधिक दौड़ रहे हैं। ऐसी ही उन्नति की बात करते हुए उपन्यास में गाँव का प्रधान कहता है-'खाक उन्नति हुई है अमर। कितने कारखाने लगे। कितनी फैक्ट्रियाँ लगीं। कितने स्कूल-कॉलेज खुले। सरकार चाहती तो यहाँ की परकिरती से, यहाँ की वनस्पति से कितना फायदा कमा सकती थी। बस, सड़कें बना दीं- वैसे उस लड़ाई के बाद से सेना की आमदरफ्त के लिए ये सड़कें बनना शुरू हो गई थीं।' (पृष्ठ-४३) गाँवों से शहरों की तरफ जो पलायन हो रहा है, उसकी जड़ों में रोजगारी और विकास के अवसरों की गाँवों में अनुपलब्धता ही मुख्य कारण है जबकि सरकारें चाहतीं तो स्थानीय लोगों की प्राकृतिक संपदा का सदुपयोग भी होता और लोगों को रोजी-रोटी की तलाश में अपने पुस्तैनी गाँवों से उखड़ना भी नहीं पड़ता। अभावों से जूझती यहाँ की युवा पीढी को जीवन-यापन का जब कोई मार्ग नहीं मिलता है तब लाचारी में उसे गलत मार्ग अपनाने पड़ते हैं, जो हर तरह से देश और समाज के लिए घातक होते हैं। नशाखोरी से सम्बधित पदार्थों की खरीद-फरोख्त में इन युवकों की संलिप्तता का मुख्य कारण उनकी गरीबी है और इस गरीबी की जड़ उनकी बरोजगारी है। नवयुवकों की नशाखोरी में संलिप्तता के अनेक उदाहरण इस उपन्यास में दर्शनीय हैं। लेखक कहीं उनका उदाहरण प्रस्तुत करता है तो कहीं अपने मार्ग से भटकते युवकों के प्रति चिंता जाहिर करता है -'हल्द्वानी, रानीखेत, रामनगर से और दूसरी जगहों से हमारे लड़के थैले भर-भर कर शराब के पौच लाते हैं और इधर गाँवों में बेच जाते हैं। ...हमारे पहाड़ों को शराब का कीड़ा लग गया है।

बालिस्त भर के बच्चे भी शराब पीने लगे हैं। मेरा तो यह मानना है कि पहाड़ दूसरा पंजाब बन रहा है।'(पृष्ठ-४३) नशाखोरी में डूबते चाहे पंजाब के युवकों की बात हो या उत्तराखंड के युवकों की, लेखक इस समस्या की जड़ बेरोजगारी को ही मानता है और वही सच्चाई भी है। हमारे सभ्य समाज के लिए यह चिंतनीय है कि जिन नौजवानों को स्कूल-कॉलेज में जाकर शिक्षा प्राप्त करना चाहिए, जिनके हाथों में कागज-कलम होनी चाहिए, जिनके कंधों पर देश की भावी जिम्मेदारियाँ आने वाली हैं, जो नौजवान आगे चलकर देश के सभ्य नागरिक की भूमिका निभाने वाले हैं, वे ही तनिक पैसे के लालच में नशा की सामग्री बेच रहे हैं और स्वयं भी इन व्यसनों के आदी बन चुके हैं। लेखक ने उपन्यास के कई प्रसंगों में नशा खोरी में संलिप्त होती युवा पीढ़ी के प्रति चिंता व्यक्त की है। उपन्यास के उत्तरार्ध में इसी नशाखोरी पर चिंता व्यक्त करते हुए उत्तम का मित्र रघु कहता है, 'वैसे उत्तम, मैं तुमसे कहूँ कि गाँव के छोटे-छोटे लड़कों ने भी अब पीना शुरू कर दिया है। कहीं कोई रोक-टोक है ही नहीं। सरकार को पैसे मिल जाते हैं, जनता जाए भाड़ में। देश और समाज में यह अच्छा नहीं हो रहा है।' देवेश जी अपने सम्पूर्ण साहित्य में इसी अच्छे समाज की परिकल्पना करते दिखाई देते हैं। वे उस आदर्श समाज की खोज करते हैं जहाँ सबकुछ स्वस्थ और सुन्दर हो। प्रस्तुत उपन्यास में भी समाज के गलित पक्षों के प्रति लेखक विशेष जागरूक दिखाई देता है जिसके पीछे आदर्श समाज की परिकल्पना ही है।

गरीबी का हमारे भारतीय समाज से पुराना नाता रहा है । इसके लिए गुलामी और अशिक्षा मुख्य कारण माने जाते रहे हैं। आजादी के बाद हमारे राजनेताओं द्वारा विकास के बड़े -बड़े दावे भी किये जाते रहे। निश्चित ही विकास की गाड़ी कुछ आगे बढ़ी भी लेकिन अमीरी और गरीबी की असमानता की खाई ने उसे पूर्णरूपेण आगे नहीं बढ़ने दिया। देवेश जी इस खाई की बढ़ती गहराई को अच्छी तरह पहचानते हैं और उसे अपने उपन्यास का एक मुख्य पक्ष बनाते हैं। लेखक का पहाड़ी क्षेत्र भी इस समस्या से अछूता नहीं है। उपन्यास में वर्णित इस क्षेत्र की गरीबी का एक ही उदाहरण यहाँ के विकास के सभी सरकारी दावों को खारिज करने की सामर्थ्य रखता है- नौकरी से घर लौटते समय उत्तम जिस कुली से बात करता है, वह कहता है कि 'मेरी तो मजबूरी है। पैसे की बहुत जरूरत है। घर में बाप मरा हुआ पड़ा है। सुबह को उसे दफनाना है।' (पृष्ठ-१९) शव को घर में छोड़ कर उसे दफनाने की व्यवस्था में यदि बेटा कुली का काम कर रहा है तो सचमुच यह उदाहरण हमारे सभ्य समाज के मुँह पर एक झन्नाटेदार तमाचा है। क्या गरीबी के मामले में देवेश ठाकुर का युग प्रेमचंद के युग से भी पीछे चला गया है? क्या हमारे समाज की संवेदना इस हद तक मर चुकी है कि अपने पड़ोस के शव को ठिकाने लगवाने में भी हम कुछ मदद नहीं कर पा रहे हैं? क्या देवेश ठाकुर का कुली और उसका समाज प्रेमचंद के घीसू और माधव के समाज से भी गया-गुजरा हो गया है? लेखक का अपने क्षेत्र की गरीबी के चित्रण में कुछ अधिक रम जाना स्वाभाविक है। यद्यपि कि सरकारी दावों के अनुसार ऐसी गरीबी भारत से विदा हो चुकी है।

इसी गरीबी के बीच ग्राम प्रधान का ठाटबाट दिन दूनी रात चौगुनी से भी अधिक गति से बढ़ा है। उनके बच्चे महँगे अंग्रेजी स्कूल-कॉलेज में पढ़ रहे हैं। गाँव में ही

सुख के सभी संसधान उनके पास उपलब्ध हैं। यहाँ लेखक द्वारा छोटे-बड़े हर स्तर के राजनेताओं की संपत्तियों में बेहिसाब इजाफे का यथार्थ चित्रण किया गया है। अपना जीवन दाँव पर लगाकर देश की रक्षा करने वाला सैनिक उत्तम आज गरीबी में जी रहा है लेकिन ग्राम प्रधान के घर को देख कर उसे लगता है कि 'बड़े लोगों के मकान ऐसे ही होते हैं। ...आँगन में पत्थर नहीं, एकसार राजस्थानी चिकनी टाइल्स लगी हुई हैं। ...पूरा आँगन जैसे गोबर से पुता हुआ दीखता है।' (पृष्ठ-४२) यद्यपि कि उत्तम के पिता जी भी नेता रह चुके हैं लेकिन धन उगाही के जितने अवसर आज इन नेताओं को उपलब्ध हैं अथवा स्वयं तैयार कर लिए जाते हैं, वे या तो पहले के नेताओं को उपलब नहीं थे या नैतिकता का नशा उन पर चढा हुआ था। पुरानी पीढी के नेताओं के लिए सच्चाई उनके जीवन का प्रमुख अंग थी। उस पीढ़ी के नेताओं के लिए 'सच्चाई अब भी जिंदा है। सच्चाई जिंदा है तो हम भी जिंदा हैं।' उसी पीढी के उत्तम के पिता आज अकेलेपन और संयुक्त परिवार के टूटन की पीड़ा से गुजर रहे हैं। उन्हें लगता है कि आज पूरा समाज दिग्भ्रमित हो गया है। 'सब जगह सब कुछ टूट बिखर रहा है। आज के नेता लोग कहते हैं कि देश ने आजादी के बाद बड़ी परगति की है। ...परगति तो हुई है लेकिन आदमी बहुत छोटा हो गया है। बहुत स्वार्थी और बहुत निरपेक्ष। वह सिर्फ अपने फायदे के बारे में ही सोचता है । कैसे भी हो, ऊपर की सीढी चढ़ना चाहता है । इसमें भले ही दूसरे मानुस की जान क्यों न चली जाए।' (पृष्ठ-१३९) उत्तम के पिता की यह पीड़ा आज के सम्पूर्ण वृद्ध पीढ़ी की पीड़ा है। दूसरों को गिराकर अपनी ऊँचाइयाँ बढ़ा लेने वाली वृत्ति नैतिकता के पतन की पराकाष्ठा ही कही जायेगी, जिसके प्रति देवेश जी इस उपन्यास में विशेष चिंतित दिखाई देते हैं। टूटन और बिखराव की इस पीड़ा से उत्तम के पिता जी तो गुजर ही रहे हैं, स्वयं उत्तम भी इसका अनुभव करता है। सेना से लौटते समय वह सोचता है कि 'इतने सालों तक देस की सेवा कर ली और अब सांति से अपनी आगे की जिन्दगी जी लूंगा। ...बौज्यू हैं, भाई हैं, सब हैं। ...लेकिन यहाँ तो जिन्दगी इन छह-सात महीनों में ही दो फाड़ हो गई है। घर परिवार के सभी लोग एक दूसरे से कटे हुए हैं। कोई किसी की चिंता नहीं करता। किसी को किसी की परवाह नहीं है।' (पृष्ठ-९२) परिवार की ऐसी गतिविधियों के कारण ही उसे लगता है कि जिन्दगी 'कूड़ा बनकर रह गई है।'

जातिवादी व्यवस्था भारतीय समाज की खुजली पहले से ही रही है। आजादी के पिछले पचहत्तर वर्षों से हमारे राजनेताओं द्वारा इसे मिटाने की बातें तो की जाती रहीं लेकिन उसके विरुद्ध कोई ठोस कार्यवाही नहीं हो सकी। बल्कि अनेक रूपों में इसे हवा देकर बढ़ाने का प्रयास ही अधिक किया जाता रहा। देवेश जी इस जातिवादी व्यवस्था के सख्त विरुद्ध हैं। उपन्यास का मुख्य पात्र उत्तम के माध्यम से लेखक कहलवाता है कि 'अभी तक गाँवों में बामन, ठाकुर, डोम चल रहा है। इंसानियत तो जैसे जड़ हो गई है। हमारी फौज में सब इन्सान होते हैं। उनकी एक ही जाति होती है।' (पृष्ठ-६८) लेखक का स्पष्ट मानना है कि तथाकथित उच्च जातियों के पास जो सुख-सुविधाएँ हैं, उनकी जड़ों में श्रमजीवियों का ही खून-पसीना लगा है। जिनकी जी तोड़ मेहनत विकास को गति प्रदान करती है, जो अपना जीवन खपा कर, झोपड़ियों में तमाम असुविधाओं

के बीच रहकर अमीरों के लिए महल बनाते हैं, अमीरों के लिए जो सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराते हैं, उन्हीं श्रमजीवियों को जाति के नाम पर सुख-सुविधाओं से अलग कर देना और हीन दृष्टि से देखना 'श्रम' का सरासर अपमान है। लेखक इस जातिवादी व्यस्था पर करारी चोट करते हुए प्रश्न उठाते हैं कि-'ये लोग नहीं होते तो तुम्हारे खेत कौन जोतता। कौन तुम्हारी फसल काटता। कौन तुम्हारी चाकरी करता।... ये छोटे लोग हैं तो हम हैं। ....हमारा परिवार, हमारा समाज, हमारा संसार इन्हीं की मेहनत पर टिका है।' (पृष्ठ-६९)

गाँवों से युवकों के पलायन ने अपनी पिछली पीढ़ी को निहायत लाचार बना दिया है। जिन बच्चों को पढ़ाते-लिखाते और शहर में नौकरी शुरू करते देख कर लोग उनके माता-पिता की सफलता का अंदाजा लगाया करते थे, वे सफल माता-पिता बुढापे में पहुँचकर ठगे हुए से महसूस कर रहे हैं। गाँवों में उन्हें अकेलेपन का भूत काटने दौड़ता है तो गाँव छोड़कर शहरों में बच्चों के पास चले जाने में उन्हें अपमान की अनुभूति होती है। 'वहाँ पुरुखों की जमीन है, अपना गाँव है, अपने लोग हैं। यहाँ आ गया तो लोग क्या कहेंगे। फिर यह भी तो है कि जहाँ अपनी सारी जिन्दगी बिता दी, उस जगह का मोह भी तो नहीं छोड़ा जा सकता।' (पृष्ठ-१७६)' अपनी जमीन और गाँव के प्रति यही मोह इस पीढी को कछुए की लील में डाल दिया है। सभी सुविधाओं और व्यापक भीड़ के बीच भी शहरों का एकांत उन्हें काटने दौड़ता है और गाँवों की असुविधाएँ एवं अकेलापन शहर की अपेक्षा अच्छा लगता है। उत्तम द्वारा बौज्यू को अपने पास रखने की बात जब कही जाती है तो वे निराशा पूर्वक कहते हैं- 'गाँव में अभी भी कुछ लोग मेरी इज्जत करते हैं। वे अब भी मुझे नेता जी कहकर पुकारते हैं। सुनकर अच्छा लगता है। उन्हें आशीर्वाद देने के लिए हाथ उठ जाते हैं।' (पृष्ठ - १७६) शहरों में न तो कोई इज्जत करने वाला है, न कोई आशीर्वाद का आकांक्षी है और न ही आशीर्वाद देने के लिए कि सी के हाथ उठते हैं। अपनी संतानों को पढ़ा-लिखा कर नौकरी के दहलीज तक पहुँचा कर सफल कही जाने वाली अभिभावकों की इस पीढी के दर्द को लेखक ने 'तीसरी लड़ाई' उपन्यास में बड़े ही नजदीक से देखा और चित्रित किया है। उत्तम के पिता के रूप में लेखक ने जिस पात्र की सर्जना की है वह अपने समय का सच कहने में पूर्णतः सक्षम है। चार-चार पुत्रों का पिता, अपने क्षेत्र के लोगों द्वारा 'नेता जी' का संबोधन सुनते जीवन बिता देने वाला नेता, एक ऐसे घर का मुखिया जहाँ रात-दिन चहल-पहल मची रहती थी, वह उपन्यास में आज अपने बिखरते घर को न तो सम्भाल पा रहा है और न ही गाँव छोड़ कर अपने बेटों के पास जा पा रहा है। एक जवान बेटे त्रिलोकी की मृत्यु पर वह बूढ़ा उतना नहीं टूटता है जितना एक-एक कर घर से निकलते बेटों को देख कर टूट रहा है। अब तो उसके लिए 'सब खतम हो गया है।' (पृष्ठ-१४७)

उपन्यास में चित्रित रघु और उत्तम की दोस्ती के माध्यम से लेखक ने एक आदर्श उदाहरण प्रस्तुत किया है। चाचा जी से प्राप्त जमीन को रघु द्वारा उत्तम को दिलवाकर परोपकार और निःस्वार्थता का लेखक ने सुन्दर चित्रण किया है। सैनिकों के प्रति सम्मान की भावना भी यहाँ देखी जा सकती है। रघु, उसकी पत्नी रुपाली, उत्तम, उसकी पत्नी सरू, बेटा परदीप आदि के रूप में लेखक ने आदर्श पात्र गढ़े हैं। अनेक स्थानों पर

खुलते विद्यालयों का चित्रण कर लेखक शिक्षा के प्रति बढ़ती जागरूकता की तरफ भी संकेत किया है। वहीं यह सच्चाई भी झलकती है कि विद्यालयों का संचालन अब समाजसेवा से अधिक अर्थोपार्जन का माध्यम बन चुका है। इसीलिए आर्थिक रूप से सम्पन्न तमाम लोग शिक्षा मंदिरों की स्थापना कर लेना चाहते हैं। उपन्यास का अंत लेखक ने बड़ा ही रोमांचक बना दिया है। साथ ही प्राकृतिक प्रकोपों से जूझते इस क्षेत्र के लोगों की सच्चाई भी उभर कर आती है। बादलों का फट जाना, पहाड़ों का गिर जाना, नदियों में अचानक बाढ़ आ जाना जैसी प्राकृतिक आपदाएँ इस क्षेत्र के लोगों के लिए जानी-पहचानी मुसीबतें लेकर आती रहती हैं। इन क्षेत्रों में सरकारी सुविधाएँ आज भी नाममात्र ही पहुँच सकी हैं। इसीलिए लोगों को रस्सियाँ पकड़ कर ही नदियों को पार करना पड़ता है। ऐसी ही रस्सी के सहारे गगास पार करते विद्यालय के सबसे प्रतिभावान छात्र और उत्तम के बेटे परदीप के नदी में गिर जाने की घटना पाठक को आन्तरिक रूप से हिला देती है। उपन्यास के अंत में बड़े ही जादुई ढंग से उस बच्चे का मिल जाना खुशी का हल्का झोंका लेकर आता है और देवेश ठाकुर की श्रेष्ठ कथाकारिता का प्रमाण देकर चला जाता है। परदीप को गगास में गिराकर लेखक पाठक के मनःस्थिति की बागडोर अपनी हाथ में ले लेता है। यहाँ पाठक की आँखों में आँसू तो दुःख के जमा होते हैं लेकिन उनके ढुलकने के पूर्व ही लेखक अपनी कला से उन्हें खुशी के आँसुओं में बदल देता है।

उपन्यास का भाषिक पक्ष पूर्णतः पात्रानुकूल और सरल है। संवादों में क्षेत्रीयता का पुट सर्वत्र देखा जा सकता है। उपन्यास में ग्रामीण जीवन के बदलावों के माध्यम से लेखक ने ग्रामीण भारत की वास्तविक तस्वीर प्रस्तुत की है।

असोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
बी.के.बिड़ला महाविद्यालय, कल्याण (महाराष्ट्र)

देवेश ठाकुर के साहित्य में वर्णित स्त्री विमर्श

- डॉ. डी. एस. भण्डारी

किसी भी साहित्यिक रचना में रचनाकार का व्यक्तित्व दिखाई देता है। व्यक्ति पर जैसे उसके परिवेश अनुभव संस्कार की छाप दिखाई देती है, ठीक उसी प्रकार उसकी रचना पर भी उसकी छाप दिखाई देती है। किसी भी रचना को रचनाकार के व्यक्तित्व से अलग करके नहीं देखा जा सकता है। देवेश ठाकुर के सम्बन्ध में भी ठीक यही कथन लागू होता है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में उनका व्यक्तित्व बोलता है। देवेश ठाकुर ने अपने कई उपन्यासों और कहानियों में स्त्री अस्मिता के प्रश्नों को छुआ है। उन्होंने बहुत मन से समसामयिक स्त्री विमर्श को प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य में भिन्न-भिन्न रूपों में स्त्री चरित्र मिलते हैं और उनके स्त्री पात्र पाठकों का ध्यान आकर्षित करने में भी सफल रहते हैं। हमारे पितृ सत्तात्मक समाज में स्त्री को दोयम दर्जा प्राप्त है, परन्तु आज स्थिति दिन-प्रतिदिन बदलती हुई दिखाई देती है।

वैदिक काल में स्त्री को पुरुष से अधिक सम्मान प्राप्त था, लेकिन धीरे-धीरे परिवार और समाज में उसकी स्थिति में परिवर्तन हुआ और समाज पितृ-सत्तात्मक स्थापित हो गया। पितृ- सत्तात्मक समाज में स्त्री की स्थिति दोयम दर्जे की बन गई और वह पूर्ण रूप से पुरुष पर आश्रित दिखाई देने लगी। देवेश ठाकुर ने ऐसे कई चित्र अपनी कहानियों और उपन्यासों में उकेरे हैं। यदि पुरुष को ऐसा आभास होता है कि महिला उसकी उपेक्षा कर रही है चाहे वह महिला पद प्रतिष्ठा में उससे बड़ी ही क्यों न हो तब भी वह कोई कारण जानने का प्रयत्न नहीं करता, वरन उसका अहं जाग उठता है। 'स्वभावतः उसके बारे में जानने की इच्छा मेरे भीतर कुल बुलाने लगी, लेकिन अपनी वरिष्ठता के अभिमान में मैं गंभीर ही बना रहा।[1] बहुत समय बाद भी जब वह स्त्री कोई ध्यान नहीं देती तब उसका अंहकार बाहर निकलने लगता है।'' उसकी उपेक्षा मुझे भीतर तक कचोट गई मैं एक विख्यात अखबार का अवकाश प्राप्त सम्पादक, बीसियों उपन्यासों और दर्जनों ग्रंथों का प्रतिष्ठित लेखक जिसकी अनेक पुस्तकों का अनुवाद अनेक विदेशी भाषाओं में हो चुका है- रशियन, जर्मन, फ्रेंच, और न जाने कितनी भाषाओं में, परसों ही इक्यावन हजार रुपए के सेठ मंगलदास साहित्य पुरस्कार से सम्मानित हुआ हूँ और यह छोकरी मेरी उपेक्षा कर रही है।[2]

कहानी के अन्त में उसे ज्ञात होता है कि जिस सेठ मंगलदास साहित्य पुरस्कार को प्राप्त कर वह अहं भाव से भरा है, वह पुरस्कार वह स्त्री ही देती है। कुछ दशकों से स्त्री घर की चार दिवारी से निकल कर सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्रों के साथ ही अपने परिवार में भी कई प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह कर रही है। पुरुष तुलना में स्त्री कितनी भी सफल क्यों न हो, वह कितनी ही सफलता प्राप्त कर ले पुरुष और पुरुष प्रधान समाज की नजर में वह अबला ही दिखाई देती है। पितृ-सत्तात्मक परिवार में लडकी की उमंगों का गला किस प्रकार घोंट दिया जाता है, यह 'कातर बेला' उपन्यास में दिखाया गया है। पिता की नजर में पुत्री के सपनों का कोई महत्व नहीं है। अपने पिता के व्यवहार से सोनाली अत्यधिक व्यथित है। वह कहती है- 'लेकिन लोग मेरा बा' ही देख पाते हैं। अकेली सुनसान रातों में मेरे अन्दर एक खालीपन और अकेलापन को लेकर जो

बवंडर उठता है, उसे कोई नहीं जानता। सुबह उठकर मैं भी नहीं जानना चाहती हूँ कि रात भर मैं कौन से भरम को जीती रही हूँ, लेकिन इससे मेरे भीतर उगे इस भ्रम की सच्चाई तो समाप्त नहीं हो जाती।''[3] 'कातर बेला' उपन्यास में सोनल मेहता के बहाने देवेश ठाकुर महिलाओं की अत्यधिक और ज्वलंत समस्याओं की ओर ध्यान दिलाते हैं। समाज में स्त्री शारीरिक यातना ही नहीं सहती वरन मानसिक यातनाओं से भी वह टूट जाती है। समाज ही नहीं अपने सगे भी उसके साथ कैसा दोहरेपन का व्यवहार करते हैं, यह कातर बेला में दिखाई देता है। सोनल के प्रेम को उसके पिता स्वीकार नहीं करते। इसलिए वह सोनल के प्रेमी को कार एक्सीडेन्ट में मरवा देते हैं, उसके गर्भ को किसी अस्पताल में गिरवा देते हैं, ऊपर से अपनी पुत्री को सांत्वना देते हैं कि अच्छे बच्चे रोते नहीं। जिंदगी रोने के लिए नहीं होती। जिन्दगी में जब किसी घटना से कुछ नहीं मिलता तो भी अनुभव तो मिलता ही है।[4] उनके उपन्यासों की नारी बंधनों में नहीं बँधना चाहती है। वह उन्मुक्तता के आकाश में उड़ना चाहती है और वह अपने विचारों को खुलकर सामने रखती है। 'इसीलिए' की नायिका मीनाक्षी भी अपने परिवेश से दुखी है। वह वेश्यावृत्ति करती है। वह कहती है कि मैं तुम्हारी प्रेमिका नहीं हूँ, एक वेश्या हूँ जो व्यक्ति विशेष की नहीं सम्पूर्ण समाज की होती है। मैं इतना पैसा चाहती हूँ कि अपनी संतान को राजकुमारी जैसा रख सकूँ। मैंने अपना जीवन अपने अजन्मे बालक को समर्पित कर दिया है। मैं यह पाप अपने उस पुण्य को बटोरने के लिए कर रही हूँ।[5]

'इसीलिए' की नायिका मीनाक्षी के प्रति लेखक की सहानुभूति दिखाई देती है। कुछ आलोचक मानते हैं कि मीनाक्षी के प्रति उनकी यह सहानुभूति वैचारिक और सामाजिक सरोकारों के विपरीत है।[6] पिता की इतनी बेरुखी के बाद भी सोनल टूटती नहीं है। वह जीवन जीने की सोचती है। वह हादसा जो उसके जीवन को नष्ट कर डालता है, उसे भूलने का वह प्रयास करती है। वह कहती है कि हम औरतों की यह खूबी तो होती ही है कि वह कुछ हादसों, कुछ घटनाओं को अपने भीतर इस तरह छिपा ले जाती है, जिसकी किसी दूसरे को हवा तक नहीं लगती, मर जाने पर वे घटनाएँ उसके साथ ही दफन हो जाती हैं। दुनिया को कभी कुछ पता नहीं चल पाता है। मेरे सन्दर्भ में तो पापा ने इस हादसे के स्रोत ही नष्ट करवा दिये थे।

अपनी पुत्री के प्रति किये गये इस व्यवहार के बाद भी सोनल के पिता द्वारा कोई प्रायश्चित नहीं किया जाता है। 'कातर बेला' उपन्यास के बाद 'जंगल के जुगनू' नामक उपन्यास में भी देवेश ठाकुर ने नारी-अस्मिता के अनेक प्रश्न उठाये हैं। नारी को समाज से पूर्व अपने घर- परिवार में अपनी पद-प्रतिष्ठा के लिए संघर्ष करना पडता है। यह पूर्णतया सत्य है कि नारी को अपने परिवार में वह स्थान आज तक प्राप्त नहीं हुआ, जिसकी वह हकदार है। यह उपन्यास नारी हृदय की गहराइयों से अवगत कराता है। 'कातर बेला' उपन्यास की भाँति 'अपना-अपना आकाश' में प्रिया अपने पिता से प्यार नहीं पाती है। वह प्रकाश के चंगुल में फँस जाती है लेकिन जब वह उसके चंगुल से मुक्त होती है, तब कहती है कि आपने सच ही कहा था, हर आदमी का अपना-अपना आकाश होता है, अपने संस्कार और अपना परिवेश होता है, अब जाकर मैं सच्चाई को समझ पाई हूँ। नारी अथाह शक्ति का भण्डार होते हुए भी पुरुष के षडयन्त्र का शिकार हो

जाती है। पुरुष-प्रधान भारतीय समाज की नारी के मन पर जकड़न देखी जाती है। आज प्रेम सम्बन्धों के साथ विवाह सम्बन्धों में भी परिवर्तन दिखाई देता है। देवेश ठाकुर के अंततः उपन्यास की नायिका पद्मा के लिए विवाह मात्र एक समाजिक समझौता है। वह शादी के बाद भी अपने पुराने मित्र के साथ शारीरिक सम्बन्ध बनाए रखना चाहती है। वह अपने नये जीवन- साथी को कुछ विशेष महत्व नहीं देती है। देवेश ठाकुर के उपन्यासों में विवाह का आधार प्रेम नहीं है वरन एक सामाजिक समझौता दिखाई देता है।[7]

'इसीलिए' उपन्यास में मीनाक्षी अपने ही अंकल के हवस का शिकार बनती है। स्त्री यदि विवश हो तो वह विद्रोह भी नहीं कर सकती है। वह कहती है कि मुझ जैसी लड़की कालॅगर्ल ही हो सकती है। न होती तो समाज के कुत्ते-भेड़िये मुझ जैसी अकेली लड़की को अंकल की तरह मुफ्त में नोच खाते। आजादी के बाद इस देश में जो संस्कारहीन नवधार्मिक वर्ग उभरा है, वही मेरा ग्राहक है। उसी के पास सैक्स और शराब में हर रात हजारों रुपए उडाने का सामर्थ्य है। फिर मंत्री है और पैसा भी आता रहा है। मैंने पिछले वर्षों में मुम्बई में जो जीवन देखा है, उससे अपने शानदार भविष्य के लिए कहीं कोई आशंका नहीं रह गई।[8]

स्त्री के लिए पुरुष का साथ जरूरी है, लेकिन यदि उसे पुरुष का साथ नहीं मिलता है तब भी वह अपने दुख का बोझ स्वयं ढोने के लिए तैयार रहती है। कुछ माह बीते उस विधवा ने एक बच्चे को जन्म दिया, लेकिन वह उसे लोगों से छिपाए रखती है। उसने बच्चे को कभी अपनी झोपड़ी से बाहर नहीं निकाला, न ही कभी उसे धूप दिखाई। जो दूसरों को खुश रहने और संघर्ष करने की प्रेरणा देती थी, वह खुद खामोश शान्त और शिथिल हो गई है।[9]

'विकलांग' कहानी की नायिका विधवा होने पर विकलांग बच्चे को जन्म देती है और पुनः विवाह इसलिए नहीं करती है कि कहीं वह फिर से विकलांग बच्चे को जन्म न दे। स्त्री अगर प्रेम करती है तो अपना सब कुछ समर्पित करने का प्रण करती है। 'अपराध बोध' की शकुन्तला अपने पति की मृत्यु के बाद अपने देवर से प्रेम करती है और उसके साथ जीवन जीना चाहती है- 'ऐसा है देवर जी अकेली जवान औरत को गाँव-समाज वाले चैन से नहीं जीने देते। उसका जीना मुश्किल कर देते हैं। तो मैं अगर तुम्हारे घर बैठ जाऊँ, मैने हिम्मत जुटाकर कह ही दिया।[10] स्त्री विषम से विषम परिस्थिति में भी अपने पति का साथ नहीं छोडती है, जबकि पुरुष बुढ़ापे में अकेला जीवन यापन की कल्पना से ही सिहर जाता है। 'साथ-साथ' कहानी में अवस्थी का बेटा अंकुर कनाडा से घर आया है। वह अपनी माँ संगीता को साथ ले जाना चाहता है। संगीता से अलग होकर रहने की कल्पना से ही अवस्थी सिहर उठते हैं। जब वह संगीता से इस सम्बन्ध में पूछते हैं तो वह कहती है कि बुढ़ापे में पगला गए हो क्या? तुमने कैसे सोच लिया कि में उनके साथ जाने की सोच भी लूँगी? अंकुर ने तो हमारा अपमान ही किया है। तुम्हें आने के लिए नहीं पूछा।[11]

वर्तमान समय में सामाजिक स्थिति और उसकी सामाजिक भूमिका में जो परिवर्तन दिखाई देता है, उसका मुख्य कारण उसकी आत्म निर्भरता है। शिक्षा की स्थिति में सुधार होने पर भी स्त्री की सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है। हमारे समाज पर जब

पाश्चात्य शिक्षा- संस्कृति का प्रभाव पड़ा, उसके पश्चात नारी-मुक्ति की गाथा गाई जाने लगी। हमारी संस्कृति में स्त्री-पुरुष जिसमें दो पहलू हैं और दोनों एक दूसरे के अभाव में अधूरे हैं। पुरुष और स्त्री एक दूसरे के पूरक हैं। भारतीय समाज में बहुत पूर्व से ही स्त्री को पुरुष से अधिक अधिकार प्राप्त कर स्त्री पर देवी का आरोपण किया जाता रहा है। समाज में नर और नारी की भूमिका समान नहीं थी वरन नारी को अधिक महत्व प्राप्त था। नारी मुक्ति, नारीवाद, नारी विमर्श यह जितने भी शब्द हैं, यह पाश्चात्य संस्कृति की देन हैं। स्त्री और पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं, यह भारतीय अवधारण है और इसी अवधारणा को देवेश ठाकुर ने अपने साहित्य में पुष्ट किया है।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर, फैसला तथा अन्य कहानियाँ पृ. -10
2. वही, पृ. -10
3. देवेश ठाकुर, कातर बेला पृ. -76
4. देवेश ठाकुर, कातर बेला पृ. -48
5. देवेश ठाकुर, इसीलिए पृ. -50
6. डॉ. अरुणा दुबलिश, संपा. डॉ. प्रवीण चन्द्र बिष्ट, रचनाधर्मी देवेश ठाकुर, पृ. 86
7. देवेश ठाकुर, अपना अपना आकाश, पृ. 158
8. देवेश ठाकुर, इसीलिए, पृ. 49
9. देवेश ठाकुर फैसला तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 17
10. देवेश ठाकुर फैसला तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 43
11. देवश ठाकुर फैसला तथा अन्य कहानियाँ, पृ. 57

विभागाध्यक्ष, हिन्दी, बालगंगा महाविद्यालय
सेन्दुल केमर, टिहरी-गढवाल उत्तराखण्ड
- राणा भवन, निकट जल संस्थान
चमियाला, टिहरी गढवाल-249125।

देवेश ठाकुर के परवर्ती उपन्यासों में विमर्श के विविध आयाम

(सन् 2000 के बाद के उपन्यासों के संदर्भ में)

- डॉ. राठोड बाळु भोपू

देवेश ठाकुर ने हिंदी साहित्य जगत् में एक प्रयोगधर्मी तथा बहुआयामी उपन्यासकार के रूप में अपनी उल्लेखनीय पहचान बनाई है। समाज में घटित होनेवाली अलग-अलग घटनाओं को उन्होंने अपने उपन्यासों के केंद्र में रखा है। साहित्य समाज का दर्पण होता है और साहित्य भी अपना प्रभाव समाज पर छोड़ता है, यह बात देवेश ठाकुर के उपन्यासों के माध्यम से सत्य प्रतीत होती है। रचनाकार ने अपने उपन्यासों में केवल समस्याओं का वर्णन ही नहीं किया है बल्कि उन समस्याओं का हल निकालकर कुछ प्रश्नों के उत्तर खोजने का दायित्व पाठकों पर सौंप दिया हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में सामाजिक शांति में बाधा डालने वाली बातों की कड़ी निंदा की है। यथार्थवाद के साथ-साथ उन्होंने अपने उपन्यासों में नारी समस्या का चित्रण और मानव मूल्यों की पैरवी भी की है। अलग-अलग प्रसंगों का चित्रण करते समय उनकी प्रगतिशील विचारधारा उजागर हुई है। समाज, राजनीति, शिक्षा, धर्म, संस्कृति आदि बातों को लेकर भी उन्होंने अपने उपन्यासों में विचार-विमर्श किया है।

समाजिक धरातल पर स्त्री और पुरुष के आपसी स्नेह को निरंतर बनाए रखने के लिए विवाह को एक संस्कार के रूप में माना गया है। देवेश ठाकुर जी ने 'जंगल के जुगनू' में दांपत्य जीवन की नीरसता एवं अविश्वास को व्यक्त किया है। अशोक का विवाह देवांगी से होता है किन्तु अशोक से देवांगी को कभी प्रेम मिलता नहीं। वह उसे केवल जिस्म के रुप में देखता है। अशोक एक चरित्रहीन पुरुष है। उसके बारे में देवांगी पलक से कहती है- 'धीरे-धीरे मेरे सामने अशोक की असलियत खुलने लगी। बाहर से वह जितना शालीन और सभ्य लगता था, भीतर से उतना ही कठोर और कामुक था। उसकी नजर में मैं उसके लिए एक जिस्म थी।'[1] अशोक व्यवसायी पिता का पुत्र होने के कारण उसका विदेशों में आना-जाना लगा रहता है। उसने अमेरिका में रोज नाम की लड़की से विवाह कर लिया था और उसका एक बच्चा भी था। यहाँ पर देवांगी का वैवाहिक जीवन असफल रहता है। अशोक की करतूत का उसके पिताजी को जब पता चलता है तो वह उसे अपनी संपत्ति से बेदखल कर सारी जायदाद देवांगी के नाम कर देते है। वर्तमान दौर में अलग-अलग कारणों से असफल विवाह की समस्या आए दिन बढ़ती जा रही है।

'कातरबेला' उपन्यास में भी दांपत्य जीवन में आनेवाले तनाव एवं खालीपन का चित्रण देवेश ठाकुर ने किया है। रायबहादुर एवं काजल पति-पत्नी हैं। कहने के लिए दोनों विवाह के बंधन में बँधे हुए हैं किन्तु उनके दांपत्य जीवन में संतुष्टि का अभाव दिखाई देता है। काजल बात-बात पर रायबहादुर को ताने मारती है। रायबहादुर का जीवन संवारने में काजल के पिता की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। इसी बात के कारण काजल के मन में अहं भाव निर्मित होता है। यही अहं भाव उन्हें तनाव, खालीपन और

असंतुष्टि की ओर ले जाता है। प्रस्तुत उपन्यास में नारी-मन नहीं बल्कि पुरुष-मन घायल हुआ है। रायबहादुर कहते हैं- ' शादी के बाद काजल मुझे कितने ताने देती रही। क्या पत्नी को यह सब शोभा देता है। ठीक है उसके पिता ने मेरी जिंदगी बनाई, लेकिन उसके लिए बार-बार उलाहना देना मैं बर्दाश्त नहीं कर पाया। कोई भी स्वाभिमानी व्यक्ति बर्दाश्त नहीं करता।'[2] पति-पत्नी के इस तरह के आपसी व्यवहार का दुष्परिणाम उनकी संतानों पर परिलक्षित होता है। जो उचित संस्कार संतानों पर होने चाहिए, उसका अभाव दिखाई देता है। माता-पिता के प्रेम और संस्कार के अभाव में संतानें दिशाहीन हो जाती हैं। रायबहादुर और काजल की बेटी सोनल को अपने बिखरे हुए परिवार को देखकर बड़ा दुःख होता है। वह अपने दुःख को व्यक्त करते हुए कहती है- 'पापा बड़े व्यवहार कुशल और बुद्धिमान हैं, लेकिन उनकी व्यवहार कुशलता सिर्फ अपने बिजनेस को लेकर थी, अपने परिवार को लेकर नहीं। शायद इसीलिए हमारा यह छोटा-सा परिवार इतना टूटा-बिखरा हुआ है।'[3]

प्रेम को मानव जीवन में बहुत महत्वपूर्ण एवं शाश्वत माना गया है। खुशहाल और स्वास्थ्यमय जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेम की आवश्यकता होती है। देवेश ठाकुर जी ने अपने उपन्यासों में प्रेम को लेकर भी विचार विमर्श किया है। प्रेम के स्वच्छंदतावादी रूप के साथ-साथ असफल प्रेम भी उनकी दृष्टि से छूटा नहीं है। उन्होंने आदर्श प्रेम का भी चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। प्रेम की महत्ता को प्रो. शोभन अपनी डायरी में लिखता है- 'में बिना प्यार के जिंदा नहीं रह सकता। अगर रह भी गया तो वह जीना क्या होगा। बिना फूल-पात के एक ठूंठ का जीवन नहीं जीना चाहता। प्यार ही है, जो मरुस्थली जीवन में निर्मल जल स्त्रोत सा बहता है।'[4] आज वर्तमान में प्रत्येक प्रेम सफल होता है, ऐसी बात नहीं है बल्कि कुछ प्रेम असफल भी होते हुए नजर आते हैं। सामाजिक और आर्थिक विषमता के कारण कई लोगों का प्रेम असफल बन जाता है। धर्म और जाति के बंधन प्रेम में बाधा डालने में सफल हो जाते हैं। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास का डॉ. बिजॉय घोष और और देवांगी इनकी नजदीकियाँ बढ जाती हैं, जो आगे चल कर प्रेम का रूप धारण कर लेती हैं। दोनों एक दूसरे को चाहने लगते हैं। डॉ. घोष कहते हैं कि- 'मैं प्यार की भावना को ईश्वर और गंगाजल की पवित्रता के समान महत्व देता हूँ। शायद इनसे भी ज्यादा ।'[5] डॉ बिजॉय घोष और देवांगी का प्रेम अशोक को फूटी आँख नहीं सुहाता। वह डॉ. घोष को धमकी भरे खत भेजता है। विवश होकर डॉ. घोष अपने प्यार को भूल जाते हैं।

देवेश ठाकुर ने नारी मन की परतों को खोलते हुए नारी से जुड़ी हर समस्या का चित्रण किया हैं। जैसे- नारी-शिक्षा, विवाह, भ्रूणहत्या, विधवा-समस्या आदि। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास की पलक विवाह के पाँच साल बाद विधवा हो जाती है। वह अपने बच्चों को लेकर अपनी माँ के साथ रहने लगती है। घर की सारी जिम्मेदारी उस पर आ जाती है। घर का सारा खर्चा, फ्लैट का सारा कर्जा वह उतारती है। पलक परिस्थिति के सामने विवश होकर चुप नहीं रहती वह हर समस्या का सामना कर अपना जीवन व्यतीतत करती है। इसी उपन्यास में भ्रूणहत्या की समस्या पर भी लेखक ने अपनी कलम चलाई है। नायिका सोनल अपने प्रेमी सैम से विवाहपूर्व माता बन जाती है।

सैम उससे विवाह करने के लिए तैयार रहता है परंतु सोनल के पिता को यह मंजूर नहीं। समाज में हम क्या मुँह दिखायेंगे यह सोचकर ऑबरशन करने का फैसला करते हैं - ' पापा दूसरे ही दिन मुझे कार में लेकर बंबई आ गए। उसी दिन रात को एक नर्सिंग होम में ऑपरेशन हुआ और मैं जैसे पाप से मुक्त हो गयी।'[6] लेखक ने अवैध संबंधों की समस्या को 'कातरबेला' उपन्यास में प्रो. सोनल मेहता और खांडवाला 'जंगल के जुगनू' में पलक और चेटियार इन पात्रों के माध्यम से दर्शाया है, लेकिन ये संबंध कहीं तो भी नारी की मजबूरी के कारण हुए हैं ।

वर्तमान में प्रत्येक क्षेत्र में भ्रष्टाचार का विकराल रूप फैला हुआ है। प्रजातंत्र में प्रजा का राज कहीं पर भी देखने को नहीं मिल रहा है। साधारण जनता अन्याय-अत्याचार से पीडित है। सत्ताधारी तथा अमीर व्यक्ति के लिए कानून का कोई डर नहीं है और न कानून उनके खिलाफ कोई कार्यवाही करता हैं। उनके हाथों होने वाले अपराा की सजा उन्हें कभी नहीं मिलती। 'जंगल के जुगनू' में फातिमा अविनाश के गलत इरादों का शिकार होती है। बात इतनी आगे बढ़ जाती है कि, अविनाश फातिमा के चहरे पर एसिड डाल देता है जिसमें वह पूरी तरह से झुलस जाती है फिर भी उसकी रिपोर्ट लेने के लिए पुलिस तैयार नहीं है। पुलिस डॉ. पलक से कहती है, 'आप फिक्र न करे, हमें इस लड़के के बारे में एक-दो बार पहले भी शिकायत मिली हैं, लेकिन उसके बाप के कॉरपोरेटर होने के कारण हम कोई एक्शन नहीं ले पायें ।'[7] सरकारी दफ्तरों से लेकर महाविद्यालय तक होनेवाले भ्रष्टाचार की समस्या को लेकर देवेश जी ने लिखा है। साथ ही साथ भ्रष्टाचार ने देश-विकास को किस तरह जखड के रखा है इस ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

शिक्षा के महत्व को लेकर भी देवेश ठाकुर ने लिखा है। स्वयं एक महाविद्यालय में प्रोफेसर होने के कारण वह शिक्षा के महत्व को जानते थे। एक अध्यापक ही शिक्षा के साथ-साथ छात्रों के मन में भविष्य के प्रति आस्था निर्माण करता है। गलत राह पर चलनेवालों को शिक्षा सही राह दिखाती है। 'कातरबेला' उपन्यास का जितेन नाम का छात्र शिक्षा के कारण ही सभल बनता हैं । इस प्रकार शिक्षा मनुष्य जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। सही और गलत को समझने का निर्णय शिक्षा से ही प्राप्त होता है। अपने अधिकारों के प्रति सजग रहकर उसे प्राप्त करने का साहस हमें शिक्षा ही प्रदान करती है। किसी भी देश की उन्नति को वहाँ की शिक्षा की कसौटी पर परखा जाता है आदि बाते देवेश ठाकुर के उपन्यासों में दिखाई देती है। शिक्षा व्यवस्था में भ्रष्टाचार नही होना चाहिए अन्यथा उसके परिणाम गंभीर हो सकते हैं इस बात की ओर उपन्यासकार ने निर्देश किया है। शिक्षा क्षेत्र में किसी भी पद पर होनेवाली नियुक्ति पारदर्शक होनी चाहिए, गुरु-शिष्य में जो संबंध है उसमें नैतिक मूल्य होने चाहिए। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास में डॉ. कुलकर्णी अपनी छात्रा मिस मेहता से विवाह करते है। इस प्रकार का विवाह नैतिकता के दायरे से बाहर है। 'भ्रमभंग' और 'अन्ततः' उपन्यासों में भी गुरु अपनी शिष्या से विवाह करता है। शिक्षा मनुष्य में ईर्ष्या और स्वार्थी वृत्ति निर्माण नहीं करती बल्कि उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद जो मनुष्य ईष्यार्लु और स्वार्थी बन जाता है, वह अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी करने के लिए तैयार रहता है। यह शिक्षा का सही उपयोग नहीं। शिक्षा

और आदर्श प्राध्यापक की महत्ता लेखक ने अपने उपन्यासों में विशद की है।

देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में आर्थिक विमर्श को भी प्रस्तुत किया है। मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अर्थ की आवश्यकता होती है। पैसा मनुष्य के जीवन के साथ जुड़ा हुआ है। इसके अभाव में बेरोजगारी, तनाव, पारिवारिक विघटन, अपराधी वृत्ति, बाल मजदूरी जैसी समस्याएँ अपना सिर उठाती हैं। जिस तरह पैसे के अभाव में अनेक समस्याओं से मनुष्य घिर जाता है, ठीक उसी तरह पैसों की अधिकता के कारण भी वह गलत फैसले कर लेता है। ये दोनों बातें देवेश ठाकुर के उपन्यासों में दिखाई देती हैं। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास में अशोक उद्योगपति पिता की संतान है। लाड़-प्यार में पला-बढ़ा अशोक अपनी इच्छानुसार लड़की से विवाह करता है। वह अपनी मर्यादाओं को भूलकर अन्य औरतों से संबंध रखता है। यह पैसों की अधिकता होने के कारण होता है। इस प्रकार लेखक के उपन्यास अर्थ के बहुआयामी गुण-दोष को प्रस्तुत करते हैं।

धर्म और संस्कृति को लेकर भी देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों का लेखन किया है। भारतीय संस्कृति विश्व में सबसे बड़ी और अच्छी संस्कृति मानी जाती है। यह संस्कृति संस्कारों से परिपूर्ण है। मनुष्य जन्म से लेकर उसके मृत्यु तक वह विविध संस्कारों से परिमार्जित होता है। आज व्यक्तिवाद के कारण संस्कृति पर आँच आ रही है। दकियानूसी नाम देकर परंपरा के प्रति विद्रोह किया जा रहा है। अपनी जिंदगी अपना परिवेश यह भावना प्रबल होती जा रही है। मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार संस्कृति की परिभाषा कर रहा है। 'कातरबेला' के अमर चौधरी के शब्दों में -'परंपरा भी कोई भगवान का विधान नहीं है। यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि उसे स्वीकार करे या न करें। व्यक्ति उसका परिष्कार भी कर सकता है।'[8] अर्थात भारतीय संस्कृति की तुलना में पाश्चात्य संस्कृति हावी हो रही है। 'जंगल के जुगनू' उपन्यास का सुहास विदेश में शिक्षा हेतु जाता है। वह जूलिएट नाम की लड़की से विवाह करके वहीं पर बस जाता है। वह अपनी माँ एवं दादाजी की मृत्यु पर भी भारत नहीं आता। वह भारतीय संस्कृति को भूलकर पाश्चात्य संस्कृति को स्वीकार कर लेता है। परंपरा और आधुनिकता के मध्य तनाव किस तरह निर्माण हुआ है, यह देवेश ठाकुर के उपन्यासों में दिखाई देता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि, देवेश ठाकुर के उपन्यासों में विमर्श के विविध आयाम दिखाई देते है। समाज, संस्कृति, शिक्षा, नारी, दांपत्य जीवन, नैतिकता, मूल्य, अर्थ आदि बातों पर उन्होंने सूक्ष्मता से विचार प्रस्तुत किए हैं। समस्या को केवल दर्शाना उनका उद्देश्य नहीं बल्कि उसका हल खोजने की उन्होंने सफल कोशिश की है। उनके उपन्यास समाज को आईना दिखाने का काम करते है। उन्होंने जिन प्रसंगों को अपने उपन्यासों में अंकित किया है वह असाधारण है। शिक्षा क्षेत्र में फैले हुए भ्रष्टाचार की समस्या आज के दौर में बहुत ही भयावह और विकराल रूप धारण कर चुकी है। इसे उन्होंने बड़ी सहजता से उपन्यास की कथावस्तु बनाई है। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि, देवेश ठाकुर के उपन्यास यथार्थवाद को केंद्र में रखकर लिखे गए हैं।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर - जंगल के जुगनू - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - प्र. सं. 2004 पृ. 75
2. देवेश ठाकुर - कातरबेला - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - प्र. सं. 2005 पृ. 89
3. वही, पृ. 76
4. देवेश ठाकुर - देवता के गुनाह - सामायिक प्रकाशन नई दिल्ली - प्र.सं. 2011, पृ. 178
5. देवेश ठाकुर - जंगल के जुगनू - वाणी प्रकाशन नई दिल्ली - प्र.सं. 2004 पृ. 114
6. वही, पृ. 56
7. वही, पृ. 64
8. देवेश ठाकुर- कातरबेला - वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली - प्र. सं. 2005 पृ. 107

- हिंदी विभाग प्रमुख
शहाजीराजे महाविद्यालय, खटाव
जि. सातारा (महाराष्ट्र)

देवेश ठाकुर का उपन्यास साहित्य

-डॉ. दिलीप मेहरा

'कलम देश की बड़ी शक्ति है, भाव जगाने वाली
दिल ही नहीं दिमाग को, आग लगाने वाली।'

-दिनकर

उपन्यास आधुनिक समय की एक विशिष्ट एवं सशक्त विधा है। हिंदी उपन्यासों की भी एक सुदीर्घ परंपरा रही है। देवकीनंदन खत्री, प्रेमचंद, जैनेंद्र, यशपाल, रेणु, भीष्म साहनी, श्रीलाल शुक्ल असगर वजाहत, संजीव, तेजिंदर आदि से लेकर उषा प्रियंवदा, शिवानी, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, सूर्यबाला, नासिरा शर्मा, चित्रा मुद्गल, मधु काँकरिया आदि अनेक महिला लेखिकाएँ प्रमुख हैं। देवेश ठाकुर इन्हीं में से एक सशक्त उपन्यासकार हैं। उन्होंने लगभग दो दर्जन उपन्यास लिखे हैं। अध्यापन से अपनी जिंदगी शुरू करते हुए एक सशक्त उपन्यासकार बनने तक की यात्रा में देवेश जी ने कविता, बाल-साहित्य, कहानी, आलोचना इत्यादि विधाओं में अपना विशेष योगदान दिया है। उनका पहला उपन्यास 'भ्रमभंग' उसके पश्चात 'प्रिय शबनम!', काँचघर, 'अपना- अपना आकाश', 'जन-गाथा', 'गुरु-कुल' 'शिखर पुरुष', 'शून्य से शिखर तक', 'संध्या छाया', 'व्यक्तिगत', 'ऐसा भी होता है' और 'तीसरी लड़ाई' आदि प्रमुख उपन्यास हैं। 'भ्रमभंग' : देवेश ठाकुर का प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने निम्न मध्यवर्गीय परिवार की कथा को उजागर किया है। पूरी कथा चंदन को केंद्र में रखकर लिखी गई है। चंदन निम्न मध्यवर्गीय परिवार का प्रतिनिात्व करने वाला सशक्त पात्र है। आत्मकथात्मक ढंग से लिखा गया यह उपन्यास मात्र चंदन की ही जीवन गाथा नहीं है बल्कि भारत के अधिकांश निम्न मयवर्गीय परिवारों की जीवन गाथा है, जो अपने मध्यवर्गीय संस्कारों में उलझ कर रह जाते हैं। चंदन के पिता साधारण पुलिस हैं। उनकी आय से घर बड़ी मुश्किल से चलता था। चंदन जब नौवीं कक्षा में था, उसी समय पिता रिटायर हो जाते हैं। अतः घर चलाने के लिए चंदन छोटा-मोटा काम करता नजर आता है। संघर्षशील जीवन जीते- जीते चंदन एम.ए. की पढ़ाई पूरी करता है। जीवन में संघर्ष करते हुए वह मुंबई के सरकारी सिटी कॉलेज में हिंदी के अध्यापक की नौकरी में लगता है। नौकरी मिलने के पश्चात चंदन सोचता है कि अब उनकी समस्याओं का अंत आ जाएगा लेकिन नौकरी के बाद अनेक नई समस्याओं का जन्म होता है। परिवार के लिए अपना सर्वस्व लुटाने वाला चंदन वेतन का अधिकांश भाग घर पर भेजकर भी अपने परिवार वालों की सहानुभूति का पात्र नहीं बन पाता है। घर से आने वाले हर पत्र में और अधिक पैसे माँगे जाते हैं। इसी प्रकार चंदन को जो सुख मिलना चाहिए वह नहीं मिलता है।

कॉलेज में अध्ययन विरोधी माहौल उसे बहुत परेशान करता है। मुंबई में चंदन अपना पैर अभी ठीक से जमा भी नहीं पाता था कि उसका तबादला सौराष्ट्र कॉलेज राजकोट में हो जाता है। नए शहर में नए लोगों से मिलकर चंदन पहले तो बहुत खुश होता है परंतु वहाँ भी सरकारी कॉलेज में दम-घोंटू माहौल को देखकर बहुत दुखी हो जाता है। इस प्रकार लेखक ने आज की भ्रष्ट व्यवस्था की यथास्थिति का वर्णन किया

है। इस उपन्यास में चंदन को विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष की मिलीभगत के कारण अच्छे विश्वविद्यालयों में नौकरी नहीं मिल पाती है, इसका संकेत भी लेखक ने किया है। दिल्ली विश्वविद्यालय में नौकरी पाना आसान नहीं है। कारण कि विषय-विशेषज्ञ अपने कैंडिडेट को साथ लेकर आते हैं और होटलों में रहते हैं और जब चाहे जहां चाहे किसी भी कॉलेज में उसकी नियुक्ति करवा देते हैं। शिक्षा विभाग के भ्रष्टाचार को लेखक ने 'गुरुकुल' उपन्यास में भी चित्रित किया है। राजकोट में चंदन को दर्शनशास्त्र की प्राध्यापिका मिस सुमन से प्रेम हो जाता है। सुमन उससे उम्र में बड़ी थी, लेकिन दोनों का प्रेम ज्यादा नहीं टिकता अंत में सरकारी कॉलेज के घुटन भरे माहौल को छोड़कर चंदन मुंबई वापस लौट आता है और नए सिरे से जिंदगी प्रारंभ करता है।

प्रिय शबनम : 'प्रिय शबनम' देवेश ठाकुर का दूसरा उपन्यास है। प्रस्तुत उपन्यास को लेखक ने पत्रात्मक शैली में लिखा है। उपन्यास का नायक मंगल एक निम्न मध्यवर्गीय परिवार का प्रतिनिधित्व करता है। उसके पिता ट्रक चालक हैं। नायक मंगल संघर्ष करते-करते मिस्टर मार्टिन की मदद से मुंबई के सेंट थॉमस कॉलेज में नौकरी पा लेता है। इस उपन्यास में आवास की समस्या को लेखक ने उजागर किया है। मंगल कॉलेज में अध्यापन के दौरान एक छात्रा शबनम के संपर्क में आता है, शबनम बड़े परिवार की लड़की थी। मंगल उसे प्रेम करने लग जाता है। शबनम मंगल जैसे साधारण व्यक्ति से सिर्फ भावुक होकर प्रेम नहीं करती, वरन खुली आँखों से उसे चुनती है। मंगल के मन के हीन भाव निकालने का भी प्रयत्न भी करती है। अतः एक दिन मंगल से कहती है, 'तुम्हारा पुरुषपन, तुम्हारी मानवीयता और तुम्हारा अध्ययन- मैं सभी से प्रभावित हुई हूँ, मंगल। दुनिया में पैसा सब कुछ नहीं होता, हाँ, उनके लिए हो सकते हैं, जिन्होंने कभी पैसा देखा ना हो तुम्हारे जैसा आदमी हमारे वर्ग में कहाँ मिलेगा।'[1] कुल मिलाकर इस उपन्यास के लघु कलेवर में लेखक ने दो युवा सदस्यों के बीच खड़ी वर्ग-भेद की दीवार के माध्यम से उनके विच्छेद हो जाने का ताना-बाना अत्यंत कुशलता पूर्वक उजागर किया है।

काँचघर : 'काँचघर' देवेश ठाकुर का तीसरा उपन्यास है। इस उपन्यास में उन्होंने मुंबई जैसे महानगर के जीवन परिवेश का यथार्थ चित्रण किया है। उपन्यास की कथावस्तु को सात दिनों में समेटा है। उपन्यास में प्रत्येक पात्र की अपनी-अपनी अलग कहानी है। इसलिए उन्हें मिलाकर कोई एक कहानी नहीं बन सकती। अलग अलग मेजों की अलग अलग कहानी होने के बावजूद पाँचवीं मेज पर बैठने वाले सुमी और सुहास की कहानी ही उपन्यास की कथावस्तु को गति देता है। सुमी और सुहास हर बार पाँचवीं मेज पर बैठते हैं। वहीं बैठ कर अपने जीवन की विस्तृत चर्चा करते हैं। सुमी और सुहास एक दूसरे से प्रेम करते हैं। सुमी राजनीति शास्त्र विभाग की शोध छात्रा है, सुहास भी उसी विभाग में शोध कार्य समाप्त कर चुका है। मानवीय मूल्यों के विघटन से रिश्तों में आए दरार का वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। डॉ. कमल किशोर गोयनका 'काँचघर' को महानगर के संवेदनहीन यांत्रिक संसार की यात्रा को प्रस्तुत करने वाला अत्यंत सशक्त उपन्यास मानते हैं। इसीलिए : देवेश ठाकुर की चौथा उपन्यास है जो डायरी शैली में लिखा गया आत्मकथात्मक उपन्यास है। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र अवस्थी है जो

उच्च वर्गीय परिवार से ताल्लुक रखता है। हालाँकि बचपन के दिन इनके दुख भरे रहे हैं। कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत उपन्यास अवस्थी के दुख की जीवन गाथा है। सुविधा और सुख के बीच के अंतर को स्पष्ट करते हुए सिद्ध कर दिया है कि सुविधा संपन्न व्यक्ति भी हमेशा सुखी नहीं होता है। वह भी अपने जीवन में दुखी होता है।

अपना अपना आकाश : 'अपना अपना आकाश' उपन्यास में देवेश ठाकुर ने उच्च वर्गीय समाज को उजागर करने का प्रयत्न किया है। उपन्यास की कथा सूद परिवार के आसपास घूमती है। सूद परिवार उच्च वर्गीय परिवार का प्रतिनित्व करता नजर आता है। श्री सूद शरीफ शहर के प्रतिष्ठित वकील हैं। सारा दिन अपने वकालत के कार्य में व्यस्त रहते हैं। श्रीमती सूद सामाजिक कार्यकत्री हैं। सूद दंपति की इकलौती संतान प्रिया है। प्रिया माता-पिता की व्यस्तता के कारण अकेली पड़ जाती है। माँ की ममता और पिता के प्यार से प्रिया अनजान है। एक समारोह में उसकी मुलाकात प्रकाश से होती है। प्रिया प्रकाश से भावनात्मक स्तर से जुड़ जाती है। 'अपना अपना भाग्य' समस्यामूलक मौलिक उपन्यास है। लेखक ने इसमें एक उच्च वर्गीय परिवार का वर्णन करते हुए उस परिवार के सदस्यों की मानसिक स्थितियों को उजागर करते हुए उनके जीवन की रिक्तता का यथार्थ हमारे सामने प्रस्तुत किया है। कथा केंद्र में सूद परिवार है। जहाँ धन सम्पति का कोई अभाव नहीं है; उसके पास बड़ा बंगला, गाड़ी, नौकर-चाकर है। आवश्यकता से भी अधिक धन संपदा है लेकिन त्रासदी यह है कि परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत जिंदगी जी रहा है। सूद दंपति की इकलौती बुद्धिमान संतान प्रिया एक श्रेष्ठ कलाकार होते हुए भी माता-पिता की असावधानी के कारण वह गलत रास्ते पर चल पड़ती है। अतः प्रकाश जैसे व्यसनी और स्वार्थी युवक के जाल में फँस जाती है। उपन्यासकार ने अपने आत्म निवेदन में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि यह कथा बड़े परिवारों के बीच संतान के प्रति उदासीनता और उसके परिणाम स्वरूप संतान में उत्पन्न प्रतिक्रिया की कहानी है।

गुरुकुल : 'गुरुकुल' शिक्षा व्यवस्था को लेकर उपन्यास लिखा गया है। इसके पहले लेखक शिक्षा व्यवस्था का वर्णन अपने प्रथम उपन्यास भ्रमभंग में कर चुके हैं। प्रस्तुत उपन्यास को पढ़ते हुए हमें हमारी प्राचीन शिक्षा प्रणाली की याद ताजा हो उठती है। गुरु-छात्र का संबंध आत्मीयता और संवेदना से ओतप्रोत होता है। गुरु अपने छात्रों के व्यक्तित्व निर्माण और सज्जता के लिए माँ बाप ज्यादा उत्तरदायी थे किंतु वर्तमान शिक्षा पद्धति में यह बात उल्टी साबित हो रही है। आजकल उच्च शिक्षा से संबद्ध व्यक्ति पदाधिकारी, गुरुजन आदि की गरिमा की धज्जियाँ उड़ा रहे हैं। इसी का लेखा-जोखा 'गुरुकुल' उपन्यास है। विश्वविद्यालयों में शोध का विशेष महत्व होता है। हमारी उच्च शिक्षा शोधोन्मुख है। 'गुरुकुल' उपन्यास का आरंभ शोध प्रश्न से होता है। अंत भी किसी न किसी रूप में शोध ही है। आजकल शोध को व्यवसाय बना दिया गया है, जिसमें रुपए और यौन शोषण का सिक्का चलता है। आजकल यही डिग्री, नियुक्ति और पदोन्नति का माध्यम बन गयी है। इसकी गुणवत्ता पर कोई ध्यान नहीं देता है। हालाँकि उत्पादकता पर ध्यान ज्यादा दिया जाता है। डॉ. जैन का यह कथन शोध की असलियत का पदार्फाश करता है 'सर, अब और कितनी जल्दी करूँ। आधी से ज्यादा तो मैंने ही तैयार की है।

उधर आपने सुमन जी के साथ-साथ पंडित रवि की भतीजी के बीच 3 चैप्टर मेरे मत्थे मढ़ दिए उसी में काफी टाइम निकल गया।...।'[2] इससे स्पष्ट है कि विश्वविद्यालयों में शोध की स्थिति क्या है? उच्चशिक्षा में शोध के सारे मूल्य तहस-नहस हो चुके हैं। डॉ. ओछेलाल सुमन अहलूवालिया जो उनकी शोध छात्रा है मौखिकी के पूर्व अपना बिस्तर गर्म करते हैं। इतना ही नहीं डॉ. जैन की शोध छात्रा और सहयोगी नीला सबनीस को कपूर के साथ संडे बिताने के लिए भेजते हैं। कुल मिलाकर आज की उच्च शिक्षा में जो नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है, उस स्थिति का यथार्थ वर्णन प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। इस उपन्यास को पढ़ते हुए हमें उदय प्रकाश की 'पीली छतरी वाली लड़की' कहानी की याद ताजा हो जाती है। वैसे भी लेखक अध्यापक रहे हैं। अतः उच्च शिक्षा को उन्होंने बहुत करीब से देखा है फलतः तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था का यथार्थ आकलन करने में लेखक सफल हुआ है।

शून्य से शिखर तक : 'शून्य से शिखर तक' उपन्यास में लेखक ने आचार्य सदानंद के माध्यम से हिंदी के प्रतिष्ठित व्यक्तिवादी रचनाकारों की रचनाधर्मिता पर प्रहार किया है। आचार्य सदानंद कवि लेखक एवं कथाकार हैं। प्रस्तुत उपन्यास के बारे में लेखक लिखते हैं कि 'अपने व्यक्तिगत मूल्यों को ही जीवन मूल्यों के रूप में स्थापित करने की जी तोड़ कोशिश में लगे हैं। वस्तुतः व्यापक और वस्तुपरक रूप से व्यक्तिमूल्य ही जीवन मूल्य है लेकिन जब व्यक्ति ने कुंठाओं और महत्वाकांक्षाओं को जीवन मूल्यों के रूप में प्रस्तुत करने का गलीज षड्यन्त्र रचा जाने लगता है तो सारा परिदृश्य उलट-पुलट हो जाता है।'[3] अपनी बात से 'शून्य से शिखर तक' उपन्यास के उद्देश्य की चर्चा करते हुए प्रोफेसर राजम नटराजन ने ठीक ही लिखा है कि 'लेखक देवेश ठाकुर, रचनाकार का सबसे बड़ा कर्तव्य उसका सामाजिक दायित्व और प्रतिबद्धता मानते हैं। सामाजिक सरोकार से अलग-थलग रचना को वे साहित्य ही नहीं, समाज के प्रति गद्दारी भी मानते हैं। इसीलिए उन्होंने हिंदी साहित्य की प्रयोगवादी तथा नई कविता आंदोलन के उन पुरोधाओं को कभी क्षमा नहीं किया जो आत्माभिव्यक्ति और व्यक्ति की स्वतंत्रता के नाम पर समाज विरोधी भावनाओं को पोषण देते रहे।'[4]

संध्या छायाः 'संध्या छाया' वृद्धावस्था पर केंद्रित महत्वपूर्ण उपन्यास है। प्रस्तुत आत्मकथात्मक उपन्यास में लेखक ने अपने ही जीवन की वृद्धावस्था की पीड़ा को उजागर किया है। इस उपन्यास के नायक स्वयं देवेश ठाकुर हैं और नायिका उनकी पत्नी सुशीला जी ठाकुर हैं। दोनों लगभग 80 का आँकड़ा पार करने वाले दंपति हैं जो जितेन में और सुमित्रा (मीता) के नाम से उपन्यास में प्रस्तुत हुए हैं। लेखक ने जीवन के जरावस्था की अनेक घटनाओं को रेखांकित करने का प्रयत्न किया है। मीता पार्किशन के रोग की मरीज है। इस रोग में व्यक्ति का संतुलन कई बार बिगड़ जाता है। डॉक्टर का कहना था कि 'इस बीमारी पर कंट्रोल करने की कोशिश तो की जा सकती है लेकिन इसका पूरा उपचार नहीं किया जा सकता है। सी हैज टू लर्न टू लीव विद इट। बस उसे खुश रखो। बहुत लाड़ के साथ उससे बात करो उसके सामने चिल्लाओ नहीं इससे उसमें घबराहट पैदा हो जाएगी।'[5]

अतः जितेन डॉक्टर की बात मानकर मीता के करीब रहकर उसे प्रसन्न रखने का

प्रयत्न करता है। इस भयंकर बीमारी के बावजूद मीता अपनी पूरी जिंदगी आम व्यक्ति की तरह जीती है। पूरे घर का काम स्वयं करके घर को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करती है। इसलिए एक बार चाय लेकर आते हुए गिर जाती है। जितेन जैसे तैसे मीता को बिस्तर तक ले आते हैं। मीता की याददाश्त कमजोर हो जाती है उसे लगा आज उसकी शादी की सालगिरह है और रोज तो जितेन ही प्रातः की चाय पिलाता हैं। अतः आज वह उन्हें चाय पिलाएगी। लेकिन बाद में जितेन वास्तविक बात बताता है- 'मीता अब मुझे नहीं तुम्हें कुछ याद नहीं रहता हमारी शादी 12 अक्टूबर को हुई थी 12 अगस्त को नहीं।'[6]

जितेन एक कॉलेज में अध्यापक थे। लगभग 20 वर्ष पहले वे सेवानिवृत्त हो चुके हैं। सेवानिवृत्ति के कुछ ही सालों के बाद उन्हें एक एक्यूट हार्ट अटैक आता है। अतः उसे हार्ट की सर्जरी करवानी पड़ी थी। डायबिटीज तो उन्हें बहुत समय से ही था। पिछले कुछ महीनो में प्रोस्टेट की तकलीफ भी बढ़ गई थी। अब थोड़ा सा भी काम करने पर उन्हें थकान हो जाती थी। इसके बावजूद अपने लेखन में किसी भी प्रकार का व्यवधान आने नहीं देते हैं। वह उसके लिए समय निकालकर भी कुछ नया लिखने का प्रयत्न करते हैं।

देवेश ठाकुर जी ब्रेकफास्ट करवाकर स्टडी रूम में आ जाते हैं। एक बार ऐसे ही वे मीता के पास जाते हैं। तब मीता शादी का एल्बम देख रही थी। एल्बम देवेश ठाकुर की ओर सरकाते हुए नम आँखों से रुआँसे स्वर में कहती है- 'जीतू, भाई जी चले गए, बहन चली गई, भाभी चली गई, सब चले गए। मैं ही अभी तक जिंदा हूँ। मुझे मौत क्यों नहीं ले जाती। वह फिर फफक-फफककर रोने लगी।'[7] तब जितेन कहता है कि, मीता ऐसी बातें मत करो। यदि तुम चली गई तो मैं जीते जी मर जाऊँगा। तब मीता उनसे कहती है, औरत अगर सुहागिन मरे तो उसे स्वर्ग मिलता है, उसकी खुशी इसी में है कि वह सुहागिन मरे। क्या तुम मेरी खुशी नहीं चाहते हो?

इस प्रकार इस उपन्यास में वृद्धावस्था से ग्रसित दो दंपति की पीड़ा का वर्णन हुआ है। हालाँकि यहाँ वृद्धावस्था में आर्थिक स्थिति ठीक होने के कारण दूसरी समस्याओं से उन्हें जूझना नहीं पड़ता है। जब दंपति में कोई भी सरकारी नौकरी करता है तो उन्हें पेंशन मिलती है। पेंशन मिलने के कारण अपने वृद्धावस्था के समय दवा-दारू करवाने में वे समर्थ होते हैं। इसलिए आर्थिक अभाव के कारण अपने परिवार में उपेक्षा का पात्र नहीं बनना पड़ता है। जितेन ने घर में नौकरानी भी रखी थी जिससे घर का छोटा-मोटा काम वह कर सके। नौकरानी घर की स्वच्छता रखने के साथ-साथ खाना भी बना देती थी। लेकिन अगर वह बीमार होती और नहीं आती तो जितेन को ही खाना बनाने के साथ-साथ अन्य काम करना पड़ता है। थोड़ा सा शारीरिक परिश्रम करने पर भी वे थक जाते थे और उनकी साँस चढ़ने लगती थी। इस वक्त भी ऐसा ही कुछ हो रहा था तभी उन्हें स्टोव पर चढ़ाये पुलाव की याद आ गयी। वे किचन में आए और स्टोव को ऑफ कर दिया। उनमें इतनी ताकत नहीं रह गई थी कि वे कुकर के ढक्कन को खोलकर देख लें कि चावल पक गए हैं या नहीं। मैं स्वयं 2023 में उनके घर साक्षात्कार के लिए मुंबई गया था। तब भी उन्होंने प्रोस्टेट की तकलीफ होने के बावजूद मेरा अच्छा खासा स्वागत किया और अपने लेखन के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दी।

जितेन और सुमित्रा के दो बच्चे हैं, दोनों लड़कियाँ हैं। बड़ी लड़की श्रद्धा और छोटी लड़की श्रुति है। श्रद्धा डॉक्टर है और श्रुति प्रोफेसर। दोनों बच्चे अपने माता-पिता से बहुत प्यार करते हैं और उनकी देखभाल रखते हैं। श्रद्धा डॉक्टर थी और कई बार कहती है कि या तो हम आपके पास रहने आ जाएँ या आप हमारे पास रहने आ जाओ लेकिन जितेन बेटी के यहाँ जाकर रहना नहीं चाहता। कारण यह है कि वह भारतीय समाज का गणमान्य व्यक्ति है। जितेन यह जरूर जानता था कि श्रद्धा स्वयं अपनी बेटी के लिए समय नहीं निकाल पाती और उनके पति तो उससे भी ज्यादा व्यस्त रहते हैं। ऐसी अवस्था में बेटी के साथ रहना अनुचित है। सुमित्रा के आग्रह पर भी जितेन उसे समझाते हुए कहते हैं- 'मीता एक वक्त के बाद बच्चों से दूर ही रहो तो अच्छा लगता है। श्रद्धा तीन-तीन अस्पतालों में जाती है फिर उसकी अपनी क्लीनिक है। उसके पास टाइम कहाँ है? वह अपनी बच्ची को ही टाइम नहीं दे पाती। सारा दिन बाहर रहती है तो वो हमें क्या टाइम दे पाएगी? उसके पति तो उससे भी ज्यादा बिजी रहते हैं फिर बेटी के यहाँ हमेशा के लिए रहना भी तो अच्छा नहीं लगता।'[8]

जितेन भारतीय संस्कार में पले-बढ़े हैं। अतः वृद्धावस्था के संघर्षशील जीवन के बावजूद अपनी लड़की पर बोझ बनना नहीं चाहते। 'संध्या छाया' उपन्यास के माध्यम से लेखक ने यह संदेश दिया है कि अगर वृद्धावस्था में बीमारियों के बीच भी हम एक दूसरे से स्नेह करेंगे, साथ निभाएँगे तो जरूर दांपत्य जीवन वृद्धावस्था में भी सफल होता है। 70 के पार हो जाने के बाद हमारा शरीर अनेक रोगों से ग्रसित हो जाता है, ऐसे में पति-पत्नी में प्रेम होने से जीवन को जीने में बल मिलता है। हां, हम यह भी जानते हैं कि बच्चों का स्नेह मिलता है तो वृद्धावस्था के समय जीवन बिताने में बल और आनंद मिलता है। यहाँ तक कि बुढापे में उसकी लड़की अपने पिता को अपने घर पर ले जाने की चाहत रखती है परंतु जितेन अपने जीवन में स्वाभिमान को महत्व देते हुए अकेले रहकर जिंदगी को गुजारने में अपना भला सोचते हैं। आज देवेश ठाकुर जी 90 साल पार कर चुके हैं फिर भी अपनी साहित्य की साधना को साकार कर रहे हैं।

व्यक्तिगत : 'व्यक्तिगत' उपन्यास लेखक का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इस उपन्यास में लेखक ने संस्मरण एवं डायरी का सहारा लेकर एक नया प्रयोग करके पाठक के सामने प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास का नायक मानस मनराल उर्फ मन्नू निम्न मध्य वर्ग का प्रतिनिात्वि करने वाला पात्र है। मानस एक संघर्षशील आशावादी व्यक्ति है। वह अपने जीवन की विषम परिस्थितियों में भी संघर्ष करता हुआ आगे बढ़ता है। मन्नू के व्यक्तित्व की एक अलग पहचान है। मन्नू की प्रगति का माध्यम उसकी शिक्षा और ईमानदारी रही है। मन्नू को एक ही चिंता थी कि वे परीक्षा में प्रथम श्रेणी में पास हो, लेकिन ऐसा नहीं हो पाता। मन्नू अपने परीक्षा परिणाम से काफी दुःखी रहने लगता है। तभी उसे उपासना की कही हुई बातें याद आती हैं- 'कोई भी इंसान, बेचारा नहीं होता मानस। बस व्यवस्था उसे बेचारा बना देती है। और कुछ लोग खुद बेचारे बन जाते हैं और उसकी आड़ में अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। अगर इस बेचारेपन से सही अर्थों में मुक्ति पानी है तो इसके लिए संघर्ष करना होगा। हममें से अधिकांश को जो कुछ भी मिलता है, संघर्ष करके मिलता है। अपने रास्ते में आए अवरोधों से लड़कर ही

मिलता है। सो मानस, हमें किसी भी इंसान को 'बेचारा' कहकर उसका अपमान नहीं करना चाहिए।'[9]

उपासना मन्नू के विकास से बहुत प्रसन्न होती है। मन्नू को नौकरी मिल जाती है तो उपासना और प्रसन्न हो जाती है। तब मन्नू को एहसास होता है कि अपने जीवन की प्रगति के लिए अच्छे मित्र, अच्छे सहयोगियों के मार्गदर्शन की आवश्यकता जरूर होती है। जब मुंबई में नौकरी के दौरान मानस को सच्चे सहकर्मी के रूप में डॉ. चतुर्वेदी मिलते हैं, जो अपने निर्देशन में मानस को पीएच.डी. का पंजीकरण करवाते हैं तब मानस सोचता है - 'मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली मानता हूँ कि मुझे समय-समय पर किसी न किसी का सहयोग मिलता रहा है। देहरादून में प्रो. भूदेव का वरद हस्त मेरे सिर पर था। चेतन भट्टाचार्य और अब्दुल हमीद जैसे सहपाठी और मित्र थे। .....फिर उपासना जैसी....। और यहाँ तो चतुर्वेदी जैसी सहकर्मी। सचमुच में कितना भाग्यशाली हूँ।'[10]

मानस एक आशावादी व्यक्ति के रूप में उजागर हुआ है। वह विषम परिस्थितियों में भी समाधान ढूँढ लेता है। जब वह अपने परिवार से दूर देहरादून में स्नातक की पढ़ाई करने गया था तब ट्यूशन पढ़ाकर वह अपने परिवार का खर्च भी निकलता था। दूसरी ओर मानस के पिता की अपेक्षाएं दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थीं। तब मानस अपने पिता को आश्वस्त करते हुए कहता है कि थोड़ा समय और निकाल लीजिए बाद में आपके सारे गिले-शिकवे दूर करने की कोशिश करूँगा। आपका आशीर्वाद साथ रहा तो मैं बहुत कम दिनों में अच्छी पोजीशन पर पहुँच जाऊँगा। इसका वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं कि मुंबई के तिलक कॉलेज से इंटरव्यू लेटर आ जाता है। वहाँ पहुँचने के बाद पता चला कि एक पोस्ट के लिए 21 उम्मीदवार आए हैं तो घबरा जाता है और सोचता है- 'इक्कीस प्रत्याशी। एक पोस्ट। कैसे होगा। असंभव। असंभव कुछ नहीं होता.....। दिल को दिलासा देता है मानस। अब यहाँ तक आए हो तो जमकर इंटरव्यू दो। पूरी आस्था और विश्वास के साथ। मानस सीधा होकर बैठ जाता है।'[11] यही विश्वास उसको सफल बना देता है। दूसरी नौकरी लग जाने के बाद माता-पिता की अपेक्षाएँ और अधिक बढ़ जाती है। अनेक चीजों की लंबी फेहरिस्त मानस को भेज देते हैं। मानस को 1000-1200 तक की सैलेरी मिलती थी, फिर भी परिस्थितियाँ बिल्कुल विपरीत थीं।

लेखक ने उपन्यास में भारतीय युवकों पर पड़ने वाले विदेशी प्रभाव का धार्मिक चित्रण किया है। हमारे देश के युवक शिक्षा को लेकर काफी जागरूक हैं किंतु उनके कौशल के अनुसार उन्हें रोजगार नहीं मिल पाता। अतः अधिकतर बौद्धिक वर्ग विदेश में पलायन कर जाता है। विदेश जाने के बाद वे अपने घर-परिवार और देश को भी भूल जाते हैं। इस बारे में प्रो. भूदेव के नौकर बलवंत का कथन उल्लेखनीय है- 'भाई जी। इनका एक लड़का है। इंजीनियर है। विदेश में। वहीं उसने शादी रचा ली। एक मैम से। शादी के बाद वह यहाँ नहीं आया।....पहले कभी-कभी आ जाता था।'[12]

लेखक ने सांप्रदायिकता को लेकर भी अपनी कलम चलाई है। मन्नू के शहर नजीबाबाद में जो घटना घटती है, उसका जिक्र लेखक ने इस उपन्यास में किया है। मन्नू अपनी माँ से पूछता है- 'आपने पिछले पत्र में लिखा था कि शहर में सांप्रदायिक दंगे हो रहे हैं कि हिंदुओं ने जगह-जगह मुसलमानों के घर जला डाले हैं। पढ़कर बहुत

बुरा लगा था। सभी शहरों में अलग-अलग जाति, समुदाय और धर्मों के लोग रहते हैं। आपदा में भाईचारा ही चलता है। मैं सोचता हूँ आज के युग में सांप्रदायिकता विकृत मानसिकता की द्योतक है।'[13] इस प्रकार साम्प्रदायिक दंगों का विरोध करना एक बड़े लेखक होने का द्योतक है।

निम्न मध्य वर्ग के होने के कारण मन्नू अपनी प्रेमिका उर्वशी के बुलाने पर उसके घर तो जाता हैं, परंतु समाज की वर्ग-भेद व्यवस्था के कारण उर्वशी की माँ द्वारा प्रताड़ित किये जाने का संकेत करते हुए कहता है- 'मान लो, हम उर्वशी से तुम्हारी शादी कर देते हैं। तब तुम उसे कहाँ रखोगे? घर कैसे चलाओगे? क्या उसे वे सब सुविधाएँ दे पाओगे, जिसकी वो आदी है.... ।'[14] इससे स्पष्ट होता है कि कोई भी माता- पिता अपनी लड़कियों के लिए समृद्ध घर का लड़का चयन करना चाहता है। वे बच्चों की प्रेम-भावना को महत्व नहीं देते हैं। यहाँ लेखक ने गरीबी पर तमाचा तो जड़ा है लेकिन जीवन की यह भी एक वास्तविकता है।

इस प्रकार इस उपन्यास में मानस के माध्यम से लेखक ने निम्न मध्यवर्गीय जीवन की विविध समस्याओं को उजागर करने का प्रयत्न किया है। साथ ही, उन्होंने यह भी संकेत किया है कि इन समस्याओं का डट के मुकाबला कैसे करना चाहिए। लेखक का यह मानना है कि जीवन में संघर्ष करते-करते शिक्षा को भी प्राप्त करते रहोगे तो जीवन में अवश्य सफलता मिलती है। 'व्यक्तिगत' उपन्यास मानस के व्यक्तिगत जीवन की कथा न रहकर हमारे पूरे भारतवर्ष की कथा बन जाती है।

कुल मिलाकर देवेश ठाकुर एक दृष्टि संपन्न प्रगतिशील रचनाकार हैं। उन्होंने अपने जीवन में जो संघर्ष किया है, उसका यथार्थ चित्रण किया हैं। उन्होंने अपने उपन्यासों में समाज की विविध समस्याओं का आकलन किया है। जैसे कि अपना-अपना आकाश के सूद परिवार के माध्यम से लेखक ने उच्च वर्गीय व्यक्ति की अर्थ लोलुपता को उजागर किया है। उच्च मध्य वर्ग के साथ-साथ उन्होंने निम्न एवं निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन और मानसिकता को भी बारीकी से चित्रित किया है। निम्न वर्ग की स्थिति आज दयनीय है। देवेश ठाकुर ने अपने उपन्यासों में निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति की पीड़ा को उजागर किया है। 'भ्रमभंग' का चंदन, 'प्रिय शबनम' का मंगल, 'जनगाथा' का शिवनाथ एवं शकुन, 'काँचघर' का सुहास आदि का उदाहरण ले सकते हैं। देवेश ठाकुर जी ने उच्च शिक्षा में व्याप्त भ्रष्टाचार का पदार्फाश कई उपन्यासों में किया है। आज हम देख सकते हैं कि महाविद्यालय या विश्वविद्यालय के अध्यापक किस तरह पीएच.डी. यानी कि संशोधन करते-करवाते हैं? संशोधन का स्तर कैसा है? और जब अध्यापक की जगह आती है तो विषय विशेषज्ञ किस प्रकार भ्रष्टाचार करते हैं ? इसका संकेत भी उनके उपन्यासों में मिल सकता है। यह आज की शिक्षा व्यवस्था की वास्तविकता है। श्रीलाल शुक्ल, उदय प्रकाश, दूधनाथ जी, काशीनाथ सिंह आदि ने अपने कथा-साहित्य में उच्च शिक्षा जगत की समस्याओं को उजागर करने का सफल प्रयत्न किया है। देवेश ठाकुर ने भी कॉलेज में अध्यापक होने के कारण उच्च शिक्षा जगत को निकटता से देखा और जाना है। अतः वे शिक्षा जगत की समस्याओं को उजागर करने में सफल हुए हैं। एक सामान्य घर से आया हुआ लड़का मुंबई जैसे महानगर के एक अच्छे महाविद्यालय

में कैसे पहुँचता है, उसका भी संकेत कई उपन्यासों में मिलता है। उनके उपन्यासों की कथा अधिकतर अपने जीवन के ही आसपास घूमती नजर आती है। अतः उपन्यास यथार्थ के निकट ज्यादा है। इनके उपन्यासों में लगभग महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय की समस्याओं की पुनरावृत्ति भी देखने को मिलती है। कुल मिलाकर उनके उपन्यासों के बारे में कह सकते हैं कि अपनी वैचारिकता अपने सिद्धांतों और आदर्शों को मूर्त रूप देने में वे सफल हुए हैं। जनवादी लेखक के रूप में उनके विचार समाज को आगे ले जाने के महान उद्देश्य की पूर्ति करते नजर आते हैं। देवेश ठाकुर मानवतावादी होने के कारण प्रगतिवादी विचारधारा को उजागर करने में सफल हुए हैं ।

संदर्भ :

1 . प्रिय शबनम, देवेश ठाकुर, पृष्ठ.17
2. वही, गुरुकुल, पृ. 80
3. वही, शून्य से शिखर तक, अपनी बात से
4. रचनाधर्मी देवेश ठाकुर, संपादक डॉ. प्रवीण चंद्र बिष्ट, पृष्ठ 272
5. संध्या छाया, देवेश ठाकुर, पृ.11
6. वही, पृ.8
7. वही, पृ.12
8. वही, पृ.20-21
9. देवेश ठाकुर रचनावली भाग-1 पृष्ठ. 457
10. वही, पृष्ठ.523
11. वही, पृ.475
12. वही, पृष्ठ. 404
13. वही, पृष्ठ. 410
14. वही, पृष्ठ.407

आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
सरदार पटेल विश्वविद्यालय,
वल्लभ विध्यानगर आनंद (गुजरात) - 388120

देवेश ठाकुर के उपन्यासों में शिक्षा जगत की विसंगतियाँ

डॉ. मोटवानी संतोष

देवेश ठाकुर जी स्वयं शिक्षा-जगत से लंबे समय तक जुड़े रहे हैं। अतः उन्होने शिक्षा-जगत की समस्याओं, विसंगतियों और छल-छद्म को बड़ी ही गहराई से अनुभव किया है। उनके उपन्यास गुरुकुल, शिखर पुरुष और कैंपस कथा ऐसे ही अनुभवों की औपन्यासिक अभिव्यक्ति हैं। वर्तमान युग में ही नहीं, प्राचीन या मध्यकालीन युग से साहित्य वही श्रेष्ठ माना जाता है, जो सामाजिक बुराइयों और भ्रष्टाचार को सामने लाए। इन तीनों उपन्यासों में उपन्यासकार ने शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचार और विसंगतियों को हमारे समक्ष लाते हुए उन पर गहन विमर्श किया है। शिक्षा जगत में किस प्रकार से भ्रष्टाचार व्याप्त है, इसे हम इन उपन्यासों के माध्यम से विभिन्न संदर्भों में इस प्रकार देख सकते हैं-

प्रतिस्पर्धाः देवेश ठाकुर जी के शिक्षा जगत पर आधारित उपन्यास गुरुकुल और शिखर पुरुष दोनों ही अपने शिल्प और कथ्य की दृष्टि से अन्यतम हैं। श्रवणकुमार गोस्वामी जी लिखते हैं- 'गुरुकुल आकार की दृष्टि से छोटा है पर यह छोटा पाठकों के मन पर गहरा घाव कर जाता है। और यही इस उपन्यास की सफलता भी है और शक्ति भी है।' लेखक ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि शिक्षा जगत में किस प्रकार से शिक्षकों के बीच प्रतिस्पर्धा चल रही है। यदि प्रतिस्पर्धा सकारात्मक हो तो बहुत अच्छा है किंतु यह स्पर्धा केवल पद प्राप्त करने के लिए, नकारात्मकता को और अधिक बढ़ावा देने के लिए है। प्रोफेसर ओच्छेलाल किस तरह से डॉक्टर शीतांशु से प्रतिस्पर्धा करते हैं। यद्यपि उनकी योग्यता ओच्छेलाल से बहुत अधिक है फिर भी ओछेलल सभी पद प्राप्त करना चाहते हैं। जहाँ पर डॉक्टर शीतांशु को होना चाहिए, वहाँ भी अपनी चालबाजियों से पद प्राप्त कर लेते हैं। और सही व्यक्ति इस प्रतिस्पर्धा में मात खा जाता है।

रिश्वतखोरीः दोनों उपन्यासों में देवेश जी ने यह दिखाया है कि किस तरह से अपने कार्य पूर्ण करवाने के लिए प्रोफेसर रिश्वत देते हैं और इसके बाद ऊँचे पदों पर पहुँच जाते हैं वे अपने शोध छात्रों से बहुत बार गलग कार्य करने के लिए रिश्वत भी लेते हैं। इसका उदाहरण ओच्छेलाल जैसे प्रोफेसरों के रूप में उन्होंने दिया है।

अनैतिक संबंधः शिक्षा जैसे पवित्र क्षेत्र में भी वर्तमान युग में भ्रष्टाचार की तरह ही अनैतिक संबंध भी बड़ी तेजी से फैल रहे हैं। अपना कार्य करवाने के लिए छात्र और छात्राएँ प्राध्यापकों और शिक्षकों से अनैतिक संबंध जोड़ लेते हैं। इसके कई उदाहरण शिखर पुरुष और गुरुकुल में लिया और डॉक्टर ओछेलाल, नीला सबनीस और डा. प्रमोद जैन, मिस डिसिल्वा और डॉक्टर तिवारी आदि के अनैतिक संबंधों को यहाँ दिखा कर लेखक यह बताने का प्रयास करता है कि किस तरह शिक्षा जगत में अनैतिक संबंध फैले पड़े हैं।

योग्य व्यक्ति का अपमानः गुरुकुल और शिखर पुरुष में लेखक बार-बार यह दिखाने का प्रयास करता है कि जो व्यक्ति योग्य है, जैसे डॉ. शीतांशु हर दृष्टि से योग्य है, उनका

हर स्थान पर अपमान होता है। उनको 30 वर्ष का शिक्षण अनुभव है और उनकी लगभग 30 रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। अच्छे शिक्षक भी हैं और अच्छे गाइड भी हैं किंतु साक्षात्कार के दौरान जानबूझ कर ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं, जिससे वे उनका सही उत्तर न दे पाएँ। उनको यह पता है कि यह सब उनसे इस लिये किया जा रहा है ताकि वे गलत उत्तर दें और उनको रिजेक्ट किया जा सके। डॉ शीतांशु से ऐसे प्रश्न पूछे जाते हैं, जिनका इंटरव्यू या साक्षात्कार से कोई लेना देना नहीं है। जैसे चरित और चरित्र में क्या अंतर है। वे इसका बहुत सुंदर उत्तर देते हैं जिससे पूछने वाला चिढ़ जाता है क्योंकि वे फक्कड़ व्यक्ति हैं और उन्हें अपनी योग्यता पर पूरा भरोसा है। इसलिए स्पष्ट जवाब देते हैं और इस कारण रिजेक्ट भी कर दिये जाते हैं। प्रोफेसर के पद पर नाकाबिल डॉ. ओछेलाल को बिठा दिया जाता है। (गुरुकुल पृ.२७) इस तरह एक योग्य व्यक्ति की योग्यता का हनन किया जाता है।

गुटबाजीः दोनों उपन्यासों में देवेश ठाकुर जी दिखाना चाहते हैं कि किस तरह से वर्तमान शिक्षा जगत् में अयोग्य व्यक्ति अपने गिरोह और गुट बना लेते हैं। जैसे डॉ. ओछेलाल विश्वविद्यालय में अपना एक गुट बनाकर रहते हैं। जहाँ योग्यता होती है, वहाँ गुटबाजी नहीं होती। डॉ. शीताँशु किसी भी गुट में नहीं। इसका मुख्य कारण है कि वे प्रतिभाशाली और परिश्रमी हैं। अपने परिश्रम पर विश्वास रखते हैं। उनकी योग्यता पर कोई भी प्रश्न चिन्ह नहीं लगा सकता।

प्रतिभाशाली छात्रों का शोषणः गुरुकुल और शिखर पुरुष दोनों उपन्यासों में साहित्यकार यह दिखाना चाहता है कि वर्तमान में शोध निर्देशक किस तरह से प्रतिभाशाली छात्रों का शोषण करते हैं। जैसे तिवारी और जैन को जिन शोध छात्रों से धन नहीं मिलता उन्हें जानबूझकर हटा देते हैं और उनके शोध कार्य में बार-बार त्रुटियाँ निकालकर उनको शोध संपन्न करने में रुकावटें और बाधाएँ डालते रहते हैं। इससे कई प्रतिभाशाली छात्र रुष्ट भी होते हैं। नेपाल से आया हुआ होनहार छात्र थापा अंत में ओछेलाल जी से कह भी देता है 'सर मुझे आपको प्रोफेसर और गाइड कहने में भी शर्म महसूस होती है।'(गुरुकुल पृ. ११५)

वायवा के नाम पर ये सभी निर्देशक शोधछात्र के खर्चे पर पारिवारिक लोगों और मित्रों को अलग-अलग स्थानों से विश्वविद्यालय में बुलाते हैं, और शोध छात्र के खर्चे पर उन्हें घुमाते और ऐशो आराम करवाते हैं। शोध छात्र अपनी हैसियत से ज्यादा विचारा खर्चा कर लेता है और वो किसी न किसी तरह से स्वयं को इनके चंगुल से छुटकारा दिलवाना चाहता है। इसलिए ऐसे निर्देशकों से मन ही मन घृणा भी करता है।

मक्कारी और झूठः स्वार्थ और मक्कारी का जाल वर्तमान शिक्षा जगत में फैला हुआ है। सभी मक्कार और झूठे प्राध्यापक एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। किस तरह से सरल और सादे प्राध्यापकों को फँसाते हैं और जब काम पूरा हो जाता है तो अपने वादे से मुकर जाते हैं। डॉ. तिवारी, डॉ. ओछेलाल, डॉ. जैन आदि इस पूरे रैकेट के सरगना हैं। तिवारी को जब पता चलता है कि विश्वविद्यालय में प्रोफेसर के पद का विज्ञापन निकला है तो वे ओछेलाल से इसके बारे में बताते हैं। उसके पीछे मुख्य सोच यह थी कि ओछेलाल जब विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बन जाएंगे, तो उन्हें भी विश्वविद्यालय की समितियों में

अध्यक्ष पद मिल जायेगा। डॉ. जैन की सोच भी यही है। इसलिए वे ओछेलाल के कई शोधछात्रों के शोध पत्र और शोध कार्य पूरा कर लाभ लेना चाहते हैं। उसके पीछे भी कारण यही है कि उन्हें भी विश्वविद्यालय के विभिन्न समितियों के पदों की लालसा है। यहाँ मुख्य करण यही है कि हर कोई स्वार्थ से एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। डॉक्टर जैन अपने अध्यक्ष का पूरा-पूरा कार्य सँभालते हैं। इसलिए जब उन पर दबाव आता है तो वे उनसे कहते हैं कि-'सर अब और कितनी जल्दी करूँ। आधी से ज्यादा तो मैंने ही तैयार की है और ऊपर से फिर आपने सुमन जी के साथ साथ पं. रवि की भतीजी के 3 चैप्टर भी मेरे मत्थे मढ़ दिये हैं। उसी में ज्यादा टाइम निकल गया है।' (गुरुकुल पृ. ८८)

इससे स्पष्ट होता है कि वर्तमान निर्देशकों का कार्य केवल दिशा निर्देश करना नहीं है, बल्कि वे अपने छात्रों से अनैतिक धन लेकर भी उनके शोध कार्य पूरा करवा रहे हैं। इन दोनों उपन्यासों में लेखक ने यह भी दिखाया है कि विश्वविद्यालय का कैंपस गिरोहबाजों और झूठे और मक्कारों की स्थली बन चुका है। जहाँ डॉ. शीतांशु जैसे प्राध्यापकों का कोई महत्व नहीं है। इन सब चालबाज और घपलेबाजों ने पूरी यूनिवर्सिटी को अपवित्र बना दिया है।

शोध के नाम पर धंधाः देवेश ठाकुर जी ने अपने उपन्यासों में यह दिखाया है कि किस प्रकार से शिक्षा जगत के तथाकथित बड़े-बड़े प्रोफेसर शोध के नाम पर बच्चों से पैसा लेते हैं और यदि छात्रा है तो उसका यौन शोषण भी करते हैं। हमारी शिक्षा-व्यवस्था तो शोधोन्मुख है किन्तु वर्तमान में वह जुगुप्सा और वीभत्स रस से भर चुकी है। गुरुकुल उपन्यास का आरंभ भी शोध के प्रसंग से होता है और उसका अंत भी शोध-समस्या से ही होता है। शोध निर्देशकों और शोधकर्ता का बौद्धिक स्तर इसमें होने वाले घपले इतने सुंदर ढंग से प्रस्तुत किये गए हैं कि पाठक झनझना उठते हैं। इसमें थापा जैसे पात्र हैं, जो बहुत कुछ करना चाहते हैं किन्तु उनका जीवन नष्ट हो रहा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि विश्वविद्यालय में शोध का स्तर गिर गया है।

इस तरह इन उपन्यासों में देवेश ठाकुर जी ने शिक्षा-जगत का एक कटु यथार्थ पाठकों के सामने रखा है। वर्तमान शिक्षा जगत् में विश्वविद्यालयीन शिक्षा के स्तर पर गंभीरता से प्रकाश डाला है और कई प्रश्न भी खड़े किए है। यहाँ ओछेलाल जैसे और उनके गिरोह के लोग जमे हुए हैंऔर शिक्षा की स्थिति बड़ी ही दयनीय बनी हुई है। दूसरी ओर शीतांशु जैसे ईमानदार छात्र- प्रिय, शोध कार्य करने वाले व्यक्ति और अध्ययनशील कर्तव्यनिष्ठ प्रध्यापक की स्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है। केवल शिक्षा जगत् का नकारात्मक रूप ही नहीं बल्कि सकारात्मक रूप भी इन्होंने प्रस्तुत किया है। यहाँ डॉक्टर शीतांशु जैसे व्यक्ति अपने कार्य में निरंतर रत हैं। उन्हें यूनिवर्सिटी के गिरोहबाजों से कोई लेना-देना नहीं। वे अपना कार्य ईमानदारी से कर रहे हैं। इसलिए उनके साथ शिक्षा में ईमानदारी से कार्य करने वाले छात्र ही जुड़ते हैं। उन्हें यह भी खुशी देने वाली बात है कि उनके छात्र आगे चलकर उनका कार्य संभालेंगे, जिनके कारण शिक्षा जगत में आने वाला समय आज नहीं तो कल बड़ा ही सुंदर होगा। उनका शिष्य सिद्धार्थ अरोड़ा उनके कार्य को अपने हाथ में लेकर आगे बढ़ रहा है। एक सेमिनार में अरोड़ा के विचार सुन कर शीतांशु सोचते हैं कि उनका शिक्षक होना सार्थक हो गया। वे अरोड़ा की पीठ पर

हाथ रख कर कहते भी हैं 'बहुत अच्छे सिद्धार्थ अरोड़ा। आइ एम प्राउड ऑफ यू।'
(शिखर पुरुष पृ. १८८)

सन्दर्भ :

1. ब्रह्मदेव मिश्र, (सं) पाण्डुलिपि पृ. १८७
2. गुरुकुल, देवेश ठाकुर
3. शिखर पुरुष, देवेश ठाकुर।

प्रोफेसर, हिदी विभाग
आर. के. तलरेजा महाविद्यालय, उल्हासनगर

फैसला तथा अन्य कहानियों में मनोवैज्ञानिक संघर्ष

- डॉ. राम बिनोद रे

'फैसला तथा अन्य कहानियाँ' (2011) में कथाकार देवेश ठाकुर जी ने जीवन के विविध रंगों को अपने अनुभवों के माध्यम से कैनवास में बाँधने का प्रयास किया है। उन्होंने एक व्यवस्थित सकारात्मक दृष्टि के तहत मानव-मन को अभिव्यक्ति दी है। जीवन के यथार्थ को कहानी की पृष्ठभूमि में रखकर मन में उठने वाली पीड़ा, संत्रास, अवहेलना जैसी भावनाओं को उद्वेलित कर पात्रों को जीवंतता प्रदान की है। 'जीवन के विविध-रंगी अनुभवों को कहानी में समेटते हुए उन्होंने जिंदगी के यथार्थ और जीवंत सरोकारों से साक्षात्कार कराया है और इसलिए इस संकलन की कहानियाँ कृत्रिम और आयास लिखी हुई नहीं लगती हैं।'[1] मानव मन का विचलन, उद्भावना, प्रत्यारोपण, अभिसंरचना, उलाहना, प्रतिप्रक्षेपण, अनुशांसिक संस्कार और गतिविधियों का अध्ययन करना ही मनोविज्ञान है। इसे छः इकाइयों में अध्ययन किया जा सकता है- ज्ञानात्मक, संवेग, भावना, प्रत्यक्षीकरण, इच्छात्मक प्रमुख है। इन छः इकाइयों के मूल में विचार, तर्क, अनुभव और इच्छाएँ प्रमुख रूप से कार्य करती हैं। उदाहरणस्वरूप ज्ञान अर्जित करने के उपरांत व्यक्ति अपने क्रोध को नियंत्रित करना प्रारंभ करता है। सभी कहानियों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मनोभावनाओं का उद्वेलन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'मनोविज्ञान' में लिखा है- 'जाहिर है कि उत्तेजना, असावाानता, मनोविक्षेप या ध्यान बटाई आदि मनाकार्यिकीय कारणों से कोई व्याख्या नहीं होती।'[2] ठाकुर जी ने बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक के मनोविकारों को तार्किक रूप में वर्तमान सामाजिक विडंबनाओं से जोड़कर जाँचने और परखने का प्रयास किया है। वे मानवीय संवेदनाओं के कथाकार हैं।

'विकलांग' कहानी में विकलांग बच्चे और विधवा माँ की दयनीय दशा का चित्रण करते हुए गर्भवती विधवा स्त्री की मानसिक दशा को व्यवस्थित और पारदर्शी रूप में प्रस्तुत किया गया है- 'वह गर्दन झुकाए चल रही है। चलते-चलते वह कुछ बुनती जा रही है। ...ऐसा महसूस होता है कि जैसे कत्थई रंग का धागा उसके हृदय से निकल आ रहा है। रास्ता, जिस पर वह चल रही है, ढलुवा और आड़ा-तिरछा है।'[3] 'पहरुए' कहानी में मेजर चंद्रा की पत्नी यशोदा को लीवर कैंसर है। संगोष्ठी में सहभागिता हेतु आया उनका मित्र नवतेज मुंबई घुमाने का आग्रह करता है। इस आग्रह पर दो दिन तक चंद्रा अपने मित्र को मुंबई घुमाता है परन्तु वह अपनी आंतरिक मनोदशा का खुलासा नहीं करता। अक्सर बुद्धिजीवी वर्ग अपनी भावनाएँ, आकांक्षाओं को दबाने की कोशिश करता है और मनोवियोग में जीता है। दबाव इतना ज्यादा होता है कि अपने घनिष्ठ मित्र के समक्ष सहज नहीं हो पाता। अतः जयशंकर प्रसाद की कविता 'ले चल मुझे भुलावा देकर, मेरे नाविक धीरे-धीरे' की याद सहज ही आ जाती है।

'छोटी सी बात' कहानी में जातीय वर्णव्यवस्था से संक्रमित मंगतराम महार जाति से संबंध रखने के कारण अनेक प्रताड़नाओं से गुजरता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात मंगतराम के हृदय परिवर्तन से जातीय संकीर्णता के टूटने का सपना नेस्तनाबूद हो जाता

है। चाय की दुकान में मंगतराम को पंडित कप-प्लेट में चाय देने से इनकार कर देता है। मंगत चाय की केटली उठाकर कप में चाय लेता है, जिसे दूर बैठे धनपत पहलवान देखता है। मंगतराम के इस आक्रामक व्यवहार से प्रभावित होकर जातीय संक्रमण के विरुद्ध चुनाव लड़ने की सलाह देता है। चुनाव लड़ने में धनपत पहलवान सहायता करता है। मंगत चुनाव जीतकर विधानसभा पहुँचता है। वह साम-दाम-दण्ड-भेद का प्रयोग करता है पर राम नवमी के अवसर पर धनपत पहलवान प्रवेश द्वार खोलने का आग्रह करता है ताकि वर्षों से चली आ रही शोषण प्रक्रिया को तोड़ा जा सके। मंगत इस आग्रह को छोटी-सी बात कहकर टाल देता है। इसी प्रकार सर्वेश्वरदयाल सक्सेना जी 'भेड़िया' कविता में - 'हममे से ही कोई एक भेड़िया बन जाएगा' संदर्भित लगता है।

प्रणय-प्रेम के उद्गार पर आधारित 'अपराध बोध' कहानी में तीन पात्र बल्लू, हरिहर और शकुंतला हैं। परमेश्वरी शकुंतला से प्रणय सूत्र में बँधता है और पिता बनता है। शादी के बाद भी परमेश्वरी और शकुंतला हरिहर को कभी अकेला महसूस नहीं होने देते शकुंतला हरिहर और स्वयं के संबंधों की प्रगाढ़ता को महसूस करने लगती है पर बेटा बल्लू हरिहर को पिता मानने से इंकार कर देता है। जिसके फलस्वरूप हरिहर कुवेत चला जाता है। कई साल बाद कुवेत से हरि समय में हरिहर के मुख से निकलने वाला अंतिम शब्द सुक्खी... सुनकर बचपन में चाचा को पिता मानने से इंकार करने के लिए स्वयं को अपराधी मानता है और पछतावा करता है। कहानी में मनोहर, बिल्लू और शकुंतला की मनोदशा का मार्मिक चित्रण किया गया है।

बाल मनोभाव पर आधारित 'सुंदरा' कहानी में फुटपाथ पर ठेला लगानेवाला एक नाबालिक लड़का देखने में अद्भुत, लेकिन मन का साफ है। वह तन से ज्यादा मन से सुंदर है। लोग उसकी सरलता, सहृदयता, परोपकारी मनोवृति का उपयोग करते हैं पर किसी को उसके प्रति आत्मीयता का भाव नहीं रहता। देवेश ठाकुर ने सुंदरा के माध्यम से बाल मजदूर की मार्मिक यंत्रणा और मनोदशा को चित्रित किया है। सुंदरा ने अपनी कर्तव्यपरायणता और कर्मठता से शेट्टी को प्रभावित करता है। एक बार शेट्टी ठेले का चार महीने का किराया नहीं चुका पाता। वह अपनी असमर्थता व्यक्त करता है। सुंदरा में युक्तिसंगत समायोजन का विस्तार होता है। वह अपनी सूझ-बूझ से शेट्टी का बकाया चुकाने और स्वयं को सुरक्षित करने हेतु मेले में रात-भर और अगले दिन दोपहर तक साइकिल चलाता है। शेट्टी का बकाया चुकता करता है। सुंदरा को गले लगाते हुए शेट्टी कहता है- 'सुंदरा! तू सचमुच सुंदर है। बहुत - बहुत सुंदर है तू ..।'[4]

वृद्धावस्था बाल मनोभाव से युक्त होता है। सदैव परिवार, परिजनों से आत्मीयता, प्रेम, सहृदयता का व्यवहार बनाए रखता है। वह परिवार के सभी सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य मानता है। 'साथ-साथ' कहानी में संगीता और अवस्थी अपने बेटे अंकुर के साथ रहने का ख्वाब देखते हैं। अक्सर बुजुर्गों को संध्युक्त परिवार में रहना पसंद आता है। संध्युक्त परिवार की अपनी समस्याएँ हैं। बेटा अंकुर के आने के बाद अपने पति अवस्थी से बात करने का समय निकाल पाना दूभर हो जाता है, घर सदैव अव्यवस्थित-सा लगने लगता है। व्यवस्थित दिनचर्या में खलल पड़ने लगती है। दूसरी तरफ बच्चे अपनी सुविधा के अनुरूप बुजुर्गों की इस मनोदशा का उपयोग करना चाहते हैं। सिनेमा

हॉल में पीठ के बल गिरने के कारण अस्पताल में पति-पत्नी के बीच का गहन संवेदनात्मक जुड़ाव दिखता है जब संगीता कहती है 'आज का दिन भी कितना मनहूस है... ।'[5] कहानी में देवेश ठाकुर जी ने संगीता और अवस्थी के माध्यम से आत्मन की प्रक्रिया, गति और संवेदना युक्त भाव को मार्मिकता पूर्वक चित्रित किया है।

'पीढ़ियाँ' कहानी में श्यामराव द्वारा अपने माता-पिता के प्रति किए गए व्यवहार के संवेदनात्मक भाव को मार्मिकता से चित्रित किया है। एक उम्र के बाद बुजुर्गों की आदतों में बदलाव होता है। सभ्यता के नाम पर प्रताड़ित किया जाता है। सभ्य और असभ्य में फर्क होने लगता है। आज जो सभ्य हैं, कल उसे असभ्य की गिनती में गिना जाता है। संतान जिस सभ्य समाज में रहकर पलता और बड़ा होता है, बाद में उसी सभ्य समाज से दूर अपने नए सभ्य समाज की निर्मिति करता है और अपने परिजनों को असभ्य होने का प्रमाण पत्र देता है। कहानी में श्यामराव अपने पिता शरदराव और माँ जानकी को शहर ले जाता है। सुविधा अपने सास-ससुर के रहन-सहन के तरीके पसंद नहीं करती, जिसके कारण असमंजस की स्थिति पैदा होने लगती है। वह कहती है 'शरदराव चाय को प्लेट में डालकर सुड़क-सुड़क आवाज करते हुए पीते। दाल-भात एक साथ सानकर उसके गोले बनाकर खाते। कई बार टॉइलेट में फ्लश करना भूल जाते।'[6] अंबिका प्रसाद अपनी पुत्री को समझाते हुए कहते हैं- 'बेटे, विवाह केवल पति-पत्नी का संबंध नहीं होता, दो परिवारों का संबंध होता है। और इंसान को उन संबंधों को जिलाए रखना होता है।'[7]

आत्मकथामक शैली में कहानी 'शवदाह के बाद' में विधवा पारुल की दयनीय दशा का धार्मिक चित्रण किया है। युवावस्था में पति की मृत्यु के पश्चात अकेलेपन और बीमारियों ने पारुल के शरीर में अपना घर कर लिया। वह दिल्ली में बड़े भाई के पास रहने लगती है, जहाँ अविवाहित बड़े भाई और छोटे भाई का भरा पूरा परिवार है परंतु पारुल के अकेलेपन को कोई मिटा नहीं पाता। 'दो कुआंरी बहनें थीं फिर भी अपने दुर्भाग्य और अकेलेपन की टीस को तो उसे ही सहना था। लोगों की सहानुभूति के पीछे छिपे व्यंग्यों पर वह मर-मर कर जीती रही।'[8] मृत्यु के पश्चात रीतिरिवाजों से युक्त संस्कारित रूप व्यवस्था के सामने झुकने-सी लगी।

'बरसों बाद' कहानी कॉलेज की प्राध्यापिका बिन्नी (वनिता) के कॉलेज के दिनों के जीवन पर आधारित है। बिन्नी बचपन से ही सरल स्वभाव की है- 'ना कहना सीखो। मेरी आदत है, कोई मुझसे कोई भी काम करने को कहे, मैं हाँ कर देती हूँ। मानती हूँ कि इससे मैं कई बार मुश्किल में फँसी हूँ लेकिन अभी तक ना कह पाना सीख नहीं पाई।'[9] प्रशांत वासंती को देने के लिए पचीस पन्नों का प्रेम पत्र लिखता है और वनीता को पत्र पढ़ने की स्वतंत्रता देता है। वनिता अपने घर के छत पर पत्र को पढ़ती है, उसी वक्त माँ प्रेमपत्र को देखकर गलतफहमी पाल लेती है। माँ पत्र को फाड़ देती है। अगले दिन जब प्रशांत कहता है-'न दी हो तो कोई बात नहीं। तूने तो पढ़ ली थी न? उसके चेहरे पर वैसी ही मुस्कुराहट थी। मैंने उसकी ओर देखा। वह अब भी मुस्कुरा रहा था। उसकी मुस्कुराहट से मैं अचकचा गई।'[10]

अकेलेपन के दर्द को बयां करती कहानी 'दर्द दिल ही में छुपा ले' में दर्द को दूर करने व भुलाने के कई तरीके हैं। मनुष्य समय-समय पर दूसरों का सहारा लेकर जीवन

को आसान बनाने का तरीका ढूँढता है। डॉ. विश्वनाथ सेवानिवृत हैं। सेवानिवृत्ति के बाद स्वास्थ खराब होने पर खालीपन और गहराता है। शरीर में बीमारी घर करना प्रारंभ कर देती है। अस्पताल में भर्ती होने पर सिस्टर, डॉक्टर, सभी जिंदादिली भरे वाक्यों से उन्हें खुश रखने की कोशिश करते हैं। विश्वनाथ डॉ. अहूजा से कहते हैं- 'बस मुझे आपकी यही बात अच्छी लगती है, डॉक्टर मुझ जैसे मरीज को भी आश्वासन देकर जिंदा रखते हैं। हँसते हुए डॉ. विश्वनाथ बोले।'[11] डॉ. आहूजा जवाब देते हुए कहता है आप अपने 'विल' और 'जिद' के कारण जिंदा हैं। तभी विश्वनाथ कहते हैं, 'यह 'विल' और 'जिद' कितने दिनों तक चलेगा। जिंदगी में दूसरे को खुशी देना महत्वपूर्ण है। वार्ड में हँसमुख मेहता नामक युवक घबराहट से भरे चेहरे के साथ शिफ़्ट होता है, जिसे विश्वनाथ हौसला अफजाई करते हुए ठीक होने का आश्वासन देते हैं। सड़क के पार टेरेस पर लहलहाते बगीचे की ओर ध्यान बँटाते हैं। विश्वनाथ का स्वास्थ अचानक बिगड़ने लगता है। खून फैलने के कारण आई. सी. यू. ले जाया जाता है। सुबह आँख खुली तो विश्वनाथ का बिस्तर खाली था। दोपहर तक इंतजार करते हुए हँसमुख खिड़की के पास खड़ा हो गया ताकि टेरेस की हरियाली का सुख पान कर सके पर 'वहाँ न तो बोगन वेला की लताएँ थीं, न फूल थे।'[12]

'अपने अपने बंधन' कहानी में देहरादून में पढ़ाई के दौरान पूरन संघर्ष से युक्त वातावरण में जीने को मजबूर है। भाई के घर से भाग जाने और पिता द्वारा भेजे गए पत्र में माँ की हालत का चित्रण करने से कहानी का आरंभ होता है। वह कबाड़ी की दुकान में काम करता है। कभी-कभी ट्यूशन भी पढ़ाता है। कॉलेज में पूरन प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता है, पर गरीबी के कारण मन में संदेह बढ़ता है- 'जीवन में भय के काले साये इसलिए मँडराते हैं कि मनुष्य स्वयं ही अपने प्रकाश को रोक कर खड़ा रहता है।'[13] फाइनल ईयर की परीक्षा है उस समय पूरन अपने सहयोगी सुषमा के हृदय में जगह बनाता है, पर संकोच के कारण अपनी सीमाओं को नहीं लाँघता है। पूरन और सुषमा दोनों में दबाव है। जहाँ पूरन में आर्थिक स्थिति का दबाव है तो सुषमा में समाज का दबाव है।

कभी-कभी अकेलेपन का डर व्यक्ति को सचेत करता है। पुनः प्रयास करने की प्रेरणा देता है। मै शैली में लिखी गई कहानी 'एक बार फिर' महिमा सिंह द्वारा जीवन के अकेलेपन से निकलने के प्रयास की कहानी है। सैम के समक्ष महिमा सम्पूर्ण रूप से खुल जाती है। कार्य की प्रगति हेतु आए पिता के सामने सैम और महिमा के रिश्ते का खुलासा होता है। महिमा का गर्भपात करवाया जाता है। मुंबई से लौटने पर पता चलता है सैम को ट्रक ने कुचल दिया है। महिमा इस घटनाक्रम का किसी से जिक्र नहीं करती, बस याद करती है, सैम के प्रति आकर्षण के पलों को। स्त्री अपने जीवन में न जाने ऐसी अनेक घटनाएँ अन्तःमानस में छिपाए जीवन काट लेती है। जीवन में कई बार व्यक्ति परिस्थितियों के कारण कठोर निर्णय लेने के लिए बाध्य होता है। 'अपने साये' कहानी में जीवनलाल की पत्नी कौशल्या को गुसलखाने में गिरने के कारण लकवा मार देता है। ठीक होने में समय लगता है। उस समय बच्चे में माता - पिता के प्रति नकारात्मकता का भाव उत्पन्न होता है। यही बुढापें की सबसे बड़ी विडंबना है। 'समय के साथ समझौता' को बयाँ करती 'फैसला' कहानी में डॉ. कर्णिक शिक्षण कार्य से सेवानिवृत्ति के पश्चात

अपनी दिनचर्या के बदलाव को स्वीकार करते हैं। पुत्री सुविधा न्यूजर्सी अमेरिका में डॉक्टर है, जो अमेरिकी हिन्दुस्तानी अरमान तनेजा से विवाह करती है। विवाह की सूचना फोन के माध्यम से दी जाती है। विवाह को अधूरे मन से स्वीकार करना पड़ता है। अपनी जमी-जमाई गृहस्थी छोड़कर परदेश में रहना कठिन कार्य तो है, पर मन है कि मानता ही नहीं। भारतीय मान्यताओं के अनुसार दामाद के घर रहना उचित नहीं। इसे नजरंदाज कर पति-पत्नी विदेश में रहने को तैयार हो जाते हैं। अरमान के अमानवीय व्यवहार के कारण गर्भ में पल रहे बच्चे की मौत हो जाती है। इस मारक स्थिति को देख डॉ. आहत होता है। सुविधा इस परिस्थिति के लिए स्वयं को जिम्मेदार मानती है। निष्कर्ष रूप में देखा जाए तो मानव मन की उद्वेलन प्रक्रिया निहित है।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर, फैसला तथा अन्य कहानियाँ, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृष्ठ - भूमिका
2. फ्रायड, मनोविज्ञान, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2010, पृष्ट -37
3. देवेश ठाकुर, फैसला तथा अन्य कहानियाँ, नमन प्रकाशन, दिल्ली, 2011, पृष्ठ - 16
4. वही, पृष्ठ - 52
5. वही, पृष्ठ - 58
6. वही, पृष्ठ - 62-63
7. वही, पृष्ठ - 63
8. वही, पृष्ठ - 68
9. वही, पृष्ठ - 70-71
10. वही, पृष्ठ - 76
11. वही, पृष्ठ - 79
12. वही, पृष्ठ - 88
13. वही, पृष्ठ - 93

केरल केन्द्रीय विश्वविद्यालय,
कासरगोड, केरल

फैसला तथा अन्य कहानियाँ: मानवीय संवेदनाओं के विविध आयाम

डॉ. रीना सिंह

देवेश ठाकुर बहुआयामी प्रतिभा के धनी एक प्रगतिशील साहित्यकार हैं। समाज को जिस रूप में उन्होंने देखा अनुभव किया, उसी का यथार्थ चित्रण उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। इनकी कहानियों में व्यक्ति, राष्ट्र तथा समस्त मानव समाज की बेहतरी का चिंतन देखने को मिलता है। इनके कहानी संग्रह 'फैसला तथा अन्य कहानियाँ' में कुल 16 कहानियाँ संग्रहित हैं। उनकी प्रत्येक कहानी उद्देश्यपरक है। भूमिका में वे स्वयं कहानी-सृजन के विषय में लिखते हैं, 'कहानियाँ लिखना मुझे अत्यंत दुष्कर कार्य लगता है। इसीलिए लगभग 20 वर्षों के बाद यह मेरा दूसरा कहानी संग्रह है। वैसे इस बीच मेरे कई उपन्यास आ चुके हैं। कहानी में संक्षिप्तता, सूक्ष्मता, वाक्यों का एक दूसरे से जुड़ाव तथा शब्दों की सार्थकता और पैनेपन को मैं उसके आवश्यक तत्वों के रूप में ग्रहण करता हूँ। कहानी की अपेक्षा उपन्यास में कुछ हल्की-फुल्की पंक्तियाँ भी चल जाती हैं लेकिन कहानी में श्रृंखला से असंबद्ध एक वाक्य भी वांछनीय नहीं होता।'[1]

'पुरस्कार' इस संग्रह की पहली कहानी है। इस कहानी में देवेश ठाकुर ने एक लेखक के प्रति समाज की सोच और मानसिकता को दर्शाया है। भले ही एक प्रतिष्ठित लेखक स्वयं को महान समझता हो, लेकिन समाज में उसे बेचारा ही समझा जाता है। मंगला प्रसाद पारितोषिक से सम्मानित एक लेखक की ट्रेन में सफर करते वक्त एक युवती से मुलाकात होती है। स्वयं को महान समझने वाले लेखक को उस युवती की उपेक्षा असहनीय हो जाती है। कुछ देर बाद जब दोनों में बातें शुरू होती हैं, तब लेखक बढ़-चढ़कर अपने बारे में बताने लगता है। युवती उसकी प्रशंसा तो करती है लेकिन कुछ खास प्रभावित नहीं होती। उल्टे लेखक ही उसकी बातों से प्रभावित हो जाता है। लेखक का सारा अहम् धराशायी हो जाता है, जब उसे पता चलता है कि वह स्वयं मंगला प्रसाद की पुत्री है। लेखकों के विषय में मंगला प्रसाद जी के विचार थे कि इस देश में लेखक बड़ा बिचारा होता है। उसकी कुछ तो मदद करनी चाहिए हम लोगों को। युवती लेखक से कहती है, 'अपने जीते जी उन्होंने यौं बीसियों लेखकों की मदद की इसीलिए मैंने भी उनके नाम पर।'[2] आत्मकेंद्रित और आत्ममुग्ध लेखक के लिए यह घटना ऐसी थी मानो वह किसी भँवर में तिनके सा धँसता जा रहा हो। इस कहानी में लेखक ने उन लोगों की मानसिकता पर भी व्यंग्य किया है जो थोड़ी बहुत किताबें लिखकर यह चाहते हैं कि सारी दुनिया उन्हें सलाम करे।

विकलांगता को हमारे समाज में एक अभिशाप के रूप में देखा जाता है। शारीरिक रूप से विकलांग ही केवल विकलांग नहीं होते, बल्कि कुछ लोग विचारों से भी विकलांग होते हैं। जिनकी संतानें विकलांग हैं, उन्हें समाज में बड़ी हीनता भरी निगाह से देखा जाता है। इस विषय को साहित्य में भी उपेक्षा ही प्राप्त हुई है। बहुत कम साहित्यकारों ने विकलांगता को केंद्र में रखकर कोई रचना की है। देवेश ठाकुर ने 'विकलांग' कहानी में इस समस्या को प्रमुखता से उठाया है। हमारे समाज में विकलांग

संतान के माता-पिता की मनोदशा समझे बिना ही उन्हें इसके लिए दोषी ठहराया जाता है। 'विकलांग' कहानी की माँ को भी कुछ इसी प्रकार के ताने सुनने को मिलते हैं, 'जब से पड़ोसियों को उस बच्चे के बारे में मालूम हुआ तभी से वे उसकी माँ पर ताने कसने लगे। वे उसे अलग-अलग तरह से यह जतलाने की कोशिश करते कि किसी माँ के लिए ऐसे विकलांग बच्चे को जन्म देना कितनी शर्म की बात है। जरूर उसे ईश्वर ने किसी बड़े पाप की सजा दी है।'[3] अपने विकलांग बच्चे के लिए वह दूसरा विवाह नहीं करती। वह डरती है कि कहीं दूसरा बच्चा भी विकलांग हुआ तो उस पुरुष का जीवन नष्ट हो जाएगा। वह विकलांग बच्चे के लिए स्वयं को दोषी मानती है। उसे ज्ञात है कि उसका बच्चा कभी उसका सहारा नहीं बन सकता, बल्कि उसे ही जीवन भर अपने बच्चे का सहारा बनना है। इसके बावजूद वह अपना पूरा जीवन उसे पालने में खपा देती है। कुछ लोग उसे सुझाव देते हैं कि इस अजीब से विकलांग बच्चे को महालक्ष्मी के मंदिर के पास रख दे। बहुत सारे विदेशी वहाँ आते हैं, उसे अवश्य ही कुछ न कुछ देंगे। लेकिन वह स्वाभिमानी औरत विदेशियों के सामने अपने देश का अपमान होते नहीं देख सकती थी, इसलिए वह इस रास्ते को नहीं स्वीकार करती है। माँ की तपस्या और त्याग को यहाँ स्पष्ट किया गया है।

एक फौजी को सबसे पहले अपने देश को प्राथमिकता देनी होती है। व्यक्तिगत और पारिवारिक जिम्मेदारियाँ, समस्याएँ चाहे कितनी भी बड़ी हों, देश-रक्षा के कर्तव्य के समक्ष वह बौनी हो जाती है। 'पहरुए', ऐसी ही एक फौजी के दर्द को बयान करती कहानी है। इस कहानी के मेजर चंद्रा की पत्नी को लीवर का कैंसर है। डॉक्टरों ने उसका एक ही इलाज 'ऑपरेशन' बताया है। इसके बाद भी फिफ्टी-फिफ्टी चांसेस हैं। उसी के लिए उसने साल भर पहले अपना ट्रांसफर मुंबई में करवाया था लेकिन एक साल होते-होते ही उसे कश्मीर पहुँचने का ट्रांसफर आर्डर मिल जाता है। उसका मित्र नवतेज जब उसे अपना ट्रांसफर रुकवाने की बात करता है तब मिस्टर चंद्रा जो उत्तर देता है, वह पीड़ादायक तो है ही लेकिन गर्व की अनुभूति भी कराता है, 'मैं फौजी हूँ। फौजी के लिए देश पहले होता है, बाकी सब बात की बातें हैं। देश है तो हम हैं। नहीं तो कुछ भी नहीं।' जिस दिन हम फौज में शामिल होते हैं, उसी दिन से देश की रक्षा और सुरक्षा हमारे लिए पहली चीज बन जाती है। हमें बतलाया जाता है कि हम देश के पहरुए हैं।' देश की मिट्टी के प्रति अपनी जिम्मेदारी तो निभानी पड़ेगी न।'[4] एक फौजी का जीवन बड़ा ही कठिन होता है। उसका संपूर्ण जीवन त्याग और तपस्या का जीवन होता है। देवेश ठाकुर ने इस कहानी के माध्यम से फौजियों के व्यक्तिगत जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं को पाठकों के समक्ष रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

देवेश ठाकुर ने पिछड़े वर्ग की समस्याओं के स्वर को भी अपने साहित्य में मुखरित किया है। 'छोटी सी बात' समाज के पिछड़े वर्ग के कटु यथार्थ उजागर करती है। कई बार ऐसा देखा गया है कि अपने लोगों की सहायता से ऊपर पहुँचा कोई पिछड़ी जाति का व्यक्ति बाद में बदल जाता है। जिन लोगों के बीच वह रह आया है, उसे उन लोगों से ही घिन आने लगती है। मंगतराम शहर से पढ़कर गाँव आता है। उसे अपने साथ हुआ भेदभाव बहुत अखरता है। चाय की दुकान के पंडित जी उसे कप प्लेट में चाय देने से

मना कर देते हैं। वह जबरन केतली से चाय कप में डालकर पी लेता है। उसकी यह दिलेरी वहीं बैठे धनपत पहलवान को प्रभावित करती है। वह ऐसे ही व्यक्ति की तलाश में थे, जो उसी की जाति का हो, पढ़ा-लिखा हो और उसमें लीडर बनने के गुण हों। मंगतराम को धनपत और गाँव वालों की सहायता से विधानसभा का टिकट मिल जाता है। लेकिन वहाँ जाने पर वह अपनी जड़ों से कट जाता है। वह धनपत की सहायता करने से मना कर देता है। धनपत की शिकायत थी कि राम मंदिर में ऊँची जाति वालों का कब्जा है। इस कब्जे से वे छुटकारा चाहते हैं। वे भी रामनवमी के दिन मंदिर में जा कर पूजा करना चाहते हैं। मंगतराम ऊँची जाति वाले विधायकों को खफा कर मंत्रिमंडल के विस्तार में अपने अहम् स्थान को खोना नहीं चाहता था। इसी कारण वह इसे 'छोटी सी बात' कहकर टालने की कोशिश करता है। जिस मंगतराम को चाय की दुकान में अपने साथ हुआ भेदभाव अखरता है उसे ही पूरे समूह के साथ होने वाला भेदभाव 'छोटी सी बात' लगती है। उसके इस स्वार्थ पर क्रोधित होकर धनपत कहता है, 'धन्य है यह राजनीति और धन्य है तुम्हारा दिमाग। मुझे ताज्जुब होता है तुम्हारा दिमाग इतना जल्दी कैसे बदल गया? तुम जैसे नेताओं के कारण ही हमारी यह दशा है। नेता बनते ही तुम्हारी आँखें बदल गई। थू है तुम्हारी नेतागिरी पर।'[5] काशीनाथ सिंह की कहानी 'वे तीन घर' भी इसी कटु यथार्थ को दर्शाती है।

कभी-कभी मनुष्य से अनजाने में ऐसे अपराध हो जाते हैं जिसकी सजा वह पाना चाहता है, लेकिन वह समय भी बीत जाता है और वह मनुष्य भी नहीं रहता जिसका वह अपराधी है। ऐसे में उस मनुष्य की मनोदशा क्या हो सकती है यह बतलाने का प्रयास देवेश ठाकुर ने 'अपराध बोध' इस कहानी में किया है। बचपन में अपने पिता की मृत्यु के बाद उनके मित्र को पिता का स्थान न देने का अपराध बोध बल्लू को हमेशा कचोटता है। बल्लू के पिता परमेश्वरी और हरिहर बचपन के बहुत अच्छे मित्र थे। परमेश्वरी के परिवार को वह अपना ही परिवार मानता था। परमेश्वरी की मृत्यु के बाद भी उसकी पत्नी शकुंतला और बच्चे बल्लू का उसी तरह ख्याल रखता था। लेकिन गांव के लोग दोनों के बीच के रिश्ते को लेकर फुसफुसाहट करने लगे। इसे देखकर शकुंतला ने हरिहर से विवाह का प्रस्ताव रख दिया। हरिहर भी मान गया। लेकिन नादान बल्लू ने उन्हें अपने पिता मानने से इनकार कर दिया। हरिहर ने उसकी भावनाओं को देखते हुए कुवैत जाने का फैसला कर लिया। बीस साल बाद जब हरिहर चाचा वापस आए तो शकुंतला अस्पताल के बिस्तर पर मिली। उनसे मिलकर जैसे शकुंतला की प्रतीक्षा समाप्त हो गई। उसने बड़ी ही शांतिपूर्ण रूप से प्राणों का त्याग कर दिया। दोनों के मिलन के आखिरी लम्हों को देखकर बल्लू अपने आप को बहुत छोटा और अपराधी महसूस करता है। उसे समझ में नहीं आता कि अपने उस अपराध की माफी कैसे माँगूं जो उसने चार पाँच साल की उम्र में अनजाने में ही कर दी, जिसका पछतावा उसे जीवन भर रहेगा।

अधिकतर देखने में आता है कि लोग किसी की बाहरी सुंदरता को ही देखते हैं। सुंदर व्यक्ति की ओर लोग शीघ्र ही आकर्षित होते हैं। बाहरी सुंदरता की तुलना में लोग आंतरिक सुंदरता की उपेक्षा कर देते हैं, जबकि तन की तुलना में मन की सुंदरता कहीं अधिक आवश्यक होती है। देवेश ठाकुर ने सुंदरा कहानी के माध्यम से मन की इसी

सौंदर्य को प्रकाश में लाया है। 'सुंदरा' कहानी का नायक सुंदरा शारीरिक रूप से अपने नाम के प्रतिकूल था। उसकी कुरूपता देखकर लोग उसका मजाक उड़ाते थे, 'सुंदरा'. हा... हा... हा... सुंदरा। सुंदरा नहीं काला भूत है तू। कालिया कहीं का। हा... हा... हा...। देखो, काला भूत देखो, मुफ्त में देखो, देखने का कोई पैसा नहीं, है कोई टिकट नहीं।'[6] शेट्टी नाम का व्यक्ति उसे चाय के ठेले पर काम पर रखता है। लेकिन उसके चेहरे को वह भी नहीं सह पाता था। इसलिए नहीं चाहता था कि पहला ग्राहक उसके चेहरे को देखे। वह अपना फरमान सुंदरा को सुना देता है, 'देख सुंदरा, ठेला तैयार करके तू पानी की बाल्टियाँ भरने चला जाया कर। पहले ग्राहक को तेरी सूरत नहीं दिखनी चाहिए। नहीं तो सारा दिन कोई ग्राहक नहीं फटकेगा ठेले पर।'[7] यही सुंदरा अपनी जान पर खेलकर कमाए गए पैसों से शेट्टी की मुश्किल हालातों में सहायता करता है। उस वक्त सुंदरा उसे सचमुच बहुत सुंदर लगता है।

परिवार समाज का एक महत्वपूर्ण अंग होता है। परंतु आधुनिक युग में अनेकानेक कारणों से संध्युक्त परिवारों का विघटन हो रहा है। देवेश ठाकुर की कई कहानियों के पात्र वृद्धावस्था में अकेले जीवन जीने को मजबूर हैं। बच्चे अपना भविष्य बनाने के लिए विदेशों में ही स्थायी रूप से बस जाते हैं। 'साथ-साथ' कहानी के कनाडा में रहने वाले बेटे-बहू कई साल बाद भारत आते हैं। अवस्थी जी को रिटायर हुए चार साल बीत चुके थे। दो बच्चे थे। लड़का कनाडा बस गया था और लड़की शादी करके दिल्ली बस जाती है। बेटे बहू और पोता-पोती के आने की खुशी में दोनों बड़ी तैयारी करते हैं। बेटे अंकुर के परिवार को आए हफ्ताभर हो चुका था। पहले दो-तीन दिन अपने जोड़ों के दर्द के बावजूद माँ संगीता उत्साह में काम करती चली गई। बहू ने कभी किचन में हाथ बँटाना जरूरी नहीं समझा। उल्टे वह सास को ही आदेश देती, 'आज नाश्ते में क्या बना रही हैं? माँ जी, आज आलू के परांठे हो जाएँ... माँ जी, मेवे वाली खीर खाए सालों बीत गए। आज वही बना दो न।'[8] बच्चे विदेशों में अपने माता -पिता को अपने साथ रहने के लिए सिर्फ स्वार्थवश बुलाते हैं। अंकुर अपने पिता से कहता है, 'बाबूजी, क्यों न हम अम्मा को साथ ले जायें? वहाँ उनका अच्छा इलाज भी हो जाएगा और हमें भी कुछ सुविधा हो जाएगी। काम से घर लौटने तक बच्चों की चिंता बनी रहती है।'[9] हफ्ता दो हफ्ता मेहमानों की तरह रहने के बाद जाते वक्त वह सिर्फ माँ को ले जाने की बात करते हैं। अकेले पिता कैसे रहेंगे इसके विषय में उन्हें कोई लेना-देना नहीं है।

आज की पीढ़ियाँ स्वतंत्र उन्मुक्त जीवन जीना चाहती हैं। उन्हें अपने दैनिक कार्यों में किसी का हस्तक्षेप नहीं अच्छा लगता। 'पीढ़ियाँ' कहानी की सुविधा और श्यामराव का प्रेम विवाह हुआ था। शामराव अपने माता-पिता को केरल से अपने पास मुंबई बुलाते हैं। प्रारंभ में सुविधा को कोई समस्या नहीं होती, लेकिन छह-सात महीने बीत जाने के बाद सुविधा परेशान होने लगती है। उसे उनकी कई छोटी-छोटी आदतें अच्छी नहीं लगतीं। वह चाहती है कि वे वापस केरल चले जाएँ। सुविधा के पिता इस परिस्थिति की सच्चाई को समझते हुए अपनी बेटी से कहते हैं, 'बेटे, विवाह केवल पति- पत्नी का संबंध नहीं होता, दो परिवारों का संबंध होता है। और इंसान को उन संबंधों को जिलाए रखना होता है। मैं तुम्हारी मुश्किल समझता हूँ लेकिन तुम शामराव की मुश्किल भी तो समझने की

कोशिश करो। ऐसे हालात में वह बेचारा क्या करे? वह ठीक ही कहता है, इस उम्र में उनकी आदतों को तो नहीं बदला जा सकता।'[10] पीढ़ियों के व्यवहार में परिवर्तन होना लाजमी है, यह बात दोनों ही पीढ़ियों को समझनी होगी। 'दर्द दिल में ही छुपा ले' कहानी के डॉक्टर विश्वनाथ का बेटा भी अमेरिका में सेटल हो चुका था। डॉक्टर विश्वनाथ की पत्नी को मरे हुए अरसा हो गया था। इतने बड़े बंगले में सिर्फ विश्वनाथ और उनका नौकर हनीफ ही रहते थे। डॉ. विश्वनाथ के अंतिम दिन अस्पताल में बीतते हैं, जहाँ पर उन्होंने पैंतीस साल काम करके बिताए थे। 'दिन प्रतिदिन' कहानी के जीतन और सुमित्रा भी वृद्धावस्था में एकाकी जीवन जीने को विवश हैं। इस अवस्था में दोनों ही एक दूसरे का सहारा बने हुए हैं। सात साल पहले सुमित्रा को पार्किंसन डाइगनोज किया गया था, तब से धीरे-धीरे उनकी दिनचर्या बदलने लगी थी। बीस साल पहले वे कॉलेज के प्रोफेसर पद से रिटायर हो चुके थे। उन्हें भी प्रोस्टेट की तकलीफ थी। अवकाश ग्रहण करने के कुछ साल बाद उन्हें हार्ट अटैक हुआ था, जिसकी उन्होंने हार्ट सर्जरी करवाई थी। इसका खर्चा उनकी दोनों बेटियों ने दिया था। अपनी बीमारी और एकाकीपन से जूझते हुए हर रात वे यही सोचते हैं कि चलो 'एक दिन और बीत गया।'

आधुनिक युग में धीरे-धीरे भारतीय परिवार टूटते जा रहे हैं। लोगों का अकेलापन बढ़ रहा है। माता- पिता जो अपना पूरा जीवन बच्चों को पालने-पोसने में, उन्हें पढ़ा-लिखा कर अच्छा कैरियर देने में लगा देते हैं, वही बच्चे उन्हें छोड़कर बाहर जा बसते हैं। आजकल महानगरों में यह समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। परिवार संस्था हमारे भारतीय संस्कृति की पहचान है, जो धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है। इसके अनेक कारण स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। युवाओं पर बाजार का दबाव, उनकी स्वच्छंद और स्वतंत्र जीवन जीने की लालसा, अति महत्वाकांक्षा, बेहतर सुविाएँ जुटाने की चाहत ऐसे कारण हैं, जो इस समस्या की वृद्धि में सहायक हो रहे हैं। अपनी ख्वाहिशों का दमन कर अपने बच्चों का भविष्य बनाने वाले माता-पिता का अंत दयनीय हो रहा है। यह एक गहरे चिंतन का विषय है, जिसे देवेश ठाकुर ने अपनी कहानियों के माध्यम से पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है। जीवनलाल ने पूरे जीवन भर मेहनत करके प्रौढ़ता तक आते-आते देहरादून में कोठी बनवा ली थी। वहाँ पर अपने तीनों बेटे-बहुओं के साथ रहने लगे। वह अपने आप को दुनिया का सबसे सुखी और भाग्यशाली व्यक्ति मानने लगे थे। एक दिन अचानक उनकी पत्नी कौशल्या गुसलखाने में गिर जाती है, जिससे उसके शरीर के बाएँ हिस्से में लकवा मार जाता है। इसी समय उन्हें अपने बेटे-बहुओं का असली रूप मालूम पड़ता है। जिनके कारण उनके बेटे-बहू ऐशो आराम की जिंदगी जी रहे थे, उन्हें ही वे जरूरत पड़ने पर वे उपेक्षित करने लगते हैं। दशरथ उनकी उपेक्षा सहन नहीं कर पाता और एक कठोर किंतु सही निर्णय लेता है। वह कोठी और फैक्ट्री बेचकर पत्नी के साथ होटल में रहने का निर्णय लेता है। आज के बच्चों के लिए यह एक अच्छा सबक है। 'फैसला' कहानी के प्रोफेसर डॉ. वसंत कर्णिक और उनकी पत्नी सुधा अपने बेटी सुविधा के बुलावे पर अमेरिका जाते हैं। प्रोफेसर कर्णिक वहाँ नहीं जाना चाहते थे। महाविद्यालय के प्राचार्य पद से रिटायर होने के बाद उन्होंने पड़ोसियों के साथ मिलकर अपनी एक छोटी-सी दुनिया बना ली थी। उनका मानना था,

'ठीक है, अमेरिका बड़ा देश है। विकसित है। सुविधापूर्ण है। लेकिन अपना देश तो आखिर अपना देश ही होता है। लंबे समय तक साधारण गंदे कमरे में रहने के बाद उससे भी मोह हो जाता है।'[11] वहाँ जाकर प्रोफेसर कर्णिक अनुभव करते हैं कि विदेशों में रिश्ते कितने बेमानी और स्वार्थपूर्ण होते हैं। अपने देश से यहाँ सेटल हुए बच्चे सिर्फ अपने स्वार्थवश माता-पिता को साथ रहने के लिए बुलाते हैं। वहाँ रह रहे बुजुर्गों की स्थिति तो भारत में रह रहे एकाकी जीवन जीने वाले बुजुर्गों से भी अधिक दयनीय होती है। अपने बेटे के यहाँ अमेरिका में दस साल से रह रहे हरभजन मनचंदा अपने मन की बात बताते हुए कर्णिक से कहते हैं, 'पहले पहले मुझे यहाँ बड़ा अकेलापन महसूस होता था। फिर धीरे-धीरे इसमें जीने की कोशिश करने लगा।' और कोशिश अभी तक चल ही रही है।'[12] मिस्टर कर्णिक को अपनी बेटी और दामाद का रिश्ता सही नहीं लगता था। दोनों के बीच पति-पत्नी जैसे कोई अंडरस्टैंडिंग नहीं थी। वह उनके साथ भी कटा- कटा रहता था। बड़ी मुश्किल से, बड़े प्रयासों के बाद सुविधा को गर्भ ठहरा था। उसी के बच्चे को संभालने के लिए दोनों अमेरिका गए थे। पति के साथ हुए झगड़े में सुविधा का गर्भपात हो जाता है लेकिन अनिकेत को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। अंत में सुविधा माता-पिता के साथ वापस भारत आने का फैसला करती है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि देवेश जी ने लगभग अपनी सभी कहानियों में समाज की विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं का केंद्रीय स्वर व्यवस्था विरोधी है। उनहोंने महानगरीय जीवन के संवेदनहीन यथार्थ को अनेक कोणों से प्रस्तुत करते हुए, संबंधों की विद्रूपता और जीवन मूल्यों के तीव्रतर ह्रास को स्पष्ट किया है। अकेलेपन, ऊब और निराशा के मायम से वृद्धावस्था की त्रासदी को भी दर्शाया है। उनके कृतित्व के विषय में डॉ. वी. डी. पाटिल कहते हैं, 'देवेश जी के जीवन और साहित्य संबंधी दृष्टि प्रगतिशील रही है। उनकी रचनाधर्मिता मूल रूप से मानववादी मूल्यों से प्रेरित है। उनकी रचनाओं का केंद्रीय स्वर व्यवस्था विरोधी है। आज की अवस्था में व्याप्त विसंगतियों, विद्रूपताओं और भ्रष्ट नेतृत्व पर उनकी लेखनी ने लगभग सभी रचनाओं में तीखे व्यंग्य किए हैं।'[13]

संदर्भ :

1. भूमिका- देवेश ठाकुर रचनावली खंड- 6, संपादन- डॉ. सतीश पांडेय, डॉ. सत्यनारायण बी., पृष्ठ. 310, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2018
2. पुरस्कार- वही, पृष्ठ.316, 3.विकलांग- वही, पृ.319,
4. पहरुए- वही, पृ.330, 5.छोटी सी बात, वही, पृ. 336,
6. सुंदरा- वही, पृ. 347, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2018
7. वही, पृष्ठ.348, 8.'साथ-साथ- वही, पृ. 353, 9.वही, पृष्ठ.354
10. पीढ़ियाँ- वही, पृ. 360, 11.फैसला, वही, पृ.445, 12.वही, पृष्ठ.352
13.देवेश ठाकुर व्यक्तित्व एवं कृतित्व, वी. डी. पाटिल, पृष्ठ 22, http://ir.unishivaji.ac.in

सहायक प्राध्यापक
आर. के. तलरेजा महाविद्यालय, उल्हासनगर, जि. थाना, महाराष्ट्र

यों जिए देवेश

(संदर्भ : देवेश ठाकुर की आत्मकथा 'मैं यों जिया' (तीन खंड)

- डॉ. माधवी बागी

पिछले 40-50 वर्षों में साहित्यकारों के बीच आत्मकथा लेखन की प्रवृत्ति बढ़ी है। हम जानते हैं कि 'आत्मकथा' लेखन अपने आप में एक अत्यंत दुष्कर कर्म है। जब तक आत्म-कथा लेखक वस्तुपरकता, सच्चाई और ईमानदारी के साथ इस प्रकार के लेखन में प्रवृत नहीं होता तब तक उससे एक यथार्थ और विश्वसनीय आत्म-कथा की कोई आशा नहीं की जा सकती। सामान्यतः यह देखा गया है कि अपनी आत्मकथा में लेखक आत्मप्रशंसा और अपनी उपलब्धियों को रेखांकित करने के साथ-साथ अपने समकालीनों पर जाने-अनजाने व्यंग्य ही अधिक करता है। मेरे लेखे यह अत्यंत कष्टकारक स्थिति है। यह प्रवृत्ति लेखक की हीन-भावना को दशार्ती है। वस्तुतः वस्तुनिष्ठ आत्मकथा में लेखक का परिवेश और उसके जीवन में घटी अच्छी-बुरी घटनाओं का लेखा-जोखा तो होता ही है, साथ ही उसमें उसकी दृष्टि और संस्कार भी झलकते हैं। इस दृष्टि से, बहुत दिनों के बाद एक अत्यंत वस्तुपरक आत्मकथा 'मैं यों जिया' का सृजन हुआ है और उसके लेखक हैं यशस्वी रचनाधर्मी देवेश ठाकुर। साहित्य को यदि समाज का दर्पण माना गया है तो व्यक्ति जीवन उसकी आस्था, विचार एवं आचारों का प्रतिबिंब है। देवेश ठाकुर की आत्मकथात्मक कृति 'मैं यों जिया' (तीन खंड) में उनका व्यक्तित्व और समाजगत जीवन वस्तुपरकता के साथ प्रस्तुत हुआ है। उनके व्यक्तित्व के विविध आयामों और उनके संघर्षों को देखते हुए मेरे मन में यह कुतूहल पैदा होता रहा है कि अस्सी बरसों की जीवनयात्रा में देवेश जी किन-किन चरणों से गुजरे और किस प्रकार उन्होंने अपने व्यक्तित्व का विकास किया। संयोग से इन जिज्ञासाओं का उत्तर बड़ी सहजता के साथ उनकी 'आत्मकथा' में उपलब्ध हो जाता है।

देवेश जी की 'आत्मकथा' के इस अनुशीलन से यह भी सहज ही ज्ञात होता है कि इनमें बाल्यकाल से ही 'अंगभूत गुण' विद्यमान रहे हैं। निम्न मध्यवर्गीय परिवार तथा आर्थिक रूप से अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में संस्कारित और पोषित उन्होंने अपने शिक्षा-काल में ही जैसे संकल्प कर लिया था कि वे मात्र ज्ञानार्जन के क्षेत्र में अग्रसर होंगे और अध्यापकीय तथा लेखकीय जीवन जीते हुए अपनी मानसिक उर्जा को समृद्ध करने का प्रयास करते रहेंगे। शिक्षा प्राप्त करने के लिए आपको सीमातीत आर्थिक अभावों, उपेक्षाओं तथा प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ा; फिर भी वे हतोत्साहित नहीं हुए और कदम-दर-कदम अपने दृढ़ निश्चय का आलंबन ले, प्रगति-पथ पर अग्रसर होते रहे। उनकी 'आत्मकथा' से यह प्रतीति भी होती है कि उनके व्यक्तित्व और कृतित्व में एक अंदरूनी और अटूट रिश्ता है जो बड़ी सूक्ष्मता और साथ ही दृढ़ता से परस्पर जुड़ा हुआ है। इसलिए उनके व्यक्तित्व को समझने के लिए उनके कृतित्व को और उनके कृतित्व को समझने के लिए उनके व्यक्तित्व को गहराई से समझना आवश्यक हो जाता है।

अपनी 'हीरक जयंती' पर प्रकाशित देवेश जी की आत्मकथा 'मैं यों जिया' के तीन खंडों - 'आरंभिक अंर्तयात्रा', 'चंदन वन के बीच' तथा 'इस यात्रा में'- में संकलित है।

बचपन में उनका पालन पोषण निम्न मध्य परिवार में पलने-बढ़ने वाले बच्चों की भाँति हुआ। दूसरे शब्दों में इन्हें भी वे सभी संघर्ष भोगने पड़े जो ऐसे परिवारों के बच्चों की नियति में लिखे होते हैं लेकिन इसी यथार्थ ने जैसे बाद में उन्हें शीघ्र ही यह आभास भी करा दिया था कि उन्हें स्वावलंबन से ही अपना जीवन-जीना होगा; कि उनके सम्मुख कोई अन्य विकल्प नहीं है। उनके पिता पुलिस विभाग में एक साधारण से वेतन भोगी थे। उन्होंने किसी प्रकार उन्हें स्कूली शिक्षा दिलाई। लेकिन कॉलेज की पढ़ाई के लिए उन्होंने अपने हाथ खड़े कर दिए। पुलिस कांस्टेबल की नौकरी से उन्होंने तभी अवकाश ग्रहण कर लिया था जब देवेश जी नवीं कक्षा के विद्यार्थी थे। परिवार में माँ के अतिरिक्त तीन बहन भाई और थे जिन्हें निरक्षर नहीं रखा जा सकता था। इसीलिए इंटर पास करने के बाद देवेश जी की नौकरी लगाने के अनेक प्रयास किए गए लेकिन सफलता नहीं मिली। परिवार की स्थिति ऐसी थी कि पिता घर चलाने में बिल्कुल असमर्थ थे। सो उन से कहा गया कि जैसे भी हो, अब वे ही परिवार की जिम्मेदारी सँभालें लेकिन देवेश जी ने जिद पकड़ ली कि जैसे भी हो वे आगे की पढ़ाई करेंगे और साथ ही, परिवार के लिए जो कुछ भी संभव है, उसे करने में कोई कोताही नहीं करेंगे। सो, कुछ दिनों तक उनके परिवार में बड़े तनाव का वातावरण बना रहा। अंततः माँ ने अपने जेवर बेचकर उनके देहरादून जाने का प्रबंध कर ही दिया। देवेश जी ने भी अपने मित्रों से कुछ पैसे उधार लिए और देहरादून जाकर वहाँ के डी. ए. वी. कॉलेज में बी. ए. में दाखिला ले लिया। वस्तुतः यहीं से उनके अकथनीय संघर्षों की शुरूआत होती है। अपनी शिक्षा का खर्च चलाने के लिए उन्होंने ईटों के भट्टों पर मजदूरी की, होटल में प्लेटें धोईं, कॉलेज के साइकिल स्टैंड पर काम किया और जब मित्रों के सहयोग से कभी कोई ट्यूशन मिला तो उसे भी निभाया। इतना ही नहीं, सुबह-सुबह लोगों के घर अखबार भी डाले। बी. ए. की परीक्षा देने के ठीक बाद वे अपने एक संबंधी के बुलावे पर दिल्ली भी गए और वहाँ बाटा की दूकान पर 'शू बॉय' की नौकरी भी की लेकिन दिल्ली की गर्मी में वे बीमार पड़ गए और देहरादून लौट आए। दिल्ली में कमाए गये पैसे इलाज में खर्च हो गए। आगे, एम.ए. की पढ़ाई के दौर में उनके आर्थिक हालात और बदतर हो गए। कभी-कभी उन्हें तीन दिन तक भूखा रहना पड़ा और इसी दौरान ऐसी स्थितियाँ भी आईं कि उन्हें पानी के साथ मूंगफलियों के छिलके खाकर अपनी क्षुधा को शांत करना पड़ा।

दूसरी ओर इसी तंगहाली के बीच उनका एक दूसरा रूप भी उभरकर आया। उत्साह, उमंग और मस्ती भरा रूमानी रूप। एक कोचिंग क्लास में पढ़ाते समय उन्हें दसवीं क्लास की एक छात्रा शर्मिला भटनागर बहुत भा गयी। उसने देवेश जी के हृदय के कोमल तंतुओं को जैसे झकझोर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप उनके भीतर का कवि मुखर हो उठा। वैसे उन दिनों देहरादून में शैक्षणिक ही नहीं, सांस्कृतिक, साहित्यिक और राजनीतिक गतिविधियाँ अन्य नगरों की तुलना में अधिक सक्रिय थीं। अपने साथियों-सहपाठियों के साथ मिलकर उन्होंने 'तरुण साहित्य मंडल' नाम की एक संस्था गठित कर ली। फिर क्या था। अब इनके कमरे में काव्य गोष्ठियाँ होने लगीं। उनमें देवेश जी का कवि भी अपनी रचनाएँ पढ़ने लगा। अन्य युवा कवियों से प्रेरणा लेकर उनकी कविता धारा इतने बेग से उमड़ी कि उसने सभी कवि मित्रों को पीछे छोड़ दिया। इतना ही नहीं

एम.ए. के प्रथम वर्ष के अंत तक आते-आते उनका एक काव्य-संकलन भी प्रकाशित हो गया- मयूरिका। इसी के साथ-साथ उनकी रूमानियत को भी पंख लगने शुरू हो गए। कोचिंग क्लास में अगर शर्मिला भटनागर थी तो कॉलेज में भावना भट्ट और श्यामली से उनका परिचय धीरे-धीरे आकर्षण में परिवर्तित होने लगा। लेकिन दूसरी ओर से यह परिचय, परिचय ही बना रहा; आगे नहीं बढ़ पाया लेकिन देवेश जी के लिए यह परिचय ही काफी था, उनकी कविता कलिका को और प्रस्फुटित करने के लिए। परिणाम स्वरूप ट्यूशनों और रोमांस की व्यस्तता में पढ़ाई ठीक से नहीं हो पा रही थी और परीक्षाएँ पास आ गई थी। इसलिए देवेश जी को कभी-कभी अपने पर क्रोध भी हो आता। उसी मानसिकता में जनवरी की एक रात को नल के ठंडे पानी में नहा कर उन्होंने संकल्प किया कि अब मस्ती बंद और गंभीरतापूर्वक अपनी पढ़ाई पर ध्यान देना है। उन्हें आर्थिक कठिनइयों के बीच भी फिल्में देखने का भी शौक था सो उन्होंने यह संकल्प भी लिया कि परीक्षा समाप्त होने तक अब कोई फिल्म नहीं देखनी है। इन संकल्पों के साथ दूसरे दिन से उन्होंने बड़े मनोयोग से पढ़ाई भी शुरू कर दी। लेकिन हफ्ता भर भी नहीं हुआ होगा, एक दिन शाम को उनके एक मित्र ने उनके कमरे में आकर बतलाया कि 'ओडियन' में 'सैम्सन और डिलाइला' लग गई है और उसने कल के दो टिकट खरीद लिए हैं, कि वे दो-ढाई बजे तक तैयार रहें।

देवेश जी बोले - यार, मैंने कसम खा रखी है कि परीक्षा समाप्त होने तक कोई पिक्चर नहीं देखनी है।

मित्र बोला - क्या बात करता है यार तू भी। हम कब से इस पिक्चर का इंतजार कर रहे थे। हम इंटैलेक्चुअल हैं। तू कोई बहाना खोज ले। पिक्चर तो देखनी ही है।'

बस तभी से देवेश जी बहाना खोजने में लग गए। पढ़ाई धरी रह गई। रात होते-होते उन्होंने बहाना खोज लिया। उन्होंने अपने से कहा- जब मैंने पिक्चर न देखने की कसम खाई थी तब अंग्रेजी पिक्चर मेरे दिमाग में नहीं थी।'

और दूसरे दिन उन्होंने अपने मित्र के साथ मजे में पिक्चर देखी। इस प्रकार अभाव और संघर्ष के दिनों में भी विनोद और मस्ती के अनेक क्षण उनकी 'आत्मकथा' में भरे पड़े हैं। खैर, एम. ए. के बाद नौकरी के लिए संघर्षों का सिलसिला कई विद्यालयों में शुरू हुआ। कई विद्यालयों में 40-50 रु महीने की नौकरी करते हुए अंततः अक्टूबर 1955 में उन्हें डिफेंस सर्विसेज में टैस्ट ऑडिटर की नौकरी मिली और उनकी पहली नियुक्ति बम्बई में हुई। साहित्य को समर्पित देवेश जी को ऑडिट का क ख ग भी नहीं आता था। उन्होंने बम्बई आकर नौकरी तो ज्वाइन कर ली लेकिन एक दिन के लिए भी उसमें उनका मन नहीं रमा। उन्हें दफ्तर में सबसे पहले कुछ मोटे-मोटे मैनुअल्स पढ़ने को दिए गए और कहा गया कि तीन महीने बाद उन्हें ऑडिट करने का कार्य सौंपा जाएगा। उन्होंने कई बार मैनुअल्स को पढ़ने की कोशिश की लेकिन उनकी समझ में कुछ भी नहीं आता था। वे दिखाने के लिए मैनुअल खोल कर बैठ जाते और दफ्तर के कागजों पर या तो कविता लिखते रहते या अपने मित्रों को लम्बे-लम्बे पत्र। (उनके दूसरे काव्य संग्रह 'अंतर छाया' की कविताएँ इसी दफ्तर के कागजों पर लिखी गई थीं।) वे हर दिन यह सोचते कि इस नौकरी से कैसे निजात पाई जाय। इस बीच उन्होंने कुछ

स्कूलों में भी कोशिश की लेकिन ट्रैंड न होने के कारण वहाँ भी कोई बात नहीं बनी। संयोग से इसी साल (1955) बम्बई विश्वविद्यालय में इंटर की कक्षाओं में हिन्दी को अनिवार्य विषय बना दिया गया था। (उन दिनों इंटर की पढ़ाई बंबई विश्वविद्यालय के अंतर्गत ही होती थी।) लगभग सभी कॉलेजों में हिंदी के पद बने। देवेश जी ने अनेक कॉलेजों में अर्जियाँ भेजीं लेकिन मई 1956 तक कहीं से कोई सूचना नहीं मिली। तभी उन्होंने निर्णय लिया कि वे इस नौकरी से रिजाइन करके देहरादून जाकर बी. एड. की पढ़ाई करेंगे। और फिर बम्बई लौटेंगे।

उन्होंने जब इसकी सूचना अपने पिताजी को दी तो वे दुखी हो गए। उन्होंने आक्रोश में देवेश जी को पत्र लिखा कि जब तक तुम्हें नयी नौकरी नहीं मिलती, तुम घर मत लौटना। और कोई विकल्प न रहकर देवेश जी सीधे देहरादून आ गए। यहाँ आकर उन्होंने बी. एड. में दाखिला ले लिया। अभी कॉलेज शुरू हुए हफ्ता भर भी नहीं हुआ था कि उन्हें बम्बई के सरकारी कॉलेज से हिंदी लेक्चरर की पोस्ट के लिए इंटरव्यू लैटर मिला। किसी तरह यात्रा के लिए पैसों का जुगाड़ करके वे बम्बई आ गए और देहरादून के अपने एक मित्र जो यहाँ एक कॉलेज में लगा हुआ था, के पास ठहरे। किसी तरह इंटरव्यू दिया और मित्र से कुछ रुपये लेकर वापस देहरादून लौट गए। कोई पंद्रह-बीस दिन की कठिन प्रतीक्षा के बाद उन्हें बम्बई एजीक्युशनल सर्विसेस से नियुक्ति पत्र मिल गया। उनकी नियुक्ति बम्बई के एक सरकारी कॉलेज - सिडनम कॉलेज में हुई थी।

इस बार फिर मित्रों से आर्थिक सहायता के लिए दौड़ भाग करनी पड़ी। कपड़ों और यात्रा का खर्च। उन दिनों वे बड़े आर्थिक संकट से गुजर रहे थे। चाय-पानी और भोजन तक का कोई ठिकाना नहीं था। किसी प्रकार वे मुम्बई पहुँचे और अपने साथी के पास ही ठहरे। वे दिन उनके लिए काफी मारक थे लेकिन अब उन्हें आश्वस्ति थी कि हाथ में मनचाही नौकरी है और सब ठीक हो जाएगा। यह 1956 का साल था। शुरू-शुरू में सिडनहम में अंग्रेजी माध्यम से हिन्दी पढ़ाते हुए उन्हें काफी परेशानी का सामना करना पड़ा। वैसे अपने वरिष्ठ सहकर्मियों से उन्हें बड़ा सहयोग मिला। कॉमर्स के प्रो. प्रधान उनके सबसे बड़े शुभचिंतक थे। प्रो. दुबे उनके विभागाध्यक्ष थे जो उनसे बहुत स्नेह और सहयोग करते थे। सो उनकी मुश्किलें आसान होती गयीं। पहली टर्म पूरी होते-होते उन्होंने विद्यार्थियों के बीच बड़ी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी। वे लगभग चार वर्ष तक सिडनहम कॉलेज में रहे। फिर 1959 में उनका स्थानांतर राजकोट के धर्मेन्द्र सिंह जी कॉलेज में हो गया।

धर्मेन्द्र सिंह जी कॉलेज में उन्होंने पाया कि वहाँ का वातावरण काफी अध्ययन-अध्यापन विरोधी है। विद्यार्थी या तो क्लास में आते ही नहीं, आते हैं तो प्राध्यापकों को परेशान करते हैं। चूँकि देवेश जी बम्बई से आए थे और वे विद्यार्थियों की इस प्रवृत्ति से परिचित थे सो उन्हें यहाँ बिल्कुल भी मुश्किल नहीं हुई और एक-दो सप्ताह में ही अनेक छात्र उनके प्रिय बन गए। यहीं पर एक महिला प्रोफेसर से उनकी आत्मीय मित्रता बनी जो विवाह के बिन्दु तक आते-आते समाप्त हो गई (बहुत-बहुत सालों के बाद उन्होंने उस महिला पर केन्द्रित एक हृदयग्राही उपन्यास 'कातर बेला' की रचना की। एक तो इस व्यथा में और दूसरे यहाँ अध्ययन की कोई सुविधा न होने के कारण एक

बार फिर देवेश जी ने राजकोट में छह-सात महीनों की नौकरी के बाद रिजाइन कर दिया और बिना कोई दूसरी नौकरी पाये वे बम्बई आ गए। इसी बिंदु पर आत्मकथा का पहला खंड समाप्त होता है।

वस्तुतः 'आत्म-कथा' का प्रथम खंड देवेश जी के बाल्य जीवन, उनके पारिवारिक परिवेश तथा उनके आर्थिक संघर्षों के साथ-साथ उनकी जिजीविषा, अध्ययन-अध्यापन के प्रति उनकी रुचि, समस्याओं के सम्मुख तन कर खड़ा होने की दृढ़ता, उनकी भावप्रवणता, उनके फक्कड़पन, कठिन परिस्थितियाँ आने पर उनसे निपटने की साहसिकता, और अंतर्मन में कहीं गहरी पैठी हुई उनकी रूमानियत को रेखांकित करने के संदर्भ में बड़ा वस्तुपरक, विश्वसनीय और पठनीय बन पड़ा है।

दूसरा खंड 'चंदन वन' एक बार संघर्षों की श्रृंखला से आरंभ होता है। 1960 में यद्यपि देवेश जी को रामनारायण रुइया कॉलेज में लेक्चरर की नौकरी पाने में ज्यादा संघर्ष नहीं करना पड़ा, फिर भी दूसरे प्रकार के संघर्षों से वे बच नहीं पाए। एक ओर यहाँ विश्वविद्यालय की गली-सड़ी राजनीति, अध्ययन विरोधी अध्यापकों के टुच्चे व्यवहार, शिक्षा में व्याप्त जातिवाद, क्षेत्रवाद, और भाई भतीजावाद से उन्हें संघर्ष करना पड़ा तो दूसरी ओर अपनी आर्थिक तंगी से भी वे लोहा लेते रहे। बहिन-भाई बड़े हो चले थे, पिताजी की तबीयत खराब रहने लगी थी, अम्मा पहले की तरह ही अभावग्रस्त, निरीह जीवन जी रही थीं- इस सब ने देवेश जी को परेशान कर दिया था लेकिन परिवार के प्रति अपने कर्तव्य से वे कभी विमुख नहीं हुए। इसी बीच उन्होंने पी-एच. डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली थी और अपने निर्देशक पं. नन्ददुलारे वाजपेयी जी के कहने पर डी. लिट्. के लिए भी रजिस्ट्रेशन करा लिया था। एक ओर वे उच्च स्तरीय अध्ययन कर रहे थे और दूसरी ओर आर्थिक तंगी को दूर करने के लिए एक प्रकाशक के लिए प्रति पृष्ठ के हिसाब से गाइडें भी लिख रहे थे। सो यहाँ भी आर्थिक संकट बना ही रहा लेकिन अपने फक्कड़ और मस्ती भरे स्वभाव के कारण वे धीरे-धीरे इस अड़चन से भी पार पाते गए।

वस्तुतः दूसरे खंड 'चंदन वन' में देवेश जी के जीवन की घटना बहुलता का जिक्र ही अधिक है। अपने शोध के दौरान अपने निर्देशक आचार्य नंददुलारे वाजपेयी से संपर्क होने के बाद उन्हें शिक्षा और शिक्षण के महत्त्व का सही ज्ञान हुआ। वाजपेयी जी के सानिध्य के कारण ही वे गंभीर अध्ययन की ओर प्रवृत हुए। इसी समय समीक्षा लेखन की ओर भी वे उन्मुख हुए। वाजपेयी जी की प्रेरणा से ही शीर्ष लेखकों की सभी कृतियों का अध्ययन किया। 'पत्र-पत्रिकाओं में 'पुस्तक समीक्षा' लेखन की शुरूआत भी इन्हीं दिनों हुई। इसी संदर्भ में जहाँ कुछ संपादकों ने उन्हें प्रोत्साहित किया, वहीं कुछ के द्वारा वे उपेक्षा के शिकार भी हुए। 'पुस्तक समीक्षा' के साथ-साथ अपने परिवार का खर्च चलाने के लिए उन्होंने गाइड्स भी लिखी। गाइड्स लिखने का यह क्रम लगभग दस साल तक चलता रहा। मैं सोचती हूँ देवेश जी गाइड्स न लिखकर अपनी रचनाधर्मिता पर ही अपने को केन्द्रित रखते तो उनका रचना संसार उनकी 60-62 पुस्तकों से कहीं आगे सौ की संख्या पार कर लेता।

देवेश जी का विवाह दुबारा बम्बई आने के पश्चात् अक्टूबर 1961 में हुआ। अपने

विवाह के संदर्भ को उन्होंने थोड़ा विस्तार से प्रस्तुत किया है। उनके एक मित्र के बड़े भाई ने उन्हें दिल्ली के लेडी हार्डिंग अस्पताल में सिस्टर इन चार्ज के रूप में कार्यरत एक महिला सुशीला डंग से उनके विवाह की चर्चा चलाई। सुशीला डंग के भाई सत्यपाल डंग पंजाब के शीर्ष कम्युनिस्ट नेता थे। देवेश जी भी प्रगतिशील विचारों के थे। अतः उन्होंने सुशीला जी को बिना देखे विवाह करने की हामी भर ली। गर्मियों की छुट्टियों में मेरठ जाकर सुशीला जी के परिवार वालों से बात पक्की हो गई। न उन्होंने उनकी जाति पूछी और न ही विवाह के आयोजन और रीति-नीति के विषय में कुछ पूछा। अब तक देवेश जी का परिवार देहरादून आकर सैटिल हो चुका था। जून में दून एक्सप्रैस से बम्बई जाते हुए जब मेरठ में गाड़ी रुकी तो वहाँ सुशीला जी व उनकी बड़ी बहन देवेश जी के लिए भोजन का डिब्बा लिए खड़ी थीं। रेलवे कंडक्टर से अनुमति लेकर दोनों बहिनें देवेश जी के डिब्बे में बैठ गयीं। वहीं डिब्बे में उनका तिलक करके मंगनी की रस्म पूरी कर दी गयी। बहिनें कुछ मिठाई के डिब्बे भी साथ लाई थीं। डिब्बे उन्हें पकड़ाते हुए बड़ी बहन बोली- ये बम्बई के तुम्हारे दोस्तों के लिए हैं।'

विवाह भी कुछ इसी तरह बिल्कुल अनौपचारिक तरीके से हुआ। बड़ी बहन द्वारा यह पूछने पर कि शादी कब होगी, देवेश जी बोले- दस अक्टूबर को कॉलेज बंद होते हैं। मैं उसी दिन मेरठ के लिए चल दूँगा। 12 अक्टूबर की सुबह को मेरठ पहुँच जाऊँगा और उसी दिन शाम को शादी कर लेंगे।

और हुआ भी वैसा ही। अपने कहे अनुसार वे 12 अक्टूबर को सवेरे मेरठ पहुँच गए। उस दिन मेरठ में कर्फ्यू लगा हुआ था। देवेश के पिताश्री और बहन उनसे पहले मेरठ पहुँच चुके थे। मेरठ वालों ने इनके ठहरने के लिए पड़ौस में एक कमरा ठीक कर लिया था। देवेश जी किसी प्रकार मिलट्री की गाड़ी में बैठकर शीला जी के घर पहुँच गए। नहाना-धोना हुआ और एक सामान्य सा कुर्ता-पायजामा पहनकर नाश्ता करने के लिए आए। बाद में मोहल्ले के बच्चों के साथ दिन भर खेलते रहे। देर शाम को शीला जी की भाभी ने उनके कमरे में आकर कहा- देवेश जी चलिए। पंडित जी आ गए हैं। तो देवेश जी तपाक से बोले- चलिए, मैं तो तैयार हूँ।'

-कपड़े तो बदल लीजिए। भाभी जी बोलीं।

-भाभी जी, शादी मैं कर रहा हूँ, मेरे कपड़े नहीं।'

भाभी जी इसका कोई उत्तर नहीं दे पाईं। और देवेश जी सुबह से पहने कुर्ते-पायजामे में वेदी के पास आकर बैठ गए।

पंडित जी ने आर्य समाजी ढंग से मन्त्रोच्चारण शुरू कर दिया। ऐसी अनेक दिलचस्प घटनाओं के साथ-साथ इस खंड में दिल्ली स्थित करोड़ीमल कॉलेज में उनके द्वारा प्राध्यापकी के लिए दिए गए इंटरव्यू का जिक्र भी है, जिसमें विषय के विशेषज्ञ की मित्रतावादी और निरंकुश प्रवृत्ति को साहसिक शब्दों में अभिव्यक्ति दी गई है।

अपने कॉलेज में अंग्रेजी के प्राध्यापकों द्वारा हिंदी व हिन्दी प्राध्यापकों की उपेक्षा, राँची विश्वविद्यालय में तत्कालीन हिंदी विभागाध्यक्ष डॉ. वचनदेव का स्वेच्छाचार, अपने सहकर्मी डॉ. राम यतन सिंह भ्रमर की सस्ती चालबाजियाँ और प्रत्येक व्यक्ति और वस्तु की आलोचना करने की उनकी प्रवृत्ति, संस्कृत के वरिष्टतम प्राध्यापक प्रो. देशपांडे की

संकीर्ण मानसिकता, बाद में प्राचार्य आर. टी. साने द्वारा अपने हित के लिए स्टाफ को बाँट देने की मानसिकता, और हिन्दी बोर्ड के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ. छोटेलाल प्रभात के छोटेपन से पीड़ित देवेश जी को अपनी स्पष्टवादिता के कारण कदम-कदम पर संघर्ष करके अपना रास्ता बनाना पड़ा। इससे उनकी जिद और जिजीविषा प्रामाणित होती है।

एक ओर देवेश जी इन बा' स्थितियों से लोहा ले रहे थे तो दूसरी ओर उनके पारिवारिक जीवन में बड़ी संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। 1964-65 तक उनका पूरा परिवार देहरादून से बम्बई आ चुका था। बहिन-भाइयों को अच्छी शिक्षा दिलाने के बावजूद निम्न मध्यवर्गीय परिवारों में व्याप्त संकीर्णता से उनका परिवार भी नहीं बच पाया। बहुत झेलने के बाद अंततः उन्हें अपनी माता, बहिन और भाई से हमेशा के लिए संबंध विच्छेद करना पड़ा। एक प्रकार से 1964 से लेकर 1968 तक का समय उनके लिए अत्यंतिक मानसिक तनावों और संघर्ष का समय रहा। इसी दौरान उनके पिताश्री का निधन भी हो गया। इन्हीं दिनों कैंसर पीड़िता शीला जी की बड़ी बहिन इलाज के लिए बम्बई आईं और यहीं पर कुछ समय पश्चात उनका निधन हो गया। दूसरी ओर आत्मकेन्द्रित बहिन ने माँ को अपने पक्ष में लेकर अपने ही स्कूल के एक सहकर्मी से विवाह रचा लिया। उधर छोटे भाई की आवारागर्दी और स्वेच्छाचारिता दिन-ब-दिन बढ़ती गई। अंत में माँ, बहिन और एक भाई से उन्हें किसी तरह सदा के लिए मुक्ति मिल गई। बस सबसे छोटा भाई उनके साथ बना रहा। शायद इसलिए कि अभी उसकी पढ़ाई पूरी नहीं हुई थी और कोई भी परिवार वाला उसको अपने साथ रखने में सक्षम और सहमत नहीं था। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि देवेश जी का विवाह 1961 में हो गया था। 1962 दिसम्बर में उनकी पुत्री ने जन्म लिया। फिर 1963 में उनकी दूसरी संतान हो गई। जब यह दूसरी बेटी सिर्फ 6 महीने की थी, शीला जी को नौकरी करनी पड़ी। एक दिन बच्ची को कंवलशन आया और लगभग मरी हुई-सी बच्ची को पास के अस्पताल में ले जाना पड़ा। किसी तरह वह बच पाई। इस सबके बावजूद देवेश जी का पढ़ना-लिखना जारी रहा। अब तक उनकी पाँच-छह पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। पत्र-पत्रिकाओं में भी अनवरत रूप से वे लिखते रहे थे। साथ ही, धनोपार्जन के लिए 'गाइड्स' लिखने का काम भी चल रहा था, जो 1962-63 से आरंभ होकर लगभग 1980 तक चलता रहा। गोष्ठियों, सेमीनारों में उनका आना-जाना भी बहुत बढ़ गया था। अपने कॉलेजों में हर साल वे किसी विशिष्ट विषय पर गोष्ठी का आयोजन करते थे, जिसमें अध्यापक वर्ग ही नहीं, महानगर के कार्यालयों में कार्यरत अनेक विद्वानों की भी शिरकत होती थी। गोष्ठियों में प्राध्यापक श्रोता उनकी स्पष्टवादिता और तार्किकता के कायल थे। देवेश जी कभी भी किसी भी महान साहित्यकार की तथाकथित प्रतिभा से विचलित नहीं हुए। यहाँ मैं एक-दो गोष्ठियों में उनकी स्पष्टवादिता के उदाहरण देने का लोभ सँवरण नहीं कर पा रही हूँ।

घटना साँगली की है। वहाँ एक कॉलेज के विभागाध्यक्ष प्रोफेसर कुलकर्णी ने एक राष्ट्रीय साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया था। अज्ञेय जी गोष्ठी के अध्यक्ष थे। गोष्ठी में देवेश जी के साथ दिल्ली से आए डॉ. गंगा प्रसाद विमल बैठे थे। वे दोनों आपस में हल्के-फुल्के मजाक करते हुए वक्ताओं पर टिप्पणी करते चल रहे थे। वक्ताओं के

वक्तव्य समाप्त होने पर गोष्ठी के अध्यक्ष अज्ञेय जी ने अपना भाषण दिया। भाषण समाप्त होने पर कॉलेज के विभागाध्यक्ष डॉ. कुलकर्णी जी उपस्थित वक्ताओं और श्रोताओं का आभार मानने के बाद बोले- अगर आप में से कोई अज्ञेय जी से कुछ प्रश्न पूछना चाहते हैं तो पूछ लें।' देवेश जी ने स्कूली बच्चों की तरह हाथ खड़ा कर दिया। कुछ दिनों पहले ही उनकी पुस्तक 'नदी के द्वीप' की रचना-प्रक्रिया' प्रकाशित हो चुकी थी। डॉ. कुलकर्णी ने देवेश जी को मंच पर बुला लिया। उन दिनों साहित्यिकों के बीच यह चर्चा चल रही थी कि इस बार साहित्य का नोबल पुरस्कार अज्ञेय जी को दिया जाने वाला है। देवेश जी ने अपने छोटे से वक्तव्य में पहले तो अज्ञेय जी को महान् रचनाकार बतलाया और फिर नोबल पुरस्कार के संदर्भ में उनके नाम की चर्चा भी प्रकट कर दी। अंत में उन्होंने 'नदी के द्वीप' के संदर्भ में नेमिचरण जैन की टिप्पणी को भी समेट लिया कि 'नदी के द्वीप' की 'रेखा' हिन्दी उपन्यास जगत की महान् पात्रा है। इसी टिप्पणी को लेकर उन्होंने अज्ञेय जी तथा उपस्थित विद्वानों से यह प्रश्न पूछा कि क्या आप लोग रेखा को अपनी माँ, बहिन या पत्नी के रूप में स्वीकार करना चाहेंगे। उनका प्रश्न सुनकर गोष्ठी में सन्नाटा छा गया। एक मिनट ठहरकर देवेश जी मंच से नीचे उतर आए।

तब डॉ. कुलकर्णी ने अज्ञेय जी से पूछा- आप कुछ कहना चाहेंगे।' अज्ञेय जी बोले- नहीं, मुझे कुछ नहीं कहना है।'

इसी प्रकार गुरुनानक विश्वविद्यालय, अमृतसर तथा शिवाजी विश्वविद्यालय कोल्हापुर में आयोजित समारोहों में जिस प्रकार डॉ. रमेश कुंतल मेघ और डॉ. शिवकुमार मिश्र द्वारा देवेश जी को उपेक्षित करने का प्रयास किया गया और मंच पर उनकी आलोचना की गयी। उससे मठाधीशी साहित्यकारों की अच्छी पोल खुल जाती है। इतना ही नहीं मुम्बई विश्वविद्यालय में हिन्दी की प्रोफेसरी के इंटरव्यू में विशेषज्ञों ने जिस प्रकार देवेश जी से अनर्गल प्रश्न पूछे, उससे साहित्य जगत की खेमेबाजी स्पष्ट हो जाती है। हद तो तब हो गई जब देवेश जी को घेरने में असफल डॉ. नामवर सिंह ने उनसे परिवार नियोजन पर एक अच्छा स्लोगन देने के लिए कहा। देवेश जी की 'आत्मकथा' के इस खंड में शिक्षा-क्षेत्र से जुड़ी अनंत कथाएँ हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि विश्वविद्यालयों, कॉलेजों के हिंदी विभाग को तथाकथित शीर्षस्थ विद्वानों-अध्यापकों द्वारा कितना घृणित, गलित और दूषित बना दिया गया है। इतना ही नहीं, इनमें से अनेक महानुभावों के चरित्र को भी अच्छी तरह खंगाला गया है।

व्यक्तिगत संघर्षों और शिक्षा क्षेत्र के दंशों के साथ-साथ देवेश जी ने 'आत्मकथा' में अपनी रंगीन मिजाजी, फक्कड़पन और प्रणय-प्रसंगों को भी खुलकर व्यक्त करने की साहसिकता दिखलाई है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इन सब के साथ उनका लिखना-पढ़ना भी निरंतर चलता रहा। इसी बीच पी-एच.डी. के अतिरिक्त उन्होंने डी. लिट्. की उपाधि भी अर्जित की। लगभग 40 से अधिक पुस्तकों का प्रणयन किया और शोध निर्देशक के रूप में अनेक-अनेक शोध-छात्रों को निर्देशित किया। ग्रंथ के अंतिम पृष्ठ पर उन्होंने अपने स्वभाव की प्रवृत्तियों को जिस प्रकार प्रस्तुत किया है, उससे पाठक को अत्यंत वस्तुपरकता के साथ उनके व्यक्तित्व की दशा और दिशा का परिचय मिल जाता है। वे लिखते हैं :

मैं स्वभाव से बड़ा आशावादी हूँ। त्रासद क्षणों में मेरी यह आशावादिता और भी बढ़ जाती है और कर्तव्य केन्द्र में आ जाता है। शायद इसी को सकारात्मक सोच कहते हैं। अड़चनों, अवरोधों और उपेक्षाओं को मेरी मस्ती, मेरी संकल्पशक्ति और जिद गलाकर रख देती है। इसका मतलब यह नहीं कि मैंने गालियाँ नहीं दी हैं, कोई अपरध नहीं किया है या किसी का दिल नहीं दुखाया है। मुझसे यह सब हुआ है और खूब हुआ है लेकिन अपनी शक्ति भर मैंने इस सब के लिए अपनी तरफ से पहल नहीं की है। अपने आत्मसम्मान और अपनी आत्मरक्षा के लिए विवश होकर मुझे यह सब करना पड़ा है। हाँ, यदि अपनी तरफ से मुझसे कोई गलती या गुनाह हुआ है तो मैंने उसे खुले मन से स्वीकार भी किया है। आखिर मैं भी तो एक समान्य इंसान हूँ और गलतियाँ और गुनाह इंसान ही तो करता है। इस जिंदगी को जीते हुए कुछ गुनाह मुझसे भी हो गए होंगे, मैं मानता हूँ। लेकिन.....

-आदमी होकर गुनाहों से इस तरह परहेज
आप भी कैसी हिमाकत की बात करते हैं।'

'आत्मकथा' के तीसरे खंड (इस यात्रा में) में देवेश ठाकुर ने बहुत करके अपने आत्मीय मित्रों और विरोधियों का स्मरण किया है। उन्होंने लिखा है- आत्मीय होना और आत्मीयता पाना मेरी कमजोरी भी प्रमाणित करती है और शक्ति भी। अपने कॉलेज के दिनों के मित्र जितेंद्र सिंह का उन्होंने बड़ी संवेदनशीलता से वर्णन किया है। उसकी उदारता, सहयोग तथा सदाशयता के साथ-साथ उन्होंने उसके दुर्भाग्य को भी अभिव्यक्ति दी है। मुम्बई में अध्ययन करते हुए भी उनके-अनेक अध्यापक मित्र बने। इनकी सूची काफी लम्बी है। वे मानते हैं कि उनकी हमेशा ऐसे लोगों से बनी है जो सहज हों, सहृदय हों और हर बात में अपना भला देखने वाले न हों। नगीना में इंटर की पढ़ाई करते हुए अब्दुल हमीद का भी उन्होंने बड़ी आत्मीयता से स्मरण किया है। मुम्बई में अपने एक प्रगाढ़ मित्र डॉ. जयरामन के एक निजी पत्र का भी उल्लेख कर दिया जिसमें उनकी व्यथा-कथा शब्द-शब्द में व्यक्त हुई है।

देवेश जी के मित्रों की सूची में साहित्येतर मित्रों की घनी भीड़ है। उसमें बैंक के अधिकारी, इंजीनियर, विज्ञानशास्त्री, कल-कारखानों में कार्यरत विशेषज्ञ, संपादक, पत्रकार, पब्लिक स्कूलों में पढ़ाने वाले अध्यापक, हिन्दी से इतर विषयों के अध्यापक-प्रिंसिपल, प्रकाशक समूह के अधिकारी तथा राजनेता आदि शामिल हैं। मुम्बई के बाहर भी उनके अनेक मित्रों से आत्मीय और किसी-किसी के साथ पारिवारिक संबंध भी रहे हैं। यह दूसरी बात है कि बाहर के ये मित्र ज्यादातर अध्ययन से जुड़े हैं।

देवेश जी ने उदार हृदय से अपने प्रति अपने सभी शुभाकांक्षी मित्रों का आभार माना है। एक स्थान पर तो वे यह भी कहते हैं कि वे जो कुछ भी बने हैं, अपने मित्रों के कारण ही बने हैं। मित्रता उनके लिए बहुत आत्मीय चीज रही है। मित्रता में वे खुले व्यवहार, सच्चाई और निष्ठा को महत्त्व देते हैं। वे अपने और अपने मित्र के संबंध को सर्वोपरि महत्त्व देने की बात कहते हैं। मित्रों की गणना करते हुए वे हाई स्कूल के दिनों से लेकर कॉलेज के दिनों तक और कॉलेज के दिनों से लेकर प्राध्यापकी से अवकाश पाने के समय तक के अपने शुभाकांक्षियों का बड़ी आत्मीयता से स्मरण करते हैं।

अपनी अनुभव-यात्रा के विषय में उन्होंने लिखा है- 'इस यात्रा में मैंने अभावों, विषमताओं, संघर्षों, उपेक्षाओं और हाशिये पर डाल दिए जाने वाले षडयंत्रों को देखा ही नहीं, उन्हें बड़ी गहराई से जिया भी है।... अपने अनुभवों के निष्कर्ष को जीते हुए बहुत कुछ अर्जित व निश्चित किया है।.... मेरे लिए वह हर व्यक्ति उस समय तक आत्मीय है, जब तक मेरे संदर्भ में उसका टुच्चापन मेरे सम्मुख जाहिर नहीं हो जाता।' आगे उन्होंने उन अध्ययन विरोधी और टुच्चे अध्यापकों और साथियों की मक्कारी, मठाधीशी, नीचता और घटियापन पर भी टिप्पणी की है जिसका उन्हें शिकार होना पड़ा है। इस संदर्भ में अपने परिवार के कुछ लोगों को भी उन्होंने नहीं बख्शा है। महिला मित्रों के प्रति उनका आकर्षण सहजता लिए है। भिन्नता और नवीनता उन्हें पसंद है। उन्हें प्रकृति भी आकर्षित करती है। विशेष रूप से विभिन्न स्थानों की यात्रा करते हुए आस-पास की प्रकृति का आनंद लेना उन्हें अच्छा लगता है।

अपनी आदतों के विषय में उन्होंने लिखा है कि उनकी आदतें अच्छी नहीं हैं। सभी प्रकार की बुरी कही जाने वाली आदतें उनके रक्त में रच-बस गई हैं। जिन आदतों को लोग बहुधा छिपाने की कोशिश करते हैं, उन्हें देवेश जी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं। वे अपने को बहुत सामान्य व्यक्ति मानते हैं और कहते हैं कि 'मेरी छोटी-छोटी इच्छाएँ और आकाँक्षाएँ हैं और छोटे-छोटे लक्ष्य हैं।... साधारण हूँ, इसलिए प्रतिभाशाली होने का दावा करना आत्मश्लाघा होगा। हाँ यह अवश्य है कि मैंने अपने व्यवहार के परिष्कार के लिए कम श्रम नहीं किया। ...लोग मुझे मुँहफट कहकर मेरी आलोचना करते हैं। दरअसल मैं मुँहफट नहीं स्पष्टवादी हूँ। स्पष्टवादी व्यक्ति कभी-कभी दूसरों की भावनाओं को जाने-अनजाने चोट पहुँचा देता है। मैं भी पहुँचाता हूँ। और अनेक अवसरों पर जानबूझकर पहुँचाता हूँ। घटिया व्यक्ति को उसके सामने घटिया कहने में मैं कोई बुराई नहीं मानता।

देवेश जी ने दो पूरे अध्याय अपने साहित्यिक विमर्श को दिए हैं। जिसमें उन्होंने अपने लेखकीय दृष्टि के साथ-साथ हिन्दी के कतिपय विशिष्ट लेखकों पर टिप्पणी की है। इससे उनकी गहन वस्तुवादी दृष्टि और साहित्य संबंधी विचार स्पष्ट होते हैं। अपने एक अध्याय में उन्होंने उन स्मृतियों का स्मरण किया है जो नितांत अकेले क्षणों में उनके लिए सुख और विनोद का कारण बन जाती हैं। चलते-चलते उन्होंने उन अभिभावकों पर भी कटाक्ष किया है जो किसी भी कीमत पर अपनी संतान की सफलता की कामना करते हैं। ऐसे ही अनेक और अवसरों पर विभिन्न प्रकार की घटनाएँ उनके संवेदनशील, हार्दिक और फक्कड़ स्वभाव का परिचय कराती हैं।

अगले दो अध्यायों (दस और ग्यारह) में देवेश जी ने अपनी डायरियों के कुछ पन्ने उद्धृत किए हैं। दसवें अध्याय में उन्होंने जहाँ अपने जीवन अनुभवों, घटनाओं और परिवार तथा अपने कॉलेज के विशिष्ट क्षणों को लिपिबद्ध किया है, वहीं अगले अध्याय में डायरी के पन्नों के माध्यम से उनके विचारों, निज के विश्लेषण तथा सामाजिक-राजनीतिक घटनाओं और इनके बीच आम आदमी के सरोकार को अभिव्यक्ति मिली है। वैसे यहाँ भी कई अंश प्रकृति को समर्पित हैं। डायरी के इन पन्नों से उनके स्वभाव, उनके चिंतन और उनके पर्यवेक्षण को सजग अभिव्यक्ति मिली है। कहीं-कहीं पर वे

दार्शनिक भी हो गए हैं। अगले अध्याय में उनके कतिपय यात्रा-संस्मरण संकलित हैं जो उनकी गहरी परीक्षण शक्ति और साथ ही साहित्य संबंधी उनके विचारों को वस्तुपरकता से रूपायित करते हैं।

आगे देवेश जी ने एक अध्याय में शिक्षा क्षेत्र में फैले भ्रष्टाचार की चर्चा भी की है। साथ ही इसी संदर्भ में महानगर के कतिपय साहित्यिक 'महापंडितों' की करनी का उल्लेख भी हुआ है और उनके मुखौटों को उजागर करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी गई है। यहाँ हिन्दी के मूर्धन्य कथाकार कमलेश्वर के संस्मरणों में व्यक्त उनकी स्पष्टवादिता का उल्लेख तो हुआ ही है, साथ ही उनके व्यक्ति-चरित्र की कुंठा, और अपनी प्रेमिकाओं की लम्बी फेहरिस्त में सबसे लम्बे समय तक चलने वाली प्रेमिका (खतवाली) का नाम तक लिखने का साहस वे नहीं जुटा पाते। इसी प्रकार के अन्य प्रसंगों में भी साहित्यिक बंधुओं द्वारा कमलेश्वर के चरित्र के नकारात्मक पहलू की चर्चा ही अधिक हुई है।

साहित्यिक संदर्भ ही नहीं, देवेश जी ने अंतिम पृष्ठों में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (वक्रछ) जैसी शिखर-संस्था पर भी नकारात्मक टिप्पणी की है। इसी क्रम में उन्होंने कतिपय प्रकाशकों की स्वेच्छाचारिता को भी अभिव्यक्ति दी है। ये सभी टिप्पणियाँ उनके अपने अनुभवों से प्रसूत हैं।

समग्रतः देवेश जी की आत्मकथा से उनकी वस्तुपरकता, ईमानदारी, विश्वसनीयता और स्पष्ट दृष्टि के प्रति आश्वस्ति होती है। उनमें कहीं भी, किसी भी संदर्भ में आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति नहीं दिखलाई देती। अपने व्यक्ति-जीवन में उन्होंने अपने परिवार के संदर्भ में जिस प्रकार मानसिक यातनाओं और उपेक्षाओं को सहा है, जिस प्रकार अध्ययन विरोधी अध्यापकों की खेमेबाजी और षडयंत्रों का वे शिकार हुए हैं, जिस प्रकार अपने शुभाकांक्षी मित्रों का उन्होंने स्मरण किया है, जिस प्रकार उन्होंने कुछ मित्र कहलाए जाने वाले व्यक्तियों के मुखौटे उघारे हैं और जिस प्रकार अपने फक्कड़पन, अपनी मौज-मस्ती और अपनी दुर्बलताओं को उकेरा है, वह कोई खुले दिल वाला अत्यंत स्पष्टवादी, ईमानदार और साहसी लेखक के वश की ही बात है। और इसीलिए यह आत्मकथा हिंदी में प्रकाशित अनेक शीर्ष लेखकों की आत्म-प्रशंसा से लिखी-पुती आत्मकथाओं से अलग अपना विशिष्ट स्थान बनाती है।

संदर्भ : देवेश ठाकुर की आत्मकथा, 'मै यों जिया' (तीन खंड) प्रकाशक : नमन प्रकाशन, 421/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली - 2

प्लॉट नं. 27, कृपा मेघदूत हाउसिंग सोसाइटी,
भारत नगर, शाहपुर, बेलगाम -510003. (कर्नाटक)

देवेश ठाकुर : एक संघर्ष-गाथा

- प्रो. डॉ. मोहसिन अली खान
- डॉ. नरेंद्र विजय पाटील

हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार और समीक्षक देवेश ठाकुर अपने अगाध परिश्रम और उत्कट जिजीविषा के कारण अपने जीवन में सफल हो पाये है। अपनी जीवन-यात्रा शून्य से आरम्भ कर सफलता-असफलता, स्नेह-उपेक्षा स्वीकृतियों-अस्वीकृतियों और विरोधों-विद्वेषों के बीच से गुजरते हुए वे अपने लक्ष्य केन्द्रित जीवन की ओर निरंतर बढ़ते नजर आते हैं। उन्होंने अपनी आत्मकथा 'मैं यों जिया' को क्रमशः 'आरंभिक अन्तर्यात्रा', 'चन्दन-वन के बीच', और 'इस यात्रा में' नामक तीन खडों में विभाजित किया है। उनका जीवन कई संघर्षों से गुजरते हुए आगे बढ़ता है। ये संघर्ष विविध रूप में आत्मकथा में दृष्टिगोचर होते हैं। जिनके आधार पर उनकी आत्मकथा को संघर्ष-गाथा कहने में दो राय नहीं होनी चाहिए।

'आरंभिक अन्तर्यात्रा' में उनके आरंभिक जीवन-संघर्ष को उजागर किया गया है। उनका जीवन बड़ा ही गतिशील और घटनामय रहा है। संघर्ष की एक स्थिति से उबरने के बाद दूसरा संघर्ष शुरू होता दिखाई देता है। संघर्ष ही उनकी जमापूँजी रही है। अपनी कर्मठता, जिद और संकल्पशीलता के बलबूते पर ही वे अपने अपेक्षित उद्देश्यों को पूर्ण कर पाए हैं। देवेश ठाकुर का जीवन संघर्ष उनके बाल्यकाल से ही प्रारम्भ होता है। जिसका कारण था- पुलिस कॉन्सटेबल के रूप में कार्यरत उनके पिताजी ठाकुर दीवान सिंह नेगी का अक्सर होने वाला तबादला। इसी के चलते देवेश ठाकुर को अपने बचपन का अधिकांश समय अपने ननिहाल पैठानी में गुजारना पड़ा। उनके पिताजी ने अपने दोस्त खीमसिंह के बहकावे में आकर अपने बेटे के नाम पर मोटर कार खरीदकर कुछ आमदनी जुटाने की कोशिश की किन्तु सरकारी नौकर होने के बावजूद नाबालिक बेटे के नाम पर मोटर चलाने का धंधा करने के जुर्म में उनका तबादला घर से दूर बिजनौर कर दिया। खीमसिंह की धोखाधड़ी से धंधे में हुए घाटे के चलते उन्हें मोटर को आधे दाम में ही बेचना पड़ा, जिससे उनका परिवार रास्ते पर आ गया और यहीं से देवेश ठाकुर का जीवन-संघर्ष प्रारम्भ हुआ।

इनके पिता दीवान सिंह के लिए 22 रुपयों की पेंशन में तीन लड़कों, एक लड़की और वे पति-पत्नी कुल छह लोगों का गुजारा करना बश के बाहर हो गया था। ऐसी स्थिति में वे देवेश जी को उनकी जिम्मेदारी और कर्तव्य का अहसास कराते हैं- दुर्गा, तू पढ़ाई में ध्यान क्यों नहीं लगाता। तू पढ़ लेगा तो अपने बहन-भाइयों को भी पढ़ा लेगा। मैं तो अब रिटायर हो गया हूँ। सब कुछ तेरे ऊपर ही है। फंड के जो ढाई-तीन हजार रुपए मिले हैं, वे कितने दिन चलेंगे।' अब वे रोने लगे थे।'[1]

इसलिए पिताजी ने परचून की दुकान खोल ली और जैसे-तैसे घर का चूल्हा चलता रहा किन्तु ये ज्यादा दिनों तक नहीं चल पाया। दुकान सिकुड़ जाने से परिवार को आर्थिक समस्याओं ने घेर लिया और देवेश जी को पिताजी ने बीच में ही पढ़ाई रोककर आमदनी जुटाने की सलाह दी- दुर्गा, चाहता तो था कि तुझे किसी तरह बी.ए. करा दूँ ताकि तू अच्छी सरकारी नौकरी में लग जाये और हमारा दुख-दारिद दूर हो सके लेकिन

अब मेरी हिम्मत जवाब दे गयी है। तेरे लिए अब कुछ नहीं कर सकता। तू कहीं नौकरी ढूँढ ले। मैं भी कोशिश करता हूँ।' सुनकर मैं भी रुँआसा हो गया था। इसके अलावा कुछ कर भी नहीं सकता था। उधर पिताजी ने बिजनौर के चक्कर लगाने शुरू कर दिये थे। बिजनौर में उन दिनों सुपरिटेंडेड ऑफ पुलिस हमारे दूर के रिश्तेदार थे। उनके सामने पिताजी मेरी नौकरी के लिए गिड़गिड़ाते। लेकिन 4-5 चक्कर लगाने के बाद भी जब कुछ नहीं बन पाया तब निराश पिताजी ने वहाँ से उम्मीद छोड़ दी और बहुत उदास और खाली रहने लगे। उन दिनों पिताजी की हालत मुझसे देखी नहीं जाती थी। लेकिन मैं भी विवश था। क्या कर सकता था।'[2]

अपने और दोस्तों के पारिवारिक आर्थिक स्थिति की तुलना करने के बाद देवेश जी को पिताजी की विवशता खलने लगती है। आर्थिक अभावों के रहते कई बार देवेश जी को अपनी आशा-आकांक्षाओं को त्यागना पड़ा है। आर्थिक स्थिति में सुधार लाने के लिए उनकी इच्छा के विरुद्ध पिताजी उन्हें फौज में भर्ती करवाने ले तो जाते हैं लेकिन सूखी हुई काया को देखकर फौजी अधिकारी उन्हें डाँटते हुए बेटे को आगे पढ़ाने-लिखाने का आदेश देते हैं। इस घटना के बाद पिताजी देवेश जी के आगे पढ़ने की इच्छा को बिलकुल नजरअंदाज करते हैं। इसलिए शिक्षा हेतु देवेश जी को जो संघर्ष करना पड़ा वह प्रस्तुत है- 'घर पहुँच कर माँ ने बतलाया कि सुदेश आया था। पूछ रहा था कि आगे की पढ़ाई के लिए कहाँ जाएगा। मैंने पिताजी की तरफ देखा, उन्होंने मुँह दूसरी तरफ मोड़ लिया था।'

पढ़ाई के लिए इन्होंने मुरादाबाद में पुस्तकों की एक दुकान में सहायक के रूप में काम करना स्वीकार किया ताकि बी.ए. करने और रहने-खाने का खर्च मिल सके किन्तु दूकान मालिक के अपनी बात से मुकर जाने से उन्हें निराशा ही हाथ लगी। एक दिन पिताजी ने उनसे एडमिशन की बात की और सरदार जी से 100 रुपए उधार लाये। माँ ने भी अपने चाँदी के दो कड़े बेचकर 50-55 रुपयों का बंदोबस्त कर लिया। मित्रों से 2-2, 4-4 रुपए मिलाकर कुल 200 रुपये इकट्ठा हुए। इन्हीं रुपयों से देहरादून के डी.ए.वी. कॉलेज में देवेश जी का बी.ए. में प्रवेश पक्का हो गया। यहाँ भी उन्हें खाने-पीने और रहने के लिए संघर्ष करना पड़ा। ट्यूशन से लेकर कॉलेज की कैंटीन तक में काम करके गुजारा करना पड़ा। मित्रों के संग-साथ से ही उनमें आगामी जीवन के लिए अर्थार्जन की आशा जग गई। ट्यूशन लेकर गुजारा करने की तरकीब उन्हीं से मालूम हुई। उनके द्वारा शिक्षा हेतु किया गया संघर्ष प्रेरणादायी है।

आर्थिक अभाव के कारण देवेश जी को मानसिक और शारीरिक कष्ट भी झेलने पड़े। इन संघर्षों के दिनों में उनके दोस्त ही आधार बने हुए थे- 'देहरादून आवास के उन दिनों की बहुत-सी कड़ुवी-मीठी यादें हैं। समझ नहीं पड़ता, किन्हें शब्द दूँ, किन्हें न दूँ। दरअसल इन चार सालों का समय आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त संघर्ष से भरा रहा। अपनी पढ़ाई का खर्च उठाने के लिए मैंने ये वर्ष सिर्फ ट्यूशन करके ही नहीं बिताए, बल्कि छोटे-मोटे और भी काम किए। ये दिन बड़े मारक थे। एक बार अत्यन्त मारक स्थिति में मैंने करनपुर से आगे बहनेवाली रिसपना नदी के पास रेत ढोने की मजदूरी की। लेकिन हफ्ते भर बाद ही साहस जवाब दे गया। अपनी अतिशय दीनता में मैं खाने के समय

अपने दो मित्रों- दिनेश कुकरेती और जितेन्द्र सिंह- के घर चला जाता। इनकी माताओं का मुझ पर बड़ा स्नेह था। जब भी मैं वहाँ जाता, वे मुझे बहुत कुछ खिला-पिलाकर ही भेजतीं और मैं एक-दो दिनों के लिए निश्चिंत हो जाता।'[3]

इसी क्रम में देवेश जी सुबह के वक्त करनपुर में अखबार बाँटने का काम करने लगे। 'अब मैं सवेरे पाँच-छह बजे उठने लगा और अपनी छकड़ा साइकिल पर अखबार लाद कर घर-घर उन्हें पहुँचाने लगा। यह साइकिल मैंने सात रुपये महीने किराये पर ले रखी थी। इन घरों में, जहाँ मैं अखबार डालता था, कुछ घर मेरे सहपाठियों के भी थे। कभी-कभी उनको देखना भी हो जाता लेकिन मेरे मन में किसी भी प्रकार का संकोच या हीनभावना पैदा नहीं होती। उन की आँखों में भी मेरे प्रति किसी प्रकार की उपेक्षा का भाव नहीं होता। इससे मेरा आत्मविश्वास बढ़ा और मैं अपनी नजर में थोड़ा ऊँचा हो गया।'[4]

इनके अभिन्न मित्र सुदेश कुमार इनके जीवन संघर्ष को इन शब्दों में बया करते हैं- 'उसे देखकर उसके श्रम करने की शक्ति पर आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता था। किसी भी तरह काम करने में उसे शर्म महसूस नहीं होती। उसने अखबार बेचे हैं, कॉलेज के साइकिल स्टैण्ड पर काम किया है, ईंटों के भट्टे पर मजदूरी की है, होटल में जूठी प्लेटें उठाई हैं और 10-10 रुपये की ट्यूशनों के लिए देहरादून के एक छोर से दूसरे छोर तक वह भागता फिरा है। उसने आभावों-गरीबी को बड़ी निकटता से देखा है फिर भी वह कभी निराश नहीं हुआ वह कहा करता है कि अपनी जिंदगी तो जीरो से शुरू हुई है। अगर आज जो दो जोड़ी कपड़े और चार किताबें भी अपने पास हैं तो वह अपनी उपलब्धि ही है। मुझ जैसा आदमी कभी नुकसान में रह ही नहीं सकता।'[5]

तृतीय श्रेणी में बी.ए. पास होने से देवेश जी की अच्छी नौकरी पाने की आकांक्षा धूसर हो गई। जिसके कारण उन्हें छोटी-मोटी नौकरी करके अपना गुजारा करना पड़ा। जीविकोपार्जन के लिए उन्हें कई जगह हाथ-पैर मारने पड़े। 'शू-बॉय' की अस्थायी नौकरी सौ रुपये के वेतन पर पकड़ ली किन्तु कुछ ही दिनों के बाद धूल-मिट्टी के कारण उनके होंठ सूज गए। खाँसी शुरू हो गयी। दिल्ली की गर्मी भी सहन नहीं हो पा रही थी। सो, वे ज्यादा दिन ठहर नहीं पाए और नजीबाबाद वापस आ गए।

देवेश ठाकुर का शिक्षा हेतु संघर्ष उस वक्त दिखाई देता है जब पिताजी की इजाजत के बिना अपने बलबूते पर एम.ए. में दाखिला ले लिया। अपने आर्थिक संघर्ष को वे इस तरह प्रस्तुत करते हैं- 'देहरादून पहुँच कर एक बार फिर संघर्ष-यात्रा शुरू हो गयी। वैसे इस यात्रा में मैं अकेला नहीं था। और भी बहुत से विद्यार्थी थे जो मेरी तरह संघर्ष कर रहे थे। कुछ ट्यूशन कर रहे थे। कुछ कॉलेज के साइकिल स्टैण्ड पर बारी-बारी से 1-2 घण्टे काम करते थे। ... स्टुडैंट यूनियन की सहायता से मुझे भी साइकिल स्टैंड पर काम करने का मौका मिला। इस बार मैं इस मामले में भाग्यशाली रहा कि देहरादून जाते ही मुझे 30 रु. की एक पुरानी ट्यूशन मिल गयी। कुछ समय के बाद 25 रु. की एक और ट्यूशन मिल गयी। इससे मेरी आर्थिक समस्या काफी कुछ हल हो गयी।'[6]

आर्थिक दयनीयता मनुष्य से क्या-कुछ नहीं करवाती है। देवेश ठाकुर भी इससे अछूते नहीं थे। अपनी आर्थिक विपन्नता दूर करने के लिए देवेश जी ने 'स्नातक रेस्ट्राँ'

में प्लेटे उठाने तक का काम किया। जिसके लिए उन्हें कभी लज्जा महसूस नहीं हुई। दो-ढाई महीने काम करने के बाद एक और ट्यूशन मिलने के कारण कुल तीन ट्यूशनों की व्यस्तता के चलते देवेश ठाकुर को 'स्नातक रेस्ट्राँ' में काम के लिए समय दे पाना कठिन हो गया। रेस्ट्राँ मालिक चंदेल से उनकी कहा-सुनी हो गई और फिर स्वाभिमानी देवेश ठाकुर ने देहरादून में रहते समय तक उस 'स्नातक रेस्ट्राँ' में कभी भी पैर तक नहीं रखा। इस आवेश का खामियाजा उन्हें जल्द ही भुगतना पड़ा। तीनों ट्यूशन उनके हाथ से खिसक गए और उन्हें भूख से बेहाल होकर दिन गुजारने पड़े। उनका आत्मवक्तव्य है- 'इन्हीं दिनों, एक बार जब मैं पिछले दो दिनों से चाय और बन से अपनी भूख मिटाने की कोशिश कर रहा था, तभी सुदेश मेरे लिए भी सिनेमा का टिकट ले आया। मेरे बहुत मना करने पर भी वह नहीं माना और मुझे अपने साथ ले गया। हमारे साथ दो-तीन साथी और भी थे। सुदेश ने सिनेमा हॉल के बाहर एक ठेलेवाले से मूँगफलियाँ खरीदीं और हॉल में बैठ कर पिक्चर देखते हुए हम उन्हें ठूँगते रहे। इंटरवल में ये सब लोग बाहर चले गए। मैं नहीं गया। मैंने चुपके से सीट के नीचे पड़े हुए छिलके बटोरे और उन्हें अपने कोट की जेब में भर लिया। अपने कमरे में लौटने पर मैं सीधा बाथरूम में गया और सारे छिलके चबाकर और पानी पीकर सो गया।'[7]

जीविकोपार्जन हेतु देवेश ठाकुर को कई जगह हाथ-पैर मारने पड़े। पल्टन बाजार के 'सरस्वती कोचिंग क्लास में 45 रु. महावारी पर 10 वी कक्षा को हफ्ते में चार दिन हर रोज हिन्दी के तीन पीरियड पढ़ाने लगे। उनके आर्थिक संघर्ष का सिलसिला अपने पढ़ाई के काल से शुरू हुआ था जो स्थायी नौकरी मिलने तक बना रहा। आर्थिक संघर्ष के ये दिन उन्हें मानसिक संघर्ष के भी दर्शन करवाते थे। इसी बीच देवेश ठाकुर को ड़िफेन्स सर्विसेज के 'टैस्ट ऑडिटर' की पोस्ट के लिए चुनाव कर मुंबई विभाग में भेजा गया। इस नौकरी के कार्यकाल में देवेश जी ने अनेक कठिनाइयाँ झेली। मुंबई में पैसे के अभाव में देवेश जी को 'नेशनल हिन्दू लॉज' का आसरा लेना पड़ा। वे अपनी मनोदशा के सन्दर्भ में वे लिखते हैं- 'यहाँ सभी कुछ खिन्नता और ऊब पैदा करनेवाला था। गुजराती टाइप का भोजन जिसमें होने के लिए तो 4-5 बाटियाँ (कटोरियाँ) होतीं लेकिन दाल-सब्जियों में कोई स्वाद नहीं होता। लाल फूल का कद्दू और बैंगन रोज परोसे जाते। दाल पानी जैसी, वह भी गुड़ मिली हुई। सस्ते किस्म के उबले हुए चावल। दही कटोरियों में जमाई हुई जिसमें सतह पर दही होता नीचे पानी। चाय इतनी मीठी कि पी ही नहीं जाती। शौचालय मात्र 2-3। रोज लाइन लगानी पड़ती। बाथरूम का हीटर बिगड़ा हुआ। बिस्तर भी मैले कुचैले। तकिये पत्थर जैसे कठोर। कमरे में साथ रहनेवालों के बीच अबोला। सब अपने में सिकुड़े हुए। किसी से कोई संबंध नहीं। तब ऐसे माहौल में मुझे अपना घर, अपना परिवार याद आने लगता। ठीक है, वहाँ भी आर्थिक समस्या मुँह बाए खड़ी थी लेकिन आपस में एक प्रकार की आत्मीयता तो थी। आपस में हँस-बोल तो सकते थे। यहाँ ऐसा कुछ भी नहीं था। मेरी हालत उस पौधे की सी हो गयी थी जिसे किसी बगीचे से उखाड़ कर किसी रेगिस्तान में रोप दिया हो। मैं कुछ ही दिनों में अपने को मुरझाया हुआ महसूस करने लगा था।'[8]

'टैस्ट ऑडिटर' के मैनुअल पढ़कर देवेश ठाकुर ऊब चुके थे। आर्ट्स के विद्यार्थी

को अकाउंट्स के कामकाज में बिलकुल रुचि नहीं लगती थी। कुछ महीने शेरे पंजाब हॉस्टल में बिताने के बाद देवेश ठाकुर के मामा उन्हें सांताक्रूझ में अपने घर कालूराम वर्मा की चाल में ले गए किन्तु वहाँ की अव्यवस्था और सांताक्रुझ से ऑफिस तक का रेल का असुविाजनक सफर और उबाऊ माहौल से तंग आ चुके देवेश ठाकुर ने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। एक दिन उनके मामा प्रोफेसर शशि शेखर नैथानी से मिलवाने ले गए और यहीं से उनके अध्यापक की नौकरी पाने के संघर्ष शुरू हो गए। प्रो. नैथानी के निर्देश के अनुसार मुंबई के कई कॉलेजों में आवेदन पत्र दिये। नए से खुले के. सी. कॉलेज में वे अध्यापक पद के लिए आवेदनपत्र दिया किन्तु प्रो. सी. एल. प्रभात के धोखाधड़ी का शिकार हो गए। सेंट जेवियर कॉलेज में फर्स्ट क्लास की शर्त के कारण काम न बनता देख देवेश ठाकुर अपने दोस्त दिनेश के लिए प्रो. नैथानी से सिफारिश कर उसे अध्यापक की नौकरी दिलवा दी। परेल के शिरोडकर हाईस्कूल में अनट्रेंड बी.ए. के ग्रेड पर मिलने वाले 125-130 रुपयों के वेतन पर गुजारा करना देवेश ठाकुर के लिए संभव नहीं था। इसलिए उन्होंने देहरादून में बी. एड. हेतु प्रवेश ले लिया और जाते-जाते मुंबई के कॉलेजों में आवेदनपत्र देते गए।

देहरादून में दोस्तों की सहायता के बल पर उनका नया संघर्ष शुरू हुआ। जुलाई का महीना शुरू हो गया था। मैं यों ही कभी-कभी कॉलेज की ओर चला जाता। कॉलेज में कुछ साथी-संगियों, परिचितों से मिलना हो जाता। मुझे अच्छा लगता। लेकिन कॉलेज से बाहर निकलते ही छोटी-बड़ी चिंताएँ घेर लेतीं। सिड्नहम कॉलेज के इंटरव्यू के लिए भी देवेश ठाकुर अपने दोस्तों और उनके अविभावकों से ही आर्थिक सहायता लेकर मुंबई आ जाते हैं। सिड्नहम कॉलेज में उनकी नियुक्ति पक्की हो जाने के बाद वे बी. एड. की पढ़ाई अधूरी छोड़कर मुंबई में बस जाते हैं और उनका अध्यापक जीवन का संघर्ष शुरू हो जाता है। सिड्नहम कॉलेज में हिन्दी को अंग्रेजी में पढ़ाना देवेश जी के लिए चुनौतीपूर्ण था। 'प्रो. दुबे मुझे बतला रहे थे- अनिवार्य हिन्दी यहाँ अभी पिछले साल से ही शुरू हुई है। सो, बच्चों में हिन्दी पढ़ने का उत्साह नहीं है। बहुत से विद्यार्थी कॉन्वेंट स्कूलों से आते हैं, जहाँ स्कूल के पाठ्यक्रम में हिन्दी होती ही नहीं। इसलिए यहाँ हिन्दी को भी अंग्रेजी में पढ़ाया जाता है। प्रो. दुबे की बातें सुनकर आश्चर्य हो रहा था और साथ ही चिंता भी हो रही थी। अब हिन्दी भी अंग्रेजी में पढ़ानी पड़ेगी....। मेरी चिंता की सीमाएँ विस्तृत होती जा रही थीं।'[9]

सिड़नहम कॉलेज में अध्यापकी करते समय देवेश ठाकुर को अपनी छात्रा माधवी भा जाती है। विवाह की कामना लेकर वे माधवी के पिता से उसका हाथ माँगते हैं किन्तु यहाँ भी जातिवाद, प्रांतवाद आड़े आता है। विवाह में बाधा बनकर खड़ी होनीवाली प्रांतवाद, जातिभेद और बिरादरी के नियम जैसे सामाजिक समस्याओं से उन्हें संघर्ष करना पड़ता है। राजकोट में तबादला होने पर वहाँ के माहौल में देवेश जी को समायोजन करना पड़ा। राजकोट आने के बाद मुंबई से लाये सभी पैसे धीरे-धीरे खत्म हो रहे थे। मुंबई से उनके पेपर न आने के कारण उनका वेतन भी रुका हुआ था। इससे देवेश जी की चिन्ता बढ़ने लगी थी।

राजकोट के अनभिज्ञ परिवेश में देवेश ठाकुर को संस्कृत की प्राध्यापिका मिस

सोनल का सहयोग और साहचर्य मिलता गया। मिस सोनल के प्रेम में देवेश ठाकुर आकंठ डूब गए किंतु मिस सोनल उनसे उम्र में लगभग 10 साल से बड़ी होने के कारण उनका मेल-मिलाप होना असंभव था। ऊपर से मिस सोनल और देवेश ठाकुर के परिवार की आर्थिक स्थिति में जमीन-आसमान का फासला था। इस अनमेल सहसंबंधों को लेकर निर्मित प्रेम जनित उद्भावनाओं से देवेश ठाकुर को संघर्ष करना पड़ा। वे इन अंतर्व्यथाओं और द्वंद्व से जूझते रहें। देवेश ठाकुर का प्रेम जनित आत्मसंघर्ष इन शब्दों में उद्घाटित होता है- 'सचमुच मेरे लिए यह समय बड़ा मारक था। अन्तर्द्वन्द्व, आशंकाओं और अनिश्चय से भरा हुआ। मैं कोई निर्णय नहीं ले पा रहा था। लेकिन मन के भीतर से यह आवाज भी आती कि निर्णय तो ले ही लिया गया है। तब फिर इतना आत्मसंघर्ष क्यों? उस धुँधलके में मैं अपने अस्तित्व को घुलता हुआ महसूस कर रहा था। महसूस कर रहा था कि सारा शरीर निर्जीव होता जा रहा है और मुझमें उठने तक की शक्ति नहीं रह गयी है।'[10] देवेश जी को रोजगार हेतु समय-समय पर लोगों के सामने हाथ फैलाने पड़े। कभी ट्यूशन लेकर तो कभी आकाशवाणी के टॉक से मिले पारिश्रमिक को मिलाकर करीब 50 रु. हर महीने घर भेजते रहे। अपने जीवन संघर्षों का डटकर सामना करते हुए अपनी इच्छा शक्ति, साहस और संघर्ष के बलबूते पर ही देवेश जी ने सफलताओं को हासिल किया। उनके जीवन संघर्ष के बारें में डॉ. माधवी बागी लिखती हैं- 'दूसरा खंड 'चंदन वन के बीच' एक बार संघर्षों की श्रृंखला से आरंभ होता है। 1960 में यद्यपि देवेश जी को रामनारायण रुइया कॉलेज में लेक़रर की नौकरी पाने में ज्यादा संघर्ष नहीं करना पड़ा, फिर भी दूसरे प्रकार के संघर्षों से वे बच नहीं पाए। एक ओर यहाँ विश्वविद्यालय की गली-सड़ी राजनीति, अध्ययन विरोधी अध्यापकों के टुच्चे व्यवहार, शिक्षा में व्याप्त जातिवाद, क्षेत्रवाद और भाई भतीजावाद से उन्हें संघर्ष करना पड़ा तो दूसरी ओर अपनी आर्थिक तंगी से भी वे लोहा लेते रहे। बहिन-भाई बड़े हो चले थे, पिताजी की तबीयत खराब रहने लगी थी, अम्मा पहले की तरह ही अभावग्रस्त, निरीह जीवन जी रही थी- इस सब ने देवेश जी को परेशान कर दिया था। लेकिन परिवार के प्रति अपने कर्तव्य से वे कभी विमुख नहीं हुए। इसी बीच उन्होंने पी-एच.डी. की उपाधि भी प्राप्त कर ली थी और अपने निर्देशक पं. नन्ददुलारे वाजपेयी जी के कहने पर डी. लिट. के लिए भी रजिस्ट्रेशन करा लिया था। एक ओर वे उच्च स्तरीय अययन कर रहे थे और दूसरी ओर आर्थिक तंगी को दूर करने के लिए एक प्रकाशक के लिए प्रति पृष्ठ के हिसाब से गाइडें भी लिख रहे थे। सो यहाँ भी आर्थिक संकट बना ही रहा। लेकिन अपने फक्कड़ और मस्ती भरे स्वभाव के कारण वे धीरे-धीरे इस अड़चन से भी पार पाते गए।'[11]

इन संघर्षपूर्ण परिस्थितियों में देवेश ठाकुर स्वयं में आत्म-प्रेरणा भरते हैं कि जैसे 'चंदन-वन में एक सम्मोहक सुवास-सी फैली रहती है और दंश देने वाले विषैले सर्पों का आश्रय-स्थल भी वही होता है। वृक्ष-वृक्ष, डाल-डाल। मेरा अपना जीवन भी कुछ ऐसा ही रहा है। एक ओर मस्ती और फक्कड़पन, आह्लाद और उल्हास का उत्सव और सफलताओं और उपलब्धियों से भरे-पूरे आयाम और दूसरी ओर संघर्ष, गर्दिश और मुसीबतों से जूझता, आत्म-संघर्ष और दुविधाओं में डूबा, विरोधों, उपेक्षाओं और

षडयंत्रों से टकराता मेरा अस्तित्व। मैंने इन दोनों स्थितियों को भरपूर जिया और इनके बीच से निकलते हुए अपनी जिजीविषा को बनाए रखा। कुल मिला कर यह चंदन-वनी जीवन यदि मुझ से बहुत कुछ ले गया तो मुझे बहुत सारा दे भी गया। संभवतः इसी कारण मुझ में सदा एक प्रकार की आशावादिता के साथ सकारात्मक सक्रियता भी बनी रही है। और शायद इसीलिए मैंने अपनी सफलता-असफलता को खुले हाथों स्वीकार किया है और अपने हाथों की रेखाएँ खुद खींची हैं।'[12]

मुंबई महानगर में स्थायित्व के लिए देवेश ठाकुर को बड़ा संघर्ष करना पड़ा। अपने आगत के प्रति चिंताग्रस्त देवेश जी को नौकरी के लिए बड़ी मशक्कत करनी पड़ी। आजीविका हेतु उनके द्वारा किया गया संघर्ष नौजवानों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होता है। छुट्टियों के बाद राजकोट वापस जाने का सवाल ही नहीं था। सबसे पहले ये प्रो. प्रधान से मिले। उन्होंने प्रो. लिमये से मिलने के लिए कहा। प्रो. लिमये एक नए कॉलेज में प्रिंसिपल बन गए थे। सिडनहम कॉलेज में वे इनके अच्छे परिचित थे। प्रि. लिमये ने उन्हें किसी आर्ट्स कॉलेज में ट्राई करने का सुझाव दिया जिससे उनके पी-एच.डी. का भी पूरा उपयोग हो सकेगा।

अंततः संघर्षशील व्यक्तित्व के धनी डॉ. देवेश ठाकुर को उनकी शैक्षणिक योग्यता और स्पष्टवादिता के आधार पर प्रो. नैथानी की सहायता से मुंबई के रामनारायण रुइया कॉलेज में हिन्दी प्राध्यापक पद पर नियुक्ति हो गई। इसके बाद उनका महानगरीय जीवन में स्थायित्व के लिए संघर्ष शुरू हुआ। देवेश ठाकुर खुद ये बात स्पष्ट करते हैं कि प्रतिभा जैसी कोई चीज उनके साथ कभी नहीं रही। वे अपने जीवन में जो कुछ कर पाये उसमें उनके कठिन परिश्रम और जिद का योग ही विशिष्ट है। देवेश ठाकुर की स्पष्टवादिता को उनके विरोधी वाचालता कहते थे। उनके स्पष्ट वक्तव्य के कारण ही छोटे लाल प्रभात और उनके हितैषी देवेश ठाकुर की हमेशा भर्त्सना कर उन्हें नीचा दिखाने के लिए तुले रहते। किसी-न-किसी कार्यक्रम में देवेश जी का छोटे लाल प्रभात से आमना-सामना हो जाता और उन दोनों में उनकी शाब्दिक मुठभेड़ हो जाती। छोटे लाल प्रभात देवेश ठाकुर को दबाने का अवसर हमेशा ढूँढते रहते और अपनी करतूतों से बाज न आते थे। हमेशा ही षड्यंत्र करके देवेश ठाकुर को मानसिक रूप से गिराने की कोशिश में लगे रहते। उनके टुच्चेपन से देवेश ठाकुर अपने निवृत्ति समय तक संघर्ष करते रहे।

आजीविका हेतु देवेश ठाकुर को बे-हिसाब संघर्षों से गुजरना पड़ा। उधर पत्र-पत्रिकाओं में लिखना भी आरम्भ कर दिया था। इससे कुछ ऊपरी आमदनी हो जाती थी। देहरादून में रहने वाले घरवालों को लगता था कि देवेश ठाकुर मुंबई में मौज-मस्ती में अपना जीवन बिता रहे हैं। जिसके चलते देवेश ठाकुर को कई बार अपने ही घरवालों की उपेक्षा का सामना करना पड़ा। पारिवारिक सहयोग मनुष्य को जीवन में ऊपर उठाता है तो उपेक्षा नीचे गिरा देती है। पिता जी को विश्वास ही नहीं होता कि उन्हें कॉलेज में सिर्फ 275 रु. तन्ख्वाह मिलती है।

आजीविका के लिए उन्हें कई बार प्रवास एवं यात्राएँ करनी पड़ी। कितने साक्षात्कार देने पड़े और कई बार धोखाधड़ी, षड्यंत्रों और उपेक्षाओं का सामना करना पड़ा। हँसमुख पारेख नामक व्यक्ति ने देवेश ठाकुर से दो रुपये पृष्ठ से गाइड लिखवाकर अपने

नाम से प्रकाशित कारवाई। यही गाइड जब नमूने के तौर पर सेठ पब्लिशर्स के एक व्यक्ति ने दिखाई तो अपने साथ हुए धोखाधड़ी से देवेश ठाकुर भौचक्के रह गए। देवेश ठाकुर की पत्नी सुशीला जी दिल्ली के लेडी हार्डिंग हॉस्पिटल में सिस्टर-इन चार्ज थीं और देवेश ठाकुर मुंबई में। देवेश जी कि तुलना में शीला जी का वेतन अधिक था। अतः उनका नौकरी छोड़ने का कोई इरादा नहीं था। इसलिए देवेश जी ने दिल्ली के किसी कॉलेज में नौकरी ढूँढने का निश्चय किया। एक अर्जी किरोड़ीमल कॉलेज में भेज दी थी। वहाँ के साक्षात्कार में भी निराशा ही हाथ लगी। दिल्ली में डॉ. नगेंद्र का बोलबाला था। जिसे वे चाहते, उसी की नियुक्ति पक्की हो जाती थी। इस गुटबाजी से देवेश जी परिचित हो चुके थे। इसके बाद में देवेश ठाकुर ने पत्नी शीला जी से विचार-विमर्श कर अपनी गृहस्थी मुंबई में ही जमाने का निश्चय कर लिया क्योंकि स्टाफ नर्स होने से शीला जी को मुंबई के अस्पतालों में नौकरी मिलने में कोई कठिनाई नहीं थी। ऊपर से देवेश जी को 'ब्लिट्ज' में भी समीक्षा का कॉलम मिल गया था। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन करके करीब 200 रु. जमा होने से आर्थिक राहत मिल गई थी। साथ में ए. आर. सेठ पब्लिशर्स ने भी उन्हें अपने लिए हिन्दी की गाइड लिखने के लिए कहा। सन 1981 तक वे उनके लिए लिखते रहे। 8 रु. प्रति पेज के हिसाब से करीब 500-700 पृष्ठ हर साल हो जाते थे। जिससे उनकी आर्थिक तंगी निपट जाती थी। विगत संघर्षों के दिनों को याद करते हुए देवेश ठाकुर जीवन में मिली सफलता के प्रति समाधान व्यक्त करते हैं। 'संघर्ष और संघर्ष' जब सोचता हूँ कि मैंने अपनी यात्रा कहाँ से शुरू की थी और अब कहाँ तक पहुँच पाया हूँ, तो अपने प्रति एक आश्वस्ति भी होती है। एक प्रकार का संतोष होता है कि चलो, जीवन को अकाराथ तो नहीं होने दिया।'अब जिंदगी के इस चौथे चरण में आकर कुछ स्थिरता आई है। कुछ सुख मिला है। कुछ चिंताएँ मिटी हैं और मन-प्राणों को कुछ शांति मिली है। ... आज सोचता हूँ कि बाहर के संघर्षों की अपेक्षा भीतर के संघर्ष व्यक्ति को तोड़-मरोड़ कर रख देते हैं। मैं भी काफी टूटा हूँ; काफी मरोड़ा गया हूँ। लेकिन मेरी जिजीविषा ने मुझे जिंदा रखा है और जिंदा रहना ही मेरी उपलब्धि का सबब बना रहा है। रुइया कॉलेज में नियुक्ति मेरी जिजीविषा, संघर्ष और अपने प्रति विश्वास का परिणाम ही तो था।'[13]

देवेश जी सभी संघर्षों से पार निकाल आए किन्तु अपने पारिवारिक सदस्यों के आचरण से निर्मित संघर्षों ने उन्हें चूस लिया। कई बार वे निराशा के गर्त में चले जाते थे और मानसिक रूप से निढाल होकर रह जाते। कभी दीवार पर सिर पटकने लगते तो कभी आत्महत्या करने का विचार करने लगते। छोटे भाई की संगत बिगड़ने से उसकी हरकतें बेकाबू हो गई थीं। पैसों के लिए राकेश किसी का भी गला दबाने के लिए उतारू हो जाता। लोगों से उधार लिए। पैसे वसूल करने के लिए लोग घर आ पहुँचते। जैसे-तैसे बी.ए. की परीक्षा देकर उसे मुंबई बुला लिया किन्तु वह देवेश जी के लिए ही मुसीबतें खड़ा करता रहा। राकेश को लाइन पर लाने के लिए देवेश जी ने कई प्रयत्न किए किन्तु वे विफल हो गए। 'राकेश के बाहरी व्यवहार को देख कर कोई सोच भी नहीं सकता कि भीतर से वह इतना उदण्ड, इतना पाखंडी और इतना बिगड़ा हुआ है। ठीक है, बाहर के लोगों को वह बड़ा मिष्टभाषी, शालीन और विनम्र लगता था लेकिन घर के भीतर वह

आतंक बनाए रखता था। घर के सभी लोग उसकी कारगुजारियों से परेशान और त्रस्त थे। अब उसको लीक पर लाने की जिम्मेदारी उन पर आ पड़ी थी- 'परीक्षा के बाद जब वह यहाँ आया तो मैंने देहरादून से उसका 'एलीजीबिलिटी सर्टिफिकेट' मँगवा कर अपने ही कॉलेज में 'डिप्लोमा इन एज्युकेशन' में उसका दाखिला करवा दिया। मैंने सोचा कि इससे वह किसी प्राइमरी स्कूल में तो लग ही जायेगा।'[14]

किन्तु डी.एड. करते हुए भी उसने देवेश जी को समस्याओं में डाल दिया, जिससे उन्हें मानसिक संघर्ष से गुजरना पड़ा। कॉलेज के माली से 20 रुपए उधार लिए थे। शाम को लौटने के लिए कहा था किन्तु लौटाया नहीं। माली घर आकर तगादा करने लगा तो शीला ने उसे पैसे लौटाए। देवेश जी ने उस समय चुप रहना ही बेहतर समझा। स्टाफ क्वार्टर्स में रहते हुए कोई तमशा नहीं होने देना चाहते थे लेकिन अपना गुबार उतारने के लिए उन्होंने अम्मा से सब कुछ कह दिया। ऐसे मौकों पर अम्मा चुप्पी सधा लेती थीं। वह कहती भी तो क्या कहतीं। वह खुद उससे परेशान थीं।'[15] डी. एड में औसत दर्जे में पास होने के बाद देवेश जी ने राकेश को पवई के अंग्रेजी माध्यम के स्कूल में लगा दिया किन्तु जब उसे घर के आर्थिक खर्चे में अपना कंट्रीब्यूशन करने को कहा तो उसने साफ मना कर दिया, जिससे देवेश ठाकुर और राकेश के बीच अनबन हो गई और वह अपना समान लेकर घर छोड़कर चला गया।

देवेश ठाकुर का जीवन बड़ा ही गतिशील और घटनामय किन्तु काफी उतार-चढ़ावों से भरा, अनगिनत समस्याओं से घिरा और विभिन्न संघर्षों से जुड़ा हुआ रहा है। संघर्ष की एक स्थिति से उबरने के बाद दूसरा संघर्ष मुँह बाये खड़ा होता, जिनसे लड़ने के लिए देवेश जी एक क्षत्रिय की तरह तैयार रहते हैं। संतोष दी की बिगड़ी हुई हालत में एक दिन पिताजी के एक्सीडेंट की खबर मिलने से देवेश जी के पैरों तले जमीन खिसक गई थी। उनकी जाँघ की टूटी हुई हड्डी के ऑपरेशन के लिए देवेश जी ने माँ को मुंबई से देहरादून भेज दिया। चलते-फिरते होने के बाद माँ पिताजी को लेकर मुंबई आ गई। अब देवेश ठाकुर का पूरा परिवार मुंबई के छोटे से कमरे में सिमटकर रह गया, जिससे उत्पन्न मानसिक तनावपूर्ण स्थिति में देवेश ठाकुर जूझते रहे। पारिवारिक संघर्ष ने उनको इतना झकझोर दिया कि जीना और मरना भी उन्हें दुश्वार हो गया था। 'सच तो यह है कि इंसान को बाहर के संघर्ष इतना नहीं तोड़ते जितना घर-परिवार के छोटे-छोटे टंटे। मुझे बाहर के संघर्षों और विरोधों ने हमेशा उनसे निपटने की शक्ति दी है लेकिन परिवार की इन टुच्ची समस्याओं से उबरने की कोशिश मुझे हताश कर देती है। मैं निर्णय नहीं कर पा रहा था कि इस दलदल से कैसे बाहर निकलूँ।'[16]

अपने पारिवारिक संघर्ष के चलते देवेश जी काफी टूट चुके थे। लोक लाज के कारण उन्हें विवश होकर चुप रहना पड़ता था। अपनी घुटन को वे इस प्रकार व्यक्त करते हैं- 'लेटे-लेटे मेरा दिमाग चकराने लगता था कि मेरे घर वाले मेरे दुश्मन बन कर रह गए हैं। मेरे काल...। मेरे शत्रु....। और मुझे इन्हीं सब के बीच रहना और जीना था। जीने की मजबूरी... अपनी शीला के लिए, अपने बच्चों के लिए। मैं किसी से कुछ नहीं कह सकता।... न जाने कब तक मुझे यह सब सहना है।' मन करता था, अपना शरीर नोच डालूँ। कपड़े फाड़ डालूँ। सर को दीवार पर पटक-पटक कर फोड़ डालूँ। यह

जिंदगी नहीं जी जा रही थी।[17] मानसिक तनाव के कारण देवेश जी को शारीरिक व्याधि का सामना करना पड़ता है। उन्हें हृदय रोग के झटके महसूस होने लगे। शिक्षा क्षेत्र में भी देवेश जी को संघर्षों से दो हाथ करने पड़े। एम.ए. की कक्षा पढ़ाने की योग्यताओं के बावजूद उनको टाला जाता रहा। प्रभात के कुटिलता के विरुद्ध देवेश जी संघर्षरत बने रहे। एम. ए. की कक्षाएँ पढ़ाने के लिए तब कॉलेजों के प्रायापक ही जाया करते थे। इसके लिए दो केंद्र थे। एक विश्वविद्यालय और दूसरा मेरा रुइया कॉलेज। मैं तब तक एम. ए. कक्षाएँ पढ़ाने की योग्यता प्राप्त कर चुका था लेकिन छोटेलाल जी की कृपा से मुझे दो सालों तक टाला जाता रहा। बाद में विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार और उपकुलपति से पत्राचार करने के बाद ही मुझे एम. ए. की कक्षाएँ पढ़ाने के लिए दी गयीं। शिक्षा क्षेत्र में किए संघर्षों के बारे में देवेश जी लिखते हैं- 'जिस प्रकार अपने वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन में मुझे टुच्चे संघर्षों से जूझना पड़ा, उसी प्रकार शिक्षा के क्षेत्र में भी मुझे अपने उचित अधिकारों के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। मुझे लगता कि संघर्ष करना ही जैसे मेरी नियति है। एम. ए. की कक्षाएँ पढ़ाने की तरह ही मुझे 'रिसर्च गाइड' बनने के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। 'रिसर्च गाइड' की योग्यता प्राप्त कर लेने के बाद मैंने विश्वविद्यालय में उसके लिए आवेदन पत्र प्रस्तुत कर दिया था। 2-3 साल तक मेरा वह आवेदन-पत्र हिन्दी विभाग की फाइलों में बंद रहा। विश्वविद्यालय और हिन्दी विभाग की ओर से बड़ी कोशिश करने के बावजूद कोई सूचना न मिलने के कारण मैं बहुत कसमसा रहा था। तभी संध्योग से एक दिन उस समय के कुलपति श्री राम जोशी से मेरी भेंट हो गयी। उन्होंने एक नया आवेदन करने को कहा और तब गाइडशिप मिली।'

बी.ए. में परीक्षक बनने हेतु किए संघर्ष को इस संदर्भ में देखा जा सकता है- 'दूसरी घटना मेरे बी.ए. में परीक्षक बनने को लेकर है। उन दिनों कॉलेज में इंटर की कक्षाएँ भी चलती थीं और परीक्षा भी विश्वविद्यालय ही लेता था। मैंने 1956 से कॉलेज में पढ़ाना आरम्भ कर दिया था। लेकिन मजे की बात यह है कि 1978 तक, जब तक मैं विभागाध्यक्ष नहीं बन गया और जब तक मैं हिन्दी बोर्ड में सदस्य के रूप में चुन कर नहीं आया, मुझे बी.ए. में परीक्षक नहीं बनाया गया। जब कि मुझसे कहीं जूनियर अध्यापक बी.ए. के परीक्षक नहीं, मॉडरेटर तक के रूप में कार्य कर रहे थे। 1978 में जब मैं पहली बार बी. ए. का परीक्षक बना तो पार्ले कॉलेज के मुझसे काफी जूनियर प्राध्यापक राधे मोहन शर्मा मेरे मॉडरेटर थे। उन दिनों मैं अस्वस्थ चल रहा था, सो अपनी पत्नी को साथ लेकर मैं प्राध्यापक शर्मा के घर गया। प्रो. शर्मा बड़े असमंजस में पड गए। बोले- सर, आपने क्यों तकलीफ की। आप मुझे फोन कर देते। मैं कापियाँ लेने आ जाता।' (यह प्रो. शर्मा की शालीनता थी। वैसे वे छोटे लाल के पिट्ठू थे और उन्हें हर बार बोर्ड में 'नॉन हैड' टीचर के रूप में मनोनीत किया जाता था। उन दिनों बोड्र्स में दो 'नॉन हैड' टीचर्स को मनोनीत करने की व्यवस्था थी)।'[18]

शिक्षा क्षेत्र की राजनीतिक गुटबाजी के चलते उन्हें शोधार्थियों के मौखिकी हेतु परीक्षक नियुक्ति के लिए भी संघर्ष करना पड़ा। 'रिसर्च गाइड बनने के बाद जब मेरे पहले शोध विद्यार्थी नन्दलाल यादव के शोध-ग्रंथ के लिए परीक्षकों की नियुक्ति का प्रश्न आया तो भाई लोगों ने ऐसे परीक्षकों का नाम सुझाने की योजना बनायी जो मुंबई आवास

काल में डॉ. छोटे लाल 'प्रभात' के सम्मानित अतिथि हुआ करते थे। मुझे इस बात की शंका पहले से थी सो मैंने डॉ. छोटे लाल के एक चारण को बुला कर यह स्पष्ट कर दिया कि अगर शोध-विषय से संबंधित परीक्षकों को नहीं बुलाया गया तो मैं वी. सी. के पास अपना प्रतिवेदन भेजूँगा और यदि आवश्यक हुआ तो राज्यपाल तक जाने में भी संकोच नहीं करूँगा। साथ ही, 'प्रभात' गुट के सभी शोध निर्देशकों के शोध-विद्यार्थियों के लिए परीक्षकों की नियुक्ति पर यह देखूँगा कि शोध-विषय के अनुकूल परीक्षकों की नियुक्ति की गयी है या नहीं। मेरी मुद्रा से प्रभात गुट भयभीत हो गया और नन्दलाल यादव के शोध से संबंधित सभी व्यक्ति ठीक-ठीक नियुक्त किए गए। चूँकि यादव का विषय उपन्यासों से संबंधित था इसलिए पटना के डॉ. गोपाल राय को भी परीक्षक के रूप में नियुक्त किया गया। मौखिकी के लिए वे आए और उन्होंने यादव के उत्कृष्ट शोध की प्रशंसा भी की। तब से अनौपचारिक रूप से यह निश्चित किया गया कि अपने शोध-विद्यार्थियों के लिए जिन परीक्षकों के नाम देना चाहें, दे सकते हैं। मैं उसमें कोई विघ्न नहीं डालूँगा। (हालाँकि तब तक मैं हिन्दी बोर्ड का सदस्य नहीं बना था)।'[19]

राधाकृष्ण प्रकाशन के अशोक माहेश्वरी द्वारा किए गए धोखाधड़ी के विरुद्ध भी देवेश ठाकुर ने संघर्ष किया। राधाकृष्ण प्रकाशन के अशोक माहेश्वरी को रचनावली की 200 प्रतियाँ इस शर्त पर दी गई थीं कि उनके द्वारा लिए गए सभी सैट्स की पूरी राशि उसी फाइनेंशियल वर्ष के अन्त में चुका दी जायेगी। जब इन पुस्तकों की राशि भेजने के लिए कहा गया तो उन्होंने बिकी हुई प्रतियों की कुछ राशि भेजते हुए यह लिखा कि अब तक बिकी पुस्तकों की राशि भेजी जा रही है। जब उन्हें पत्र लिख कर जताया गया कि उन्हें पूरी राशि भेजनी थी तो वे मुकर गए। इस झूठ को ये सह नहीं पाए। आज भी 'झूठ' शब्द से इन्हें घृणा है। इन्होंने आवेश में आकर अशोक से शेष प्रतियाँ लौटा देने के लिए लिख दिया। अशोक ने बड़ी ईमानदारी के साथ हिसाब करके शेष प्रतियाँ लौटा दीं।

देवेश ठाकुर ने 1969 में सागर विश्वविद्यालय में डी.लिट् का शोध-प्रबंध परीक्षण हेतु प्रस्तुत किया किन्तु छोटेलाल 'प्रभात' और उनके गुटकर्मियों ने सागर के प्रवक्ता डॉ. प्रेम शंकर के माध्यम से उसमें विघ्न डालने की कोशिश की। देवेश ठाकुर ने इसके विरुद्ध संघर्ष कर उनकी कोशिश को असफल कर दिया। अपनी मौखिकी के संदर्भ में वे स्वयं सागर आकर अयक्ष डॉ. भागीरथ मिश्र से मिले और अपनी शंका उपस्थित की जिस पर डॉ. भगीरथ मिश्र ने तुरंत कार्यवाही करते हुए देवेश जी की मौखिकी संपन्न करायी और उन्हें डी.लिट् की उपाधि प्रदान की गई। डॉ. पी. जयरामन और डॉ. देवेश ठाकुर डी.लिट् की शोधोपाधि पाने वाले सागर विश्वविद्यालय के पहले शोाकर्मी बनें। इसी शोध-प्रबंध के प्रकाशन के बाद 1975 में हिन्दी संस्थान लखनऊ की ओर से उन्हें तुलसी पुरस्कार से नवाजा गया।

देवेश ठाकुर के उपन्यास 'गुरुकुल' पर आयोजित संगोष्ठी में डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी ने अपनी दृष्टि-दोष के आधार पर बेतुके आरोप लगाए। जिसके खिलाफ भी देवेश ठाकुर ने अपनी कविता 'कबीरा बन जाओ' पढ़कर तल्ख प्रतिवाद किया। इसी तरह डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर ने 1993 में पुणे में आयोजित 'पुनश्चर्या पाठ्यक्रम' में अपने भाषण में देवेश ठाकुर के ज्ञानपीठ से प्रकाशित पहले उपन्यास 'भ्रम-भंग' को नॉवेल

मानने पर टिप्पणी की। किन्तु इस उपन्यास को शिवाजी और कर्नाटक विश्वविद्यालय के एम.ए. के पाठ्यक्रम में पढ़ाया जा चुका था। एम. फिल. के लिए लघु शोध-प्रबंध लिखा गया था। देश भर की पत्रिकाओं में 40 से ऊपर समीक्षाएँ लिखी जा चुकी थीं। इसके बावजूद इसे 1975 का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास बताया गया था। इस छींटाकशी के खिलाफ देवेश जी परीक्षण करने की चुनौती देते हुए लिखते हैं- 'आज मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि 'भ्रम-भंग' की किसी भी शिखर कथाकार के प्रथम उपन्यास से तुलना करके यह परीक्षण कर लिया जाय कि 'भ्रम-भंग' कहाँ ठहरता है। उपर्युक्त तथ्यों को देना इसलिए जरूरी हो गया है कि यह स्पष्ट हो सके कि अपने नगर और विभाग में मुझे कैसे-कैसे बुद्धिजीवियों की ईर्ष्या और विरोध को किस गिरे हुए स्तर तक ढोना पड़ा है और उनके बीच रह कर अपना रास्ता बनाना पड़ा है।'[20]

'हिन्दी अययन मंडल' में छोटे लाल 'प्रभात' के निवृत्ति के बाद भी उहें कई तरह से बरकरार रखने की कोशिश उनके गुटकर्मियों द्वारा की गई इसके विरुद्ध भी देवेश ठाकुर ने संघर्ष कर उन्हें बाहर कर दिया। छोटे लाल 'प्रभात' के निवृत्ति के बाद मुंबई विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में रिक्त हुए प्रोफेसर पद के लिए देवेश ठाकुर ने अपना आवेदन प्रस्तुत किया। इस साक्षात्कार की पूरी व्यवस्था के लिए गठित समिति पर ही देवेश ठाकुर ने प्रश्नचिह्न उपस्थित किया। कला-संकाय के तत्कालीन डीन डॉ. डी. एस. डी. कर्निक को देवेश ठाकुर ने सभी तथ्यों से अवगत कराया। जिस पर उन्होंने देवेश ठाकुर को आश्वस्त कराया किन्तु वे डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर को प्रोफेसर पद की नियुक्ति में सहायता कर रहे थे। इस पद हेतु आयोजित साक्षात्कार में विशेषज्ञों द्वारा पूछे गए गलत-सलत सवालों से देवेश ठाकुर बौखला उठे। वी.सी. की ओर देखकर बोले- सर, आई बाईकॉट दिस सिली इंटरव्यू।' और क्रोध से भुनभुनाते हुए अपनी किताबों का बंडल उठाकर बाहर निकल आए। इस साक्षात्कार के निर्णय से वे पहले ही अवगत थे। इसलिए साक्षात्कार के पूर्व उन्होंने उपकुलपति से नामवर सिंह के संदर्भ में पत्र व्यवहार किया था। डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर के चयन के विरुद्ध देवेश ठाकुर ने विभिन्न मुद्दों के आधार पर उच्च न्यायालय में याचिका दायर कर इस निर्णय को निरस्त कर, चयन समिति का पुनर्गठन करने और फिर से साक्षात्कार करवाने की माँग की किन्तु बाद में देवेश ठाकुर ने अपना केस पीछे ले लिया और इसके बाद डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर प्रोफेसर बन गए।

'महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी' में चल रही कारगुजारियों का विरोध कर देवेश जी ने उसका भी पदार्फाश किया। इस संदर्भ में इन्होंने लिखा है- 'वह १९९६-९७ का साल था। महाराष्ट्र राज्य हिंदी अकादमी में शशिभूषण वाजपेयी जी की कार्यकारी अध्यक्ष के रूप में नियुक्ति हो चुकी थी। तब तक डॉ. धर्मवीर भारती दिवंगत हो चुके थे। उनके शशि भूषण जी से बड़ी घनिष्टता थी। भारती जी के निधन के बाद भी शशि भूषण जी का उनके घर आना-जाना बना रहा। उन्होंने अकादमी में श्रीमती पुष्पा भारती को पुरस्कार समिति का अध्यक्ष बना दिया था। अनेक अवसरों - आयोजनों में वे दोनों साथ-साथ देखे जाते थे। पुष्पा जी ने भारती जी के नाम अकादमी का ५०००० रु. का एक राष्ट्रीय पुरस्कार भी घोषित करवा लिया था। मैंने पत्र-पत्रिकाओं में लिख कर इसका

विरोध किया। बात सरकार तक पहुँच गयी। छान-बीन के पश्चात् यह पाया गया कि उक्त पुस्कार की स्थापना में कुछ गलत हुआ है। एक साल बाद यह पुरस्कार समाप्त कर दिया गया।'

आपसी मित्रता और सौहार्द के चलते देवेश ठाकुर के उपन्यासों को पाठ्यक्रम में लगाए जाने पर कुछ अध्यापकों को ईर्ष्या होने लगी। अध्यापकों के आपसी खेमेबाजी ने 'अपना-अपना आकाश' उपन्यास पर अश्लीलता का आरोप लगाकर देवेश जी के विरुद्ध षडयंत्र रचा। जिसके खिलाफ देवेश ठाकुर ने जंग छेड़ी और जीत हासिल की।

निष्कर्षवत यह कहा जा सकता है कि देवेश ठाकुर ने अपना जीवन लगभग शून्य से आरंभ कर उस शून्य के पीछे 'एक' लगाने में बहुत परिश्रम किया। स्वयं को बहुतों के सम्मुख छोटा होना पड़ा। बहुतों के साथ दो-चार होना और बहुतों का कुछ अहित भी करना पड़ा। किसी भी व्यक्ति का अहित करने में उन्होंने कभी भी कोई पहल नहीं की। इस संदर्भ में जो कुछ भी किया, अपने व्यक्ति और अपने सम्मान की रक्षा के लिए किया। स्पष्टवादी स्वभाव के कारण बार-बार उन विषाक्त स्थितियों से गुजरना पड़ा, जिन्हें थोड़ा 'विनम्र' और थोड़ा सहनशील होकर टाला जा सकता था किन्तु उनके रक्त में ऐसे जीवाणुओं का अभाव था जो कमजोर और शब्दहीन बना पाते या दूसरों के द्वारा दिए गए अपमान-भाव को पचा पाने की सहनशीलता दिखला पाते। इस स्वभाव को 'अक्खड़पन' का नाम दिया गया लेकिन इसी 'अक्खड़पन' ने विरोधी तो दिए ही, जो स्वाभाविक ही था, साथ ही सच्चे मित्रों की एक बड़ी जमात भी दी। अपनी इस स्थिति से वे संतुष्ट हैं।

संदर्भ :

1. वही, पृ.21
2. वही, पृ.28-29
3. वही, पृ.32
4. वही, पृ.34
5. डॉ. प्रवीण चन्द्र बिष्ट (संपादक) - रचनाार्मी देवेश ठाकुर, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002, प्रथम संस्करण : 2019, पृ.75
6. डॉ. देवेश ठाकुर- 'मैं यों जिया' (खंड-1, आरंभिक अन्तर्यात्रा), नमन प्रकाशन, नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण- 2009, पृ.39
7. वही, पृ.41
8. वही, पृ.112
9. वही, पृ.263
10. डॉ. प्रवीण चन्द्र बिष्ट (संपादक)- 'रचनाार्मी देवेश ठाकुर', डॉ. माधवी बागी (आलेखकर्ता)- 'यों जिए देवेश', नमन प्रकाशन, नई दिल्ली- 110002, पहला संस्करण- 2019, पृ.75
11. 'मैं यों जिया' खंड- दो (चन्दन-वन के बीच), डॉ. देवेश ठाकुर, नमन प्रकाशन प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण- 2009, पृ.1
12. वही, पृ.79

13. वही, पृ.100-101
14. वही, पृ.103
15. वही, पृ.113
16. वही, पृ.121
17. वही, पृ.140
18. वही, पृ.142-143
19. वही, पृ.246-247
20. डॉ. देवेश ठाकुर, मैं यों जिया खंड- 3 (इस यात्रा में), नमन प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण - 2009, पृ.61

- विभागाध्यक्ष एवं शोध-निर्देशक हिंदी
जे. एस. एम. कॉलेज, अलिबाग-रायगड
मोबा. नं.- 9860657970
- जे. एस. एम. कॉलेज, अलिबाग-रायगड

बुद्ध-गाथा : डॉ. देवेश ठाकुर की कलम से

डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे

इस विश्व के अनेक देशों के आम या मध्यमवर्गीय व्यक्तियों को- विशेषकर यूरोप के- पता तक नहीं है कि एशिया में भारत नाम का कोई देश है। चीन से वे परिचित हैं। परंतु आश्चर्य इस बात का कि इस देश के दो व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें संभवतः दुनिया भर के लोग जानते हैं। उन्हें इस बात का पता भी नहीं था कि ये दोनों भारत के हैं। इनके कारण ही वे अब भारत को जानने लगेंगे और वे नाम हैं बुद्ध और महात्मा गांधी! 2500 वर्ष पूर्व के बुद्ध को दुनिया के अधिकतर लोग आज भी स्मृति में रखते हैं। क्या विशेषता थी इस बुद्ध की। ईसा पूर्व दूसरी-तीसरी शती तक तो पूरा भारत ही बौद्धमय बन गया था। संभवतः पाँचवीं शती तक यह पूरे एशिया का महत्त्वपूर्ण धर्म बन चुका था। एशिया में स्थित सभी देशों की कलाओं में- शिल्प-मूर्ति, चित्र, संगीत, साहित्य में- बुद्ध और उनके जीवन से संबंधित घटनाएँ साकार हो चुकी थीं। ईरान से लेकर चीन तक तथा तिब्बत से लेकर सिलोन तक 'बुद्धम् शरणम् गच्छामि' का नारा गूँज उठा था। दुनिया के करीब सभी चिंतकों और दार्शनिकों पर बुद्ध-दर्शन का प्रभाव पड़ चुका था। बुद्ध के इस अभूतपूर्व व विलक्षण व्यक्तित्व से कलाकार प्रेरणा लेकर लिख रहे थे। आश्चर्य यह कि ढाई हजार वर्ष बाद भी बुद्ध का व्यक्तित्व संवेदनशील कलाकार के सम्मुख चुनौती के रूप में खड़ा है। या यूँ कहें कि बुद्ध आज भी कलाकारों को अपनी ओर आकृष्ट करते रहे हैं। बुद्ध की मृत्यु के बाद से लेकर आज तक संभवतः विश्व की प्रत्येक भाषा में बुद्ध की जीवनियाँ प्रकाशित होती रही हैं। इन जीवनियों का स्वरूप विविध आयामी रहा है तथा विभिन्न स्तरों के पाठकों को ध्यान में रखकर ये लिखी गयी हैं। बुद्ध के समय तथा उनके बाद उनसे संबंधित स्रोतों का विशेष अध्ययन किया गया है तथा अंतस्रोतों तथा बहिस्रोतों के आधार पर लिखी जीवनियाँ भी लिखी गयी हैं। इनके अलावा जातक कथाओं, दंतकथाओं और लोककथाओं के माध्यम से भी बुद्ध को जीवंत रखने का प्रयत्न किया गया है। संभवतः इसके मूल में बुद्ध का वह दर्शन था जिसमें एक स्तर पर वे ईश्वर के अस्तित्व को ही नकारते हैं तो दूसरी ओर सभी प्रकार के अतिवादों से हटकर मध्यम मार्ग को सुझाते हैं। यह दूसरी बात है कि बुद्ध की मृत्यु के बाद, उनके इस नये धर्म में जिन दो पंथों का निर्माण हुआ उनमें से एक पंथ महायान ने उन्हें ईश्वर घोषित किया तथा पूजा-अर्चना और अन्य कर्म-काण्ड भी उनकी अराधना के साथ जोड़ दिये तो दूसरी ओर हिन्दू धर्माचार्यों ने उन्हें दसवें अवतार के रूप में घोषित कर अपने में समा लेने की पूरी कोशिश की। बुद्ध अपने दर्शन में व्यक्ति के विवेक और शील को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसी विवेक या प्रखर बुद्धिमत्ता के कारण ही वे बुद्ध कहलाए। बौद्ध-धर्म एक समय एशिया का सबसे प्रमुख धर्म बन चुका था। परंतु अपनी ही जन्मभूमि में वह न चर्चित था और न महत्त्वपूर्ण। उलटे उसके विरोध में जितने भ्रम फैलाना संभव था, उतने भ्रम फैलाए जा चुके थे। स्वतंत्रता के बाद 1956 में जब बाबा साहेब आंबेडकर जी ने अपने लाखों अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म में प्रवेश लेने का निर्णय लिया, तब यह धर्म या धम्म फिर से प्रासंगिक हो उठा। हजारों वर्षों के नकारे गए वर्ग द्वारा जब इस धम्म को स्वीकारा गया, तब उसके प्रति फिर से जिज्ञासा का निर्माण हुआ। स्वयं डॉ. बाबासाहेब

ने अनथक परिश्रम तथा कठोर समीक्षात्मक दृष्टि से 'बुद्ध एंड हिज धम्म' ग्रंथ की रचना की। नव बौद्धों की नई पीढ़ी में महात्मा गौतम बुद्ध तथा बौद्ध धम्म के प्रति न केवल आकर्षण पैदा हुआ अपितु जिज्ञासा भी जागृत हुई। महाराष्ट्र में तो शहरों-जिलों से लेकर देहातों तक में बौद्ध मंदिर बनाए जाने लगे। आज भी यह प्रक्रिया जारी है। बौद्धेतरों के मन में भी जिज्ञासा जाग उठी कि यह बौद्ध-धम्म है क्या। इसे जानें। भारतीय इतिहास की पुस्तकों में बुद्ध की जो संक्षिप्त-सी जानकारी दी जाती है, वह जिज्ञासा-शमन की दृष्टि से काफी नहीं है। चूँकि लोगों में महात्मा गौतम बुद्ध के प्रति, उनके चरित्र और दर्शन के प्रति जिज्ञासा बढ़ने लगी, परिणामतः संवेदनशील लेखकों ने भी महसूस किया कि इस चरित्र को जान लेने की कोशिश करें। बुद्ध-चरित्र से संबंधित ग्रंथों को पढ़ते-पढ़ते कुछ संवेदनशील लेखक उसमें इतना डूब गए कि उसमें से बाहर निकलने का एक ही रास्ता था कि बुद्ध पर लिखा जाए। यह बुद्ध के व्यक्तित्व की विशेषता है कि उनके चरित्र के भीतर जो उतरने की कोशिश करता है, उसमें एक बेचैन छटपटाहट पैदा हो जाती है। यह बेचैनी सृजन की बेचैनी होती हैं अर्थात् इसके लिए जरूरी शर्त इतनी ही है कि वह व्यक्ति अत्यधिक संवेदनशील और प्रतिभासंपन्न हो। सो, अनेक चित्रकार, शिल्पकार, कवि और गद्य लेखक बुद्ध-चरित्र के महासागर में डूब गए। वे बाहर निकलने हेतु बुद्ध-चरित्र के किसी नये आयाम को ले आए अथवा बुद्ध-चरित्र को अपनी भाषा में व्यक्त करने के मोह को टाल नहीं सके। देवेश ठाकुर हिंदी के ऐसे ही संवेदनशील, प्रतिभासंपन्न लेखक-समीक्षक रहे हैं। उनका लेखकीय व्यक्तित्व विविध आयामी है। वे एक ही समय उपन्यासकार हैं, समीक्षक हैं और संपादक भी। इन तीनों क्षेत्रों में उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। इन तीनों विधाओं में अब तक वे 55 कृतियाँ दे चुके हैं। आयु के 75वें वर्ष में जब देवेश जी बुद्ध-चरित्र का अध्ययन महज जिज्ञासावश करने लगे, तब अंततः बुद्ध की जीवनी को लिखकर ही संभवतः उन्हें सहजता का अनुभव हुआ। जब किसी नए विषय का, नये व्यक्तित्व का अध्ययन करना होता है तो सामान्य पाठक उससे संबंधित दो चार महत्त्वपूर्ण पुस्तकें पढ़कर संतोष का अनुभव करता है परंतु देवेश ठाकुर जैसे पाठक जिज्ञासावश जब पढ़ने बैठते हैं, तब उस विषय से संबंधित जो मानक पुस्तकें हैं, शोधग्रंथ हैं, उन्हें पढ़ने की कोशिश करते हैं। इस जीवनी के अंत में जो संदर्भ-ग्रंथ सूची दी गई है, उससे यह स्पष्ट है कि बुद्ध-चरित से संबंधित विश्व स्तर के प्रसिद्ध तथा मानक ग्रंथों का गंभीर अध्ययन देवेश जी ने किया है। बुद्ध- चरित्र पर वर्षों के अनुसंधान के बाद जिन्होंने अपने ग्रंथ लिखे- ऐसे राईस डेविड्स, रोनल्ड फसल, रिचर्ड ए. गार्ड आदि पश्चिमी अनुसंधाता तथा राहुल सांकृत्यायन, आनंद कुमार स्वामी, धमार्नंद कोसांबी तथा अंत में डॉ. भीमराव रामजी आम्बेडकर- इन भारतीय अनुसंधाताओं के ग्रंथ महत्त्वपूर्ण हैं। जीवनी लिखने के पूर्व जो कठोर परिश्रम करना पड़ता है, वह इस आयु में देवेश जी ने किया है, इसलिए वे बधाई के पात्र हैं। 252 पृष्ठों में लिखी गाई इस जीवनी को कुल तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। आरंभ के चार प्रकरणों में (पृष्ठ 11 से 49) विषय प्रवेश तथा बुद्ध पूर्व भारत की संक्षिप्त-सी झाँकी दी गई है। तत्कालीन समाज व्यवस्था, राजनीति, शाक्य वंश आदि का परिचय यहाँ दिया गया है। इस पूरी जानकारी को प्रमाणित करने हेतु इस विषय से संबंधित अधुनातन

अनुसंधान का उपयोग भी किया गया है। प्रकरण पाँच से प्रकरण 14 तक (कुल दस प्रकरण, कुल पृष्ठ-163) में बुद्ध-जीवनी को प्रस्तुत किया गया है। यहाँ जन्म से मृत्यु तक के प्रसंगों को पूरी तटस्थता के साथ चित्रित किया गया है। तीसरे व अंतिम हिस्से में (परिशिष्ट, कुल पृष्ठ 20) बुद्ध के प्रमुख विचारों की संक्षेप में प्रस्तुति हुई है।

देवेश ठाकुर संभवतः पहली बार जीवनी-विधा में लिख रहे थे। यह दूसरी बात है कि उनके सभी उपन्यास किसी-न-किसी व्यक्ति के जीवन पर आधारित हैं। उन उपन्यासों के मूल में भले ही किसी की जीवनी हो, तो भी वहाँ उन्होंने उसे जीवनी होने नहीं दिया क्योंकि उपन्यास के लिए जरूरी 'कल्पना' का भरपूर मात्रा में वहाँ प्रयोग हुआ है। बुद्ध-गाथा में उन्होंने जहाँ तक हो सके, कल्पना का प्रयोग टाला है। यह जरूरी भी है क्योंकि यह विधा उसकी अनुमति नहीं देती। जीवनीकार संबंधित व्यक्ति के जीवन प्रसंगों को पूरी तटस्थता के साथ परंतु आकर्षक शैली में प्रस्तुत करे, यह इस विधा की पहली शर्त है। फिर बुद्ध जैसे प्राचीन व्यक्तित्व को लेकर इतनी सामग्री उपलब्ध है कि वहाँ कल्पना के लिए अवकाश भी नहीं है। बुद्ध को लेकर इतनी लोककथाएँ प्रचलित हैं, जातक-कथाओं में इतनी कहनियाँ आई हैं कि उससे बुद्ध का चरित्र अत्यधिक रोमहर्षक परंतु सामान्य मनुष्य से पूर्णतः कटा हुआ हो जाता है। देवेश जी इसीलिए बधाई के पात्र हैं कि उन्होंने बुद्ध से संबंधित चमत्कारपूर्ण, अतिशयोक्ति से भरे हुए, बेबुनियाद प्रसंगों को पूर्णतः टाला है। उनका प्रयत्न है कि बुद्ध कहीं पर भी 'ईश्वर' न हो जाएँ। वे एक मनुष्य थे, संवेदनशील मनुष्य थे, इस संवेदनशील मनुष्य को मनुष्य के रूप में उभारने का प्रयत्न इस जीवनी की प्रमुख विशेषता है। यह बुद्ध की गाथा है। उनकी जीवनी को और उनके उपदेश को रेखांकित करने वाली। उनके उपदेशों को भी देवेश जी ने कहीं पर भी अत्यधिक तात्त्विक अथवा नीरस होने नहीं दिया है। जीवनी कहीं पर भी उबाऊ न हो, इसके सारे प्रयत्न उन्होंने किए हैं। जीवनी में उपदेशों को घुसेड़ा नहीं गया है। जहाँ जिस स्थान पर उपदेशों की जरूरत थी, वहाँ उन्होंने उसे दिया है। उदा : बुद्धत्व प्राप्त होने के बाद बुद्ध अपने अनुयायियों को जो उपदेश देते हैं, वह तत्त्कालीन यथार्थ जीवन के काफी निकट था और जिसे वहाँ देना अनिवार्य-सा था, वहाँ उन्होंने उसे दिया है। परंतु जो उपदेश मनुष्य-जीवन के लिए बहुत जरूरी हैं, जो शाश्वत हैं, परंतु जो अधिक तात्विक और गहन हैं, उन्हें देवेश जी ने परिशिष्ट में दिया है। उनका प्रयत्न है कि किसी भी स्थिति में जीवनी की रोचकता कम न हो। प्रस्तुत बुद्ध-गाथा में कहीं कोई मौलिकता नहीं है। जीवनी-लेखन कभी भी मौलिकता का दावा नहीं करता। इस विधा की यह शक्ति भी है और सीमा भी कि जो सामग्री उपलब्ध है उसका ही उपयोग जीवनीकार करें, उसमें अपनी कल्पना द्वारा किसी भी प्रकार की मिलावट न करें। मौलिकता का संबंध तो 'कल्पना के अभिनव प्रयोग से होता है और जीवनी में कल्पना के प्रयोग की अनुमति ही नहीं है। देवेश जी ने 'प्रस्तुत पुस्तक के विषय में' लिखते समय ईमानदारी से स्वीकार किया है कि 'मैं अपनी इस पुस्तक में मौलिकता का कोई दावा नहीं करता। मैंने तो बुद्ध-साहित्य के अध्येताओं के विचारों को एक स्थान पर व्यवस्थित रूप से क्रमबद्ध करने का प्रयास भर किया है।' वास्तव में बुद्ध-चरित्र पर इतनी विशाल सामग्री उपलब्ध है कि उसका अध्ययन कर उसे आकर्षक रूप से एक जगह लाना यही अपने आप में

एक मौलिक कार्य है। साहित्य-सृजन के संदर्भ में वास्तव में कोई विषय नया नहीं होता। नई होती है भाषा शैली और उस विषय की प्रस्तुति। प्रस्तुति में ही मौलिकता होती है और इसमें कोई संदेह नहीं कि इस जीवनी की प्रस्तुति में मौलिकता है। यह मौलिकता भाषा शैली में भी है। एक पाठक की दृष्टि से यह जीवनी अत्यधिक सफल है क्योंकि वह पाठक को पढ़ने के लिए विवश करती है। हालांकि इस देश का आम आदमी बुद्ध के दो तीन प्रसंग ही जानता है। उनमें से एक यह कि बीमार व्यक्ति, वृद्धावस्था और मृत्यु को देखकर अत्यधिक वैभव में जीने वाले एक राजकुमार के मन में जीवन के प्रति वितृष्णा जागी, उसने अपनी युवावस्था में राजव्यवस्था और अपनी सुन्दर पत्नी को छोड़, दुख से छुटकारा पाने हेतु संन्यास ग्रहण किया और अंत में कठोर साधना द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति की। इन तीन घटनाओं के अलावा बुद्ध के जीवन में और बहुत कुछ ऐसा है जो मानवीय है। बुद्ध के परिवारिक जीवन का चित्रण इस 'जीवनी' की अन्यतम विशेषता है। हम में से कइयों को इस बात का पता ही नहीं कि बुद्धत्व प्राप्त हो जाने के बाद भी बुद्ध अपने पिता के प्रति कितनी गहराई से जुड़े थे। जीवन से पूर्णतः विरक्त हो जाने के बावजूद पिता के प्रति अपने कर्तव्यों को लेकर उन्होंने कहीं पर भी विरक्ति की बात नहीं की है। पिता की अस्वस्थता का पता चलने के बाद उनके दर्शनार्थ वे कैसे निकलते हैं, उनके भीतर की बेचैनी का चित्रण देवेश जी ने पूरी तटस्थता के साथ किया है। परिवार की अन्य स्त्रियों के प्रति बुद्ध के मन में असाधारण कर्तव्य बोध तथा श्रद्धा थी। इन प्रसंगों का चित्रण देवेश जी ने इतनी सहजता और कोमलता के साथ किया है कि यहाँ बुद्ध बुद्ध नहीं लगते, एक संवेदनशील पुत्र, पति और संबंधी लगते हैं। उनके जीवन के इन मानवीय आयामों को पूरी ताकत के साथ देवेश जी ने उभारा है। परिणामतः यह जीवनी किसी नीरस दार्शनिक या धर्म संस्थापक की जीवनी नहीं लगती, अपितु हमारे ही जैसे एक हाड़-मांस के व्यक्ति की जीवनी लगने लगती है। अन्य बुद्ध चरित्रों में तथा देवेश जी की 'बुद्ध-गाथा में यही मुख्य अंतर है। भारत की नई पीढ़ी में बुद्ध के प्रति फिर से जिज्ञासा का निर्माण हुआ है। हिन्दी प्रदेश के दलित बड़ी संख्या में बौद्ध-धर्म को अपनाते जा रहे हैं। ऐसे समय उनके हाथों में एक प्रामाणिक बुद्ध जीवनी की जरूरत है। डॉ. बाबा साहेब आंबेडकर लिखित 'बुद्ध और उनका धम्म' यह ग्रंथ तो इस पीढ़ी के हाथों में है ही। यह ग्रंथ तो नव बौद्धों के लिए 'धम्म ग्रंथ' ही बन चुका है। डॉ. बाबासाहेब का यह ग्रंथ बहु आयामी है और इसमें व्यक्तित्व, दर्शन, संघटना आदि अनेक बातों का समन्वय हुआ है। उस ग्रंथ को उसकी समग्रता में जान लेने के पूर्व बुद्ध संबंधी प्राथमिक जानकारी की जरूरत होती है। उसकी पूर्णता देवेश जी की 'बुद्ध-गाथा' करती है। इसलिए एक बार फिर वे बधाई के पात्र हैं।

आजादी की आधी सदी और आम आदमी की व्यथा कथा

– डॉ. अरुणा दुबलिश

आजादी प्राप्त होने तक आम आदमी आजादी के लिए संघर्षरत रहा-यद्यपि एक बड़ा वर्ग सरकारी नौकरियों तथा अन्य लाभों के लिए सरकार पर आश्रित रहा और इस कारण अंग्रेजों का वफादार भी। आजादी के पश्चात यह नौकरशाही ज्यों की त्यों बनी रही। उसकी मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अधिकांश जनता 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी' की मनोवृत्ति से भरी रही। स्वतन्त्रता के कुछ अरसे बाद ही भ्रष्टाचार का व्यापक स्तर पर प्रवेश हुआ। कुछ लोगों को कहते सुना गया कि 'इससे तो अंग्रेज सरकार ही अच्छी थी।'

आजादी की 'आधी सदी और आम आदमी' कृति (तीन भाग) देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों, उनका आम आदमी पर प्रभाव, आम जनता की मनोदशा और सार्वजनिक जीवन में मूल्यों के लगातार गिरावट को रेखांकित करती है। अनेक पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद और आम जनता के नाम पर रची गयी विकास की अनेक धाराओं के बाद भी आम जनता के हिस्से और अधिक अभाव, तनाव और निराशा ही आयी।

सरदार पटेल के स्थान पर नेहरू का प्रधानमंत्री बनना कुछ ज्यादा अच्छा नहीं रहा। नेहरू पंचशील के कबूतर उड़ाते रहे और अपनी इतनी शहादतों के बाद स्वतन्त्र की गयी भारत भूमि को चीन और पाकिस्तान को सौंपते गए। कश्मीर का जो चीरहरण हुआ वह तो अकल्पनीय ही था।

''आजादी के बाद जो नया नेतृत्व उभरा वह एक सिरे से इतना स्वार्थ केन्द्रित, अर्थ-लोलुप और भ्रष्ट निकला कि आज के दिन रही-सही आस्था और आशा भी लगातार बिखरती जा रही है। मंत्रियों पर ही नहीं, प्रधान मंत्रियों और मुख्यमंत्रियों तक पर हर रोज भ्रष्टाचार के नए-नए आरोप लग रहे हैं। घोषित अपराधी संसद और विधान सभाओं की कुर्सियों की शोभा बढ़ा रहे हैं।'', (भूमिका)

धूमिल लिखते हैं - ''मेरे देश की संसद तेल की वह घानी है, /
जिसमें आधा तेल और आधा पानी है।'' (संसद से सड़क तक)

प्रथम अध्याय का शीर्षक 'सुबह में सूर्यास्त'' ही इस ओर संकेत कर रहा है, कि आजादी की कल्पना से भरी आशाएँ पूर्ण नहीं हुईं। विषय को रोचक बनाने के लिए गाडगिल नामक पात्र के माध्यम से आम आदमी के स्वभाव, चरित्र और सहज जीवन का लेखा भी प्रस्तुत किया गया है। आजादी की अर्धरात्रि और सुबह रक्तरंजित थी। बँटवारे ने देश में खून की नदी बहा दी थी। पाकिस्तान बनने जा रहे भारत में कोई भी हिन्दू सुरक्षित नहीं था- हिन्दुओं की बहू-बेटियाँ भी।

आजादी से पूर्व का भी पर्याप्त विवरण इस कृति में मिलता है, विशेषकर गांधी जी को लेकर। हालाँकि गांधी जी के विचारों से बहुत बड़ी जनता आज सहमत नहीं है, इसका कारण उनकी पक्षपातपूर्ण नीतियाँ थीं, देश का बँटवारा था। बँटवारे के दौरान हुआ

कत्ले आम और नारियों की अस्मिता से खिलवाड़- जो किसी भी व्यक्ति को असहज, निराश और क्रोधी बना सकता है। आजादी के अर्थ को अनर्थ में बदलती है। बीच-बीच में एक आम आदमी (जो वस्तुतः आम आदमी से थोड़ा ऊपर है) की कथा चलती है, किन्तु उसका यहाँ वर्णन उचित नहीं है।

एक भ्रम जो आज तक चला आ रहा है वह है डॉ. अम्बेडकर की अध्यक्षता में संविधान का निर्माण। जबकि सच्चाई यह है कि संविधान निर्मात्री सभा के वैधानिक अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, देश के प्रथम राष्ट्रपति, उच्च शिक्षा प्राप्त, शुद्ध देशी पोषाक धारण करने वाले महामहिम थे। संविधान निर्माण के लिए 155 समितियाँ गठित की गयी थीं जिसमें से एक समिति के अध्यक्ष डॉ. भीमराव अंबेडकर थे, जिनकी महत्वपूर्ण देन थी आरक्षण जो आज हमारी सारी व्यवस्था को निगल रही है। दस वर्ष के लिए दस प्रतिशत आरक्षण बढ़ते-बढ़ते पचास प्रतिशत और अनन्त काल तक जो सारी प्रतिभा और योग्यता को लील रहा है, जिसके कारण करोड़पति भी दलित बना हुआ है, आरक्षण के लाभ लेने के लिए। यह आरक्षण प्रतिभावान के लिए कलंक बन चुका है।

'संवैधानिक आश्वासन', दूसरे चैप्टर में-जनता को किए वादों की कलई खोलता है। यह कथन, ''गाँव में बीसियों परिवार हैं जिनके पास न खेत हैं, न काम है। वे पेड़ों की छालों उनकी जड़ों से, पक्षियों को मारकर, मुर्दा पशुओं के मांस से, किसी तरह अपना भरण पोषण करते हैं। कुछ लोग गेहूँ-ज्वार की फसल कटने के बाद जानवरों का गोबर धोकर अनाज के दाने अलग करते हैं। उन्हें सुखाते हैं, पीसते हैं और उससे अपने पेट की आग बुझाते हैं।'' (प्रथम खण्ड, पृ. 32)

स्त्रियों की दुर्दशा के पीछे उनका नाकारा पति भी है। बिहार के गाँवों में आज भी पुरुष अपनी पत्नी की कमाई पर जीता है, ऊपर से उसे पीटता भी है, ज्यादातर गाँवों की सच्चाई यही थी, ''वह घर का सारा काम करती। खेतों में मजदूरी करती। राम-स्वरूप झोपड़े के बाहर बैठा बीड़ी पीता रहता। शाम को उसकी सारी कमाई छीन लेता और शराब की भट्टी पर पीने चला जाता। देर रात लौटता। उसे गालियाँ बकता, पीटता और फिर कुचल कर सो जाता।'' (पृष्ठभूमि के बहाने, प्रथम खण्ड, पृ. 45)

''भ्रमभंग से आहत प्रतिष्ठा का अवसान'' अध्याय में धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में नेहरू को पहला नेता माना जिसने धर्म के नकारात्मक स्वरूप को समझकर गांधी जी के विरासत को न केवल आगे बढ़ाया अपितु उस विरासत की कमियों का संशोधन भी किया। यहाँ लेखक द्वारा स्वयं ही भ्रम में हैं। धर्म के आधार पर देश का अधूरा बँटवारा और उस बँटवारे से उत्पन्न त्रासदियों का बहुत अधिक उत्तरदायी स्वयं गांधी और नेहरू ही थे- इसकी सच्चाई अब सामने आ चुकी है। धर्म और सम्प्रदाय के अंतर को कभी समझा नहीं गया। जब विभाजन का आधार ही धर्म और जाति थी तो पूरी तरह बँटवारा क्यों नहीं हुआ- इस अधूरे बँटवारे ने कश्मीर और केरल आदि में हिन्दू जनता की जो दुर्गति की वह किसी से छिपी नहीं है। भ्रष्टाचार का भी कोई न आदि है न अंत। भ्रष्टाचार विरोधी आन्दोलन भी कभी सफल नहीं होते, ''एक ओर अफसरान भ्रष्ट हैं, दूसरी तरफ भ्रष्टाचार का विरोध करने वाले ये स्वयंभू चैपियन भी बहती गंगा में हाथ धो लेते हैं। अपना नाम कमाते हैं और सुविधाएँ भी। सब भ्रष्टाचार के नाम पर और आम आदमी की

कीमत पर। पूरा माहौल ही बिगड़ा हुआ है।'' (प्रथम खण्ड पृ. 165)

नेहरू स्वयं इस भ्रष्टाचार के विरोधी होते हुए भी, भ्रष्टाचारियों को ऊँचे पदों पर बैठाते थे। आम आदमी से उनका कोई लगाव न था। उनके वस्त्र इंग्लैंड में सिलते थे और पेरिस में धुलते थे। यहाँ तक कि एम्स (ऑल इंडिया इंस्टीट्यूट ऑफ मैडिकल साइंस) दिल्ली की स्थापना का भी उन्होंने यह कहकर विरोध किया कि फन्ड्स उपलब्ध नहीं है और इस तरह के इंस्टीट्यूट की हमारे देश में कोई आवश्यकता नहीं। तब तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अग्रतकौर ने अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बेचकर देश के इस सबसे नामी सरकारी अस्पताल का निर्माण कराया- अन्त तक नेहरू जी इसका विरोध करते रहे। परन्तु लेखक इस खंड में नेहरू की प्रशंसा करते नहीं थकते। आज देश की अनेक बड़ी समस्याओं (जैसे कश्मीर समस्या) के मूल में नेहरू की गलत नीतियाँ ही हैं। उनके लिए ये पंक्तियाँ उचित हैं-लम्हों ने खता की थी सदियों ने सजा पायी। नेहरू के व्यक्तित्व को महिमामंडित किया गया है, वास्तविकता में उनका सामान्य जन से कुछ लेना-देना नहीं था। वे दोगले चरित्र के व्यक्ति थे। पाकिस्तान से आए शरणार्थियों को (जैसा कि शरणार्थी चाहते थे) कश्मीर नहीं जाने दिया, जब उनसे कहा गया कि मुस्लिम जिस सम्पत्ति को छोड़कर पाकिस्तान गए हैं, वह सम्पत्ति इन शरणार्थियों में वितरित कर दी जाए-तो इसे भी मना कर दिया गया। शरणार्थी किस तरह बरसों टैन्ट लगाकर खुले में रहे, वह स्थिति दर्दनाक थी। वे आत्म प्रशंसक थे। अपनी आलोचना बर्दाश्त नहीं थी। मजरूह सुल्तानपुरी जैसे मशहूर कवि/शायर ने जब अपनी एक नज्म में उन्हें 'हिटलर का चेला कहा तो दो वर्ष के लिए उन्हें जेल में डाल दिया। प्रेस के लिए प्री-सेन्सरशिप लाए- ताकि कोई उनकी कमियाँ न छाप सके। और भी बहुत कुछ-पर यहाँ इतना ही।

इंगलिश उद्धरणों का बहुत प्रयोग किया गया है, जो बहुत खटकते हैं। उनका हिन्दी अनुवाद रखा जा सकता था। यों शैली और कहने का ढंग बहुत रोचक है। इस प्रथम खंड का अंत नेहरू की मृत्यु के साथ ही होता है-''बड़े शौक से सुन रहा था जमाना। तुम्ही सो गये दास्तां कहते-कहते।'' (कविवर गोपाल दास नीरज)

द्वितीय खंड में शास्त्री जी व उनके पश्चात इंदिरा गांधी के प्रधान मंत्रित्व पद की प्रमुख घटनाओं की वस्तुपरक प्रस्तुति की गयी है। साथ ही आम आदमी के जीवन की यथार्थ प्रस्तुति भी है। ''सारी सरकारी घोषणाओं, योजनाओं और कार्यक्रमों के बावजूद इस दौरान भी आम आदमी की जिन्दगी में कोई गुणात्मक परिवर्तन लक्षित नहीं होता। उलटे इस दौरान हुयी प्रगति के अनुपात में वह और भी अधिक अभावग्रस्त, कुंठित और विवश ही हुआ दिखता है। सत्ता पक्ष में ही नहीं, सम्पूर्ण राजनीतिक माहौल और सरकारी-गैर सरकारी कार्यालयों के गलियारों में फैलता हुआ भ्रष्टाचार, जन-जीवन के बीच, बिचौलियों, असामाजिक तत्वों और सरकारी तंत्र की लूट-खसौट और स्वार्थपरकता तथा पुलिस, प्रशासन और राजनेताओं की परस्पर साठ-गाँठ ने आम आदमी को और अधिक अकेला, असुरक्षित और उपेक्षित बनाकर रख दिया है।'' (लेखक द्वय, भूमिका, द्वितीय खंड)

इस दूसरे खंड के प्रारम्भ में भी लेखक द्वय का नेहरू अनुराग बना हुआ है, जबकि संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद् में भारत के स्थान पर चीन का चयन करवा कर जो भयंकर

त्रुटि नेहरू ने की उसका खमियाजा भारत ही नहीं पूरा विश्व भर रहा है। यह खण्ड लालबहादुर शास्त्री और इंदिरा गांधी के कार्यकाल पर आधारित है। लालबहादुर शास्त्री जी का प्रधानमंत्री के पद पर चुना जाना देश के सामान्य वर्ग को समर्थन देना ही था। शास्त्री जी स्वयं एक निर्धन किन्तु सत्यनिष्ठ परिवार से थे। वे जन-जीवन की समस्याओं से अच्छी तरह परिचित थे। नेहरू की तरह वे फूलों के गद्दों पर नहीं सोये। कठोर, कर्मठ जमीन ही आजीवन उनका बिछौना रही। शास्त्री जी हर दृष्टि से नेहरू से विपरीत थे। व्यक्तित्व, विचार, दृष्टिकोण, जीवन दर्शन, परिपक्वता देश व समाज के सामान्य वर्ग की कठिनाइयों को समझने की शक्ति ये सभी गुण उन्हें नेहरू से अलग करते थे। इसलिए उनके 18 महीने के शासन काल में वह सब हुआ जो नेहरू अपने अट्ठारह वर्ष के शासन में नहीं कर सके। 'जय जवान जय किसान' का नारा, पाकिस्तान पर भारत की विजय, गेहूँ की कमी होने पर अमेरिका के आगे हाथ फैलाने के स्थान पर सोमवार को संध्या काल के भोजन का त्याग, विवाह समारोह आदि में गेहूँ का प्रयोग न करना- ऐसी उनकी अपील ने जनता पर जादू जैसा प्रभाव डाला। जनता मानो उनकी गुलाम हो गयी। साधारण व्यक्तित्व के असाधारण व्यक्ति ने पूरे देश को झकझोर डाला।

''शास्त्री जी ने अपने सभी कार्यक्रमों, निर्णयों और व्यवहार में आम आदमी को केन्द्र में रखा। वे सच्चे अर्थों में आम आदमी के प्रवक्ता थे। उसके लिए उनके मन में बड़ी संवेदना थी। प्रधानमंत्री होने के बावजूद वे खुद भी आम आदमी की तरह ही जिए। शास्त्री जी शायद दुनिया के पहले प्रधानमंत्री थे, जो मरते वक्त अपने पीछे कर्ज छोड़ गए।'' (द्वितीय खण्ड, पृ. 60) शास्त्री जी के जीवन की और भी अनेक महत्वपूर्ण घटनाएँ इस खण्ड में दी जा सकती थीं, जो सामान्य जन के लिए बहुत प्रेरणादायक हैं। पर ऐसा नहीं किया गया। साथ ही उनकी मृत्यु को हृदयाघात कहकर एक झूठ की ही प्रतिष्ठा की गयी है। अस्तु।

इंदिरा गांधी देश की प्रथम महिला प्रधानमंत्री बनीं। नेहरू के साथ लगातार रहते हुए उन्होंने देश की राजनीति को अच्छी तरह समझ लिया था। उनके निर्णय बहुत कठोर होते थे। उदाहरण के लिए उन्होंने रुपए का अवमूल्यन किया जिसके परिणाम स्वरूप ''महँगाई आसमान छूने लगी। काला बाजारी, मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार और बढ़ गए। आम आदमी, जो पहले से ही, अभावों के बीच जी रहा था, अब और अधिक अभावग्रस्त हो गया। उस पर, बढ़ती हुई जनसंख्या ने इस विकट स्थिति को और भी विकट बना दिया। निर्माण और विकास के कार्य रुक गये। बेकारी तेजी से बढ़ने लगी। सामाजिक उत्थान के कार्य बुरी तरह प्रभावित होने लगे। यहाँ तक कि बच्चों को शिक्षा की सुविधा तक नहीं मिल पायी। रोगियों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था आवश्यकता को देखते हुए नहीं के बराबर थी।'' (द्वितीय खण्ड, पृ. 78)

25 जून 1975 की अर्धरात्रि को अचानक इमर्जेंसी लागू करना। इस घोषणा के तुरन्त बाद सम्पूर्ण क्रांति के प्रस्तोता लोकनायक जयप्रकाश नारायण और मोरारजी देसाई को कारागार में डाल दिया गया। चन्द्रशेखर (युवा तुर्क के रूप में विख्यात) भी बंदी बना लिए गए। समाचार पत्रों के कार्यालयों की बिजली काट दी गयी ताकि समाचार पत्र न निकल सकें और जनता को सच्चाई का पता न चल सके। संजय गांधी ने 'अंडरवर्ल्ड'

की सहायता से लोगों को डराने धमकाने का काम शुरू किया। पुलिस, न्यायालय सभी को अपने नियन्त्रण में ले लिया गया। विपक्ष के सभी नेताओं को जेल में डालकर उन पर असहनीय अत्याचार किये गए। ऐसी क्रूरता अंग्रेजों के समय में भी नहीं हुई थी। पूरा देश भय के साये में जी रहा था।

इस इमरजेंसी में संजय गांधी ने अपनी दादागीरी अच्छी तरह से चमकाई। चापलूसों ने उसे भविष्य की एक मात्रा आशा बताया। अमृत नाहटा की फिल्म 'किस्सा कुर्सी का' प्रदर्शन से पूर्व ही नष्ट कर दी गयी। पूरे देश में जैसे तांडव सा मच गया था। इंदिरा गांधी और उसके कृत्यों के खिलाफ कोई एक शब्द भी नहीं बोल सकता था। सारा वातावरण डरा-सहमा सा था। इस इमरजैंसी के कारण इंदिरा गांधी 1977 का चुनाव बुरी तरह हार गयीं। यहाँ तक कि राजनारायण से वह स्वयं भी हार गयीं और संजय गांधी अमेठी से चुनाव हार गए। आम जनता ने निडर होकर आपात्काल का बदला ले लिया।

''आम आदमी को जनता सरकार से बड़ी उम्मीदें थीं। लेकिन जैसे-जैसे समय बीतता गया, उसकी उम्मीदों पर पानी फिरने लगा। सत्ता संभालने के तुरन्त बाद से ही जनता-नेताओं में तू-तू मैं-मैं शुरू हो गयी आम आदमी को दिए गए वायदे भुला दिये गए।'' (तीसरा खण्ड, पृ. 06)

इंदिरा गांधी ने हार नहीं मानी उत्तर भारत से हारने के बाद उन्होंने दक्षिण का रूख किया और चिकमगलूर की सीट खाली करवा कर उस सीट से चुनाव जीत कर पुनः संसद में आ गयीं। उन्हें व संजय गांधी को आपात्काल में किए गए अपने कृत्यों पर बिल्कुल भी पछतावा नहीं था। उन्होंने अपने ऊपर लगाये गए आरोपों पर अदालत में सफाई देने से भी इंकार किया और अदालत का भरपूर अपमान किया। बाद में शाह जस्टिस और उनके परिवार की कार ट्रक एक्सीडेंट में हत्या ही करवा दी। लेखक द्वय का रूझान नेहरू इंदिरा और कांग्रेस की ओर कुछ ज्यादा ही है। अंग्रेजी समाचार पत्रों और इंग्रेजी पुस्तकों का पूर्ण आधार लेने के कारण लेखक द्वय स्वयं आम आदमी की असलियत न समझ सके। हिन्दी व प्रादेशिक भाषाओं के समाचार पत्रों और हिन्दी-पुस्तकों में तत्कालीन राजनीति को लेकर जो कुछ छपा उसका तत्कालीन राजनीति को लेकर जो कुछ छपा उसका सीधा सरोकार आम आदमी से था। इस खंड में भी इंगलिश उद्धरणों की भरमार है, जिन्हें हिन्दी में प्रस्तुत किया जा सकता था; आम आदमी का 90 प्रतिशत हिन्दी समझता है इंगलिश नहीं।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि जनता सरकार शासन चलाने में सर्वथा असमर्थ रही। आपात्काल के हटते ही गुडे-मवालियों अपराधियों, भ्रष्टाचारियों की बन आयी। देश के सबसे कमजोर प्रधानमंत्री वी.पी. सिंह, चरण सिंह, मोरार जी देसाई, इन्द्रकमार गुजराल व मनमोहन सिंह रहे।

इंदिरा गांधी अपने शासन को स्थायी बनाने के लिए स्वयं ही समस्याएँ खड़ड़ी करती थीं अथवा समस्या का प्रारम्भ में ही समाधान नहीं करती थीं उसे बढ़ने देती थीं। पंजाब का आतंकवाद भी ऐसी ही समस्या थी, जिसे 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' द्वारा समाप्त करने का प्रयास किया गया। ''ऑपरेशन ब्लू स्टार'' तो सफल हो गया लेकिन इन्दिरा गांधी को इसकी कीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़ी।'' (खंड 3, पृ. 78) इसके पश्चात्

राजीव गांधी का प्रधानमंत्री बनना, फिर उनकी भी हत्या, जनता सरकार का शासन, नरसिंह राव का प्रधानमंत्री पद पर आना, घोटालों के विस्फोट, एक वोट से भाजपा सरकार (अटल बिहारी वाजपेयी का प्रथम कार्यकाल) का गिरना, संयुक्त मोर्चा सरकार का पतन आदि घटनाक्रमों का सटीक विवरण दिया गया है। सामान्य जन की दुर्दशा, स्वप्न भंग, भ्रष्टाचार का जन-जन की आत्मा तक पहुंच जाना आदि का विशद वर्णन है। किन्तु अन्त में लेखकों की आशावादी दृष्टि भी है कि जन-सामान्य की समस्याएं एक दिन अवश्य सुलझेंगी ''हम होंगे कामयाब एक दिन।''

371/6 प्रगति नगर
मेरठ-250001

आम आदमी के इतिहास का रचनात्मक दस्तावेज

- डॉ. सतीश पांडेय

आजादी की आधी सदी के अवसर पर अनेक उत्सवधर्मी सरकारी समारोह संपन्न हुए किंतु सार्थक प्रयासों को सरकारी तंत्र का कोपभाजन बनना पड़ा। कारण, इन प्रयासों की स्पष्टता, बेलौसपन एवं सोद्देश्यता जो व्यवस्था कभी भी सहन नहीं कर पाती। ऐसा ही प्रयास रहा है बहुचर्चित कथाकार देवेश ठाकुर एवं यती जिंदल का जो अब तीन खंडों में 'आजादी की आधी सदी और आम आदमी' के रूप में प्रकाशित हुआ है।

यह बिल्कुल अलग किस्म की पुस्तक है जो न तो इतिहास है, न उपन्यास, न कहानी, न संस्मरण और न ही आत्मकथा फिर भी अपने सुरुचिपूर्ण संयोजन में विभिन्न अनुशासनों एवं साहित्य-विधाओं के ओवर लैपिंग का विशिष्ट रचनात्मक अनुभव है। आजादी के बाद की राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों के परिपेक्ष्य में आम आदमी की नियति को रेखांकित करने का प्रयास ही प्रस्तुत कृति का उद्देश्य है। इस ओर संकेत करते हुए देवेश ठाकुर ने स्वयं लिखा है कि 'नेतृत्व ने उसे (आम आदमी) बार-बार मोहक नारों की अस्वस्ति दी, उनके नाम पर उसके उत्थान के लिए पंचवर्षीय योजनाओं में अनगिनत कार्यक्रमों के कार्यान्वयन की बात कही गई। सब कुछ उसके नाम पर किया गया लेकिन यथार्थ में उसके हिस्से क्या आया? इतनी संवैधानिक धाराओं, इतने कार्यक्रमों की घोषणा और इतनी आश्वस्तियों के बावजूद व्यवहार में उसके हिस्से अधिक अभाव, अधिक तनाव और अधिक निराशा ही हाथ आई है।'

तीन खंडों में विभाजित इस कृति में आजादी के बाद के राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक बदलावों एवं ऐतिहासिक तथ्यों के अनूठे संयोजन के साथ-साथ एक समर्थ कथाकार की कल्पना से अप्पाजी दुर्गा प्रसाद एवं उनके परिवार की कथा विविध संदर्भों से जुड़कर आम आदमी की जिंदगी के खट्टे-मीठे यथार्थ प्रस्तुत करती है। इतिहास के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर दुर्गा प्रसाद ने जीवन भर पुस्तकों विद्यार्थियों के बीच रहकर जो नहीं जाना, उससे अधिक 6 महीने पूरे देश के गाँवों, शहरों और कस्बों में भटकते हुए वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं अपने इन्हीं अनुभवों पर आधारित एक पुस्तक लिखने का प्रयत्न भी वे करते हैं। इसी कारण समीक्ष्यकृति एक आत्मकथात्मक प्रतीति देती है।

इसके प्रथम खंड में देश के विभाजन के पूर्व महात्मा गांधी के द्वंद्व एवं विभाजन के बाद नेहरू के शासनकाल तक की राजनीतिक स्थितियों का विवेचन किया गया है। इस संदर्भ में लेखक ने कुछ महत्वपूर्ण टिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। मसलन, 'भारत की सेवा का मतलब है गरीबी जहालत और अज्ञान को मिटाना और सबको अपनी उन्नति के लिए बराबर मौका देना' या 'जिस समय गांधी पूर्वी बंगाल के गाँव में मानव-मानव के बीच शांति और सौहार्द स्थापित करने के उद्देश्य से भटक रहे थे, दिल्ली में कांग्रेस पार्टी, मुस्लिम लीग और वायसराय भारत के विभाजन की तैयारी में लगे थे' अथवा - 'विभाजन को लेकर जवाहर की सहमति में लेडी माउंटबेटन का योग भी कम नहीं था।

संवैधानिक आश्वासनों के रूप में आम आदमी के जीवन स्तर को बेहतर बनाने की नेहरू की स्वप्नाकांक्षा रही है लेकिन दुर्गा प्रसाद की नौकरानी पार्वती की झोपड़ी टूटने

तथा राष्ट्रीय ध्वज की थैलियों में सब्जी लाने के माध्यम से लेखक ने आम आदमी की दुर्दशा एवं मूल्यहीनता का स्पष्ट संकेत दिया है। रजवाड़ों की विलय, शरणार्थी समस्या, पंचवर्षीय योजनाएँ, भूदान, चुनाव, चीन के साथ युद्ध, नेहरू की विदेश नीति आदि के वर्णन के साथ-साथ लेखक ने मुंदड़ा कांड और जीप कांड जैसे भ्रष्टाचार के मामलों का पदार्फाश भी किया है। इन घटनाओं के साथ-साथ दुर्गा प्रसाद की पौत्री गरिमा की ससुराल में प्रताड़ना, सूजा अब्राहम पर हुए अत्याचार, नौकरानी पार्वती के पति की दवा के अभाव एवं भूख से हुई मृत्यु जैसी अनेक घटनाओं की कथात्मक प्रस्तुति न सिर्फ इसे पठनीया बनाती है बल्कि भारतीय परिवेश में आम आदमी के जीवन को उद्घाटित करने वाली ये छोटी-छोटी कहानियाँ अपनी प्रासंगिकता के कारण कृति का अभिन्न अंग भी बन जाती हैं।

दूसरे खंड में लाल बहादुर शास्त्री से लेकर आपातकाल तक की राजनीतिक, सामाजिक, उपलब्धियों, स्थितियों, घटनाओं, विसंगतियों एवं न्यूनताओं का जायजा लिया गया है। बीच-बीच में आम आदमी की वस्तु स्थिति रेखांकित करने वाली घटनाओं से लेखक ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि इस दौरान प्रगति के अनुपात में आम आदमी और अधिक अभावग्रस्त, कुंठित और विवश हुआ है।

नेहरू के बाद शास्त्री एवं इंदिरा गांधी के सत्ता सँभालने की पृष्ठभूमि में होने वाली राजनीतिक उठा-पटक से जाहिर होता है कि आजादी के लिए बलिदान देने वालों का आदर्श इस समय तक समाप्त होता जा रहा था। राजनीतिक मूल्यहीनता की शुरूआत यहीं से हुई, जब राजनेता, प्रशासन व असामाजिक तत्वों की साँठ-गाँठ शुरू हो गई थी। इंदिरा गांधी की राजनैतिक सफलताओं ने उनमें अति उत्साह और अति सहासिकता भर दी, जिसके परिणाम स्वरूप आपातकाल की घोषणा करके भी वे सत्ता पर बनी रहना चाहती थीं, उनकी सफलताओं के कारण ही अनेक अवसरवादियों ने 'इंदिरा इज इंडिया' घोषित किया या 'राग दुर्गा' अलापने लगे लेकिन उन्हीं के शासनकाल में अफसरशाह और राजनेता अपने-अपने स्वार्थों के लिए एक दूसरे का उपयोग करने लगे। नागरवाला कांड, मारुति प्रकरण, मीसा का दुरुपयोग, नसबंदी की क्रूरता, स्मगलरों को संरक्षण आदि अनेक संदर्भों का उल्लेख करते हुए लेखक द्वय ने इंदिरा गांधी के शासनकाल की कलई खोली है। इनके प्रामाणिक संकेत देते हुए इन्होंने कुछ दिलचस्प रहस्योद्घाटन भी किए हैं। जैसे 'सरकार के चहेते एक यात्री के लिए गाड़ी न रुकवाने पर रेलवे के जनरल मैनेजर को डिसमिस कर दिया गया या 'एक मुख्यमंत्री को स्वतंत्रता सेनानियों के मॉनुमेंट पर फूल चढ़ाने के जुर्म में गिरफ्तार कर लिया गया। किस्सागोई अंदाज में कह गए ये समूचे प्रसंग अधिक ग्राह्य बन पड़े हैं।

तीसरे खंड में जनता पार्टी के शासनकाल से लेकर गुजराल सरकार के पतन तक के राजनीतिक घटनाक्रम को प्रस्तुत किया गया है। 'सत्ता संघर्ष और मोहभंग' प्रकरण जनता पार्टी के शासन की पड़ताल है। इसमें लेखक ने सार्थक टिप्पणी की है कि इनका अधिकांश समय इंदिरा गांधी एवं उनके परिवार को परेशान करने में बीता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि इंदिरा गांधी पर चार मुर्गी और दो अंडे चुराने तक का आरोप लगाया गया। इसमें सबसे आगे थे चरण सिंह जो बाद में सत्तारूढ़ होने के लिए कांग्रेस का ही

दामन थामे और जनता पार्टी के पतन का कारण बन गए।

इंदिरा गांधी की सत्ता में वापसी, किसान आंदोलन, कश्मीर एवं पंजाब का आतंकवाद तथा और असामाजिक तत्वों के उत्पात को रचनात्मक धरातल पर विशेष रूप से उभारा गया है। इंदिरा की हत्या एवं 'नए नेता के अभिषेक' के साथ-साथ राज्यों की कार्य-शैली, कश्मीर पंजाब आदि समस्याओं का विस्तृत विवेचन हुआ है। गाड़गिल, किरीट, संगीता और सूत्रधार जैसे चरित्रों के माध्यम से इन समस्याओं, घटनाओं एवं विडंबनाओं का रचनात्मक स्वरूप प्रस्तुत हुआ है। 'फिसलते पगों की यात्रा' में राजीव काल की भ्रष्टाचार एवं वी. पी. सिंह के साथ उनके मतभेदों का वर्णन हुआ है। नसीरन के माध्यम से शाहबानो केस की प्रासंगिकता प्रस्तुत हुई है।

वीपी सिंह के शासनकाल में मंडल आयोग, आरक्षण, मंदिर-मस्जिद विवाद जैसे अहम मुद्दों को उभरा गया है। चंद्रशेखर के प्रधानमंत्री बनने के बाद की राजनीतिक उठा पटक और राजीव गांधी की कीमत पर प्रधानमंत्री बने नरसिंह राव, बाबरी मस्जिद का ढहना, सांप्रदायिक दंगे, मुसलमानों में बढ़ती असुरक्षा आदि के साथ-साथ घोटाले की बाढ़ का जिक्र समूचे राजनीतिक परिपेक्ष्य में किया गया है। जलगांव सेक्स कांड और फूलन देवी प्रकरण द्वारा महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों जैसी सामाजिक समस्या अल्पजीवी भाजपा सरकार एवं बाद में देवेगौड़ा और गुजराल सरकार के पतन और नए चुनाव की घोषणा तक की समूची उठा- पटक का तफसील से ब्यौरा भी प्रस्तुत किया गया है। इस दौरान जातिवाद, मूल्यों का स्खलन, महंगाई, राजनीतिक अवसरवादिता, सत्ता की होड़ के घिनौने खेल, भ्रष्टाचार की महागाथा आदि सभी कुछ के दर्शन होते हैं। इन सबके बीच आम आदमी की बेचारगी, उसकी बढ़ती मुसीबतें, स्वप्न भंग और उसके अस्तित्व पर लगने वाले प्रश्न चिह्नों का बेबाक विवेचन अनेक प्रासंगिक संदर्भों द्वारा किया गया है। फिर भी लेखकद्वय युवा पीढ़ी के प्रति अश्वस्त हैं। इसका रचनात्मक संकेत दुर्गा प्रसाद की प्रपौत्री पल्लवी के माध्यम से दिया गया है, जब वह कहती है कि उसे 'हम होंगे कामयाब एक दिन ' गीत याद हो गया है।

आजादी के बाद की समूची राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक घटनाओं के बीच दुर्गा प्रसाद एवं उनके आसपास की कथा इस कृति को उपन्यास के करीब खींच लाती है, जबकि इतिहास ग्रंथों एवं अन्य स्रोतों के संदर्भ न सिर्फ उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं बल्कि इसे समसामयिक घटनाओं का जीवंत दस्तावेज बना देते हैं। यदि वे संदर्भ अंग्रेजी के बदले हिंदी में होते तो अधिक आश्वस्ति होती। समीक्ष्यकृति की सबसे बड़ी शक्ति है इसकी पठनीयता कोई सनसनी सस्पेंस न होने पर भी कथात्मक 'टच' होने के कारण यह पुस्तक आजादी के बाद की प्रत्येक घटना को पाठक से बतियाती चलती है। एक संवेदनशील प्रबुद्ध पाठक की अपेक्षाओं के अनुकूल यह खरी उतरती है।

हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में डॉ. देवेश ठाकुर का योगदान

– डॉ. प्रशांत देशपांडे

समकालीन हिन्दी कथा साहित्य के क्षेत्र में डॉ. देवेश ठाकुर ने अपनी महत्वपूर्ण उपस्थिति दर्ज करायी है। सृजनात्मक लेखन के साथ-साथ शोध और समीक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 'प्रसाद' के नारी-चरित्र, हिन्दी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ, हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन, नयी कविता के सात अध्याय, साहित्य की सामाजिक भूमिका, हिन्दी कहानी का विकास, साहित्य के मूल्य आदि उनके समीक्षात्मक ग्रंथ शोधार्थी एवं अध्ययनकर्ताओं को साहित्य का मूल्यांकन करने की नयी दृष्टि प्रदान करते हैं। उनके समीक्षात्मक ग्रंथों में उनका गहन अध्ययन, मौलिक चिंतन एवं विश्लेषणात्मक क्षमता का परिचय मिलता है। सन् 1975 में प्रकाशित डॉ देवेश ठाकुर का समीक्षात्मक ग्रंथ 'हिन्दी कहानी का विकास' कुल आठ अध्यायों में विभाजित है, जिसमें हिन्दी कहानी का समग्रता के साथ मूल्यांकन किया गया है। साथ ही युगीन संदर्भों में हिन्दी कहानी की विकास प्रक्रिया पर भी प्रकाश डाला गया है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में गद्य लेखन की परंपरा आधुनिक काल में दिखाई देती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि पहले अंग्रेजी साहित्यिक कृतियों के हिन्दी अनुवाद हुए और बाद में हिन्दी में मौलिक गद्य लेखन प्रारंभ हुआ। अंग्रेजी साहित्य की विभिन्न विाओं में हिन्दी में मौलिक लेखन हुआ। ऐसा होते हुए भी कहानी के बीज भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर होते हैं। डॉ. देवेश ठाकुर ने 'कहानी की कहानी : प्रारंभिक स्वरूप और उद्देश्य' में कहानी सृजन की प्रारंभिक प्रक्रिया पर प्रकाश डाला है। उन्होंने मनुष्य जन्म से ही कहानी का प्रारंभ माना है। वे कहानी के विकास को मनुष्य के सामाजिक विकास के साथ जोड़ते हैं। उन्होंने घटना, जिज्ञासा और मनोरंजन कथा के इन तीन मूल बिंदुओं पर प्रकाश डाला है। मौखिक रूप से कहानी सृजन की प्रारंभिक अवस्था के संदर्भ में डॉ देवेश ठाकुर ने लिखा है कि 'व्यक्ति में जितना दूसरों को अपने अनुभव सुनाने का चाव होता है, उससे अधिक दूसरे के विषय में सुनने की जिज्ञासा होती है। इसी चाव और जिज्ञासा द्वारा कहानी का प्रारंभिक स्वरूप उभरा। संक्षेप में यह कि प्रारंभिक कहानियों में घटना, कथा का मूल बिन्दु होती थी और इसके साथ संपृक्त होकर चलती हुई होती थी जिज्ञासा। कुछ कथाओं में दुर्घटना के स्थान पर मनोरंजन की सामग्री होती थी।'[1]

डॉ देवेश ठाकुर कहानी की उद्देश्यगत विकास-यात्रा का अवलोकन करते हुए कहानी का उद्देश्य सामाजिक उपादेयता मानते हैं। उनकी मान्यता है कि धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक परिवेश के प्रभावस्वरूप मानव जीवन में परिवर्तन हुए हैं जिसके परिणामस्वरूप कहानी का स्वरूप बदलता चला गया है और कहानी के शिल्प और उद्देश्य में भी परिवर्तन दिखाई देता है। कहानी के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए देवेश जी ने लिखा है कि 'आधुनिक काल में कहानी वह विधा बन चुकी है जो समाज में व्याप्त असंगतियों-असमानताओं, पाखंडों, आडंबरों, समस्याओं-विद्रूपताओं और असंस्कृत प्रवृत्तियों-व्यवहारों को तो विवस्त्र करती ही है साथ ही स्वयं जीवन की नवीन

संभावनाओं और उद्देश्यों से भी अनुप्राणित होती है। आज कहानी व्यक्ति के वास्तविक जीवन की प्रतिछाया ही नहीं, उसकी संस्कारयत्री भी बन गयी है। उसके द्वारा स्वस्थ मानव-मूल्यों की स्थापना होती है और मानव व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों का, उसकी आशा-आकाक्षाओं तथा उपलब्धियों का प्रस्तुतीकरण और प्रतिष्ठापन होता है।'[2]

डॉ देवेश ठाकुर ने पश्चिमी विश्व की कहानी सृष्टि का तथा उसकी विकास प्रक्रिया का विवेचन किया है, जिसमें पश्चिम में सृजित कहानी की सामान्य प्रवृत्तियाँ, संस्कार तथा उद्देश्य का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि विदशों में भी उन्नीसवीं शताब्दी से पहले ही कहानी लेखन प्राप्त होता है। इसलिए कहानी लेखकों के सामने कहानी की एक सुदीर्घ परंपरा थी। उन्होंने वैश्विक स्तर पर कहानी सृजन पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'विश्व फलक पर कहानी की इस परंपरा का आरंभिक छोर हमें प्राचीन मिस्र की 'जादूगरों की कहानियाँ' में प्राप्त होता है, जिसका समय लगभग ई. पू. 4000 है। इसी रुचि, प्रकार और प्रवृत्ति के कथा संकलन अरबी, यूनानी, हिब्रू तथा भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी प्रभूत मात्रा में भरे पड़े हैं। पश्चिम की ईसप और भारत की पंचतंत्र की कहानियों ने तो पूरे विश्व को अपनी ओर आकर्षित किया है।'[3] देवेश जी ने स्पष्ट किया है कि इतिहास में कहानी लेखन या कहानी के बीज मिलते हैं लेकिन कहानी लेखन को उन्नीसवीं शती में ही गंभीरता से लिया गया है जिस पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि 'इस संदर्भ में इस तथ्य पर ध्यान जाना अत्यंत रोचक है कि जर्मनी, अमरीका, रूस और फ्रांस में लगभग एक ही समय में कहानी लेखन का उदय और विकास हुआ।'[4] उन्होंने इन सभी देशों में कहानी के विषय तथा कहानीकारों पर संक्षेप में प्रकाश डालते हुए स्पष्ट किया है कि पश्चिमी कहानी बीसवीं शती के मध्य में ही अपनी उत्कृष्टता को प्राप्त हो चुकी थी और उस पर परिवेश और समय का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। विदेशी कहानी पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने भारतीय कहानी परंपरा का विश्लेषण भी किया है। उनका मानना है कि भारत में कहानी शब्द आधुनिक युग में प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल से यहाँ कथा शब्द का प्रचलन था। उन्होंने विभिन्न संदर्भ देकर भारतीय कहानी का उद्गम स्थल वेदों, उपनिषदों, पुराणों को माना है। इनमें प्राप्त कथा सूत्र या कहानी को वे आधुनिक कहानी की प्रेरणा मानते हैं। इन कहानियों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'इन कथाओं की 'वस्तु' पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इनके द्वारा धर्म, आचरण, नैतिकता, अध्यात्म भाव तथा कर्तव्य की शिक्षा देने का प्रयास ही रचनाकारों का लक्ष्य रहा है। साथ ही, प्रस्तुतीकरण (शैली) के संदर्भ में व्यंजना से लेकर वर्णनात्मकता तक का सहारा लिया गया है।'[5]

देवेश जी ने भारतीय कथाओं की स्वतंत्र और विशिष्ट परंपरा नीति कथाओं पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि 'नीति कथाओं का उद्देश्य राजनीति, धर्म तथा नीति का उपदेश देना रहा है। नीति कथाओं के माध्यम से कहानी में उदात्त उद्देश्य का समावेश होता है। इन कथाओं के विषय सामान्य जीवन से लिए गये हैं। जीवन की चर्चाओं का प्रतिपादन इनका मुख्य विषय रहा है।'[6] विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से वे नीतिपरक कहानी की परंपरा को संस्कृत, बौद्ध साहित्य से मानते हैं और अंत में भारतीय कहानी में प्रेम कथाओं के सूत्रपात का महत्वपूर्ण कारण मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव को स्वीकार

करते हैं। उन्होंने लिखा है कि 'अब नैतिकता के स्थान पर प्रणय-कथाओं का आविर्भाव होना भारतीय कहानी का एक विशिष्ट मोड़ है। मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव से यहाँ लैला मजनूँ, शीरी फरहाद, युसुफ-जुलेखा आदि प्रणय कथाओं का आगमन हुआ। उधर इसी समय लोककथाओं के आधार पर सूफी कवियों के प्रेमाख्यानों में भी कथा का स्पष्ट स्वरूप परिलक्षित होता है।'[7] उन्होंने अकबर-बीरबल की विनोदपूर्ण कहानियों का तथा रीतिकाल की राधा-कृष्ण की कहानियों का उल्लेख कर स्पष्ट किया है कि कहानी की यह परंपरा आधुनिक काल तक निर्बाध रूप से चलती रही है।

डॉ. देवेश ठाकुर ने 'स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी' अध्याय में हिन्दी कहानी का काल विभाजन, युगीन परिवेश, कहानी के विकास के विभिन्न चरण, कहानियों का वर्गीकरण आदि शीर्षकों के माध्यम से स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी पर बहुत विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है जिसके माध्यम से हिन्दी कहानी के अध्येता स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी की विशेषताओं से परिचित होते ही है साथ ही देवेश जी की इतिहास दृष्टि का भी परिचय मिलता है। कहानी अपने समय के प्रति संवेदनशील होती है। कहानीकार पर युगीन परिवेश का प्रभाव होता ही है। साहित्य- सृजन में परिवेश एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अतः किसी भी युग के साहित्य के अध्ययन में परिवेश का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है। इस दृष्टि को सामने रखकर देवेश जी ने स्वतंत्रता पूर्व हिन्दी कहानी के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश का विवेचन किया है। स्वतंत्रता पूर्व की राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ी विभिन्न राजनीतिक घटनाएँ, वैश्विक स्तर घटित राजनीतिक घटनाओं का भारत पर हुआ प्रभाव, काँग्रेस तथा विभिन्न क्रांतिकारी संगठनों की राजनीतिक गतिविधियाँ, भारतीय राजनीति में मार्क्सवाद का प्रभाव, भारत की सामाजिक समस्याएं तथा विभिन्न समाजसुधार आंदोलन, अंग्रेजी सत्ता द्वारा भारत का किया जा रहा आर्थिक शोषण, भारतीय उद्योगों का ह्रास, भारत में शुरू हुआ ईसाई धर्म का प्रचार, हिन्दू धर्म चिकित्सा, हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए हो रहे प्रयास, भारतीय संस्कृति तथा शिक्षा का पश्चिमीकरण आदि विभिन्न मुद्दों पर इन्होंने प्रकाश डाला है। साथ ही हिन्दी कहानी के विकास को प्रेमचंद-पूर्व युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग में विभाजित करके समय-समय पर हिन्दी कहानी में विषय और शिल्प को लेकर हुए बदलावों का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने यथार्थवादी, भावात्मक एवं सौन्दर्य प्रधान, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक, मनोविश्लेषणवादी, समाजवादी आदि विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार हिन्दी कहानी को वर्गीकृत करते हुए अपनी मान्यता रखी है कि 'भले ही हमारे कहानीकारों ने विदेशी प्रभाव को ग्रहण किया हो, लेकिन अपनी सांस्कृतिक विरासत की भी उन्होंने रक्षा की है।'[8] डॉ. देवेश ठाकुर ने जयशंकर प्रसाद, मुंशी प्रेमचंद, जैनेन्द्र, अज्ञेय, यशपाल जैसे स्वतंत्रतता पूर्व हिन्दी कहानी के प्रमुख कहानीकारों का संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत किया है जिससे अध्येता इन कहानिकारों की कहानियों के मुख्य विषय एवं अभिव्यक्ति से परिचित हो जाते हैं। स्वतंत्रतता पूर्व हिन्दी कहानी का समन्वित विश्लेषण करते हुए उन्होंने निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि 'स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व की हिन्दी कहानी की प्रगति, प्रकृति और विकास क्रम का अनुशीलन कर मन आश्वासन और विश्वास से भर उठता है। अन्य विधाओं की अपेक्षा हिन्दी कहानी निश्चय ही समाज

और जीवन के साथ अधिक निकटता से संबद्ध रही है और साहित्यिक उद्देश्यता का उसने अधिक उत्तरदायित्व के साथ निर्वाह किया है। साथ ही अगली पीढ़ी के लिए सही रचनाार्मिता की एक निश्चित दिशा भी प्रशस्त की है।'[9]

इसमें कोई दो राय नहीं कि हिन्दी कहानी लेखन के क्षेत्र में स्वातंत्र्योत्तर युग में, विशेष रूप से नई कहानी के बाद विभिन्न कहानी आंदोलन सामने आए। इन कहानी आंदोलनों ने हिन्दी कहानी को एक नई दिशा प्रदान की। हिन्दी कहानी के विकास में इन कहानी आंदोलनों का भी विशेष महत्व रहा है। विषय और शिल्प को लेकर भी नये-नये प्रयोग किए गए हैं। इन सभी पहलुओं को सामने रखकर ही डॉ. देवेश ठाकुर ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जैसा कि मैंने ऊपर लिखा है कि हिन्दी कहानी सृजन में परिवेश का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। डॉ देवेश ठाकुर ने 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : पूर्व पीठिका' अध्याय में युगीन परिवेश की चर्चा प्रस्तुत की है जो स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का युगीन परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकन करने के लिए सार्थक होती है। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि देश की आजादी के बाद निश्चित रूप से कुछ सकारात्मक बदलाव हुए लेकिन वे पर्याप्त नहीं थे। कुछ समस्याएँ हमेशा बनी रहीं और कुछ नये रूप से सामने आ रही थी। अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति तक लोकतंत्र नहीं पहुँचा था। कुछ निराशाजनक स्थितियाँ रही हैं। इन स्थितियों पर टिप्पणी करते हुए डॉ. देवेश ठाकुर ने लिखा है कि 'सदियों से अभाव-ग्रस्त देश के सभी वर्गों में अधिकार और सुविधाएँ पाने के लिए छीना-झपटी का वातावरण बन गया। जो संपन्न थे, अपनी शक्ति के बल पर, वे और संपन्न बन बन गये। गरीबों के दोहन की प्रक्रिया और तेज हो गयी। नये उत्पादनों और नयी सुविधाओं के बीच सामान्य और मध्यवर्गीय व्यक्ति अपने आपको और भी अधिक अभावग्रस्त महसूस करने लगा। सामान्य व्यक्तियों की भाँति बुद्धिजीवियों ने भी महसूस किया कि इस नये आजाद देश के प्रशासन में उनके लिए कोई स्थान नहीं है। राजनीति में भाई-भतीजावाद और मित्रवाद से लेकर पड़ोसवाद, प्रांतवाद, और सहेलीवाद तक की प्रक्रिया सर्वतोमुखी विकास के साथ विकसित हुई। अफसरशाही बढ़ी और उसके साथ-साथ भ्रष्टाचार बढ़ा।'[10] देवेश जी ने स्वातंत्र्योत्तर युग में पूँजीवाद का बढ़ता हुआ वर्चस्व, मजदूर संगठनों का अपने हक और अधिकार के लिए संघर्ष, शिक्षा का विकास, सभी क्षेत्रों में बढ़ता हुआ भ्रष्टाचार, अर्थ, जाति, धर्म आदि में बँटा हुआ भारतीय समाज, ग्रामीण व्यवस्था विशेष रूप से कृषि संस्कृति का ह्रास, स्त्री शिक्षा एवं स्त्री-पुरुष संबंधों में हो रहे बदलाव, गाँधीवादी मूल्यों का टूटना, समाज और राजनीति में मार्क्सवादी विचारों का बढ़ता हुआ प्रभाव आदि पर विस्तार से प्रकाश डाला है। देवेश जी साहित्य लेखन के लिए लक्ष्य केंद्रित होना अनिवार्य मानते हैं। उनकी मान्यता है कि साहित्य परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार करता है, जिससे अपने समय की विकृतियों से संघर्ष की प्रेरणा मिलती है। प्रतिबद्ध लेखकों के कर्त्तव्य पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा है कि 'प्रतिबद्ध लेखकों का दोहरा कर्त्तव्य हो जाता है। एक ओर उन्हें अपने पाठकों को रचनात्मक दिशा देनी होती है और दूसरी ओर गलत और छद्म दोनों प्रकार के लेखन से पाठकों को आगाह करना होता है।'[11]

डॉ देवश ठाकुर ने प्रेमचंदकालीन आदर्शवादिता और नैतिक मूल्यों के ह्रास,

समकालीन साहित्य के क्षेत्र में बढ़ रही राजनीतिक गिरोहबाजी, रचनात्मक प्रतिभा से हीन अवसरवादी लेखन, सस्ती लोकप्रियता पाने की होड़ आदि पर अपने स्पष्ट और निष्पक्ष विचार रखे हैं। अपनी इसी भूमिका के कारण कहीं देवेश जी को कृष्णा सोबती की बोल्ड रचनाओं में रचनाशीलता का अभाव दिखाई देता है तो दूसरी ओर वे आबिद सुरती की कहानियों को आम आदमी की पीड़ा से लैस निहायत बोदा करार देते हैं। समकालीन कहानीकारों पर टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं कि 'कृष्णा सोबती या आबिद सुरती केवल नाम नहीं हैं। ये हमारे समकालीन जीवन की प्रवृत्तियाँ हैं। इनके साथ और अनेक नाम जुड़े हुए हैं। सनतकुमार, विश्वेश्वर और डॉ. माहेश्वर आदि-आदि अनेक-अनेक लेखक हैं और उन्होंने व्यवस्था के अनुकूल होकर अपने हित-सधान के साथ-साथ थोड़े समय के लिए अच्छी लोकप्रियता भी प्राप्त कर ली है। इन्हें हम फार्मूलों से ग्रस्त कहानीकार कह सकते हैं। ये लोग कहानी को दृष्टि देने का माध्यम न मानकर उसे आज भी मन बहलाव और चमत्कार प्रदर्शन का एक सधान बनाये रखना चाहते हैं। कहानी लेखन उनके लिए कोई सीरियस चीज नहीं है। कहानी का घटना और लिखा जाना उनके लिए पान चबाने या 'पेशाब' करने से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता। आमूल उलट-पलट के इस काल में इस प्रकार की विद्रूप संभावना को नकारा नहीं जा सकता।'[12] देवेश जी ने लेखक की प्रतिबद्धता और फैशन के बीच के अंतर को भी स्पष्ट किया है। वे लेखकीय प्रतिबद्धता को सदा लोकहित और जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों के प्रति मानते हैं जिसका विकास और जन्म व्यक्ति के विवेक के भीतर से होता है। लादी हुई, बाहर से आयातित प्रतिबद्धता को वे फैशन मानते हैं।

डॉ. देवेश ठाकुर ने स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी के क्षेत्र में उभरे विभिन्न कथा आंदोलनों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्होंने नयी कहानी, समकालीन कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी आदि कहानी आंदोलन का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वे इन आंदोलनों की पृष्टभूमि में पाश्चात्य साहित्य तथा वहाँ की विभिन्न विचारधाराओं का प्रभाव मानते हैं। नयी कहानी के संदर्भ में उनकी मान्यता है कि 'नये कहानीकार 'नये' को सृजन की पहली शर्त मानकर आगे आये। उनकी दृष्टि में 'नया' या आधुनिकता कोई संज्ञा या विशेषता मात्र न होकर एक प्रक्रिया है जिसकी चेतना ने समकालीन कथा की भूमि को बदल दिया है। उसमें प्राचीन रूढ़ियों के प्रति अस्वीकार तथा अपने समय के प्रति 'ग्रहण' का स्वर है। अपने समय की केन्द्रीय स्थितियों की अभिव्यक्ति और बदलते परिदृश्यों के साथ निरंतर बदलते जाने की अपेक्षा से ही नये होते रहने की बात जुड़ी है... यानी इसका कोई स्थिर रूप या प्रतिमान नहीं है।'[13] उन्होंने कमलेश्वर की किताब 'नयी कहानी की भूमिका' में संकलित विभिन्न लेखों के संदर्भ लेकर नयी कहानी आंदोलन का मूल्यांकन किया है। साथ ही इस संदर्भ में नयी कहानी के प्रमुख आधार स्तंभ मोहन राकेश और राजेन्द्र यादव के विचारों को भी विश्लेषित किया है। उन्होंने लिखा है कि 'कमलेश्वर नयी कहानी की विकास प्रक्रिया में प्रेमचंद, प्रसाद, यशपाल, भगवती चरण वर्मा तथा अमृतलाल नागर आदि की कृतियों को नजरंदाज नहीं करते, फिर भी वे यह मानकर चलते हैं कि पुरानी कहानी (संभवतः पुरानी कहानी से उनका आशय रूमानी, काल्पनिक, आदर्शवादी, उपदेशात्मक, नैतिक तथा हिंदूपन से अपूर्ण कथा धारा से है)

की चेतना और जीवंतता समाप्त हो चुकी है। इसके विपरीत नयी कहानी जीवन की सारी संगतियों-विसंगतियों, जटिलताओं और दबावों को महसूस करती है। दूसरे शब्दों में नयी कहानी पहले और मूलरूप में जीवनानुभव है, उसके बाद कहानी हैं।'[14]

उन्होंने नयी कहानी के संदर्भ में कमलेश्वर द्वारा स्थापित मानदंड जैसे शाश्वत मूल्यों की आग्रहमूलकता का खंडन, साहित्य की सामाजिक प्रयोगशीलता, कहानी का मानव केंद्रित और प्रतिबद्ध होना, पुरानी कहानी के साँचे को अस्वीकार करना, मनुष्य की जिजीविषा का चित्रण, संवेदना और सहबोध के स्तर पर संबंद्धता आदि का विश्लेषण किया है। साथ ही नयी कहानी के कथ्य एवं शिल्प को लेकर मोहन राकेश के विचारों को भी उद्धृत किया है। देवेश जी ने राजेन्द्र यादव के विचारों का विवेचन करते हुए स्पष्ट किया है कि राजेन्द्र यादव ने आज की कहानी के परिवेश और उसके विषय यथार्थ को अत्यंत भावात्मकता के साथ अभिव्यक्ति दी है। समकालीन कहानी के संदर्भ में अपने विचार रखते हुए डॉ देवेश ठाकुर ने लिखा है कि 'नये कथाकारों की भाँति ही समकालीन कथाकारों की भी मान्यता है कि आज का परिवेश बिल्कुल नया है और अनेक प्रकार की टूटनों के बीच व्यक्ति को अपना अभावग्रस्त, बोझिल और अभिशप्त जीवन जीना पड़ रहा है। उसके सामने जीवन को जीने की नयी शर्तें ऐतिहासिक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप आती चली गयी हैं। इसलिए उसकी विचारधारा में आमूल परिवर्तन आ गया है।'[15]

डॉ देवेश ठाकुर ने सचेतन कहानी के संदर्भ में महीप सिंह, आनंद प्रकाश जैन, राजीव सक्सेना, उपेन्द्रनाथ अश्क, वीरेंद्रकुमार गुप्त आदि के विचारों को विश्लेषित करते हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं। साथ ही 'सारिका' में समांतर कहानी के संदर्भ में कमलेश्वर के दिए गए वक्तव्यों का भी विश्लेषण किया है।

स्वातंत्र्योत्तर युग में उभरे विभिन्न कहानी आंदोलनों का विश्लेषण करने के बाद डॉ देवेश ठाकुर जी ने बहुत स्पष्टता के साथ इन आंदोलनों के महत्व पर प्रश्नचिह्न खड़े किए हैं। उनका स्पष्ट मत है कि इन आंदोलनों के कारण साहित्य को सही संदर्भों में समझने-परखने में बाधा पड़ती है। उन्होंने साहित्य का आकलन विभिन्न काल-खण्ड और प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष में करने पर जोर दिया हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि कहानीकार ने किस प्रकार अपने समय और परिवेश को चित्रित किया है और अपने समय की समस्याओं के समाधान ढूँढे हैं, इस पर ही कहानी का मूल्यांकन होना चाहिए। देवेश जी ने लिखा है कि 'नयी कहानी या सचेतन कहानी या समांतर कहानी का 'नया' और 'सचेतन' ऐसा कुछ नहीं है जिसके लिए कहानी को इन विशेषणों का बोझ वहन करना पड़े। आज की कहानियाँ अपने परिवेश से उपजी और ऊर्जस्वित हुई हैं। और इन पर आन्दोलनात्मक वादों के ठप्पे लगाये बिना भी इनमें से कुछ कहानियों को श्रेष्ठ ही कहा जाएगा।'[16]

डॉ देवेश ठाकुर ने अंतिम अध्याय 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी : विशिष्ट प्रवृत्तियाँ' में स्वातंत्र्योत्तर कहानियों के विषय और शिल्प की दृष्टियों से विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिसमें संक्रमणकालीन रुग्ण सैक्स-निरूपण, स्त्री-पुरुष संबंध, अकेलेपन और आर्थिक दबाव की मारक अनुभूति, जीवन की निरर्थकता का अहसास

और आक्रोश, आंचलिकता की प्रस्तुति, व्यक्ति-संबंधों की शिथिलता, शिल्पगत प्रयोग और उत्कर्ष आदि महत्वपूर्ण हैं। उन्होंने कहानीकारों की रचनाधर्मिता, सामाजिक दृष्टि और रचनात्मक उद्देश्य को सामने रखकर स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का प्रवृत्तिगत विवेचन किया है। वे स्पष्ट करते हैं कि आज का कहानीकार अपने भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्ति देता है और आज की कहानी व्यक्ति के अंतःकरण की बड़ी सूक्ष्म पड़ताल करती है। देवेश जी स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का विश्लेषण करते हुए लिखते है कि 'आज के हिन्दी कहानीकार ने 'वस्तु' के क्षेत्र में अपने अनुभवों को अधिक से अधिक व्यापक बनाने की दिशा में सफल प्रयत्न किया है और युग के अनुकूल सक्षम शैली में उस सबकी प्रस्तुति भी की है। यह ठीक है कि उसके अधिकांश अनुभव अंततः 'आर्थिक वैषम्य' से प्रभावित हुए प्रतीत होते हैं फिर भी उनमें कथ्य की विविधता और चिंतन की ईमानदारी और गहराई है। और यह कम उपलब्धि नहीं है। अन्य समृद्ध भारतीय भाषाओं की कहानियों से तुलना करने पर हमें हिन्दी कहानी की आज की स्थिति, प्रवृत्ति और प्रगति से असंतोष नहीं होना चाहिए।'[17]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि डॉ देवेश ठाकुर ने अपने समीक्षात्मक ग्रंथ 'हिन्दी कहानी का विकास' में न केवल हिन्दी कहानी का इतिहास प्रस्तुत किया है बल्कि विभिन्न युगों में सृजित हिन्दी कहानी का युगीन परिप्रेक्ष में मूल्यांकन किया है। उनकी आलोचनात्मक दृष्टि में निष्पक्षता और स्पष्टवादिता दिखाई देती है। प्रस्तुत समीक्षात्मक ग्रंथ में देवेजी का मौलिक चिंतन साहित्य के इतिहासकारों एवं हिन्दी कहानी के अध्येताओं एवं शोधार्थियों को निश्चित रूप से उपयोगी सिद्ध होगा।

संदर्भ :

1. देवेश ठाकुर रचनावली खंड 10 (समीक्षा) - संपादन - डॉ. सतीश पांडेय, डॉ. सत्यनारायण बी., प्रकाशकः नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण 2018, पृष्ठ - 03, 2. वही, पृष्ठ क्रमांक - 6, 7, 3.वही, पृष्ठ क्र. - 8, 4.वही, पृष्ठ क्र. - 9, 5. वही, पृष्ठ क्र. - 15, 6.वही, पृष्ठ क्र. - 16, 7.वही, पृष्ठ क्र. - 17, 8.वही, पृष्ठ क्रमांक - 43, 9.वही, पृष्ठ क्र. - 43, 10.वही, पृष्ठ क्र. - 64, 11.वही, पृष्ठ क्र. - 69, 12.वही, पृष्ठ क्र. - 71, 13. वही, पृष्ठ क्र. - 75, 14.वही, पृष्ठ क्र. - 75, 15. वही, पृष्ठ क्र. - 80, 16.वही, पृष्ठ क्र. - 90, 17.वही, पृष्ठ क्र. - 102

व्याख्याता श्रीमती मणिबेन एम पी. शाह विमेंस कॉलेज ऑफ आर्ट्स एण्ड कॉमर्स (स्वायत्त), माटुंगा, मुंबई

समीक्षा का स्वरूप और उत्तरदायित्व : देवेश ठाकुर

डॉ. अनन्त द्विवेदी

'देवेश ठाकुर हिंदी के कुछ ऐसे चंद रचनाकारों में हैं, जिन्होंने साहित्य की कई विधाओं में अपनी सर्जनात्मकता से श्री वृद्धि करने का दुष्कर कार्य किया है। किसी एक ही व्यक्ति की गति एक साथ काव्य, कहानी, उपन्यास, समीक्षा, शोध, संपादन, निबंध, जीवनी, आत्मकथा, अनुवाद आदि में रम पाना बड़ा मुश्किल है परंतु साहित्य और समाज के प्रति उनके समर्पण का ही यह परिणाम है, कि वे इतने कठिन कार्य को संभव बना सके। विभिन्न विधाओं में उन्होंने साठ से अधिक पुस्तकों का सृजन किया और यह केवल संख्या की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि हर विधा के साथ उन्होंने न्याय किया है। साहित्य और समाज के लिए यह उनका बड़ा योगदान है।

'यह आलेख उनके ऐसे समीक्षा कर्म को केंद्र में रखकर लिखा गया है, जिसमें हिंदी समीक्षा को उन्होंने विभिन्न विषयों के संदर्भ में लिखे गए अपने लेखों से समृद्ध किया है और दिशाहीन होने से बचाने का भरसक प्रयास किया है। ये सभी लेख विभिन्न विषयों पर मौलिक दृष्टि से विचार करते हुए लिखे गए हैं, जिनमें अपने समय और प्रासंगिकता को भी केंद्र में रखा गया है। देवेश ठाकुर रचनावली के खंड 10 में ऐसे लगभग 46 लेख प्रकाशित हैं, जिनमें से कई लेख हिंदी कहानी की रचना प्रक्रिया, विकास एवं विभिन्न आंदोलनों पर केंद्रित हैं। इसके साथ ही कुछ लेखों में हिंदी भाषा के विविध पक्षों को लेकर भी उन्होंने अपनी बात कही है। साहित्य के शास्त्रीय संदर्भों को लेकर भी उन्होंने बहुत से लेख लिखे हैं। इसके साथ-साथ साहित्य की सामाजिक भूमिका को लेकर लिखे गए उनके लेख हिंदी समीक्षा की अनमोल थाती बन गए हैं। इस आलेख में इन विविध संदर्भों पर उनके मौलिक विचारों का विश्लेषण करने का प्रयास रहेगा।

'सन् 1983 में उनकी समीक्षा लेखों की एक पुस्तक 'साहित्य के मूल्य' प्रकाशित हुई, जिसमें इस संदर्भ में अलग-अलग पन्द्रह लेखों का संकलन है। सबसे पहले इन पर ही विचार करना ठीक होगा क्योंकि इन सभी लेखों में एक निरंतरता है। इस पुस्तक के पहले ही लेख 'साहित्य : रचना-प्रक्रिया और अध्ययन विधि' में उन्होंने रचनाकार की रचना प्रक्रिया का विविध संदर्भों और मानकों के अनुसार विश्लेषण किया है और साथ ही विशिष्ट बात यह है कि रचनाकार और पाठक के संबंधों को भी परिभाषित किया है। रचना प्रक्रिया को लेकर वे कहते हैं कि, 'साहित्य-रचना का सीधा संबंध लेखक की मानसिकता और उसके परिवेश से होता है। मैं इस बात को बहुत बड़ा पाखंड मानता हूँ कि लेखक के व्यक्तित्व को उसकी रचनाओं से अलग करके देखा जाए। वास्तविकता यह है कि लेखक अपनी रचना में अपनी मानसिकता, अपने सोच और अपनी दृष्टि को ही रूपायित करता है। समाज के बीच रहते हुए वह भी कतिपय विशिष्ट अनुभवों से गुजरता है। उन अनुभवों को वह अपनी दृष्टि के अनुसार अपनी रचना में प्रस्तुत करता है और उस प्रस्तुति के माध्यम से वह पाठकों के सम्मुख अपनी मानसिकता के अनुकूल निष्कर्ष रखता है।'[1] आधुनिक रचना संदर्भों में यह निष्कर्ष एकदम सटीक है। कोई भी रचनाकार अपने परिवेश से ही प्रेरणा ग्रहण करता है और इस प्रेरणा के मानसिक बिम्ब

रचना के निर्माण में सहायक होते हैं। रचना के केंद्र में किसी घटना बिंदु का होना, फिर उसे कल्पना के द्वारा विस्तार देना, रचना संदर्भों के अनुकूल योग्य शिल्प का निर्माण करना आदि उस रचना प्रक्रिया का अनिवार्य हिस्सा हैं। और सबसे अंत में रचना के पीछे किसी उद्देश्य का निहित होना भी जरूरी है। ऐसा उन्होंने अपने लेख में विश्लेषित किया है। घटना बिंदु के संदर्भ में वे अत्यंत उपयोगी ढंग से कहते हैं कि, 'साहित्य की प्रत्येक विधा का आधार कोई घटना होती है।.... घटना भौतिक ही नहीं, मानसिक भी हो सकती है और इसीलिए रचनाकार के अतिरिक्त अन्य जनों के लिए अदृश्य भी।'[2] इस तरह वह किसी भी बड़ी रचना के पीछे किसी एक घटना बिंदु की उपस्थिति अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं। यद्यपि उसे बड़ी कथा का रूप देने का काम कल्पना शक्ति ही करती है। उद्देश्य को लेकर उनका आग्रह तमाम कलावादियों के लिए आघात की तरह है, जो रचना के पीछे किसी उद्देश्य को निहित नहीं मानते हैं। इस संदर्भ में वे लिखते हैं, 'रचना की महत्ता उसके द्वारा निरूपित उद्देश्य में निहित होती है। कुछ रचनाकार और समीक्षक (भी) उद्देश्यपरकता को आवश्यक नहीं मानते। उनकी दृष्टि में किसी घटना, भाव या विचार की मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति भी सृजन का उद्देश्य हो सकती है। उसमें कोई सामाजिक उद्देश्य छिपा हो, यह आवश्यक नहीं है। हम समझते हैं कि इस प्रकार की मात्र कलात्मक अभिव्यक्ति किसी भी सृजन के लिए कोई बहुत गौरव की बात नहीं है। जब तक कोई रचना अपने सामाजिक परिवेश को, जिसमें वह अंकुरित हुई है, एक विशिष्ट उद्देश्यपरकता के साथ व्यक्त नहीं करती, तब तक उसका बहुत ऊँचा मूल्य नहीं आँका जा सकता।'[3] इस तरह देवेश ठाकुर रचनात्मक मूल्य की अनिवार्यता पर बल देते हैं। अपने इस लेख में पाठक और रचनाकार के जीवंत संबंधों पर भी वे चर्चा करते हैं। किसी रचना के विविध संदर्भों पर बात करने के लिए रचनाकार व्यक्तित्व से परिचित होना आवश्यक है परंतु इसके बावजूद पाठक के प्रति रचनाकार की ही जिम्मेदारी ज्यादा बड़ी है। वस्तु का सटीक संप्रेषण, रचनाकार की ही जिम्मेदारी है। इस संदर्भ में वे कहते हैं, 'रचना के अध्ययन की प्रक्रिया पाठक को रचनाकार के निकट उसी प्रकार ले जाती है, जिस प्रकार रचना की संपूर्ण प्रक्रिया अंततः भाषा के माध्यम से आकर ग्रहण करके रचनाकार को पाठक के समक्ष उपस्थित करती है। पाठक और रचनाकार में सदैव एक संवाद की स्थिति बनी होती है। जहाँ यह संवाद टूटता है, वहाँ इसका दोष विज्ञ पाठक का न होकर रचनाकार का होता है। विज्ञ पाठक रचनाकार से कम संवेदनशील नहीं होता..... इसलिए यदि रचनाकार की कोई कृति पाठक को संप्रेषित नहीं हो पाती तो इसमें दोष रचनाकार का होता है, पाठक का नहीं। सही रचना प्रक्रिया और उसकी अध्ययन विधि के लिए हमारे लेखे यही योग्य और वस्तुपरक दृष्टि है।'[4] इस तरह रचनाकार की जिम्मेदारी बहुत बड़ी होती है, जिसमें सृजन ही महत्वपूर्ण नहीं होता बल्कि सृजन का संप्रेषण भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। रचनाकार इसे पाठक की जिम्मेदारी नहीं मान सकता बल्कि यह उसका नैतिक धर्म है। रचना प्रक्रिया के संदर्भ में इस प्रकार के विचार देवेश ठाकुर की मौलिक सोच को व्यक्त करते हैं।

'काव्य हेतु, काव्य प्रेरणा और काव्य प्रयोजन प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र के महत्वपूर्ण विषय रहे हैं और विभिन्न काव्यशास्त्रियों का चिंतन इतिहास के रूप में इस

संदर्भ में हमारे पास मौजूद है। साहित्य निरंतर विकासशील वस्तु है और भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से प्रत्येक युग में बदलावों की महत्वपूर्ण श्रृंखला विद्यमान दिखाई देती है। आधुनिक काल इस दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जब गद्य का विकास हुआ और व्यापक सर्जनशील कर्म को काव्य की बजाय 'साहित्य' संज्ञा से विभूषित किया जाने लगा। यह प्राचीन अवधारणाएँ भी निरंतर परिभाषित किए जाने की आवश्यकता रखती हैं। अपने एक लेख 'साहित्य : हेतु, प्रेरणा और प्रयोजन' में देवेश ठाकुर ने आधुनिक संदर्भों में इन विषयों पर विचार की इस आवश्यकता को समझा और अपने समय के अनुरूप इन अवधारणाओं को सही रूप देने का सार्थक प्रयास भी किया। काव्य हेतु के संबंध में बात करते हुए पहले तो उन्होंने आचार्य भामह, आचार्य दण्डी, आचार्य मम्मट आदि प्राचीन मनीषियों के मतों को प्रस्तुत किया। इसके बाद आधुनिक भारतीय साहित्यशास्त्रियों में डॉ. भागीरथ मिश्र, कन्हैयालाल पोद्दार, रामदहिन मिश्र, बाबू गुलाब राय, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेंद्र, सुमित्रानंदन पंत, निराला, महादेवी वर्मा जैसे हिंदी आचार्य और कवियों के मतों का उल्लेख किया और इस विरोधाभास को स्पष्ट किया कि आधुनिक साहित्यशास्त्री भी साहित्य-हेतु की नहीं बल्कि काव्य-हेतु की ही बात करते हैं और इसीलिए उन्हें साहित्य हेतुओं के संबंध में पुनर्विचार की आवश्यकता महसूस होती है। इस लेख में विभिन्न मतों के विस्तृत विश्लेषण के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि, 'साहित्य रचना के हेतु या कर्म में अध्ययन, अनुभव और अभ्यास मुख्य हैं और प्रतिभा गौण।'[5] और इसीलिए निष्कर्ष स्वरूप में साहित्य-हेतुओं पर विचार करते हुए वे महत्व के आधार पर इनका क्रम सुनिश्चित करते हुए अभ्यास, अनुभव, अध्ययन और प्रतिभा निश्चित करते हैं। अपने इस निष्कर्ष के लिए वह सतर्क प्रस्तुत होते हुए कहते हैं, 'हो सकता है, प्राचीन रचनाकार मात्र प्रतिभा के बल पर महान रचना कर गए हों लेकिन समकालीन साहित्यिक इतिहास इस बात को गलत साबित कर रहा है- आज प्रतिभा से अधिक विचारणीय और महत्वपूर्ण दूसरे उपकरण हो गए हैं, जिनका उल्लेख हमने उपर्युक्त पंक्तियों में किया है।'[6]

इस तरह समय और परिवेश के दबाव में बदल रही साहित्यिक अवधारणाओं के पुनर्मूल्यांकन की दृष्टि उनके पास रही है और निर्भ्रांत दृष्टि का प्रयोग करते हुए उन्होंने अपने निष्कर्ष रखे हैं। काव्य प्रेरणा के संबंध में भी उन्होंने पश्चिम और पूर्व के विभिन्न मतों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है और उसके बाद नितांत मौलिक निष्कर्ष तक पहुँचे हैं। अरस्तू ने अनुकरण, हीगल और कॉलरिज ने कल्पना शक्ति और कला पक्ष, क्रोचे ने सहजानुभूति, फ्रायड ने काम, युंग ने जिजीविषा, एडलर ने क्षतिपूर्ति की प्रवृत्ति, टॉलस्टॉय ने भावों के संप्रेषण की इच्छा आदि को काव्य प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार भारतीय मनीषियों में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस रूपमय जगत और कल्पना को, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जगत और जीवन से प्राप्त प्रेरणा को काव्य प्रेरणा के रूप में महत्व दिया है। काव्य प्रेरणा के संबंध में बांग्ला विद्वानों एवं कवियों के मतों का भी उन्होंने उल्लेख किया है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ. शशिभूषण दास गुप्त, नलिनीकांत गुप्त आदि विद्वानों ने ईश्वरीय शक्ति अथवा दिव्यता को बड़ा महत्व दिया है। इन सभी के मतों का उल्लेख और विश्लेषण करते हुए वे अपने निष्कर्ष तक पहुँचाते

हैं और कहते हैं, 'हम समझते हैं, साहित्य निर्माण की प्रेरणा के मूल मेंआत्माभिव्यक्ति, रचनाकार का परिवेश और उस परिवेश की उस पर हुई प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति देने की प्रवृत्ति ही प्रमुख है।....परिवेशगत सच्चाइयों की वस्तुपरक अभिव्यक्ति की आकांक्षा और मनुष्य मात्र की हित कामना ही वास्तविक साहित्य की वास्तविक प्रेरणाएँ हैं।'[7] इन सभी प्राचीन अवधारणाओं पर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करते हुए देवेश ठाकुर जिस तरह से आधुनिक संदर्भ में उनका मूल्यांकन करते हैं, वह उनके चिंतन की गंभीरता और विशिष्टता को दशार्ता है। इसी भाँति उन्होंने काव्य प्रयोजन पर भी विचार किया है। यहाँ भी वे अपनी शैली के अनुरूप प्राचीन मतों का उल्लेख करते हुए इस निष्कर्ष तक पहुँचाते हैं कि, 'एक स्वस्थ दृष्टि संपन्न और सही अर्थों में जीवित रचनाकार, यदि उसे अपने समाज में सही सम्मान प्राप्त है तो प्रथम चरण में अपने समाज में चेतना जागृत करता है। वह अपने रचनात्मक लेखन से अपने पाठकों के सम्मुख उन कारणों को स्पष्ट करता है, जिनके द्वारा उसका समाज विसंगतियों, अन्याय, भ्रष्टाचार और इसी प्रकार की अन्य अस्वस्थ प्रवृत्तियों का शिकार है। दूसरे चरण में दृष्टि-संपन्न रचनाकार का यह भी दायित्व बन जाता है कि वह उन साधनों और समाधानों को प्रस्तुत करे जिससे समाज की ये असमानताएँ और विसंगतियाँ दूर हो सकती हैं और मनुष्य का जीवन सुखी हो सकता है।'[8] इस तरह काव्य प्रयोजन के इस प्रश्न को वे साहित्य प्रयोजन के प्रश्न में बदलते हैं और आधुनिक संदर्भों में साहित्य संवेदना के अनुरूप इस प्रश्न पर विचार करते हैं। अपनी बात को समाप्त करते हुए वे कहते हैं, 'इस प्रकार जिस तरह रचनाकार समाज से निरपेक्ष होकर जी नहीं सकता, उसी प्रकार समाज में चेतना जागृत करने और उसमें व्याप्त विषमताओं का समाधान खोज निकालने तथा मनुष्य को सुखी बनाने के अतिरिक्त उसके लेखन का कोई दूसरा प्रयोजन हो नहीं सकता। आनंद, आत्माभिव्यक्ति, यश, अमरता तथा आत्मविज्ञप्ति आदि प्रयोजन तो बहुत स्थूल हैं और प्रकारान्तर से उपयुक्त दो प्रयोजनों के अंतर्गत आ जाते हैं।'[9] इस तरह प्राचीन अवधारणाओं के पुनर्नवीनीकरण का अत्यंत कठिन कार्य वे करते हैं और यह करते हुए देवेश ठाकुर शास्त्रीयता के आतंक से मुक्त रहकर निर्भ्रांत दृष्टि से वर्तमान साहित्य संवेदनाओं के संदर्भ में अपने निष्कर्ष का प्रतिपादन करते हैं, जो समय और परिस्थितियों के अनुरूप एकदम सटीक भी ठहरते हैं।

'देवेश ठाकुर अपने समय के जितने बड़े रचनाकार हैं, उतने ही बड़े समीक्षक भी। उन्होंने केवल समय अनुरूप रचना संदर्भों को ही नहीं समझा बल्कि पुरानी चली आती अवधारणाओं के अपने समय संदर्भ में मूल्यांकन की आवश्यकता को भी समझा। इसीलिए उन्होंने न केवल शास्त्रीय संदर्भों पर विचार किया है बल्कि 'साहित्य के मानदण्ड', 'वर्तमान संदर्भ में यथार्थ लेखन का सही स्वरूप', 'साहित्यकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न', 'लेखक की स्वतंत्रता का प्रश्न', 'आधुनिकता : स्वरूप निरूपण', 'हिंदी : शोध की दिशाएँ', 'समकालीन रचनाधर्मिता के बारे में' आदि लेखों के द्वारा अपने समय के प्रश्नों से जद्दोजहद का साहस भी जुटाया। अलग-अलग कालखंड में लिखे गए यह सभी लेख सन् 1983 में प्रकाशित उनकी 'साहित्य के मूल्य' कृति में संग्रहीत हैं। 'साहित्य के मान' लेख में उन्होंने साहित्य के मूल्यों को लेकर विमर्श प्रस्तुत

किया है। उनके इस लेख में कही गयी कुछ युक्तियाँ उनके वैचारिक सरोकारों को स्पष्ट करती हैं। जैसे 'साहित्य का आधार वैयक्तिक न होकर समाजपरक है।' 'सामाजिक चिंता साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान है।' 'रचनाकार को अपनी रचनाओं को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए राजनीति पर अंकुश रखना होगा।'; 'साहित्य का मान है मनुष्य - अर्थात मनुष्य का भौतिक और मानसिक विकास और उसके समाज का सर्वतोमुखी उन्नयन।' आदि। उनकी इन युक्तियों से साहित्य के संबंध में उनकी विशिष्ट दृष्टि का संकेत मिलता है। साहित्य केवल आत्माभिव्यक्ति का साधन नहीं है, वह समाज के लिए है और इसी में उसकी सार्थकता है। कला के प्रति अतीव समर्पण और समाज के प्रति साहित्य की विमुखता का मानदंड उन्हें बिल्कुल भी स्वीकार नहीं है। अपने समय के सवालों से जुड़ते हुए साहित्य के मान के संदर्भ में वे अपने इस लेख में लिखते हैं, 'साहित्य का मान है मनुष्य - अर्थात मनुष्य का भौतिक और मानसिक विकास और उसके समाज का सर्वतोमुखी उन्नयन। और हमें पूरा विश्वास है कि अगर किसी समाज के रचनाकार सम्मिलित रूप से साहित्य के इस मान को दृष्टिपथ पर रखकर रचना कार्य में प्रशस्त हों तो राजनीति को अंतत उनका ही अनुगमन करना होगा।... साथ ही यह भी कि जब तक सही रचनाकारों के बीच छद्म चेहरे अपने समस्त अवसरवादी संस्कारों को लेकर छिपे हैं, तब तक साहित्य के सही मूल्यों को लेकर चलने वाले इन सही रचनाकारों का प्रयास व्यावहारिक रूप से कितना सफल होगा - इसके विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।'[10] जनवरी 1981 में प्रकाशित यह लेख रचनाधर्मिता के प्रति निकृष्ट दिशा की ओर बढ़ती रुचि का भी संकेत देता है। अपने इस लेख में वे यह मानते हैं कि आज जब विश्व की स्थिति बहुत ज्यादा बदल चुकी है, समस्याएँ मनुष्य को घेरे हुए हैं, ऐसे में रस और आनंद के प्रति निष्ठा अपने समय को अनदेखा करने के समान है। इस समय साहित्य की सर्वोत्तम उपयोगिता निम्न वर्ग के उन्नयन में ही है। इस तरह साहित्य के उपयोगितावादी दृष्टिकोण के प्रति उनका रुझान स्पष्ट है। साहित्य उनके लिए आनंद की वस्तु नहीं बल्कि क्रांति और बदलाव का मार्ग है। उनकी यह सोच उनके जनवादी संस्कारों के अनुरूप ही है।

'साहित्य के प्रति अपनी विशिष्ट सोच के लिए वह बड़ी-बड़ी शक्तियों से टकराने से भी पीछे नहीं हटे हैं। समय-समय पर उन्होंने साहित्य के धुरंधर समझे जाने वाले दिग्गजों के प्रति इतनी तीखी प्रतिक्रिया दी है जो किसी असाधारण समीक्षक के ही वश की बात है। 'वर्तमान संदर्भ में यथार्थ लेखन का सही स्वरूप' नामक अपने लेख में उन्होंने अपने समय संदर्भों के अनुरूप यथार्थ को परिभाषित किया है। वे कहते हैं, 'हमारी समझ में यथार्थ लेखन का अर्थ है - अधिसंख्य-जन-जीवन के यथार्थ की सच्चाई के साथ अभिव्यक्ति। हम किस तरह के परिवेश में रहते हैं, हमारी सामान्य समस्याएँ क्या हैं, राजनीतिक और सामाजिक संदर्भ में हमारे जीवन मूल्यों में क्या प्रगति या प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, या हो रही हैं; पारिवारिक परिप्रेक्ष्य में किन नए आयामों का स्पर्श हो रहा है, सांस्कृतिक भूमिका पर हम किस दिशा में प्रशस्त हो रहे हैं, प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली के योग्य हम कहाँ तक अपने को बना सके हैं, समाज की प्रगति और विकास की जो इतनी चर्चा की जा रही है, उसके बीच आज के आम आदमी को क्या

सुविधा मिल पा रही हैं; यदि आज भी इतनी प्रगति और उपलब्धियाँ के बीच भी वह दुखी और त्रस्त है, तो क्यों है; उसको सुखी बनाने के लिए समाज की किस प्रक्रिया में क्या परिवर्तन अपेक्षित है - इस प्रकार के अनेक-अनेक प्रश्न हैं जो व्यक्ति जीवन के यथार्थ और अंततः सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध हैं और जिनके परिवेश में आज के लेखन को प्रतिबद्ध होना चाहिए।'[11] इस तरह समाज के लिए साहित्य की एक विशिष्ट भूमिका की आवश्यकता को वे पुरजोर तरीके से सामने रखते हैं। यद्यपि समय के अनुरूप साहित्यकार की सामाजिक जिम्मेदारी उनके लिए एक बड़ा सवाल है, जिससे विमुख किसी भी साहित्यकार की आलोचना करने से वह चूकते नहीं हैं। इस संदर्भ में अपने इसी लेख में उन्होंने अज्ञेय और उनके उपन्यास नदी के द्वीप की चर्चा की है। सन् 1951 में प्रकाशित यह उपन्यास जिसे केंद्र में रखकर उन्होंने एक लेख 'बुद्धिजीवी सेक्स चर्वण : नदी के द्वीप' लिखा था, इसे वे अपने समय की समस्याओं से बचकर मानसिक विलास की तरह समझते हैं। इसका कारण यह है कि 1947 में भारत के आजाद होने के बाद देश जिस तरह की समस्याओं के सामने खड़ा था, वह समय इस तरह के साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं था। वह इसके लिए अज्ञेय की इस कृति की कड़ी आलोचना करते हैं। उनकी नजर में अज्ञेय एक क्रांतिकारी लेखक हैं और अपने संघर्ष के दिनों में उनकी आस्थाएँ समाज के प्रति गहरी चिंताओं से युक्त थीं। वहीं अज्ञेय आजादी के बाद अपने रचना धर्म से इस तरह विमुख कैसे हो सकते हैं? यह सवाल उन्हें परेशान करता है। और इसके लिए वे इस कृति और कृतिकार दोनों को ही क्षमा नहीं करते। इस तरह उनके लेखों में बार-बार उनका सामाजिक प्रतिबद्धता को लेकर आग्रह और प्रखर होता चला जाता है।

'साहित्य के मूल्य' कृति में संकलित लेख 60, 70 और 80 के दशक से अपना गहरा नाता रखते हैं। उस समय आधुनिकता को लेकर एक पशोपेश की स्थिति बनी हुई थी और तमाम मत-मतान्तर विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में निकलकर आ रहे थे। अपने समीक्षक कर्तव्य को निभाते हुए देवेश ठाकुर ने 'आधुनिकता : स्वरूप निरूपण' नामक निबंधात्मक लेख में इस समस्या के समाधान का प्रयास किया। उन्होंने आधुनिकता को व्यावहारिक दृष्टि से देखा और समाधान भी अत्यंत व्यावहारिक देने का प्रयास किया। इस लेख में आधुनिकता को लेकर उनका समस्त चिंतन साहित्य के संदर्भ में है। उनके समय में जिस तरह के मत आधुनिकता को लेकर व्यक्त किये जा रहे थे, उन सभी का तर्कसंगत विश्लेषण करते हुए उन्होंने आधुनिकता को एक सतत गतिशील और रचनात्मक प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया। उनके लिए आधुनिकता कोई ऐसी प्रवृत्ति नहीं थी, जिसमें आमूल परिवर्तन और परंपरा से अलगाव की बात हो। उनके अनुसार, 'आधुनिकता वस्तुतः एक सतत गतिशील और रचनात्मक प्रक्रिया है जो एक ओर समकालीन परिस्थितियों और परिवेश से जुड़ी हुई होती है और दूसरी ओर परंपरा से संपृक्त होने के साथ-साथ उससे मुक्त भी रहती है।'[12] उनका यह मत थोड़ा विरोधाभासी लग सकता है परंतु उनका यह विचार अत्यंत संतुलित और सधा हुआ है। आधुनिकता वास्तव में अपने समय संदर्भों में परिवर्तन के अनुरूप बदलाव की प्रक्रिया है और यह पिछली आधुनिकता से इसीलिए अंतर भी रखती है। जिन सवालों से आज आधुनिकता

लड़ रही होती है इतिहास में कभी उन्हीं सवालों को उसने स्थापित भी किया होता है। पर समय के साथ बदलाव की प्रक्रिया में भौतिक और मानसिक जगत बदलता रहता है और इस अनुरूप परिवर्तन को स्वीकार भी करना चाहिए। आधुनिकता को सही अर्थों में समझने के लिए वे सावधानी की चर्चा भी करते हैं और कहते हैं, 'आधुनिकता को कम से कम दो रूपों में - रचनात्मक आधुनिकता और बीमार आधुनिकता में - विभाजित करना होगा।'[13] उनके इस विचार से यह स्पष्ट है कि रचनात्मक आधुनिकता के अंतर्गत वे ह्रासशील और पराजयवादी प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के विरोध को देखते हैं, जो व्यक्ति जीवन में व्याप्त विसंगतियों के लिए भौतिक कारणों को दोष न देकर व्यक्ति को नियतिवाद और कर्मवाद की दिशा में मोड़ने का काम करती है। जबकि दूसरी तरफ बीमार आधुनिकता के अंतर्गत वे उन काल्पनिक स्थितियों को देखते हैं जिनमें स्त्री-पुरुष संबंधों की गलित रचनाओं को महिमा-मंडित किया जाता है या फिर ऐसे विचारक आधुनिकता का विश्लेषण करते हुए अपने परिवेश से अलग हटकर ज्यां पॉल सार्त्र, फ्रांज काफ्का, अलबेयर कामू एवं प्रकृतिवाद, क्षणवाद, कलावाद, अस्तित्ववाद या अजनबीपन, संत्रास, अलगावबोध वैयक्तिकता आदि शब्दों का सहारा लेकर साहित्य जगत में एक आतंक पैदा करने का प्रयास करते हैं। इस तरह देवेश ठाकुर अपने आप में स्पष्ट हैं कि आधुनिकता की सही व्याख्या अपने परिवेश के संदर्भ में ही की जा सकती है। उनकी नजरों में आधुनिकता का एक विशिष्ट क्रम है, जिसमें पहले हमारी विचार पद्धति में परिवर्तन होता है और फिर विचार पद्धति संस्कृति, व्यवहार और जीवन पद्धति में अंतर लाती है। आधुनिकता के संदर्भ में ही वे ऐसे साहित्य और समकालीन साहित्यकारों की चर्चा करते हैं, जो आधुनिकता को गहरे सामाजिक सरोकारों के संदर्भ में व्यक्त करते हैं और उन छद्म आधुनिक साहित्यकारों की भी चर्चा करते हैं, जिन्होंने आधुनिकता के नाम पर बीमार आधुनिकता को महिमा मंडित करने की कोशिश की है। अपने लेख के अंत में वे निष्कर्ष स्वरूप आधुनिकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, 'आधुनिकता वैज्ञानिक दृष्टि से संपृक्त एक सतत गतिशील प्रक्रिया है जो समकालीन परिप्रेक्ष्य में उपजी हुई नई संवेदनाओं, नई स्थितियों, विचारभूमियों और जीवन संदर्भों को व्यक्त करती हुई और उन्हें रचनात्मक अर्थ देती हुई प्रशस्त होती है।'[14]

'देवेश ठाकुर की समीक्षात्मक दृष्टि जितना अवधारणात्मक संदर्भों को सुलझाने में रमी है, उतना ही अपने समय के तमाम प्रश्नों का उत्तर देने में भी। 'साहित्यकार की प्रतिबद्धता' को लेकर या फिर 'लेखक की स्वतंत्रता' को लेकर उठे प्रश्नों पर भी उन्होंने व्यवस्थित चिंतन किया है और इस चिंतन को दिशाहीन नहीं छोड़ा है बल्कि सार्थक समाधान भी दिया है। देवेश ठाकुर की यह कृति इस दृष्टि से अनमोल है कि उन्होंने तमाम अवधारणात्मक प्रश्नों के अपने समय संदर्भों के अनुसार उत्तर दिए हैं और आक्रामक समीक्षात्मक शैली में अपने समय के प्रश्नों से टकराने का साहस भी किया है। और ऐसे प्रश्नों का उत्तर देते हुए थोड़ा निर्मम भी हो गए हैं। यह जरूरी भी है। एक समीक्षक की ईमानदारी विराट व्यक्तित्व के सामने कुंठित और आहत नहीं होती। वे अपने विचारों का निर्माण बड़ी मजबूत नींव पर करते हैं और यही कारण है कि उनमें यह साहस पैदा हो जाता है कि वह अपने समय के बड़े-बड़े साहित्यकारों पर भी आक्षेप कर बैठते हैं।

'साहित्यकार की प्रतिबद्धता का प्रश्न उनके समय का महत्वपूर्ण प्रश्न था और आज भी है। उस समय विचारधारा विशेष से जोड़कर भी इसे देखा जाता था। इसीलिए तत्कालीन पत्र पत्रिकाओं में इसे लेकर झुंझलाहट भी थी। पर देवेश ठाकुर के विचार जिस पथ पर विकसित हो रहे दिखाई देते हैं, वहां इस बारे में कोई दुविधा नहीं थी। उन्होंने अपने समय के इस प्रश्न को अत्यंत तार्किक तरीके से सुलझाया है। वे कहते हैं, 'सिर्फ खाने के लिए खाना नहीं खाया जाता और सिर्फ सोने के लिए सोया नहीं जाता, संक्षेप में यह कि जब कोई भी काम सिर्फ उसे काम को करने के लिए नहीं किया जाता, तब साहित्य सृजन सिर्फ साहित्य सृजन के लिए कैसे किया जा सकता है? हम समझते हैं, हमारे जीवन का कोई भी कार्य व्यापार उद्देश्यहीन अथवा लक्ष्यहीन नहीं है।'[15] उनका यह कथन अपने आप में साहित्य को और साहित्यकार को अपने साहित्यकर्म के लिए एक विशिष्ट उद्देश्य प्रदान कर देता है। हाँ, यह जरूर है कि यह उद्देश्य समाजोन्मुख ही होना चाहिए। उनका मानना है कि किसी रचनाकार के रचनाकर्म का मानव जीवन की समस्याओं के समाधान के संदर्भ में ही स्थायी महत्व होता है। इसलिए किसी भी लेखक की सबसे बड़ी जिम्मेदारी मानव समाज के प्रति है, मनुष्यता के प्रति है। यही वह सबसे बड़ी कसौटी है, जिस पर किसी साहित्यकार की ईमानदार प्रतिबद्धता को आँका जा सकता है। उनका मानना है कि रचनात्मक प्रतिबद्धता के लिए लेखकीय दृष्टि का जीवन स्थिति के यथार्थ से संबंध होना बहुत आवश्यक है और सिर्फ इतना ही नहीं बल्कि इस यथार्थ को समझ कर समाज को दिशा देने का प्रयास इसका समापन है। इस तरह साहित्यकार की प्रतिबद्धता को लेकर उनका मस्तिष्क एकदम साफ है और वहाँ कोई भी दुविधा नहीं है। इसी तरह 'लेखक की स्वतंत्रता' का प्रश्न भी उनके समय का महत्वपूर्ण प्रश्न है। इस प्रश्न को वह एक वितण्डा से अधिक और कुछ भी नहीं मानते। उनका मानना है कि सही अर्थों में रचनाशील लेखक के सम्मुख कभी भी स्वतंत्रता की समस्या खड़ी ही नहीं होती। यदि कोई रचनाकार पूर्ण ईमानदारी के साथ और सामाजिक सरोकारों के प्रति जवाबदेह होकर डटा हुआ है ,तो वह अपने विचारों को प्रस्तुत किए बिना नहीं रह सकता। समाज के प्रति अपनी जिम्मेदारी का एहसास उसमें यह साहस पैदा कर देता है। लेखकीय स्वतंत्रता के प्रश्न के छद्म को वे यह कहते हुए खारिज कर देते हैं कि, 'दरअसल लेखन-स्वातंत्र्य का नारा असमर्थ, अविज्ञापित, बहुत अधिक कूड़ा लिखने के बाद भी लेखन की केंद्रीय धारा के मध्य अनजान-अपहचाने और किसी भी तरह समर्थ लेखकों-संपादकों की नजर में चढ़ने के लिए बिकने को आतुर लेखकों द्वारा दिया जाता है।'[16] इस तरह देवेश ठाकुर किसी भी तरह के वैचारिक आतंक से आतंकित नहीं होते। बल्कि पूरी जाँच पड़ताल के बाद नीर-क्षीर विवेक से वे समाधान प्रस्तुत करते हैं। यह उनकी समीक्षकीय सामर्थ्य का उदाहरण है।

'सैद्धांतिक समीक्षा पर लिखे गए देवेश ठाकुर के लेख जब हम पढ़ते हैं तो एक बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने समीक्षा की पूरी एक पद्धति का निर्माण और अनुपालन किया है। उनके विचार करने की दिशाएँ और साहित्य में उन दिशाओं का अनुपालन, साथ ही समीक्षा में भी उन्हीं आधार बिंदुओं के द्वारा निर्णय तक पहुँचना; इस बात को सिद्ध करता हैकि वह अपने विचारों के प्रति पूरी तरह से समर्पित हैं और

उनके विचारों में जो निरंतरता है, वह दिशाहीन होने से न केवल उनको बल्कि पाठकों को भी बचाती है। सैद्धांतिक समीक्षा पर देवेश ठाकुर रचनावली के खंड 10 में 'साहित्य के मूल्य' के अतिरिक्त सन् 1986 में प्रकाशित 'साहित्य की सामाजिक भूमिका' कृति भी संकलित है, जिसमें 'व्यक्ति, समाज, साहित्य और समीक्षा', 'रचना प्रक्रिया और सामाजिक प्रभाव', 'साहित्य का समाजशास्त्र', 'सामाजिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य' तथा 'साहित्य में परिवर्तन की सामाजिक भूमिका' जैसे पाँच बड़े लेख संग्रहीत हैं। इन लेखों में उन्होंने कृति के शीर्षक के अनुरूप साहित्य की सामाजिक भूमिका को लेकर विचार विमर्श प्रस्तुत किया है।

'साहित्य के साथ-साथ समाज को भी वे एक विकासशील प्रक्रिया का हिस्सा मानते हैं और इस रूप में वे विकासवाद के समर्थक हो जाते हैं। यही कारण है कि उनके साहित्य और उनकी समीक्षकीय अवधारणाओं में कहीं भी जड़ परंपराओं और रूढ़िवाद का समर्थन नहीं मिलता है। निरंतर बदलाव और विकास उनकी मानसिक भूमि का महत्वपूर्ण हिस्सा है। अपने निबंध 'सामाजिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य' में इसी का समर्थन करते हुए वह कहते हैं कि, 'मानव समाज में हमेशा चिंतन की प्रक्रिया चलती रहती है। यह चिंतन ही अनेक प्रकार की अवधारणाओं की सृष्टि करता है और तदनंतर, इन अवधारणाओं से मूल्यों का निर्माण होता है।.... यह प्रक्रिया चलती रहती है और आगे सामाजिक अवधारणाओं में परिवर्तन होने पर मूल्य भी परिवर्तित हो जाते हैं।'[17] साधारण मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह परिवर्तनों के प्रति प्रतिक्रिया करता है और काफी समय के बाद उन परिवर्तनों को स्वीकार करता है। परंतु यही स्थिति जब बुद्धिजीवी वर्ग में देखने को मिलती है तो परिणाम कहीं ज्यादा विस्फोटक होते हैं। साहित्य के इतिहास में हमेशा विकास की इस प्रक्रिया का प्रतिगामी शक्तियों के द्वारा विरोध किया गया है। यह ऐसे लोग हैं जो परिवर्तनों को नकारात्मक रूप से लेते हैं और इसके पीछे उनकी जड़-परंपरावादी सोच होती है। और यह सोच साहित्य और समीक्षा में भी तमाम विवादों को जन्म देती है। देवेश ठाकुर न केवल ऐसे परिवर्तनों के हामी हैं बल्कि उन्होंने अपनी व्यवहारिक समीक्षा में अपने समय के तमाम तथाकथित जड़-परंपरावादी समीक्षकों पर करारे व्यंग करके विकासशील प्रवृत्तियों के प्रति अपनी आस्था का परिचय दिया है।

'सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों के बीच देवेश ठाकुर अत्यंत निकट संबंध स्वीकार करते हैं। जैसे-जैसे सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, साहित्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से वे प्रकट होते हैं और इस स्थिति को विकासवादी चेतना के सभी साहित्यकार और समीक्षक स्वागत की मुद्रा में स्वीकार करते हैं। इस संबंध में वे लिखते हैं, 'इस प्रकार हम पाते हैं कि जैसे-जैसे सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे साहित्य के मूल्य और उसका रूप भी परिवर्तित होता चलता है। जिस प्रकार समाज की बदलती हुयी परिस्थितियाँ सामाजिक मूल्यों को प्रभावित करती हैं, उसी प्रकार साहित्यिक मूल्यों और रूपों को भी प्रभावित करती हैं। इस प्रकार साहित्यिक मूल्य-परिवर्तन की यह प्रक्रिया भी समाजपरक है और समाज से सम्बद्ध होने के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों से भी सम्बद्ध है।'[18] इस तरह मूल्य, वे चाहे सामाजिक हों या साहित्यिक शाश्वत नहीं

हैं। परिस्थितियों में परिवर्तन के अनुसार इनमें भी परिवर्तन होता रहता है। परंतु जैसा की जड़ परंपरावादी सामाजिक समाज में ऐसे परिवर्तनों की भूमिका को क्षत-विक्षतकरने में लगे रहते हैं, वैसे ही साहित्य में जड़-परंपरावादी समीक्षक भी करते हैं परंतु यह परिवर्तन कभी भी ज्यादा समय तक दबाये नहीं रखे जा सकते। उनके प्रति तैयार होते जनमत के समर्थन में इन्हें स्वीकार करना एक अनिवार्यता हो जाती है। इसी प्रकार सामाजिक और साहित्यिक मूल्य लगातार विकास की प्रक्रिया में बने रहते हैं।

'देवेश ठाकुर के विचार निःसंदेह मार्क्सवाद से प्रेरित और प्रभावित हैं। पर जैसा कि, सिद्धांतों के संदर्भ में उनका मानना है कि बिना अपने परिवेश में घुले-मिले सिद्धांतों की भूमिका अक्सर अप्रासंगिक रहती है। यह एक प्रकार की विकलांग बौद्धिक प्रवृत्ति और परमुखापेक्षिता को प्रकट करती है। मार्क्सवाद के सिद्धांत भारतीय जनजीवन और परिवेश में किस तरह घुल-मिल सकते हैं, बस उतने को ही उन्होंने वहां से उठाया है। इसके बाद का समस्त चिंतन उनका अपना मौलिक चिंतन है और इस चिंतन का समापन निष्कर्ष है - समाज के प्रति साहित्य और समीक्षा में उनका समर्पण। देवेश ठाकुर का चिंतन एक स्पष्ट और निश्चित दिशा की ओर गमन करने वाला चिंतन है। वह अपने-आप में कहीं भी भ्रमित नहीं हैं और कुछ निश्चित सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी पूरी वैचारिक इमारत खड़ी की है। और इसी के अनुरूप वे परिवर्तन भी चाहते हैं। इसी के अनुरूप उनकी साहित्यकारों और समीक्षकों से अपेक्षाएँ भी हैं। उनका मानना है कि किसी रचना के मूल्यांकन के लिए रचनाकार के व्यक्तित्व और परिवेश से परिचित होना नितांत आवश्यक है। किसी रचनाकार के व्यक्तित्व से गहरे जुड़कर ही उसकी रचना का सही मूल्यांकन किया जा सकता है। ऐसे में तमाम कलावादी प्रतिमानों को वे साहित्य और समीक्षा की सीमा से बहिष्कृत कर देते हैं। साहित्य की अपनी एक विशिष्ट उपयोगिता है और इसीलिए वे मानते हैं कि रचनाकार को अपनी स्वतंत्रता के नाम पर पाठकों के समय और धन की कीमत पर अपनी कुंठाओं को बनाने और उन्हें ग्लोरिफाई करने की इजाजत नहीं दी जा सकती। उन्हें समाज की अपेक्षाओं को पूरा करने का माध्यम बनाना ही होगा और जो नहीं बन सकेगा, उसका साहित्य न तो अपनी साहित्यिक परंपरा के लिए और न ही पाठकों के लिए उपयोगी होगा। रचनाकार या समीक्षक को व्यक्तिगत दुराग्रहों से दूर रहकर समाज के वस्तुगत सत्य को ही प्रकट करना चाहिए यदि किसी रचनाकार का कथ्य हमें प्रस्तुत यथार्थ और समस्या पर सोचने के लिए प्रेरित नहीं करता, तो वह साहित्य और समाज के लिए श्रेयस्कर नहीं है। इस तरह देवेश ठाकुर साहित्य और समीक्षा को आधुनिक समय में अत्यंत महत्वपूर्ण प्रतिमानों से प्रतिष्ठित करते हैं, जो न केवल रचना प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, बल्कि समीक्षा को भी एक निश्चित दिशा की ओर बढ़ाने में सहायता देते हैं। समीक्षा के क्षेत्र में यह उनका अत्यंत महत्वपूर्ण और बड़ा योगदान है।

संदर्भ :

1. डॉ. बी. सत्यनारायण एवं डॉ. सतीश पाण्डेय - देवेश ठाकुर रचनावली खण्ड-10; पृष्ठ - 239; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं 2018
2. पूर्ववत; पृष्ठ - 240

3. पूर्ववत; पृष्ठ - 241
4. पूर्ववत; पृष्ठ - 244
5. डॉ. बी. सत्यनारायण एवं डॉ. सतीश पाण्डेय - देवेश ठाकुर रचनावली खण्ड-10; पृष्ठ - 250; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं 2018
6. पूर्ववत; पृष्ठ - 250
7. पूर्ववत; पृष्ठ - 253
8. पूर्ववत; पृष्ठ - 256
9. डॉ. बी. सत्यनारायण एवं डॉ. सतीश पाण्डेय - देवेश ठाकुर रचनावली खण्ड-10; पृष्ठ - 256; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं 2018
10. पूर्ववत; पृष्ठ - 260
11. पूर्ववत; पृष्ठ - 266
12. पूर्ववत; पृष्ठ - 302
13. डॉ. बी. सत्यनारायण एवं डॉ. सतीश पाण्डेय - देवेश ठाकुर रचनावली खण्ड-10; पृष्ठ - 302; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं 2018
14. पूर्ववत; पृष्ठ - 307
15. पूर्ववत; पृष्ठ - 277
16. पूर्ववत; पृष्ठ - 286
17. डॉ. बी. सत्यनारायण एवं डॉ. सतीश पाण्डेय - देवेश ठाकुर रचनावली खण्ड-10; पृष्ठ - 386; नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, सं 2018
18. पूर्ववत; पृष्ठ - 405

के. जे. सोमैया कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड कॉमर्स
विद्याविहार (पूर्व), मुम्बई-77

समीक्षक डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में हिंदी कहानी

- डॉ. सत्यवती चौबे

समकालीन हिंदी कथा साहित्य के पुरोधा प्रगतिशील चिंतक, विचारक एवं समीक्षक डॉ. देवेश ठाकुर एक बहुआयामी प्रतिभा संपन्न रचनाकार हैं। इनकी रचनाधर्मिता प्रगतिशील चेतना, ऊर्जस्वित प्रवाहमयता, विषय वैविध्य, तार्किकता, यथार्थवादी जीवन दृष्टि, मुखर स्पष्टवादिता, सामाजिक प्रतिबद्धता तथा मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं से संपृक्त है। गद्य के विविध विधाओं को समृद्ध एवं संवर्धीत करने में इनकी भूमिका सर्वोत्कृष्ट है। इनकी लेखनी से उपन्यास, कहानी, कविता, बाल-साहित्य, जीवनी, आत्मकथा, साक्षात्कार और अनुवाद आदि विधाओं के साथ-साथ शोध और समीक्षा लेखन भी अत्यंत संपन्न हुआ है। प्रस्तुत शोधालेख डॉ. देवेश ठाकुर की वैचारिक एवं समीक्षात्मक दृष्टि पर आधारित है, जिसके लिए उनकी समीक्षात्मक कृति 'हिंदी कहानी का विकास' को आधार बनाया गया है।

'हिंदी कहानी का विकास', 'आलेख', 'साहित्य के मूल्य', 'साहित्य की सामाजिक भूमिका' आदि सभी समीक्षात्मक रचनाएँ डॉ. देवेश ठाकुर के गहन अध्ययन, विषय की गहरी पकड़, सकारात्मक दृष्टि, तार्किकता, प्रगतिशील वैचारिक दृष्टि की परिचायक हैं और इनसे यह सिद्ध होता हैं कि डॉ. देवेश ठाकुर हिंदी साहित्य के शीर्ष समीक्षकों में से एक हैं। इनकी समीक्षात्मक दृष्टि बौद्धिकता, तार्किकता, तुलनात्मक अध्ययन, वस्तुपरक, चिंतनपरक, यथार्थपरक, सामाजिक प्रतिबद्धता से संबद्ध एवं विषय वैविय से संपन्न है तो वहीं इनके कहन की शैली भी बेजोड़ और गंभीर है।

'देवेश ठाकुर रचनावली खंड-१०' के प्रथम उपखंड 'हिंदी कहानी का विकास' में क्रमशः हिंदी कहानी : प्रारंभिक स्वरूप और उद्देश्य, पश्चिम की कहानीः विकास-प्रक्रिया, भारतीय कहानी की परंपरा, स्वतंत्रता-पूर्व की हिंदी कहानी, प्रतिनिधि कहानीकार, स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कहानीः पूर्व पीठिका, स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कहानीः विभिन्न कथा-आंदोलन और स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कहानीः विशिष्ट प्रवृतियाँ इस तरह कुल आठ प्रकरणों का समावेश किया गया है। यह अध्याय हिंदी कहानी के विकास-प्रक्रिया के साथ-साथ पश्चिम की कहानी परंपरा का, स्वतंत्रता के पूर्व और स्वतंत्रता के बाद की कहानियों का गहन विश्लेषण करता है।

'कहानी की कहानीः प्रारंभिक स्वरूप और उद्देश्य' में समीक्षक डॉ. देवेश ठाकुर ने हिंदी कहानी के उद्भव और विकास को दर्शाते हुए लिखा है कि कहानी का जन्म और विकास मनुष्य के जन्म एवं उसकी प्रज्ञा के विकास के साथ-साथ ही हुआ है। बहुत प्रारंभिक कहानियों में घटना, जिज्ञासा और मनोरंजक तत्वों का समावेश था। प्रारंभ में प्रत्येक तात्त्विक वस्तु का उपयोग सीमित होता है, लेकिन धीरे-धीरे व्यवहार और उपयोगिता के आधार पर वह विस्तृत फलक पर पहुँचता है। मनुष्य की विकास-यात्रा एवं उसकी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, पारिवारिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक अभिवृद्धि के साथ-साथ कहानी की विकास यात्रा के नए-नए क्षितिज खुलते गए और इसका विकास इतने व्यापक स्तर पर हुआ कि इसमें मनुष्य-जीवन की सभी प्रवृत्तियों के तत्वों को समाहित कर लेने की क्षमता आ गयी। इस बाबत डॉ. देवेश ठाकुर ने लिखा

है- 'घटना, जिज्ञासा और मनोरंजन के बिंदुओं से आरंभ होकर आधुनिक काल में कहानी वह विधा बन चुकी है जो समाज में व्याप्त असंगतियों-असमानताओं, पाखंडों-आडंबरों, समस्याओं, विरूपताओं और असंस्कृत प्रवृत्तियों, व्यवहारों को तो विवस्त्र करती ही है साथ ही स्वयं जीवन की नवीन संभावनाओं और उद्देश्यों से अनुप्राणित होती है।'[1]

इस ग्रन्थ में अध्याय एक के अंतर्गत कहानी की उद्देश्यगत विकास-यात्रा को विस्तृत रूप से व्याख्यायित करने के पश्चात डॉ. देवेश ठाकुर द्वारा पश्चिम की कहानीः विकास-प्रक्रिया का अवलोकन किया गया है, जिसमें इन्होंने बताया है कि वैश्विक फलक पर कहानी परंपरा का प्रारंभ लगभग ईसा पूर्व ४००० साल पहले प्राचीन मिस्र की 'जादूगरों की कहानियाँ' से प्राप्त होता है। 'जादूगरों की कहानियाँ' कथा संकलन के आधार पर अरबी, यूनानी, हीब्रू तथा भारतीय भाषाओं में कहानियों की भरमार है। पश्चिम की 'ईसप' कहानियों के साथ-साथ लोकप्रियता की दृष्टि से 'पंचतंत्र' की कहानियाँ और 'अरेबियन नाइट्स' की कहानियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। कहानी विधा का विकास मध्यकाल में अत्यंत धीमी गति से हुआ, लेकिन नवजागरण के बाद पश्चिमी यूरोप में कहानियों का अंबार-सा लग गया।

हालाँकि १९वीं शताब्दी में लगभग एक ही अवधि में जर्मनी, अमेरिका, रूस, फ्रांस आदि में कहानी लेखन का उदय और विकास हुआ। इन सभी देशों के साहित्यकारों का एक ही समय में एक साथ कहानी सृजन में संलग्न हो जाना यह प्रमाणित करता है कि इस समय तक समस्त साहित्यकारों को यह अनुभव हो चुका था कि कहानी, आत्माभिव्यक्ति का सर्वाधिक सार्थक, उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण माध्यम है। कालांतर में पश्चिमी साहित्यकारों द्वारा कहानी के कथानक, चरित्र, घटना प्रधान, शिल्प-शैली, परिवेश आदि तत्वों की गंभीरता, परिपक्वता पर विशेष जोर दिया गया।

डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में भारतीय कहानियों का आरंभिक स्वरूप ऋग्वेद के यम-यमी, पुरुरवा-उर्वशी आदि का वर्णन संवाद के रूप में विद्यमान है। ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों एवं ऋषियों की आध्यात्मिक व्याख्याओं में अनेक प्रसंग कथा के रूप में विद्यमान हैं। उपनिषदों के साथ-साथ रामायण-महाभारत महाकाव्यों और पुराणों में भी संवाद-शैली में कथाओं की सुदीर्घ परंपरा बनी हुई मिलती है जिन्हें हम आधुनिक कहानी का प्रेरणा स्त्रोत मानते हैं। इन कथाओं के माध्यम से मनुष्य के स्वभाव, चरित्र, आचरण, कर्तव्य एवं नैतिक धर्म के साथ ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सुधारने, सँवारने, परिमार्जित करके आदर्श मनुष्य बनाने की शिक्षा प्रदान की गई है। अनेक कथाओं में कथा के पात्र मनुष्य नहीं, अपितु पशु-पक्षी, पर्वत एवं वृक्ष जैसे प्राकृतिक उपादान हैं। इन नीतिपरक कथाओं का उद्देश्य शौर्य, साहस, प्रेम, सहिष्णुता, न्याय, ज्ञान, वैराग्य, आध्यात्मिक-भाव, धर्म, आचरण, नैतिकता, कर्तव्यपरायणता, राजनीति, उदात्तता, आदर्श आदि की प्रतिष्ठापना करना है। इन नीतिपरक कहानियों की परंपरा काफी लंबी है। कालांतर में भारतवर्ष देश पर अनेक विदेशी आक्रान्ताओं आदि के आक्रमण का प्रभाव हिंदी कथा साहित्य पर पड़ा। मध्यकाल में इस्लाम धर्म और आधुनिक काल में ईसाई धर्म की सभ्यता-संस्कृति से संबंधित कहानियों का प्रभाव हिन्दी कहानी साहित्य

पर सबसे अधिक पड़ा। देवेश जी के अनुसार कहानियों की यह सुदीर्घ परंपरा आधुनिक काल तक निर्बाध गति से चलती रही है और वर्तमान युग में हिंदी कहानी विधा अपने पूर्ण विकास को प्राप्त कर चुकी है।

डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में आधुनिक हिंदी कहानी का उद्भव और विकास अत्यंत अल्प अवधि में ही हुआ है। हिंदी कहानी ने इस अल्प अवधि में ही असीमित आयामों, विषय-वस्तुओं, भाव-भूमियों और शैलियों का संस्पर्शन ही नहीं किया; बल्कि उसे एक नयी ऊँचाई प्रदान की है, परिणाम स्वरूप इस विधा की अपरिमित संभावनाओं के क्षितिज खुल गए हैं।

हिंदी कहानी की विकास यात्रा का वस्तुपरक अनुशीलन करने के लिए आधुनिक कहानी के संपूर्ण कालखंड को डॉ. देवेश ठाकुर ने दो भागों में विभक्त किया है-(१) स्वतंत्रता पूर्व की कहानियाँ (२) स्वतंत्रता के बाद की कहानियाँ। इसी विभाजन को ध्यान में रखते हुए डॉ. देवेश ठाकुर ने हिंदी कहानी की विकास यात्रा को संक्षिप्त रूप में हमारे समक्ष रखा है और इन्होंने इस तथ्य पर अधिक बल दिया है कि किसी भी कालखंड के साहित्य सृजन के लिए उस समय की युगीन परिस्थितियाँ, युगीन परिवेश सबसे अधिक उत्तरदायी होती हैं, इसलिए इन्होंने स्वतंत्रता पूर्व और स्वतंत्रता के बाद की युगीन परिस्थितियों का गहन विश्लेषण किया है। इन्होंने तत्कालीन राजनीतिक परिवेश, सामाजिक परिवेश, आर्थिक परिवेश, धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश का सूक्ष्मतम अध्ययन करते हुए यह दर्शाया है कि किस प्रकार भारतीय परिवेश में व्याप्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विसंगतियों, विडंबनाओं, विद्रूपताओं एवं विषमताओं को तत्कालीन समर्थ रचनाकारों ने गहराई से समझा और तटस्थ न रहते हुए अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता को दर्शाते हुए युगीन समाज को अपनी कृतियों में लिपिबद्ध किया है। डॉ. देवेश के अनुसार इन रचनाकारों में प्रेमचंद का नाम सर्वोपरि है, जिन्हें केंद्रीय बिंदु मानकर ही स्वतंत्रता पूर्व की कहानियों के विकास-क्रम को समझा जा सकता हैः- इस क्रम में प्रेमचंद पूर्व युग (१८१०-१९१०), प्रेमचंद्र युग (१९११-१९३६) और प्रेमचंदोत्तर युग (१९३७-१९४७) को श्रेणीबद्ध किया है।

डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में स्वाधीनता के बाद देश की युगीन परिस्थितियों में आमूल-चूल परिवर्तन आया, वैचारिक चिंतन में बदलाव आया, कहानी के नैतिक मूल्यों, मानवीय मूल्यों का ग्राफ परिवेशानुसार ऊपर-नीचे चढ़ता उतरता रहा, अवसाद ग्रस्त, दमित-कुंठित विचारधारा के कहानीकारों ने जहाँ हिंदी कहानी को क्षतिग्रस्त किया है तो वहीं समाज के प्रति प्रतिबद्ध रचनाकारों ने इसे नयी ऊँचाई प्रदान की है। सामाजिक परिवर्तन और बौद्धिक विकास की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। इसका प्रभाव साहित्य सृजन पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। देश की आजादी के बाद प्रारंभिक वर्षों की कहानियों में जहाँ एक तरफ उत्साह की भावना थी; तो वहीं कुछ वर्षों के बाद जनमानस के टूटे-बिखरे सपनों के कारण साहित्यकारों का शासकों के प्रति मोहभंग होने लगा। संक्रमण काल के इस दौर में अनेक हिंदी कहानीकारों ने एक स्वर में तत्कालीन समाज में व्याप्त तमाम असंगतियों, विसंगतियों, अनाचार, शोषण व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था और उनके दुष्प्रभावी प्रवृत्तियों को उठाया, उन्हें मुखरित रूप से वाणी प्रदान

कर आम आदमी के पक्ष में चिंतन धारा की दिशा को मोड़ने का समयानुकूल सार्थक प्रयास किया और यह सिद्ध किया कि प्रतिबद्धता सदैव समाजहित, लोकहित और जीवन के श्रेष्ठ मूल्यों के प्रति ही होती है।

डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी कहानी को विभिन्न कथा-आंदोलनों के दौर से गुजरना पड़ा। आधुनिक कहानीकार अपने पहले के साहित्यकारों, कहानीकारों से कहीं अधिक प्रबुद्ध थे। वे पूर्व पीढ़ी से अलग अपनी पृथक और विशिष्ट पहचान बनाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने पाश्चात्य देशों के वादों-सिद्धांतों मसलन मार्क्सवाद, मनोविश्लेषणवाद, अस्तित्ववाद, बिखंडनवाद, संरचनावाद, उत्तरसंरचनावाद, उत्तर आधुनिकतावाद आदि को पढ़ा, उनका अनुसरण किया और उन्हें आत्मसात कर अपनी कहानियों में अनुप्रयुक्त किया, ताकि इनकी कहानियाँ परंपरागत कहानियों से भिन्न अपनी एक अलग पहचान बना सकें।

डॉ. देवेश ठाकुर के अनुसार भारतीय साहित्य की यह परंपरा रही है कि पश्चिमी देशों का साहित्यिक युगबोध जो कभी वहाँ ४०-५० साल पहले प्रतिष्ठित था, वही बासी होकर ४०-५० साल बाद हिंदी साहित्य द्वारा आत्मसात किए जाने के कारण चर्चा का विषय बन जाता है, नया आन्दोलन लेकर आता है। इन तमाम स्थितियों में उपजी साहित्यिक युगबोध ने हिंदी कहानी से विभिन्न कथा आंदोलनों को सन्नद्ध किया। हिंदी कहानी को आंदोलन का पहला रूप 'नयी कहानी' और 'समकालीन कहानी' के रूप में मिला। तत्पश्चात 'सचेतन कहानी', 'समानांतर कहानी' आदि के रूप में इसकी व्याख्या हुई। इन विभिन्न कथा आंदोलनों के दरम्यान भिन्न-भिन्न भावबोध से संपृक्त कहानियों का सृजन हुआ। इन कहानियों की अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियाँ हैं जिनका डॉ. देवेश ठाकुर ने गहन विश्लेषण किया है। इनके अनुसार आजादी के तुरंत बाद की कहानियाँ संक्रमणकालीन कहानियाँ थीं। इन कहानियों में व्यक्तिगत हीनता, अभाव, संत्रास, निराशा, अवसाद, निरर्थकता, अस्वस्थ, बीमार, कुंठित यौन केंद्रित मानसिकता, नैतिकता का पतन आदि की काफी प्रचुरता रही। इसके अतिरिक्त अनगिनत कहानियों में कतिपय कहानीकारों ने स्त्री-पुरुष संबंधों के प्रस्तुतीकरण में अत्यंत स्वाभाविक, यथार्थपरक और मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताओं से संपृक्त सोद्देश्यपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। इनमें कमलेश्वर, मोहन राकेश, फणीश्वरनाथ रेणु, दूधनाथ सिंह, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, ज्ञानरंजन, निर्मल वर्मा, मेहरूनिसा, परवेज, महीप सिंह, दीप्ति खंडेलवाल, शशिप्रभा शास्त्री, उषा प्रियंवदा, प्रयाग शुक्ल आदि प्रमुख हैं। इन लेखकों ने समकालीन मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के परस्पर संबंधों के तनाव, दुख आदि को सजीव रूप में अभिव्यक्त किया है। इन कहानियों में अकेलेपन की घुटन है, वैयक्तिक स्वतंत्रता का मूल्य हरेक को चुकाने के बाद की परिस्थितियाँ हैं, विषम विपन्न आर्थिक परिस्थितियाँ हैं, अर्थ ही व्यक्ति की श्रेष्ठता की कसौटी है- तथ्य की प्रामाणिकता है, जीवन संघर्ष की त्रासदी है, सुखी जीवन के सपने ढहने के बाद व्यक्ति द्वारा अपने यथार्थ के टुकड़े सहेजने की प्रमाणिकता है, स्त्रियों के शिक्षित होकर आत्मनिर्भर बनने के बाद उनके जीवन में व्याप्त तमाम शारीरिक मानसिक समस्याएँ-यातनाएँ हैं, स्त्री की बदली हुई सामाजिक स्थिति के परिणाम स्वरूप उसकी उपलब्धियों और समस्याओं दोनों का चित्रण है, जीवन की

निरर्थकता का अहसास और आक्रोश है, अस्तित्व और अस्मिता का द्वंद्व और संघर्ष है, व्यक्तिगत संबंधों में उदासीनता है, आंचलिकता की प्रस्तुति है, तो वहीं भाषा-शैली और शिल्पगत प्रयोगशीलता है। इन समर्थ साहित्यकारों ने इन तमाम मुद्दों के साथ-साथ टूटते-बिखरते परिवारों, टूटते-बिखरते मूल्यों की पृष्ठभूमि में व्याप्त मनोदशाओं एवं कारणों की पड़ताल की है, पिछले मूल्यों के विघटन एवं नये मूल्यों की स्थापना के प्रयास में तमाम विसंगतियों का आकलन किया है।

इस प्रकार, डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि में आजादी के बाद हिंदी कहानी ने अपने विकास की महत्त्वपूर्ण यात्रा तय की है, अनेक-अनेक उपलब्धियाँ अर्जित की हैं। आजादी के पहले की कहानियों की अपेक्षा में आजादी के बाद की कहानियों में यथार्थपरकता, स्वभाविकता का भाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। प्रेमचंद द्वारा उनके उत्तर काल की रचनाओं में प्रणीत सृष्टि, हिंदी कहानी की मूल एवं मुख्य दृष्टि के रूप में विकसित हुई है। स्वाधीनता के बाद की कहानियों में निराशा, कुंठा, अवसाद जैसी तमाम निराशाजन्य मनोवृत्तियों के साथ ही इसमें राजनीति, समाज, शोषण, उत्पीड़न, व्यक्ति की स्वार्थी प्रवृत्ति, आर्थिक समस्याएँ, आंचलिक समस्याएँ, विद्रोह, जन सामान्य की हर तरह की समस्या, आम आदमी की सर्वपक्षीय दुख गाथा आदि अनेक आयाम अत्यंत शिद्दत और सार्थक रूप से अभिव्यक्त हुए हैं। इस प्रकार कहानी विधा को समृद्ध बनाने में प्रसिद्ध - गुमनाम अनगिनत कहानीकारों की अक्षुण्ण भूमिका है। इन रचनाकारों द्वारा रचित हिंदी कहानियाँ भारत की विभिन्न भाषाओं में रचित कहानियों की अपेक्षा कहीं अधिक समृद्ध हैं। इस बात से कदापि इन्कार नहीं किया जा सकता है।

अंत में, हिंदी कहानी साहित्य का विश्लेषण-विवेचन करने में डॉ. देवेश ठाकुर की दृष्टि अत्यंत सूक्ष्मतम है। इन्होंने हिंदी कहानी के संबंध में अपनी विचारधारा को अत्यंत मुखरता, स्पष्टता, सजगता, सुदृढ़ता, साहसिकता, प्रतिबद्धता, बेबाकी और बिना किसी लाग-लपेट के हमारे समक्ष रखा है। सभी तथ्यों को यथार्थपरकता की कसौटी पर कसा है, तार्किकता के साथ उसका खंडन - मंडन किया है। हिंदी कहानी की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से लेकर आधुनिक युग में, आज के दौर में लिखी जाने वाली कहानियों की युगीन परिस्थितियों और प्रवृत्तियों को इन्होंने अत्यंत व्यवस्थित रूप से उठाया है, शताधिक कहानीकारों की कहानियों की दृष्टांत सहित गहरी पड़ताल की है और तथ्यों को घुमा फिराकर कहने के बजाय सीधे और स्पष्ट रूप उकेरा है। समीक्षक देवेश ठाकुर द्वारा इन सभी कहानियों का पर्यवेक्षण यह दर्शाता है कि हिंदी कहानी साहित्य विषय वैविध्यताओं से परिपूर्ण है और इसका भविष्य उज्ज्वल है। हिंदी कहानी की समीक्षा करते समय देवेश जी की दृष्टि मानवीय संवेदनाओं से संपृक्त है, सामाजिक सरोकारों के प्रति प्रतिबद्ध है। इनकी यही कटिबद्धता, प्रतिबद्धता और साहित्य के प्रति सन्नद्धता इन्हें महान साहित्यकारों, समीक्षकों की कोटि में सन्निहित करती है।

संदर्भ :

१. देवेश ठाकुर रचनावली खंड-१०, सं. डॉ. सतीश पाण्डेय एवं डॉ. सत्यनारायण बी., नमन प्रकाशन, दिल्ली, २०१८, पृष्ठ-६,

- अध्यक्ष, हिंदी-विभाग
विल्सन कॉलेज, गिरगाँव चौपाटी, मुंबई -400020

आलोचक देवेश ठाकुर की दृष्टि में 'तीसरा सप्तक': एक अवलोकन

- डॉ. कोयल विश्वास

देवेश ठाकुर हिंदी साहित्य-जगत के उन सफल, प्रगतिशील समीक्षक व रचनाकारों में से एक हैं जिनकी तीक्ष्ण दृष्टि एवं साहित्य के प्रति अगाध प्रेम ने उन्हें स्पष्टवादी स्वर दिया। अज्ञेय द्वारा संपादित 'तीसरा सप्तक' नयी कविता की दुनिया में एक नई पहल थी। कविता के प्रति साहित्यकारों का एक नूतन प्रयोग भी कहा जा सकता है। कविता की तथा-कथित नियमों को लाँघकर उसे एक नया रूप देना जितना सहज था, समीक्षात्मक दृष्टि से उतना ही विवादस्पद भी रहा। देवेश ठाकुर ने बेबाकी से इस संग्रह के कवियों की हर एक कविता पर अपनी टिप्पणी की और साथ ही कविता के स्तंभों को भी पाठकों के सम्मुख रखा। अलग-अलग बिंदुओं में काव्य सौन्दर्य से लेकर काव्य के गुण आदि के धरातल पर तीसरा सप्तक के कवियों की आलोचना की। एक स्वस्थ आलोचनात्मक दृष्टिकोण साहित्य को सम्पन्न बनाने में सक्षम होता है और यही देवेश ठाकुर ने सिद्ध किया। साहित्यकार केवल अपने समय का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु वह पूर्व के प्रतिमानों को साथ लेकर वर्तमान को एक जागृति प्रदान करता है, जिससे भविष्य में उनकी कृतियाँ प्रासंगिक होने के साथ विचारणीय भी बनी रहें।

हिंदी साहित्य जगत में देवेश ठाकुर एक प्रगतिचेता रचनाकार-समीक्षक होने के साथ-साथ अपनी प्रखर स्पष्टवादिता के कारण विवादों से भी घिरे रहे। उनकी प्रदीर्घ रचना-यात्रा को डॉ. सतीश पांडेय एवं डॉ. बी. सत्यनारायन के सम्पादन में 2017 में 'देवेश ठाकुर रचनावली (16 खंड) में प्रकाशित किया गया। इससे पूर्व देवेश ठाकुर रचनावली के सात खंड 1992 में प्रकाशित हुए थे। इसके पाँचवें खंड में संकलित पुस्तक 'नयी कविता के सात अध्याय' के सातवें अध्याय में अज्ञेय द्वारा संपादित 'तीसरा सप्तक' की इन्होंने बड़ी ही बेबाकी से विस्तृत विवेचना की है। 'तीसरा सप्तक' नयी कविता की दुनिया में एक नई पहल थी। देवेश ठाकुर ने बेबाकी से इस संग्रह के कवियों की हर एक कविता पर काव्य सौन्दर्य से लेकर काव्य के गुण आदि के धरातल पर अपनी टिप्पणी की है। प्रस्तुत लेख में नयी कविता के सात अध्याय के सातवें अध्याय पर चर्चा की गई है।

अक्सर यह कहा जाता है कि एक असफल कृतिकार सफल समीक्षक बन जाता है परंतु देवेश ठाकुर के लिए यह बात एक अपवाद स्वरूप है। देवेश ठाकुर मार्क्सवादी दृष्टिकोण के थे, इस बात पर कोई संदेह नहीं परंतु अपने लेखन में उस विचार का हमेशा एक संतुलन भी बनाए रखने में वह सफल हुए। मानवीय मूल्यों का प्रतिपादन उनकी रचनाओं में हमेशा हुआ है, संभवतः इसलिए कई लेखक इन्हें मानवीय मूल्यों के लेखक के रूप में भी मानते हैं। विवादों में घिरे रहने पर भी उनकी लेखनी ने विराम नहीं लिया। सत्य को सत्य प्रमाणित करने की जिद ने उन्हें एक अलग श्रेणी में खड़ा कर दिया। अपनी समीक्षा में उन्होंने नयी कविता की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार किया है।

1. वैयक्तिकता (और अहम भाव)

2. अनास्था, निराशा, कुंठा तथा समान वर्गीय भावों की अभिव्यक्ति (आत्मलीनता, पराजय भाव, वेदना, लघुता, निरीहता, दीनता, पापों की स्वीकृति, आत्महीनता, विवशता आदि का भाव भी प्रचुर मात्रा में प्राप्त)

3. आस्था ,विश्वास, उत्साह, साहस और संकल्प

4. यथार्थ चित्रण

5. सर्वपक्षीय नूतनता का आग्रह

6. समष्टि भाव और वादमुक्तता

7. क्षणवाद और भोगवाद (और प्रेम की पीड़ा)

8. व्यंग्य

9. गद्यात्मकता और दुरूहता

10. भदेस चित्रण (देवेश ठाकुर के अनुसार गर्हित, अश्लील एवं घृणित चित्रण से है)

11. अन्य प्रासंगिक प्रवृत्तियाँ

दूसरे सप्तक से तीसरे सप्तक तक कविता के क्षेत्र में बहुत परिवर्तन आ चुका था। देवेश ठाकुर का मानना है कि दूसरे सप्तक के कवियों की रचनाओं में काव्य सुलभ संस्कार रहे। सन् 1951 में प्रकाशित दूसरा सप्तक में अज्ञेय ने कहा था- 'ये कवि भी विराम स्थल पर नहीं पहुँचे हैं, लेकिन उनके आगे प्रशस्त पथ है और एक आलोकित क्षितिज रेखा। गुप्त, प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी वर्मा, बच्चन, दिनकर- इस सूची को हम आगे बढ़ाएँगे तो निस्संदेह 'दूसरा सप्तक' के कुछ कवियों का उल्लेख उसमें होगा।'[2]

अज्ञेय के इस कथन का निर्वाह भी हुआ है क्योंकि दूसरा सप्तक के कवियों ने अपनी रचनाओं में वर्णित विषय, प्रतीक, बिम्ब, उपमा आदि के नवीनीकरण के साथ काव्य में कलात्मकता की भी रक्षा की। लेकिन 'तीसरा सप्तक' में ऐसा नहीं है। इसकी समीक्षा करते हुए देवेश ठाकुर ने काव्य सौन्दर्य एवं कलात्मकता का विरोधाभास करती हुई कविताओं एवं उनके रचनाकारों की तीव्र निंदा की है। 1959 में प्रकाशित 'तीसरा सप्तक' के संपादक अज्ञेय संभवतः स्वयं जानते थे कि इस शृंखला की कई रचनाएँ विवादस्पद बनेंगी। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अज्ञेय ने समीक्षकों को भी एक प्रकार की चुनौती दी। उन्होंने पूर्वाग्रह को तोड़कर नई कविता को पाठकों के बीच स्थापित करने का एक अभूतपूर्व प्रयास किया। नए कवियों के नए विचारों को कविता के माध्यम से अभिव्यक्त करने की एक योजना बनाई। उन्होंने इसकी भूमिका में लिखा- 'द्विवेदी काल के श्री मैथिलीशरण गुप्त या छायावादी युग के श्री 'निराला' जैसा कोई शलाका-पुरुष नयी कविता ने नहीं दिया है (न उसे अभी इतना समय ही मिला है); फिर भी तुलना के लिए और नहीं तो पहले दोनों सप्तकों के कवि तो हैं ही; और परंपराओं की कुछ लीकें भी बन गई हैं। पत्र-पत्रिकाओं में 'नयी कविता' ग्रा' हो गयी है, संपादक-गण (चाहे आतंकित हो कर ही!) उसे अधिकाधिक छापने लगे हैं, और उसकी अपनी भी अनेक पत्रिकाएँ और संकलन-पुस्तिकाएँ निकलने लगी हैं, उधर उसकी आलोचना भी छपने लगी है, और धुरंधर आलोचकों ने उस के अस्तित्व की चर्चा करना गवारा किया

है- चाहे अधिकतर भर्त्सना का निमित्त बना कर ही।'[3]

देवेश ठाकुर 'तीसरा सप्तक' के बारे में लिखते हैं -'इसमें संकलित कवियों के वक्तव्य तथा कविताओं को (यदि वे सभी कविताएँ हैं तो) समझने की चेष्टा की गई है किन्तु जितना अधिक हमने इस दिशा में प्रयत्न किया है, (बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है) उतनी ही हमारी परेशानी और ऊब बढ़ी है। हम यह नहीं कहना चाह रहे हैं कि इस 'सप्तक' की सभी कविताएँ 'बोर' हैं किन्तु इस तथ्य को भी झुठलाया नहीं जा सकता कि अधिकांश कविताएँ इसीलिए कविताएँ कही जा सकती हैं कि वे कवि 'अज्ञेय' के संपादकत्व में संपादित हुई हैं; बहु-प्रतीक्षित तथा नवीन-काव्य के प्रतिनिधि संकलन में उनको आर्ट पेपर पर बड़े-बड़े अक्षरों में आकर्षक ढंग से छापा गया है और सबसे विशेष- स्वयं कवियों ने अपने विद्वत्तापूर्ण वक्तव्य में (जो उनकी रचनाओं से अधिक सशक्त और स्पष्ट है) उन्हें कविता कहा है। अस्तु।'[4]

देवेश ठाकुर की असहमति एवं असंतोष प्रकट करने के कई कारण थे, जिनको उन्होंने काव्य कला की दृष्टि से समझाया भी है। अज्ञेय के प्रति केवल एक वस्तुनिष्ठ परिप्रेक्ष्य से उन्होंने इस संकलन की कुछ कविताओं पर कटाक्ष किया है और एक समीक्षक का साहित्य एवं समाज के प्रति यह कर्तव्य भी होता है। समय समय पर हर क्षेत्र में परिवर्तन आवश्यक है मगर परिवर्तन एवं पुनर्स्थापन में अंतर हैं। जहाँ कवि का एक दायित्व यह होता है कि पुराने मूल्यों के आधार पर नवीनीकरण और संशोधन लाए, वहीं समीक्षकों एवं आलोचकों का भी दायित्व होता है कि उन्हें तुलनात्मक दृष्टिकोण से न देखकर एक नवीनता के दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करें। देवेश ठाकुर ने परिवर्तन को सराहा है परंतु काव्य में अनावश्यक तत्वों की भर्त्सना की है। 'तीसरा सप्तक' के कवियों के नाम एवं उनकी संकलित कुछ कविताओं के नाम इस प्रकार हैं:

1. प्रयागनारायण त्रिपाठी समाधिस्थ, संख्या-भ्रम, यह हाथ, अधूरा गीत, अंतिम दो क्षण, नयी बरसात, मृत्युंजय छंद आदि।

2. कीर्ति चौधरी का वक्तव्य, केवल एक बात, सीमा-रेखा, एकलव्य, कंपनी बाग, पंख फैलाये, वक्त आदि।

3. मदन वात्स्यायन उषा स्तवन, शुक्र-तारा, सुशिप्रा की वर्ष गाँठ पर, स्वस्ति, मेरी बेटी, सरकारी कारखाने में कर्मचारी की चिंता आदि।

4. केदारनाथ सिह अनागत, स्वरमयी, फागुन का गीत, वसंत गीत, धानों का गीत, दीप-दान आदि।

5. कुंवर नारायण ये पंक्तियाँ मेरे निकट, जाड़ों की एक सुबह, भुतहा घर, शतरंज, टूटा तारा, पगडण्डी आदि।

6. विजयदेवनारायण साहीमानव-राग, दर्द की देवापगा, हिमालय के आँसू, खोल दिया पिंजरा, दोपहरः नदी स्नान, विष कन्या के नाम आदि।

7. सर्वेश्वरदयाल सक्सेना आज पहली बार, मैं ने कब कहा, सुबह से शाम तक, सौन्दर्य-बोध, कलाकार और सिपाही आदि।

'तीसरा सप्तक' की कविताएँ नयी प्रवृत्ति से ओत प्रोत हैं इसमें कोई संदेह नहीं। लेकिन सदैव कवि और समीक्षक उस एक रचना के प्रति भिन्न भिन्न मत रखते हैं।

प्रयाग नारायण त्रिपाठी के बारे में देवेश ठाकुर लिखते हैं- 'उन्होंने अपनी रचनाओं में नए शीर्षकों के अन्तर्गत नये विषय को नये शिल्प के साथ चित्रित करना चाहा है। इसमें संदेह नहीं कि उनके पास कहने के लिए कुछ है; किन्तु वह इतना अधिक वैयक्तिक और दार्शनिक (यद्यपि वे दर्शन को कविता का विषय नहीं मानते) है कि उनका नवीन शिल्प-प्रयोग वस्तु को किसी प्रकार की अर्थमत्तापूर्ण अभिव्यक्ति दे सकने में सफल नहीं हो सका है। 'यह हाथ', 'लक्ष्य' तथा 'प्रश्न' आदि कविताओं में, हो सकता है व्यक्तिगत अनुभूति और ईमानदारी हो; किन्तु साहित्य के अच्छे विद्यार्थियों के लिए भी इनकी स्पष्टता काफी संदिग्ध है। रसात्मक स्पष्टता के अभाव से कविता नष्ट-प्राण हो जाती है और चमत्कार प्रदर्शन की योजना एक फूहड़ खिलवाड़ मात्र रह जाती है।.. उनकी 'समाधिस्थ' कविता वस्तु उन्मुख न होकरआत्मोन्मुख ही अधिक है जो नए कवि का अपना वैशिष्ट्य है।.. संक्षेप में, त्रिपाठीजी की कविताओं में आत्मसत्य के उद्घाटन की चेष्टा हुई अवश्य है। वस्तु सत्य को अधिक महत्व नहीं मिल सका है, फिर भी अत्यधिक चिंतनशीलता ने उनके काव्य के रस-तत्व का हनन किया है और साहित्यिक पाठक के मन प्राणों पर भी उनका यह प्रभाव नहीं पड़ पाता जो सुचिन्तन के परिणामस्वरूप लिखे काव्य में अपेक्षित है।'[5]

कीर्ति चौधरी की कविताओं की आलोचना करते हुए देवेश ठाकुर का कहना है कि कीर्ति चौधरी की रचनाओं में नारी-सुलभ घरेलूपन दिखाई देता है जिसके कारण न उनमें बौद्धिक चिंतन पाया जाता है और न ही चमत्कार प्रदर्शन। उनकी रचनाओं का विषय भी दिन-प्रतिदिन होने वाली घटनाओं से जुड़ा हुआ था। देवेश ठाकुर इस बात को मानते है कि कवयित्री की अभिव्यक्ति में एक सादगी है। देवेश ठाकुर उनके बारे में इस बात का उल्लेख करते हैं -'उन्होंने नयी कविता के संबंध में कोई दंभपूर्ण घोषणा भी नहीं की है (जैसा कि इस सप्तक के कुछ आलोचकों ने किया है।) नयी कविता के विषय में उन्होंने कहा है- नयी कविता परस्पर विरोधी या विरोधी जान पड़ने वाले गुणों और विशेषताओं का एक अनोखा संगम है। सुश्री चौधरी की कविताओं में विषम गुणों का यह संगम कविता की सरलता की अपेक्षा स्पष्टवादिता की सीमा का अतिक्रमण भी नहीं करता।..

'कीर्ति चौधरी अपनी कविताओं के लिए वक्तव्य की वैसाखी को आवश्यक नहीं मानतीं। कविता संबंधी अपनी मान्याताओं को प्रतिष्ठित करने का लोभ उनमें नहीं दिखता।.. कीर्ति चौधरी ने जिस सामान्य परिवेश और सामान्य रीति से अपना जीवन जिया है, वही सामान्यतः उनकी रचनाओं में है।'[6]

इन दोनों कवियों की कविताओं को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखते हुए देवेश ठाकुर ने यथार्थ चित्रण को प्रधानता दी। इसी प्रकार मदन वात्स्यायन के बारे में वे लिखते हैं- 'मदन वात्स्यायन ने भूमिका के लिए प्राप्य पृष्ठों का प्रयोग नयी कविता के विज्ञापन में किया है। वे नई हिंदी कविता को नया संसार मान कर चलते हैं। मदन जी ने काव्य-विस्तार की बात को बड़े उत्साह के साथ प्रस्तुत किया है। साथ ही, इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि यदि नयी कविता की बाढ़ अभी कुंठित प्रतीत होती है तो उसका दोष नए कवियों की अक्षमता पर नहीं मढ़ा जा सकता बल्कि इसके लिए 'पूँजी के और

असमाजवादी राजकीय नियंत्रण के विष-वपन से निस्तेज' हमारा आज का समाज उत्तरदायी है। मदनजी की तीन कविताएँ- 'उषा-स्तवन', 'दो विहाग' और 'झउआ के फूल' विशेष रूप से पाठक का ध्यान आकर्षित करती हैं लेकिन इन तीनों में प्रायोगिक चमत्कार का आग्रह कम और परंपरावादी शिल्प-शैली की योजना विशिष्ट है। नए प्रतीक भी प्राचीन प्रतीकों से एकदम असंबद्ध नहीं है। इसीलिए इनमें लय और रसात्मकता है और इसीलिए इनमें दुर्बोधता का प्रवेश नहीं हो सका है।'[7]

देवेश ठाकुर ने सभी रचनाकारों की पहले विशेषताएँ और फिर उनमें त्रुटियों का वर्णन किया है। कुल मिलाकर सभी कवियों की नयी कविता पर विचारधारा को समझते हुए उन्होंने भविष्य में काव्य के वस्तु बोध पर अपनी चिंता प्रकट की है। जैसे केदारनाथ जी ने अपनी कविताओं को तीन वर्गों में विभाजित किया। यथा प्रथम वर्ग में ग्रामीण और लोक जीवन के परिवेश में लिखी गई रचनाएँ। द्वितीय वर्ग में उन रचनाओं को रखा गया, जिनमें उनको युग-जीवन के सपनों को सँजोने का अवकाश मिला। तृतीय वर्ग में प्रणय संबंधी रचनाओं को सम्मिलित किया गया है। देवेश जी मानते हैं कि तीसरा सप्तक में केदारजी की रचनाएँ अन्य कवियों की तुलना में अधिक प्राणवान और इसीलिए अधिक सार्थक लगती हैं। उनकी कविताएँ 'पात नए आ गए' तथा 'धानों का गीत' में रागात्मक प्रवृत्ति एवं ग्रामीण सरलता का खूबसूरत मिश्रण तथा भावों का गांभीर्य और अनुभूति की मृदुता का मधुर संगम देखा जा सकता है।

तीसरा सप्तक के पाँचवें कवि कुँवर नारायण हैं। उनकी रचनाओं के बारे में देवेश जी लिखते हैं -'उक्त सप्तक के पाँचवें कवि कुँवर नारायण हैं। उनके शब्दों में कविता कोरी भावुकता की हाय-हाय न होकर यथार्थ के प्रति एक प्रौढ़ प्रतिक्रिया की मार्मिक अभिव्यक्ति है। कुँवर जी की रचनाओं को पढ़कर लगता है कि काव्य में जिस मार्मिक अभिव्यक्ति केसिद्धांत को लेकर वे चले हैं, उसको अपने बौद्धिक गांभीर्य के कारण अपनी रचनाओं मेंप्रतिष्ठित करने की चेष्टा में वे असफल ही अधिक रहे। नवीनता और वैचित्र्य के प्रति उनका एक निश्चित लगाव रहा है।'[8]

देवेश ठाकुर एक तरफ जहाँ कवि कुँवर नारायण की कविताओं में व्याप्त कमियों को दशार्ते हैं, वहीं उनकी खूबियों को भी प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि 'जाड़ों की एक सुबह' का अधिकांश भाग जहाँ बहुत कृत्रिम महसूस होता है, वहाँ कुछ पंक्तियाँ बहुत सुंदर भी हैं। सौन्दर्य बोध हर कवि की अपनी थाती होता है परंतु लेखक जब स्वयं आलोचक या समीक्षक की भूमिका निभाते हैं तो कहीं न कहीं उस सौन्दर्यबोध के साथ साहित्य के संस्कार के प्रति उनका एक प्रकांड दायित्व निभाने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। देवेश जी कुँवर नारायण के बारे में यह भी लिखते हैं कि - 'विषय के प्रस्तुतीकरण के लिए जिस शैली-योजना और शब्द-चयन की अपेक्षा होती है, उनका अभाव इनकी रचनाओं में सर्वत्र खटकता है।....वैसे कवि की प्रतिभा 'पगडंडी' जैसी कविताओं में मुखर अवश्य हुई है, लेकिन ऐसा शब्द-संयोजन बहुत कम रचनाओं में दिखाई पड़ता है।'[9]

तीसरा सप्तक के छठें कवि विजय देव नारायण साही जी हैं, जिनकी रचनाओं का आधार आस्था है। देवेश ठाकुर का मानना है कि वस्तुतः उन्होंने कविता के 'शील' को

बनाए रखने की चेष्टा की है। उनके अनुसार साही जी की कविताएँ मानव राग, भाषा, भाव और प्रस्तुतीकरण सभी दृष्टियों से सुंदर और सार्थक हैं।

इस संकलन के आखिरी कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना जी हैं। देवेश जी के अनुसार, 'सर्वेश्वर जी को एक तो मठाधीश कवियों और आलोचकों से चिढ़ है और दूसरे वे वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक सभी क्षेत्रों में व्याप्त जर्जर रूढ़ियों, परंपराओं और विघटित मूल्यों से लोहा लेना सच्चे साहित्यकार का धर्म मानते हैं। उनका दृष्टिकोण समाजवादी है और उनकी अभिव्यक्ति में एक किशोर आक्रोश (यद्यपि उनकी जन्म तिथि 1927 ई. है) विद्यमान है।'[10]

इस प्रकार देवेश ठाकुर ने प्रत्येक कवियों एवं उनकी रचनाओं की विशेषताओं के साथ उनकी कमियों को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखा, परखा एवं एक विचारणीय मन्तव्य प्रस्तुत किया है। मगर ध्यान देने की बात यह है कि उन्होंने समालोचना ही नहीं की बल्कि उन बिंदुओं को तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक रूप से सामने रखा, जिससे कविता का अर्थ एवं मूल्य साहित्य में स्खलित न हो जाए। उनको इस बात से कभी विरोध नहीं था कि नयी कविता में नए प्रयोग कवियों ने किया है अपितु उन्हें चिंता इस बात की थी कि नयेपन की उँगली थामकर वे दिशा-भ्रांत न हो जाएँ। उन्होंने स्वयं इस बात की पुष्टि की है। उनका कहना है- 'कविता को हम मानस से उद्भूत संवेदनशील अनुभूतियों की रसपूर्ण कलात्मक अभिव्यक्ति मानते हैं। नये कवियों का दृष्टिकोण शायद इससे 'विस्तृत' है। वे कविता को संकीर्ण घेरे में, जर्जर निष्प्राण धाराओं में बहाते रहने पर विश्वास नहीं करते हैं। उनका क्षेत्र व्यापक है, जिसमें जग जीवन के सभी कार्य-व्यापार, सुंदर-असुंदर समाहित हैं। वे प्रस्तुतीकरण की शैली में भी नवीनता के अभिलाषी हैं, साथ ही नए प्रयोग भी उन्हें अभीष्ट हैं। हमें भी इनसे कोई विरोध नहीं हैं। हम तो केवल यह कहना चाहते हैं कि विषय-वस्तु का यह विस्तार, प्रस्तुतीकरण का नाविन्य और नए प्रयोगों की विलक्षण धूम- इन सबको उच्छृंखलता की सीमा तक न घसीटा जाये। इतना न हो जाए कि यह विविधता और नयी दृष्टि साहित्य के प्रांत का एक भ्रष्टाचार-सा लगे और यदि इन प्रयोगों की स्थापना करना आज का संवेदनशील बौद्धिक कवि आवश्यक ही समझता है तो यह सब कुछ कविता के नाम पर न किया जाए। साहित्य की एक और नयी विधा बनने दी जाए, उसका कोई भी नाम हो, किन्तु कविता, काव्य या गीत न हो क्योंकि इन शब्दों में परंपरा ने जिस रस और ध्वनि को भर दिया है, उसे अधिकांश नयी रचनाएँ प्रस्तुत कर सकने में असमर्थ रही हैं।'[11]

निष्कर्षतः तीसरा सप्तक के संदर्भ में देवेश ठाकुर की तीक्ष्ण दृष्टि एवं अज्ञेय का एक नया प्रयोग हिंदी साहित्य के लिए चर्चा का विषय है। कवि ने जिसे प्रयोग की दृष्टि से देखा आलोचक ने उसे बिल्कुल विपरीत दृष्टिकोण से देखा। इस क्षेत्र में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि चाहे वह कितना ही उत्कृष्ट रचनाकार क्यों न हो, आलोचना एवं समीक्षा के कठघरे पर खड़ा होकर उसे जवाब देना पड़ता है। साहित्य अपना उत्तराधिकारी कठिन परीक्षा के बाद ही निर्धारित करता है। समीक्षक देवेश ठाकुर रचनावली खंड 5 से इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि रचनाकार जब अपनी भूमिका बदलता है तब वह पूर्णरूपेण विषय-वस्तु के संरक्षण को महत्व देता है। कविता को नयी कविता बनाने में

जैसे कवियों ने रूढ़िगत मान्यताओं को खंडित किया है, समीक्षक देवेश ठाकुर ने काव्य कला को खंडित होने से बचाया भी है। नए विचार ही नए विवाद को जन्म देते हैं और उन मतों के मंथन से नवीन प्रवृत्ति का उदय होता है। इसलिए आज के दौर में देवेश ठाकुर जैसे साहित्यकारों की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है, जिनमें बेबाकी से सत्य कहने का साहस हो, कलम में धार हो और रचनाएँ समाज को ऊर्जा से भर दें।

संदर्भः

1. देवेश ठाकुर रचनावली, खंड 5, संकल्प प्रकाशन, मुंबई, पृ. सं. संपादकीय
2. वही, पृ. सं. 155
3. अज्ञेय, तीसरा सप्तक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, पृ. सं. -छह
4. देवेश ठाकुर रचनावली, खंड 5, संकल्प प्रकाशन, मुंबई, पृ. सं. 156
5. वही, पृ. सं. 156,157
6. वही, पृ. सं. 157,158
7. वही, पृ. सं. 160
8. वही, पृ. सं. 161
9. वही, पृ. सं. 162
10. वही, पृ. सं. 163
11. वही, पृ. सं. 164, 165

सहायक प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
माउंट कार्मल कॉलेज, स्वायत्त, बेंगलुरू

साहित्य की सामाजिक भूमिका

- डॉ. अर्चना रामजीत दुबे

मनुष्य समाज का एक हिस्सा है। मानव समूह से मिलकर समाज का निर्माण होता है। एक सजग साहित्यकार जो कि इसी समाज में विचरण करता है, समाज में घट रही सभी गतिविधियों का बहुत ही बारीकी से निरीक्षण करता है। उसे अनुभव करता है तथा अपनी बौद्धिकता के स्तर पर उन घटनाओं का आकलन करके उन बातों को अपने साहित्य में रखने का प्रयास करता है। इस कार्य को करने में साहित्यकार बड़ी तटस्थ भूमिका का निर्वाह करता है। इसलिए तो कहा गया है कि साहित्य समाज को पाठक के सम्मुख एक आईने की तरह प्रस्तुत करता है। साहित्य और समाज से जुड़े विभिन्न मुद्दों पर देवेश ठाकुर ने 'साहित्य की सामाजिक भूमिका' में गहन विवेचन प्रस्तुत किया है। साहित्य को समाज से जोड़कर इन्होंने सामाजिक दृष्टि से साहित्य का मूल्यांकन करने पर जोर दिया है तथा समाज में उसकी भूमिका को स्पष्ट किया है।

कार्ल मार्क्स के विचारों को ध्यान में रख देवेश जी ने व्यक्ति के विकास में समाज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को रेखांकित किया है। व्यक्ति अपने गुणों और अवगुणों के कारण बौद्धिक रूप से अन्य जीवों से भिन्न है। सामाजिक प्राणी होने के कारण वह समाज के विकास के लिए अपने सिद्धांतों और आदर्शों पर बल देते हुए बुद्धि का प्रयोग अधिक करता है और संपूर्ण सुविाएँ प्राप्त करता है। व्यक्ति समाज के नियमों से बाँधा है और समाज का निर्माण व्यक्ति समूह से होता है। समाज ऐसी संस्था है जो मनुष्य के कल्याण के लिए हमेशा कार्यरत रहती है परंतु समाज में विभिन्न आचार-विचार और प्रचार करने वाले व्यक्तियों के कारण कुछ ऐसे अभावग्रस्त लोग हैं जो परिणामस्वरूप समाज में असंतुलन का वातावरण बना रहे हैं। देवेश जी के अनुसार 'व्यक्ति के विकास से ही सामाजिक विकास संभव हो सकता है।' उन्होंने समाजशास्त्री मार्क्स और एडवर्ड रॉस के सामाजिक दृष्टिकोण को स्पष्ट करके उनके मतों में भी अंतर स्पष्ट किया है। अतः उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों का विश्लेषण भी किया है। साथ ही साथ सामंतवाद, पूँजीवाद और समाजवाद पर भी उन्होंने प्रकाश डाला है। उनके अनुसार व्यक्ति जो समाज से जुड़ा है, उसकी घटनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य का मुख्य और मूल योग अपने परिवेश को प्रतिबिंबित करता है। साहित्य वह समाज का दर्पण है जहाँ रचनाकार अपनी प्रवृत्तियों को अभिव्यक्त करता है और समाज को शिक्षित करने का कार्य करता है। समाज में फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए लेखक ने यह सुझाव दिया है कि सामाजिक चेतना के जरिए समाज में व्याप्त दूषण को दूर किया जा सकता है।

यहाँ पर देवेश जी ने साहित्य की तुलना जनता के मस्तिष्क, कान और आँख जैसे अवयवों से की है। साहित्य के माध्यम से रचनाकार कल्पनात्मक-रचनात्मक रूप से समाज पर अपना प्रभाव डालता है, जिससे साहित्य की वैधता चरम पर होती है। साहित्य का यथार्थ व्यक्ति और समाज में ही निहित है क्योंकि साहित्य का सृजन समाज में होता है। अतः साहित्य का समाज से गहरा संबंध होता है। वह समाज के यथार्थ की

अभिव्यक्ति करते हुए लोगों के लिए प्रेरणा बनता है। व्यक्ति, समाज और साहित्य के अंतःसंबंधों को विवेचित करते हुए देवेश जी ने साहित्य की समीक्षा की भूमिका पर भी अपने विचार स्पष्ट किया है। उनके अनुसार 'समीक्षा' अथवा 'आलोचना' रचनात्मक कृति के सार तत्व अर्थात् कृति में निरूपित लेखकीय दृष्टि को स्पष्ट रूप से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है और पाठकों को इस योग्य बनाती हैं कि वे लेखक और उसकी कृति के चरित्र वैशिष्ट्य और महत्व को उसके पूरे प्रभाव के साथ समझने में समर्थ हो सकें। किसी रचना की समीक्षा उस रचना की मूल संवेदना, चरित्र-सृष्टि और उसकी विशिष्टता एवं महत्व को पाठकों के सामने प्रस्तुत करती है। समीक्षा का दायित्व रचना के सिद्धांत, उपदेश, अभिव्यक्ति और वादात्मक कृति के सत्य को प्रस्तुत करना तथा उसके सामाजिक संदर्भों को स्पष्ट करना होता है।

देवेश जी ने साहित्य की रचना प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए अपने मौलिक विचार रखे हैं। रचनाकर के सामाजिक परिवेशगत अनुभवों के साथ-साथ घटना विशेष को इन्होंने महत्वपूर्ण माना है। परिवेश विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक स्थितियों तथा उसमें प्रचलित सांस्कृतिक और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ-साथ उस परिवेश की आर्थिक स्थितियों का सम्मिलित प्रभाव रचनाकार के मानस-पटल पर धीरे-धीरे गहराता चलता है और अंत में एक ऐसा बिंदु आता है, जहाँ कलाकार संवेदित होकर उस समग्र प्रभाव को, किसी घटना के जरिए शब्दों में पिरोने के लिए विवश एवं कृतसंकल्पित हो उठता है। इसके अतिरिक्त श्रम का भी साहित्य की रचना प्रक्रिया में उतना ही महत्व होता है। उनका मानना है कि एक श्रेष्ठ रचनाकार को जागरूक, संवेदनशील और कलात्मक होने के साथ-साथ 'श्रमशील' भी होना चाहिए। कला के माध्यम से ही रचना को आकार प्रदान होता है अतः वह समाज, राजनीति, आर्थिक, धार्मिक, प्राकृतिक, सांस्कृतिक, नैतिक, व्यावहारिक, भौतिक या यथार्थ के आधार पर सामाजिक रचना प्रक्रिया का साहित्य में समालोचन होता है। 'रचना प्रक्रिया और सामाजिक प्रभाव' के संदर्भ में इनका मानना है कि समाज में मनुष्य के हित, उसके हितों की उपलब्धि तथा हितों की रक्षा के लिए किये गए संघर्ष के अतिरिक्त समाज पर साहित्य का प्रभाव और कुछ नहीं हो सकता। सामान्य जन को समझ में आने वाली भाषा और भाव का प्रयोग हो तो रचना सरलता से समाज में लोग समझ लेते हैं।

देवेश जी ने मार्क्सवादी विचार पर अधिक बल देकर व्यक्तिपरकता का विरोध किया है। उन्होंने रैल्फ फॉक्स, कॉडवैल और जार्ज लूकाच जैसे समीक्षकों की रचनाओं के संदर्भों को प्रस्तुत किया है। साहित्य में उन्होंने शोषित और पीड़ित वर्ग तथा अभावग्रस्त के यथार्थ को प्रस्तुत करने को सार्थक माना है। परंपरा तथा मान्यताओं से उठकर परिवर्तन की ज्योति प्रचलित करने का प्रयास हो तो ही साहित्य का समाज पर प्रभाव पड़ता है। मार्क्सवाद से प्रभावित होने के कारण ही सामाजिक मूल्यों को इन्होंने जीवन मूल्यों से जोड़ा है। उनके विचार से मार्क्सवादी विचारधारा वाले साहित्य का समाज पर पड़ने वाला प्रभाव अधिक है। समाज का एक मात्र सत्य यह है कि वह केवल विसंगत और विषमता की ही अभिव्यक्ति नहीं होती बल्कि उनमें सुख और सौंदर्य का प्रदर्शन भी निहित होता है।

'साहित्य का समाजशास्त्र' जानना समाज के अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। समाज की रूढ़ि-परंपराओं को ध्यानपूर्वक समझने और उस पर संशोधन करने के लिए समाजशास्त्र साहित्य में वैचारिक भूमिका निभाता है। समाजशास्त्रीय अययन समाज में निहित सामाजिक तत्वों को तर्कसंगत ढंग से प्रस्तुत करता है। इन्होंने साहित्य के अनुशीलन की समाजशास्त्रीय पद्धति संबंधी महत्वपूर्ण बिन्दुओं का विवेचन किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात जहाँ एक ओर सम्पन्न वर्ग का विकास हो रहा था, वहीं दूसरी ओर भ्रष्टाचार से समाज पीड़ित हो रहा था। भारत में इन विषमताओं का विश्लेषण साहित्य में आवश्यक रूप से हुआ है। समाजशास्त्रीय अध्ययन के समक्ष कई चुनौतियाँ और कसौटियाँ होती हैं। परिवर्तन के साथ समाज और तेजी से विकसित होने लगा है। प्राचीन युग में साहित्य सिर्फ कविताओं के रूप में था किन्तु अब उपन्यास आदि ने साहित्य में योगदान दिया है। समाज व्यक्ति और साहित्य के बीच की ऐसी कड़ी है जिसका यथार्थ समाजशास्त्र में निहित है, जिसके अंतर्गत सामाजिक घटकों और तत्वों का वर्गीकरण किया जाता है। साहित्य में संघर्ष और परिवर्तन जैसी प्रवृत्तियों का विश्लेषण अध्ययन की समाजशास्त्रीय पद्धति से ही संभव है। समाज के पुनर्निर्माण के लिए साहित्य का बड़ा योगदान रहा है और समाजशास्त्र इन्हीं कारकों के यथार्थ सत्य को साहित्य के माध्यम से समझा जा सकता है। समाजशास्त्रीय अध्ययन केवल समाज का ही नहीं अपितु सामाजिक संबंधों, सामाजिक समूह, अन्तःक्रिया, सामाजिक जीवन, घटनाओं तथा व्यवहार कार्यों का अययन है। साहित्य का समाजशास्त्र इस यथार्थ का स्पष्टीकरण देता है कि किसी भी रचनाकार की रचना में किस प्रकार का सामाजिक संदर्भ निहित है। समाजशास्त्र रचनाओं में छिपे उपदेशात्मक संदेश को प्रतिबिंबित करता है जो समाज के कल्याण का भावार्थ बताता है।

सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों का समावेश उनकी रचनाओं में दिखाई देता है। मूल्य स्वयं में ही बहुत दूर तक व्याप्ति शब्द है। साहित्य की दृष्टि में वह राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों से संबंध रखता है। समाज के मूल्य निजी जीवन व्यापी मूल्यों से भिन्न होते हैं। सामाजिक मूल्य ही व्यक्ति जीवन मूल्यों का निर्धारण करके संचालित होते हैं। व्यक्ति यह सामाजिक प्राणी होने के कारण कई लोगों से संपर्क में आता है। व्यक्ति के अपेक्षाओं की पूर्ति के लिए विकास आवश्यक है और व्यक्ति के विकास से समाज का विकास होता है। समाज के अपने कुछ नियम होते हैं जिसका निर्धारण समाज स्वयं करता है किंतु समाज में होने वाले परिवर्तन के आधार पर उनके नियम तथा सिद्धांत भी बदलते रहते हैं। आज हम जिस युग में जी रहे हैं वह मूल्यों से संक्रमित युग है और संपूर्ण समाज पर मूल्यों का प्रभाव अधिक मात्रा में दिखाई देता है। वैसे यदि हम आजादी के बाद की स्थिति को देखें तो मूल्यों का संक्रमण वहीं से शुरू हुआ परंतु इतने वर्षों के पश्चात आज की स्थिति भयावह हो गई है। यदि हम इसके कारण पर गौर करें तो हम यह अनुभव कर सकते हैं कि किसी एक वर्ग विशेष का आर्थिक रूप से विकास हो रहा है। समाज केवल एक व्यक्ति से या एक वर्ग से ही पूर्णता प्राप्त नहीं करता। अपितु कई वर्गों या समूह के विकास से ही सामाजिक मूल्यों का आधार परिवर्तन का कारण बनता है।

'सामाजिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य' के अंतर्गत देवेश जी ने न सिर्फ सामाजिक और साहित्यिक बल्कि जीवन मूल्यों को भी स्पष्ट किया है। सामाजिक मूल्य नियम से बौँ होते हैं, जिसका प्रचार- प्रसार साहित्य में अनुभव के मायम से किया जाता है। आजादी के बाद बदलते प्रगति युग में औद्योगिक विकास बहुत तेजी से हो रहा था परंतु मनुष्यों के बीच आपस में ही बड़ी खाई का निर्माण हो रहा था। समाज में औद्योगिक विकास तो हो रहा था परंतु मनुष्यों के बीच संवेदनशील संबंध टूटते जा रहे थे। वास्तव में मूल्य समाज में निश्चित मानक निर्धारित कर आदर्शों, अनुभवों तथा लक्ष्यों को प्रतिबिंबित करता है। समाज के अंतर्गत ही विभिन्न प्रकार के संगठन उद्घाटित होते हैं जो संचालन के लिए मूल्य निर्धारित कर अपने समूह के लिए नियमों का निर्माण करते हैं। देवेश जी ने कई रचनाकारों के साहित्यिक तथा सामाजिक मूल्यों के आधार पर उनके मतों का समावेश यहाँ किया है। साहित्य में रचनाकारों ने अपने आदर्श मूल्यों की भावना प्रकट की जो समाज को प्रभावित करते आ रहे हैं। कार्ल मार्क्स से प्रभावित होने के कारण देवेश जी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित रहे हैं और सामाजिक मूल्यों से प्रेरित साहित्यिक मूल्यों को ही सामाजिक जीवन के लिए श्रेयस्कर मानते हैं। मूल्यों का समाज पर अधिक प्रभाव पड़ता है क्योंकि ये मूल्य व्यक्ति को समाज में विचरण करने के लिए उचित व्यवस्था, प्रगति, हर समाज में संतुलन बनाए रखने के लिए अति आवश्यक होते हैं। इनसे व्यक्ति और समाज के भीतर एक दूसरे के प्रति भावात्मक संबंधों का संचार होता है और परिवर्तन की जो अपेक्षा इस समाज को है, वह इन्हीं मूल्यों के आधार पर अपने चरम पर पहुँचता है।

बदलते युग के साथ परिवर्तन आवश्यक होता है। समाज के बदलते तत्वों, विचारों तथा प्रवृत्तियों के साथ साहित्य में भी परिवर्तन दिखाई देने लगा है। साहित्य में परिवर्तन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक पक्षों को ध्यान में रखकर ही किया जाने लगा। बदलते राष्ट्रीय परिवेश के साथ वैज्ञानिक विकास भी होने लगा। पुरानी सोच और रूढ़ि-परंपराओं के बदले पुनरुत्थान का कार्य परिवर्तन के साथ ही आरंभ होने लगा। विदेशी शासन प्रणाली के कारण जो शासक वर्ग संगठनों के शोषण का कारण बन रहे थे, वही साहित्यिक और सामाजिक बदलाव के कारण न्याय और प्रगति प्रशस्त करने लगे। क्रांति और स्वातंत्र्य काल में ही रचनाकारों ने अपनी रचनाओं को ऐसी ऊँचाई प्रदान की जो राष्ट्र की स्थिति को भी परिवर्तित करने में सक्षम रही, फिर वह कविता हो या उपन्यास, साहित्य के साथ-साथ सामाजिक मूल्यों का भी विकास एक नए परिवर्तन की ओर लक्षित होता रहा।

'साहित्य में परिवर्तन की सामाजिक भूमिका' के अंतर्गत देवेश जी ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक परिस्थितियों का अध्ययन करके साहित्यकार परिवर्तन की भूमिका को संचालित करता है। आजादी के पहले स्वाधीनता आंदोलन तथा विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष उनकी रचनाओं का भाग बना था, जिसके परिणामस्वरूप नवीन विचारधारा के साथ परिवर्तन की प्रक्रिया को धीरे-धीरे आकार प्राप्त होने लगा। सामाजिक और साहित्यिक मूल्यों के आधार पर साहित्य में परिवर्तन हुआ। देवेश जी ने साहित्य में परिवर्तन की सामाजिक भूमिका को स्पष्ट करते हुए एक महत्वपूर्ण बात प्रस्तुत की है

कि 'समाज न जड़ है, न शाश्वत। परिवर्तन उसका शाश्वत नियम है।' व्यक्ति और समाज का भविष्य भी उसके चयन पर निर्भर होता है। जिस प्रकार से बदलते सामाजिक तत्व को हम स्वीकार कर रहे हैं, हमारा विकास तेजी से हो रहा है क्योंकि परिवर्तन तो संसार का नियम है। समाज यदि शरीर है तो साहित्य उसकी आत्मा। समाज में घटित प्रत्येक स्थिति का प्रतिबिंब हमें साहित्य में दिखाई देता है। यदि समाज में कहीं पर किसी कारणवश क्रांति का युद्ध छिड़ गया हो तो साहित्यकार अपनी रचना में उन्हीं कटु शब्दों से सामाजिक असंगतियों तथा विषमताओं का वर्णन करते हैं। रचनाकार की रचना साहित्य में इस प्रकार अपना छाप छोड़ती है जिससे समाज अति प्रभावित होता है। इसलिए साहित्य का अययन समाज तथा सामाजिक मूल्यों को समझ कर उन नियमों का निर्वाह करने में हमारी सहायता करता है। साहित्य न केवल समाज का दर्पण है अपितु सभ्यता और संस्कृति का प्रतिबिंब है, अतः हम कह सकते हैं कि साहित्य समाज का सार है। इस तरह देवेश जी ने साहित्य और समाज के अंतःसंबंधों और अंतःक्रियाओं का विवेचन करते हुए साहित्य-समीक्षा की समाजशास्त्रीय पद्धति के सभी पहलुओं पर विस्तार से चर्चा की है।

संदर्भ :

1. साहित्य की सामाजिक भूमिका - देवेश ठाकुर, संकल्प प्रकाशन, मुंबई द्वितीय संस्करण वर्ष 1992
2. https://www.pravakta.com
3. https://www.csirs.org.in

साहित्य की सामाजिक भूमिका का अनुशीलन

—डॉ. भगवती प्रसाद उपाध्याय

देवेश ठाकुर समकालीन हिंदी साहित्य के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। श्रमशीलता, स्पष्टता तथा ईमानदारी उनकी साहित्यिक कृतियों में दृष्टिगोचर होती हैं। ये तीनों गुण उन्हें विरासत में मिले हैं। आपने उपन्यास के क्षेत्र में सर्वाधिक श्रमशीलता एवं ईमानदारी का परिचय दिया है। समीक्षा के क्षेत्र में आपकी स्पष्टता अद्वितीय है। उन्होंने साहित्य की लगभग सभी विधाओं में कलम चलाई है। नाटक विधा एक अपवाद है। देवेश जी को नाटक करना वैयक्तिक जीवन में भी पसंद नहीं है। आप न तो नाटक करते हैं, न ही नाटक सहते हैं। शायद इसी प्रवृत्ति के कारण उनका व्यक्तित्व एवं उनका कृतित्व दोनों उनके समकालीन रचनाकारों से भिन्न हैं। देवेश जी वैयक्तिक जीवन में तो 'स्पष्टता' की पराकाष्ठा हैं ही उनकी कृतियों में भी 'स्पष्टता' की पराकाष्ठा स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। स्पष्टता तथा वस्तुपरकता इतनी कि उनकी बात, उनकी समीक्षा कुछ लोगों को 'करेले' के समान कड़वी लगने लगती है किन्तु उसका असर लाभदायक होता है। उनकी कृति 'साहित्य की सामाजिक भूमिका' में साहित्य और समाज के अंतःसंबंधों के विविध पहलुओं पर इसी दृष्टि के तहत विचार किया गया है।

सबसे पहले देवेश ठाकुर ने व्यक्ति, समाज, साहित्य और समीक्षा के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए हैं। व्यक्ति के संदर्भ में लिखते हुए देवेश ठाकुर एक ओर कार्ल मार्क्स की अवधारणा की पुष्टि करते नजर आते हैं, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को जैव विकास के सिद्धांत से जोड़ते हुए उसे उसके इतिहास की याद दिलाते हैं। 'व्यक्ति, वस्तुतः जीव समाज के विकास की अन्तिम और शानदार परिणति है। उसका मूल अन्य जीवधारियों में खोजा गया है। वह अन्य जीवों से विशिष्ट इसलिए बन सका है क्योंकि समय के साथ-साथ उसके शारीरिक और मानसिक बदलाव की प्रक्रिया निरंतर गतिशील रही है। वह केवल क्रियाशील प्राणी ही नहीं है, वरन् चिंतनशीलता भी उसका गुण है। चिन्तन की सतत प्रक्रिया बनी रहने के कारण वह बौद्धिक रूप से अन्य जीवों से भिन्न और विशिष्ट होता है। ...अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए उसने वातावरण और परिवेश के साथ तादात्म्य करना ही नहीं सीखा, बल्कि उनके बारे में अधिक-से-अधिक जानने, उनके अनुकूल बनने और अनेक अवसरों पर उनको अपने अनुकूल बनाने का श्लाघनीय प्रयास भी वह करता रहा। अपने इन्हीं प्रयासों और सधान की निष्ठा के कारण वह आज की विशिष्टतर स्थिति तक आ पहुँचा है। समय के साथ-साथ उसकी बुद्धि का तो विकास हुआ ही साथ ही उस बुद्धि का सही समय पर सही दिशा में उपयोग करने वाले विवेक का भी विकास हुआ। व्यक्ति ने एक ओर अपनी आंतरिक शक्ति से अपनी सुरक्षा के लिए अनेकानेक सधान जुटाये, दूसरी ओर प्रकृति की शक्ति, क्षमता तथा नियमों से अवगत होना भी सीखा।' देवेश ठाकुर के अनुसार अपनी बौद्धिकता के कारण मनुष्य ने एक ओर अपने 'विचारों' तथा 'भावों' के विनिमय हेतु भाषा का विकास किया, वहीं दूसरी ओर वह अनुशासित जीवन-यापन के लिए धर्म, नीति एवं समाजशासनीय सिद्धांतों की ओर अग्रसर हुआ। लेखक इस बात की ओर भी संकेत करता है कि व्यक्ति अर्थ,

परिवेश तथा मनोविज्ञान द्वारा सबसे अधिक प्रभावित होता है।

देवेश ठाकुर ने आज के व्यक्ति-समाज को समाजवाद तथा पूँजीवाद की कसौटी पर कसने का प्रयास कुछ इस प्रकार किया है- 'आज का व्यक्ति-समाज अनेक देशों, जातियों, सम्प्रदायों, धर्मों और वर्गों में विभाजित है। विभिन्न भौगोलिक स्थितियों, भाषा-समूह, आदर्श, मान्यताएँ, परंपराएँ तथा वर्ग हित सब विभाजन की भूमिका अदा करते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति समाज के बीच अनेक प्रकार की असंगतियों, अंतर्विरोधों, मान्यताओं और सिद्धान्तों का स्वरूप ग्रहण करना स्वाभाविक हो जाता है। इन्हीं सबके कारण आज व्यक्ति का व्यक्तित्व अत्यंत संश्लिष्ट और जटिल हो गया है।'

इस तरह लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि व्यक्ति समाज की विशिष्ट इकाई बनकर समाज को विकास की दिशा में ले जाने का उल्लेखनीय कार्य करता रहा है। समाज के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए देवेश ठाकुर लिखते हैं कि ऐतिहासिक क्रम में समाज के स्वरूप में परिवर्तन आ चुका है। लेखक के अनुसार समाज व्यक्ति-समूह से निर्मित विशेष उद्देश्य से बनायी गई एक संस्था है। समाज का उद्देश्य व्यक्तिपरक नहीं, बल्कि सार्वजनिक होना चाहिए। समाज की यह जिम्मेदारी होनी चाहिए कि वह अपने बीच रहने वाले व्यक्तियों के बीच आपसी सहयोग की भावना का विकास करे, ताकि उसमें शांति, सहयोग एवं एकता कायम रह सके। दीर्घकाल से समाज निर्माण के पीछे यही भावना कार्य करती है कि समाज में रहने वाले सभी लोग सार्वजनिक उद्देश्य की पूर्ति हेतु शांतिपूर्वक मिल-जुल कर कार्य करें। लेखक का मानना है कि समय परिवर्तनशील है। समय के साथ-साथ समाज की अवधारणा में भी परिवर्तन आ चुका है।

समाज में फैली हुई अव्यवस्था को दूर करने के लिए लेखक ने यह सुझाव दिया है कि सामाजिक चेतना के जरिए समाज में व्याप्त दूषण को दूर किया जा सकता है। देवेश जी की दृष्टि में आदर्श समाज वह है, जिसमें, रुढ़ि, निष्प्राण परंपरा, अशिक्षा, अभाव, अन्याय, शोषण आदि के लिए कोई स्थान न हो। लेखक का मानना है कि समाज में 'शोषक' तथा 'शोषित' दो वर्ग हैं। 'शोषक वर्ग की विचारधारा शोषित वर्ग की विचारधारा से सर्वथा विपरीत होती है, लेकिन समाज में उसी वर्ग की विचारधारा का वर्चस्व होता है, जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से प्रभुत्व संपन्न होता है।' समय के साथ-साथ समाज की अवधारणा में भी परिवर्तन आ चुका है। इस संदर्भ में उनके विचार इस प्रकार हैं- 'आज विश्व में विशिष्ट समाज, समुदाय या राष्ट्र मात्र ही 'समाज' की संज्ञा से अभिहित नहीं होता, बल्कि वर्तमान परिस्थितियों में सम्पूर्ण विश्व ही एक समाज का रूप धारण करता जा रहा है।

साहित्य के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए देवेश ठाकुर लिखते हैं कि 'व्यक्ति' और 'समाज' के जीवन में समय-समय पर जो घटता है, उसी की कलात्मक अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य का प्रणेता पहले अपने समाज, परिवेश और जीवन के सम्पूर्ण ज्ञान तथा अनुभव का चेतना के स्तर पर आत्मसाक्षात्कार करता है, उसके बाद अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति से उसे कृति के रूप में ढालता है। इस तरह उसकी इस समाजचेता अभिव्यक्ति को साहित्य कहा जाता है।

'साहित्य समाज के आगे चलने वाली मशाल है', यह साहित्यकारों अथवा साहित्यिक बिरादरी के लोगों द्वारा अति उत्साह एवं भावों की तीव्रता में कहा गया कथन है। साहित्य भविष्य के लिए प्रेरणा का कार्य करता रहा है, किंतु इस महीन प्रेरणा को पकड़ने की सामर्थ्य हमारे सारे पाठकों में विकसित नहीं हो सकी है। देवेश ठाकुर 'सार्वभौमिक साहित्य' की पैरवी करते हैं। उनके कहने का आशय यह है कि सामाजिक प्रतिबद्धता वाले साहित्य में 'लोकल' से 'ग्लोबल' बनने की क्षमता होती है। जिस साहित्यकार का दृष्टिकोण स्पष्ट होता है, उसी का साहित्य विश्व दृष्टि से संपन्न अर्थात् सार्वभौमिक साहित्य कहलाता है। इसके साथ ही मात्र किताबी ज्ञान वाला साहित्यकार किसी भी प्रकार की विश्व-दृष्टि विकसित नहीं कर सकता।

व्यक्ति, समाज तथा साहित्य के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए देवेश ठाकुर जी ने समीक्षा के बारे में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं- 'समीक्षा' अथवा 'आलोचना' रचनात्मक कृति के सार तत्व अर्थात् कृति में निरूपित लेखकीय दृष्टि को स्पष्ट रूप से पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करती है और उन्हें पाठकों को इस योग्य बनाती हैं कि वे लेखक और उसकी कृति के चरित्र, वैशिष्ट्य और महत्व को उसके पूरे प्रभाव के साथ समझने में समर्थ हो सकें। लेखक का मानना है कि प्रत्येक महत्वपूर्ण कृति में एक सुविवेचित कथ्य अन्तर्निहित रहता है। समीक्षा इस कथ्य को वस्तुपरक परिप्रेक्ष्य में समझने में सहयोगी सिद्ध होती है। समीक्षक को चाहिये कि वह देश काल, परिवेश, चरित्रों की मानसिकता तथा लेखक के उद्देश्य को केंद्र में रखकर समीक्षा कर्म करे न कि पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर।

इस तरह देवेश जी ने व्यक्ति, समाज, साहित्य और समीक्षा चारों विषयों पर अपनी विशिष्ट दृष्टि से एक अद्वितीय समीक्षा प्रस्तुत की है उनकी समीक्षा दृष्टि काँच की तरह पारदर्शी है। वे 'सत्य' के 'अन्वेषक', 'स्पष्टता' के पक्षार हैं तथा 'युग' तथा 'परिवेश' के अनुसार और 'युग' तथा 'परिवेश' के साथ चलने वाले साहित्यकार-समीक्षक हैं। सौंदर्य-बोध की भौतिकवादी व्याख्या करते समय 'एंगेल्स' तथा 'कार्ल मार्क्स' का दृष्टांत देना वे नहीं भूलते। उनकी सत्यान्वेषण की प्रवृत्ति उन्हें कई अवसरों पर करेले की तरह कड़वा बना देती है, किंतु उनकी स्पष्टवादिता उन्हें काँच की तरह पारदर्शी बनने में भी सहायक सिद्ध होती है। कला या साहित्य के संदर्भ में वे इस बात का समर्थन करते हैं कि कला या साहित्य; केवल कला या साहित्य के लिए नहीं, बल्कि जीवन के लिए अत्यंत उपयोगी विषय है।

'साहित्य की रचना-प्रक्रिया' के संदर्भ में देवेश ठाकुर की मान्यता है कि 'किसी भी रचना की प्रक्रिया में रचनाकार के परिवेश का महत्वपूर्ण योगदान होता है। परिवेश विशेष की सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, धार्मिक स्थितियों तथा उसमें प्रचलित सांस्कृतिक और दार्शनिक सिद्धांतों के साथ-साथ उस परिवेश की आर्थिक स्थितियों का सम्मिलित प्रभाव रचनाकार के मानस-पटल पर धीरे-धीरे गहराता चलता है और अंत में एक ऐसा बिंदु आता है, जहाँ कलाकार संवेदित होकर उस समग्र प्रभाव को, किसी घटना के जरिए शब्दों में पिरोने के लिए विवश एवं कृतसंकल्पित हो उठता है। देवेश जी के अनुसार- 'यह ठीक है कि अनेक अवसरों पर ऊपरी तौर से देखने पर अनेक सर्वोत्तम

कृतियों का अपने सामाजिक परिवेश से कोई सीधा संबंध परिलक्षित नहीं होता है। अनेक कालजयी कृतियाँ अपने समय की भौतिक स्थितियों से भी मेल नहीं खातीं, लेकिन फिर भी अपने समय और परिवेश से बाहर भी उनकी महत्ता निर्विवाद रूप से बनी रहती है।' ऐसा संभवतः इसलिए हो पाता है कि इन कृतियों में एक सर्वकालिक सौन्दर्य बोधी आनन्द निहित रहता है, जो अपने परिवेश और काल की ही वस्तु नहीं होता, वरन सब कालों और सब प्रकार के समाजों में किसी-न-किसी रूप में उसकी स्थिति स्थायी रूप से बनी रहती है।' यहाँ उनका संकेत इस ओर है कि कुछ साहित्यिक कृतियाँ भले ही अपने परिवेश तथा अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हों, बावजूद इसके ये कृतियाँ काल की सीमा को लाँघ कर हर काल में प्रासंगिक होती हैं। देवेश जी रचनाकार को सचेत, संवेदनशील तथा कलात्मक मानते हैं। उनका मानना है कि एक श्रेष्ठ रचनाकार को जागरूक, संवेदनशील और कलात्मक तो होना ही चाहिए साथ ही उसे 'श्रमशील' या 'श्रमजीवी' भी होना चाहिए- 'दरअसल, श्रम ही समस्त निर्माण का स्रोत होता है। बिना श्रम के किसी भी वस्तु का निर्माण असंभव है। रचना के निर्माण में भी श्रम अपरिहार्य तत्व के रूप में परिलक्षित होता है। मानसिक श्रम मात्र मनुष्य ही कर सकता है। प्रकृति और समाज से निर्माण की सामग्री प्राप्त करके रचनाकार अपने मानसिक श्रम से रचना को रूपायित करता है।' समाज और साहित्य के बीच सदैव एक अंतः क्रिया चलती रहती है। देवेश जी के अनुसार समाज एवं साहित्य दोनों का लक्ष्य मनुष्य का हित है। दोनों के उद्देश्य समान होते हैं, किंतु समाज और साहित्य के परस्पर संबंध बड़े जटिल एवं द्वन्द्वात्मक होते हैं। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है कि समाज में यदि एक विशेष वर्ग शोषण में रत है, यदि उस समाज का सत्तासीन वर्ग अन्यायी और भ्रष्टाचारी है, यदि वहाँ यथास्थिति के चहेतों का एक वर्ग पुरानी पतनशील परंपराओं, विश्वासों और मान्यताओं को बनाये रखने का षड्यंत्र रच रहा है, तो निश्चित है, सामाजिक हित से जुड़ा रचनाधर्मी इन सब के विरुद्ध की गयी मुहिम में शामिल होगा और उसे अपना समर्थन देगा। इस प्रकार सामाजिक यथार्थ से जुड़े रहकर भी उस यथार्थ के विरुद्ध खड़ा होगा, क्योंकि अपने वास्तविक रूप में वह शोषण, यथास्थिति और व्यवस्था का विरोधी होता है। इन्हीं अर्थों में रचनाकार को प्रतिपक्ष का पक्षधर कहा जाता है। रचनाकार में जिस रचनात्मक दृष्टि की अपेक्षा की जाती है, वह उसे समाज के यथार्थ से ही उपलब्ध होती है। निष्प्राण, अस्वस्थ और पतनशील व्यवस्था उसके मन में, पहले चरण में, आक्रोश उत्पन्न करती है, दूसरे चरण में, वह इसको बदल कर स्वस्थ, ऊर्वगामी आदर्शों की प्रतिष्ठा की कामना करता है और तीसरे चरण में वह उन्हें अपनी रचनाओं में रूपाकार देता है। आगे, उसकी इस तरह रचित कृति उसके पाठकों को विभिन्न कोणों और आयामों से समाज के उस गलित यथार्थ से परिचित कराती है और व्यवस्था में बदलाव की प्रेरणा प्रदान करती है। इस प्रकार रचनाकार की कृति में जीवनी शक्ति के साथ-साथ प्रेरणा शक्ति का भी योग रहता है'। इस तरह साहित्य के भीतर एक 'अंडरकरंट' भी होता है, जो साहित्य के मूल उद्देश्य की पूर्ति नहीं होने देता।

'रचना प्रक्रिया और सामाजिक प्रभाव' के अंतर्गत देवेश जी यह संदेश देना चाहते हैं कि साहित्य, समाज और राजनीति तीनों का प्राथमिक आदर्श समान होना चाहिए।

इस संदर्भ में समाज में मनुष्य के हित, उसके हितों की उपलब्धि तथा हितों की रक्षा के लिए किये गए संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। अंततः उनका यह मानना है कि समाज और साहित्य का एक अन्योन्याश्रित संबंध होता है। जो लेखन समाज की वस्तुस्थिति और समाज में व्याप्त समस्याओं एवं विसंगतियों से दूर हो जाता है, वह वास्तव में साहित्य नहीं कहलाता।

देवेश ठाकुर जी ने 'साहित्य का समाजशास्त्र' नामक शीर्षक के अंतर्गत सबसे पहले साहित्य तथा समाज की परस्पर संबद्धता का परिचय दिया है। उसके बाद उन्होंने साहित्य की समाजशास्त्रीय अवधारणा के अध्ययन को उचित एवं आसान माना है। उन्होंने इस संदर्भ में पश्चिमी विचारकों की सैद्धांतिक मान्यताओं तथा स्थापनाओं का परिचय दिया है। भारत में साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन को अभी नया बताते हुए, उन्होंने भारतीय विचारकों के द्वारा प्रस्तुत किये गए सैद्धांतिक पक्ष को भी रेखांकित किया है। उन्होंने साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन की प्रविधि से पूर्व भी अध्ययन की अनेक प्रविधियों का परिचय देते हुए उनका विवेचन-विश्लेषण किया है तथा समालोचना के अतिरिक्त दो नये तथा महत्वपूर्ण साझेदारों- प्रकाशक तथा पाठक की ओर ध्यान आकर्षित किया है। वे साहित्य की समीक्षा के नये सिद्धांत प्रभावक सिद्धांत की ओर संकेत करते हैं। साहित्य समाज के परस्पर संबंध को लेकर देवेश जी मानते हैं कि 'यद्यपि साहित्य के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का अध्ययन किन्हीं निश्चित सिद्धांतों के आधार पर नहीं किया जाता फिर भी सामाजिक उत्पादन के रूप में साहित्यिक सिद्धांतों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्राचीन तथा आधुनिक कृतियों के आधार- बोध को कुन्द और भोथरा बना रही हैं। वस्तुतः साहित्य का सृजन शैल्पिक चमत्कार दिखलाने के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक परिवेश के किसी महत्वपूर्ण पक्ष के उद्घाटन के लिए होना चाहिए। उनका मानना है कि 'साहित्य के अनेक गम्भीर अध्येताओं ने इस विचार को बार-बार दोहराया है कि 'कृति के पीछे उसका कर्ता और कर्ता, के पीछे उसका युग विद्यमान रहता है'। युग का यथार्थ साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त होता है।' इस प्रकार इन्होंने भारत में साहित्य के समाजशास्त्रीय अध्ययन और उसके सैद्धांतिक पक्ष का विवेचन-विश्लेषण किया इन्होंने डॉ. वी.डी. गुप्ता की आलोचना पद्धति का समर्थन करते हुए पाठकों, प्रकाशकों एवं समीक्षकों को भी साहित्य नामक संस्था के प्रमुख साझेदारों के रूप में उनका परिचय कराया 'सामाजिक मूल्य और साहित्यिक मूल्य' के अंतर्गत देवेश जी ने सर्वप्रथम 'मूल्य' शब्द का शाब्दिक अर्थ बताते अर्थशास्त्र से लेकर समाजशास्त्र तक के अनेकानेक मूल्यों को रेखांकित करने का सार्थक प्रयास किया है। साथ ही उन्होंने नैतिक मूल्यों, दार्शनिक, धार्मिक मूल्यों तथा सांस्कृतिक मूल्यों आदि की भी खुलकर चर्चा की है। देवेश जी ने जीवन मूल्यों पर अधिक बल दिया है। उन्होंने लिखा है कि 'सामाजिक-नैतिक अर्थ में 'मूल्य' अंग्रेजी के वैल्यू शब्द का पर्यायवाची है। तब 'मूल्य' का अर्थ आचार-विचार की शुद्धता और शिवत्व के अधिक निकट होना हो जाता है। तब इससे आदर्शवाद की ध्वनि निकलती है। सामाजिक-नैतिक मूल्य व्यक्ति जीवन के दोषों, बुराइयों, स्वार्थी-तत्वों, अशुभ आकांक्षाओं तथा असत्य तत्वों के निराकरण का निर्देश देने वाले वे गुण हैं, जिनके स्वीकार से व्यक्ति जीवन और समाज सात्विक-स्वस्थ

दिशा में प्रशस्त होने वाला बनता है। मूल्य को परिभाषित करने के उपरांत देवेश जी सामाजिक मूल्य की उपयोगिता और महत्व की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार कोई भी समाज मूल्यों के अभाव में अपना अस्तित्व बनाये नहीं रह सकता। अनेक विद्वानों ने जीवन को मनुष्यता की अभिव्यक्ति कहा है। जीवन मनुष्यता की अभिव्यक्ति तभी कहा जा सकता है, जब वह मूल्य प्रेरित हो। मूल्य में एक आदर्श की सन्निहिति होती है, जो जीवन और समाज को उच्चतर क्षितिजों की ओर अग्रसर करती है। यह अग्रसरता ही जीवन की श्रेष्ठता की सूचक है। देवेश जी समाज में मूल्यों की निर्माण प्रक्रिया तथा मूल्यों के टूटने की प्रक्रिया और अंत में नये मूल्यों की स्थापना की बात करते हैं। उन्होंने यह स्थापित किया है कि साहित्य के मूल्य जीवन और समाज के मूल्यों के समानान्तर चलते हैं। मूल्यों का निर्धारण पहले समाज में होता है। प्रगतिशील रचनाकार उन मूल्यों का परीक्षण करता है और परिष्कृत रूप में उन्हें अपनी रचना में उकेरता है। समाज और जीवन से सम्बद्ध मूल्य रचना में उतरकर साहित्यिक दृष्टि को सार्थक बनाते हैं। देवेश जी का स्पष्ट रूप से यह मानना है कि साहित्य जब व्यक्ति, जीवन और समाज के मूल्यों का वहन करके कलात्मकता के साथ अभिव्यक्ति पाता है; तभी वह व्यक्ति, जाति, समूह, समाज, राष्ट्र और यहाँ तक कि मानव मात्र के लिए दिशा-निर्देशक बन पाता है।

'साहित्य में परिवर्तन की सामाजिक भूमिका' प्रकरण की शुरुआत देवेश जी ने सृष्टि एवं प्रकृति में होने वाले परिवर्तन को केंद्र में रखकर की है। उनका मानना है कि परिवर्तन के कारण ही सृष्टि का विकास होता है। वे जड़ एवं चेतन दोनों को परिवर्तनशील मानते हैं। देवेश जी लिखते हैं कि जिस प्रकार व्यक्ति संबंधों में हुए परिवर्तन सदैव स्वस्थ एवं उन्नत नहीं होते हैं, ठीक उसी प्रकार प्रकृति के बीच हुए परिवर्तनों में भी उत्थान-पतन की प्रक्रिया चलती रहती है। देवेश जी के मतानुसार 'समाज में मूल्यों के परिवर्तन का प्रभाव साहित्यिक परिवर्तन पर भी पड़ता है। अर्थात् साहित्यिक परिवर्तन में सामाजिक मूल्य परिवर्तन की प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। देवेश जी के अनुसार कभी-कभी एक युग के साहित्य की प्रतिक्रिया अगले युग में प्रतिफलित होती है। यह प्रतिक्रिया भी साहित्य के रूप में परिवर्तन का कारण बनती है। 'उदाहारण के लिए द्विवेदी कालीन कविता की रूढ़ नैतिकता और गद्यात्मकता की प्रतिक्रिया में स्वच्छंदतावादी और अत्यंत काव्यात्मक छायावादी काव्य विकसित हुआ। अनन्तर इस कल्पना-प्रधान और पलायन छायावाद की प्रतिक्रिया में भी यथार्थवादी और प्रतिबद्ध प्रगतिवादी कविता प्रकाश में आई। इसी प्रकार एक काल विशेष में काव्य की जिन शैलियों, वस्तुओं और केन्द्रीय उद्देश्यों को स्वीकार कर लिया जाता है, अगले काल-खण्ड में उन स्वीकृत विधियों की प्रतिक्रिया में नयी शैली, वस्तु, उद्देश्य और दृष्टियाँ अपना स्वरूप ग्रहण करती हैं और विकास की नयी स्थितियाँ समस्त स्वीकारों और निषेध के साथ उदित और तिरोहित होती हैं। साहित्य के माध्यम से सामाजिक ऐतिहास की खोज का कार्य इन्हीं स्वीकारों, निषेधों, परिवर्तनों तथा विकास के बीच किया जाता है'। यहाँ लेखक ने ऐतिहासिक क्रम में अलग-अलग कालखण्डों में होने वाले सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन की प्रतिक्रिया स्वरूप होने वाले साहित्यिक परिवर्तनों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि देवेश जी के अनुसार साहित्य में होने वाले

परिवर्तनों के लिए सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक मूल्यों तथा विविध काल खण्डों में होने वाले आर्थिक-राजनैतिक परिवर्तनों को जिम्मेदार माना जाना चाहिए। साहित्य की रचना प्रक्रिया, निर्माण, विकास और परिवर्तन में सामाजिक भूमिका अनिवार्य रूप से अपना योग देती है। बिना समाज के साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती है।

अन्ततः उन्होंने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि साहित्य समाज की वास्तविकता को तो रेखांकित करता ही है साथ ही उसके (समाज) रहस्यों को भी परत-दर-परत खोलता जाता है। साहित्य का उद्देश्य मानवीय संवेदना को जागृत करना भी होता है। वही साहित्य सार्थक माना जाता है, जिसमें अपने समय के समाज के प्रति चेतना एवं प्रतिबद्धता विद्यमान है। देवेश जी ने प्राचीन एवं आधुनिक रचनाकारों, भारतीय तथा पाश्चात्य रचनाकारों-विचारकों-चिंतकों का संतुलित अध्ययन प्रस्तुत किया है। सनातनी एवं यथास्थितिवादी रचनाकारों-समीक्षकों का विरोध एवं जनवादी-प्रगतिशील रचनाकारों-समीक्षकों का समर्थन करते हुए नजर आते हैं। ऐसा करने के लिए उनके पास पर्याप्त वजहें भी हैं। उन्होंने 'कार्ल मार्क्स' से अपनी बात शुरू की है और 'कार्ल मार्क्स' पर ही अपनी बात समाप्त भी की है। वे 'साहित्य' में 'कल्पना' के स्थान पर 'यथार्थ' को महत्व देते हैं। देवेश जी 'कथ्य' तथा 'शिल्प' दोनों के महत्व को स्वीकार करते हैं; किंतु उन्हें उक्त दोनों में से किसी एक को चुनना हो, तो वे केवल 'कथ्य' को ही चुनेंगे। देवेश ठाकुर पुराने 'पैरामीटर' से नये साहित्य की समीक्षा के विरोधी तो हैं ही, साथ ही सही समीक्षा के लिए उचित 'टूल' के पक्षधर भी रहे हैं।

संदर्भः

1. सं. डॉ. सतीश पाण्डेय, डॉ. सत्यनारायण बी., देवेश ठाकुर रचनावली खंड 10, पृ. 339-340
2. वही, पृ.362
3. वही, पृ. 367

'मैला आँचल' की रचना प्रक्रिया पर देवेश ठाकुर

- डॉ. गीता संतोष यादव

देवेश ठाकुर एक बहुचर्चित, प्रयोगधर्मी और बहुआयामी साहित्यकार हैं। इन्होंने कवि, कहानीकार, उन्यासकार, समीक्षक, संपादक आदि भूमिकाओं में हिन्दी साहित्य को महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इनकी समग्र रचनाओं का सोलह खंडों में प्रकाशन हो चुका है। साहित्य की लगभग सभी विधाओं पर इन्होंने अपनी लेखनी चलाई है।

'मैला आँचल' की रचना प्रक्रिया' इनकी एक महत्वपूर्ण समीक्षा-कृति है। इसमें इन्होंने 'आँचलिक उपन्यासः स्वरूप और विकास' शीर्षक के अंतर्गत स्वतंत्रता प्राप्ति पूर्व और स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात की उन सभी रचनाओं का विवेचन किया है जो आँचलिक उपन्यासों के अंतर्गत आती हैं या कमोवेश आंचलिकता के कुछ तत्व उनमें मौजूद होते हैं। देवेश ठाकुर का मानना है कि आंचलिकता अक्सर ग्रामीण परिवेश की ही होती है। शहरी आँचलिकता हो ही नहीं सकती। इन्होंने आँचलिकता के स्वररूप को विभिन्न रचनाकारों की परिभाषाओं के माध्यम से समझाने की कोशिश की है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी 'आँचलिक शब्द' की परिभाषा इस प्रकार मानते हैं- आंचलिक उपनाम हम उसे कहते हैं, जिसमें अपरिचित भूमियों और अज्ञात जातियों के जन-जीवन का वैविध्यपूर्ण चित्रण किया जाता है। आँचलिक उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता अपरिचित और किसी हद तक आदिम जातियों के जीवन में पाई जाती है।[१] इसी प्रकार डॉ विश्वंभरनाथ के मत में किसी विशेष जनपद अंचल (क्षेत्र) के जन-जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत करने वाली औपन्यासिक कृति आंचलिक उपन्यास है।[२]

वस्तुतः कहा जाये तो देवेश ठाकुर जी की दृष्टि से शब्दकोशों में अँचल का अर्थ सीमा 'या समीपवर्ती भाग माना गया है। सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यह अँचल देश के मय होकर भी उससे कई अर्थों में भिन्न और विशिष्ट होता है क्योंकि सीमा के समीपवर्ती भाग पर दोनों ओर के जन-जीवन का प्रभाव पड़ता है और यह प्रभाव वहाँ के जीवन में नवीनता और परिवर्तन से आता है। 'अँचल' की संस्कृति और सामाजिक गतिविधियों पर दूसरे प्रकार से भी विचार किया जा सकता है। ये अँचल अधिकांशतः सीमा पर होने के कारण नगरी अंचल अधिकांशतः क्रियाशीलता, गतिशीलता और गतिविधियों से असम्पृक्त होते हैं और इसलिए एक देश के भाग बने होकर भी जीवन-व्यवहार संबंधी उनकी अपनी संस्कृति अपनी भाषा और अपनी विशिष्ट मानसिकता होती है, जो उन्हें राष्ट्रीय सन्दर्भ में भी विशिष्ट बना देती है। एक ही देश में अलग-अलग अनेक अंचल हो सकते हैं। राष्ट्र जितना बड़ा होगा उतने ही अधिक और विभिन्न अंचलों की संभावना वहाँ होगी। आँचल का निजी जीवन लोक व्यवहार नैतिक आदर्श और संस्कृति संबंधी विशिष्टताएँ ही समन्वित होकर 'आँचलिकता' कहलाती हैं। आंचलिक उपन्यास के संदर्भ में डॉ रामदरश मिश्र के विचार महत्वपूर्ण हैं। जैसे नयी कविता ने तीव्रता से सच्चाई से भोगे हुए अनुभव की मिट्टी में तपे हुए पलों को व्यंजित करने में ही कविता की सुन्दरता देखी, वैसे ही उपन्यास के क्षेत्र में आंचलिक उपन्यासकारों ने अनुभवहीन सामान्य या विराट के पीछे न दौड़कर अनुभव की सीमा

में आने वाले अंचल विशेष को उपन्यास का क्षेत्र बनाया है। आंचलिक उपन्यासकार जनपद विशेष में जिया होता है या कम-से-कम समीपी द्रष्टा होता है। वह विश्वास के साथ वहाँ के पात्रों वहाँ की समस्याओं, वहाँ के संबंधों, वहाँ की प्रकृति और सामाजिक परिवेश के समग्र रूपों परंपराओं और प्रगतियों को अंकित कर सकता है। आंचलिक उपन्यास लिखना मानो हृदय के किसी भू-भाग की कसमसाती हुई जीवनाभूति को वाणी देने का अनिवार्य प्रयास है।[3]

उपर्युक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर देवेश ठाकुर जी ने आंचलिक उपन्यासों की विशेषताओं की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार आंचलिक उपन्यास वे हैं, जिनमें किसी अंचल विशेष के लोक जीवन को समग्रता से स्थानीय रंगत के द्वारा इस प्रकार अभिव्यक्ति दी जाती है कि जिससे अंचल का संपूर्ण व्यक्तित्व उभरकर प्रतिष्ठित हो सके। आंचलिक उपन्यास चरित्र प्रधान न होकर अंचल या परिवेश प्रधान होते हैं।[4]

इन्होंने आंचलिक उपन्यासों की शक्ति के साथ-साथ उनकी कुछ सीमाएँ भी रेखांकित की हैं। यद्यपि ये सीमाएँ उसकी शक्ति की तुलना में अधिक महत्व नहीं रखतीं फिर भी इनसे कृति की लोकप्रियता और महत्व प्रभावित होता है। आंचलिक उपन्यासों में सर्वाधिक खटकने वाली बात स्थानीय बोली का बहुल प्रयोग है। आंचलिक उपन्यासकार अपनी कृति में स्थानीय अंचल का रंग भरने लिए स्थानीय बोली को सबसे सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार करता है। अतिशय स्थानीय बोली उसमें व्यक्त भ्रष्ट शब्दों और गलत उच्चारण के कारण स्थान-स्थान पर सहजता और परिचय का अभाव अखरता है किंतु देवेश ठाकुर जी का कहना है कि साहित्यिक पाठकों की सही रुचि का ज्ञाता लेखक अपनी प्रतिभा और सन्तुलित दृष्टि से इन दोषों से मुक्त हो सकता है और आंचलिक जीवन की सही तस्वीर प्रस्तुत करते हुए पाठक को उस दिशा में चिन्तन की प्रेरणा दे सकता है। साथ ही, वहाँ की संस्कृति के संवेदनशील पात्रों और वहाँ के जन-जीवन के स्पंदन को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर अपनी कृति को सुरुचिपूर्ण स्वरूप-अंकन में भी उसे सहायता मिल सकती है। जिस प्रकार से निबंध ग्रंथ लेखन की कसौटी है, उसी प्रकार से आंचलिक उपन्यास भी कथा-लेखन की कसौटी है।

देवेश ठाकुर जी ने आंचलिक उपन्यासों के विकास क्रम का परिचय देते हुए स्वीकारा है कि फणीश्वरनाथ रेणु ने ही सर्व प्रथम 'मैला आँचल' (१९५४) को आंचलिक उपन्यास के नाम से अभिहित किया। प्रथम संस्करण की भूमिका में उन्होंने लिखा था- 'यह है मैला आँचल, एक 'आंचलिक उपन्यास'। और तभी से समीक्षकों ने आंचलिक उपन्यासों की खोज शुरू कर दी। शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' (1926) और वृंदावन लाल वर्मा के झाँसी की रानी' (1946) तथा मृगनयनी (1950) को भी आंचलिक उपन्यास की श्रेणी में ले लिया गया। देवेश ठाकुर जी का मानना है कि 'देहाती दुनिया' में ग्राम चित्र हैं लेकिन ये चित्र और समस्याएँ सामान्यकृत है, सार्वजनिक हैं, एक अंचल विशेष की नहीं। ये चित्र प्रेमचन्द के उपन्यासों के ग्रामीण जीवन के चित्रों के समान हैं। प्रेमचंद की कृतियों में पूरे देश का ग्रामीण समाज व्यक्त हुआ है- देश का अंचल विशेष नहीं, यही स्थिति 'झाँसी की रानी' तथा 'मृगनयनी' की है। इसमें बुंदेलखंड के सामान्य जन-जीवन को सशक्त अभिव्यक्ति मिली है। अतः इन्हें प्रादेशिक

कृति तो कहा जा सकता है लेकिन आंचलिक किसी भी अर्थ में नहीं। डॉ सिन्हा 'रात चोर और चाँद को हिंदी का प्रथम सफल आँचलिक उपन्यास मानते हैं, जिसमें पंजाब के मयमवर्गीय जीवन की यथार्थ प्रतिच्छाया प्राप्त होती है। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं क्योंकि वे प्रादेशिकता को आँचलिकता का पर्याय मानते हैं किंतु, देवेश ठाकुर जी प्रादेशिकता और आंचलिकता को दो अलग तत्व मानते हैं।

देवेश ठाकुर जी ने भिन्न-भिन्न अंचलों के निवासी और संवेदनशील यायावर लेखकों का उल्लेख किया है। उनकी कृतियों को आम तौर पर दो वर्गों में बाँटा है। पहले वर्ग में उन कृतियों को रखा है जिनमें आंचलिक संस्पर्श अथवा स्थानीय रंगत की विशिष्टता तो अवश्य है किन्तु उनकी आत्मा आँचलिक नहीं है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे रचनाएँ आती हैं जिनमें आंचलिक तत्व प्रभूत मात्रा में प्राप्त होते हैं और कथा अथवा पात्र के स्थान पर अंचल विशेष की संस्कृति, व्यवहार-व्यापार और वहाँ का परिवेश विशेष रूप से अपनी समग्रता में उभरकर व्यक्त होता है। इन कृतियों में अंचल पाठक का ध्यान आकर्षित करता है।

प्रथम वर्ग के अंतर्गत उन्होंने नयी पौध (नागार्जुन, 1932) काका (रांगेय राघव 1953) रथ के पहिये देवेन्द्र सत्यार्थी (बलभद्र ठाकुर 1955) सेठ बांकेमल (1953 अमृतलाल नागर), फागुन के दिन चार (पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' 1955), बूँद और समुद्र (अमृतलाल नागर, 1956) ब्रह्मपुत्र (देवेन्द्र सत्यार्थी, 1956) दुःखमोचन (नागार्जुन 1956) लोहे के पंख (हिमांशु श्रीवास्तव, 1957) आदित्यनाथ (बल्भद्र ठाकुर 1958) लोक-परलोक (उदयशंकर भट्ट 19581) नेपाल की बेटी (बलभद्र ठाकुर १९५९) सती मैया का चौरा (भैरवप्रसाद गुप्त, 1950) बोरीवली से बोरीबन्दर (शैलेश मटियानी 1956) शेष- अशेष (उदयशंकर भट्ट,1960) नदी फिर बह चली (हिमांशु 1961), हिरना सांवरी (मनहर चौहान, 1962) वन के मन में (योगेन्द्र नाथ सिन्हा, 1962) लोक लाज खोई (सुरेन्द्र पाल, 1963), मोर झाल (श्याम परमार, १९६३) दीर्घतपा (फणीश्वर नाथ रेणु, 1963) आधा गाँव (राही मासूम रजा,१९६६) गगास के तट पर (जगदीशचंद्र पाण्डेय, १९६८) तथा रागदरबारी (श्रीलाल शुक्ल, 1968) आदि उपन्यासों को सम्मिलित किया है।

विवेच्य शोध आलेख में डॉ. देवेश ठाकुर जी ने नई पौध नौगछिया (बिहार) के आंचलिक परिवेश में कन्या-विक्रय की समस्या को उठाया है, उसी प्रकार वर्ष (१९५६) में प्रकाशित दुःखमोचन आंचलिक स्पर्श की दृष्टि से उल्लेखनीय रचना का भी विवेचन किया है। इसी प्रकार हिमांशु श्रीवास्तव के 'लोहे के पंख' 'मुक्तावली ' (1955) के पश्चात बलभद्र ठाकुर का कुल्लू के जन-जीवन की प्रगाढ़ समस्याओं पर आधारित उपन्यास अदित्यनाथ (1958) का विवेचन किया है। इसी प्रकार आंचलिकता का हलका स्पर्श भैरव प्रसाद गुप्त के 'सती मैया का चौरा' का भी चित्रण किया है। शैलेश मटियानी के बोरीवली से बोरीबन्दर तक' (1960), को बहुत से संकीर्ण अर्थों में आंचलिक स्पर्श से युक्ति कृति कहा है। इनमें बंबई के नागरी परिप्रेक्ष में अपना दयनीय, कष्टपूर्ण और अभावग्रस्त जीवन व्यतीत करने वाले पिछड़े वर्ग की कथा को चरित्रात्मक भूमिका पर प्रस्तुत किया गया है।

देवेश ठाकुर जी का मानना है कि आंचलिक स्पर्श से युक्त उल्लेखनीय कृतियों में रेणु ने दीर्घतपा और जुलूस 'राही मासूम रजा' का आधा गाँव, जगदीशचंद्र पाण्डेय का 'गगास के तट पर' तथा श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी' आते हैं। रेणु आंचलिक उपन्यासों के उन्नायक कहे जाते हैं। किन्तु 'परती परिकथा' के उपरान्त उनकी कृतियाँ अंचलिक स्पर्श मात्र बनकर रह गयी हैं, जिन्हें आंचलिक उपन्यास मानने में स्वयं रेणु जी को संकोच होता है। यही स्थिति जुलूस की है। 'जुलूस' अपनी भाषा और शिल्प में पूर्ण आंचलिकता लिए हुए है, इसमें कोई संदेश नहीं है लेकिन उसकी यह भाषा और शिल्प-कुशलता परिवेश को अपनी संपूर्ण समग्रता में उतार सकने में असमर्थ है। देवेश ठाकुर का मानना है कि, इन कृतियों के अतिरिक्त कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम मोटे तौर पर आंचलिक उपन्यासों की संज्ञा दे सकते हैं। इन कृतियों में मैला आँचल के अतिरिक्त 'रतिनाथ की चाची' (नागार्जुन 1948), बलचनमा (नागार्जुन, 1952), बहती गंगा (शिवप्रसाद रुद्र 1952) बाबा बटेसरनाथ (नागार्जुन,१९५७), जंगल के फूल (राजेंद्र अवस्थी,१९६०) चिठ्ठी रसैन (शैलेश मटियानी,१९६२), कोहरे में खोये चाँदी के पहाड (जयप्रकाश भारती १९६८) तथा आठवीं भँवर (आनंद प्रकाश जैन १९६९) विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनमें विभिन्न अंचलों के जनजीवन और परिप्रेक्ष्य को व्यापक रूप में वाणी मिली है, आँचलिक भाषा शक्ति के दर्शन हुए हैं और रचनात्मक विधा को अभिव्यक्ति की नयी भूमिकाएँ प्राप्त हुई हैं।

अस्तु कह सकते हैं कि देवेश ठाकुर द्वारा मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' में विवेचित कृतियों द्वारा हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की प्रगति को स्थापित करने का सामान्य प्रयास किया गया है। यह नहीं है कि ये ही कृतियाँ 'बस' हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेकों उपन्यास जिनमें हम देश के विभिन्न अंचलों की झाँकी परिलक्षित कर सकते हैं और अपनी धरती के नवीन अंचलों से परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उनके मतानुसार आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में विकसित एक नवीन विधा है और इनके द्वारा एक प्रकार से नवीन समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है। इनमें निहित यथार्थ आज के जन-जीवन से बड़ी निकटता से सम्बद्ध है। इनके द्वारा जीवन के अनदेखे, अनजाने आयामों का उद्घाटन हो रहा है।

सन्दर्भ :

1. सारिका, कहानी मासिक, १ अक्टूबर १९६१
2. द्दष्टव्य : 'परती परिकथा, आलोचना अक्टूबर १९५७
3. दिशाओं का परिवेश, आँचलिक समग्रता की सच्ची अनुभूति, पृ.८६
4. देवेश ठाकुर रचनावली खंड ९, मैला आँचल रचना प्रक्रियाः पृष्ठ ३१३.

सहायक प्राध्यापिका
हिन्दी विभाग
एस.एम.आर.के.महिला महाविद्यालय
नाशिक-४२२००५

मैला अंचल की रचना प्रक्रिया

– डॉ. वृषाली चौधुले

देवेश ठाकुर प्रगतिशील समीक्षक रहे हैं। उनकी समीक्षाओं में हमें समाज चेतना और मानवीय सरोकारों का मिलाजुला रूप देखने को मिलता है। उनकी समीक्षा में वस्तुपरक तर्कों द्वारा पाठकों को विचारोत्तेजित करने की क्षमता विद्यमान है। उन्होंने नई कविता के सात अध्याय, नदी के द्वीप की रचना प्रक्रिया, मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, हिंदी कहानी का विकास, साहित्य के मूल्य, साहित्य की सामाजिक भूमिका इत्यादि अनेक समीक्षा ग्रंथ लिखे हैं। उनकी समीक्षा में गहन अययन, चिंतन एवं तार्किकता, नीर- क्षीर विवेक की बुद्धि आदि के दर्शन होते हैं। देवेश जी की प्रतिबद्धता व्यक्ति के प्रति न होकर समाज के प्रति रही है और यही कारण है कि सामाजिक विसंगतियों, विद्रूपताओं का उद्घाटन और सामाजिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करना उनकी रचनाधर्मिता का उद्देश्य रहा है। उनकी रचनाधर्मिता के केंद्र में मानवतावादी दृष्टि सदैव विद्यमान रही है। 'मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' समीक्षा ग्रंथ सन् 1987 में प्रकाशित हुआ। प्रस्तुत समीक्षात्मक पुस्तक में देवेश जी ने आंचलिक उपन्यास स्वरूप और विकास, मैला आँचल की कथावस्तु और शीर्षक, कतिपय विशिष्टताएँ, चित्रांकन, समन्वित अनुशीलनः महत्त्व और प्रदेश आदि शीर्षकों के अंतर्गत मैला आँचल की रचना प्रक्रिया को समग्रता से विश्लेषित किया है।

विवेच्य कृति के प्रथम अध्याय में देवेश जी में आँचलिक उपन्यासों के स्वरूप और विकास-यात्रा को विस्तार से प्रस्तुत किया है। 'अंचल' को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है- 'आँचल' का अर्थ सीमा का समवर्ती भाग... सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से यहाँ अंचल देश के मध्य में होकर भी उससे कई अर्थों में भिन्न और विशिष्ट होता है क्योंकि सीमा के समवर्ती भाग पर दोनों ओर के जनजीवन का प्रभाव पड़ता है और यह प्रभाव वहाँ के जीवन में नवीनता और परिवर्तन से आता है'[1] एक ही देश में अनेक अंचल हो सकते हैं। देश जितना बड़ा होगा उतने अधिक अंचल होने की संभावना रहती है और हर अंचल का अपना विशिष्ट लोकजीवन, संस्कृति और नैतिक आदर्श होते हैं और वही उस अंचल की आंचलिकता होती है। आंचलिकता को परिभाषित करते हुए देवेश जी ने लिखा है 'अंचल का निजी जीवन, लोक व्यवहार, नैतिक आदर्श और संस्कृति संबंधी विशिष्टता यही समन्वित होकर आंचलिकता कहलाती है।'[2] आंचलिकता के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए देवेश जी ने डॉ. शिव प्रसाद सिंह और डॉ. आदर्श सक्सेना आदि विद्वानों की परिभाषाएँ उद्धृत कराते हुए देवेश जी ने आंचलिक उपन्यासों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है और उसकी निम्नलिखित विशेषताओं की ओर संकेत किया है। उनके अनुसार 'आंचलिक उपन्यास में एक उपेक्षित और अविकसित अंचल के जनजीवन की कथा होती है। यह कथा उस अंचल की संस्कृति, संस्कार, भाषा और व्यवहार की व्यंजना के साथ-साथ आर्थिक, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति का उद्घाटन कुछ इस प्रकार से करती है, जिससे वह अंचल अपनी समग्रता में व्यक्त हो सके। आंचलिक उपन्यासों में अभिव्यक्ति का प्रकार स्थानीय रंगत लिए होता है। स्थानीय रंग को अंचल की प्रकृति, भाषा, मान्यताओं, परंपराओं तथा लोक विश्वासों

के माध्यम से प्रतिष्ठा मिलती है। आंचलिक उपन्यासों में पात्रों के चरित्र चित्रण की अपेक्षा अंचल की समग्रता की अभिव्यक्ति को महत्व मिलता है। दूसरे शब्दों में आंचलिक उपन्यासों का नायक अंचल होता है व्यक्ति नहीं। आंचलिक उपन्यासों का लक्ष्य एक अंचल विशेष के विषय में निश्चित दृष्टिकोण प्रदान करना होता है और इस दृष्टिकोण की निर्मिति आवश्यक रूप से तीखे यथार्थ की भूमिका पर ही होती है।'[3] इस तरह देवेश जी के अनुसार आंचलिक उपन्यासों में अंचल विशेष के लोकजीवन की अभिव्यक्ति होती है, जिसके द्वारा उस अंचल का संपूर्ण व्यक्तित्व उभर कर आता है। अतः आंचलिक उपन्यास परिवेश प्रधान होते हैं।

देवेश जी ने आंचलिक उपन्यासों की शक्तियों के साथ-साथ उसकी सीमाओं को भी रेखांकित किया है। उनका कहना है कि आंचलिक उपन्यासों की शक्तियों के समक्ष उनकी सीमाएँ अधिक महत्व नहीं रखतीं फिर भी उन्होंने कुछ सीमाओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है। देवेश जी के अनुसार आंचलिक उपन्यासों की सबसे अधिक अखरने वाली बात है स्थानीय बोली का अत्याधिक प्रयोग। स्थानीय बोली, भ्रष्ट तथा गलत उच्चारण आदि के कारण कृति पाठकों के आकलन की दृष्टि से दुष्कर और उबाऊ बन जाती है। पाठक सहजता से जुड़ नहीं पाते। बोधगम्यता के अभाव के कारण उस अंचल के बाहर के पाठक उसमें रुचि नहीं ले पाते। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि लेखक अपनी संतुलित बुद्धि और पाठकों की रुचि को ध्यान में रखते हुए इन कमियों पर नियंत्रण रख सकता है। इस विषय में उन्होंने लिखा है 'स्थानीय बोली भाषा और शब्दों का संतुलित और आवश्यक स्थानों पर ही प्रयोग लोक जीवन की सामान्य, मानव स्वभाव अनुकूल प्रस्तुति और लोक तत्वों की आनुपातिक प्रविष्टि द्वारा आंचलिक उपन्यासों के दोषों से बड़ी सीमा तक बचा जा सकता है।'[4]

देवेश जी ने आंचलिक उपन्यासों के विकास क्रम पर भी प्रकाश डाला है। जब फणीश्वर नाथ रेणु ने 'मैला आँचल ' को आंचलिक उपन्यास घोषित किया, इसके बाद आलोचकों ने आंचलिक उपन्यासों की जड़ें खंगालना शुरू किया। उन्होंने शिवपूजन सहाय, वृंदावन लाल वर्मा आदि उपन्यासकारों के उपन्यासों में आंचलिकता खोजनी शुरू की लेकिन देवेश जी इन उपन्यासों को आंचलिक उपन्यास नहीं मानते। उनका कहना है कि शिवपूजन सहाय के 'देहाती दुनिया' में ग्रामीण जीवन का चित्रण अवश्य है लेकिन उसमें चित्रित समस्याएँ लगभग हर ग्रामीण क्षेत्र की हैं, किसी एक अंचल विशेष की नहीं हैं। वैसी स्थिति प्रेमचंद के उपन्यासों की भी है। वृंदावन लाल वर्मा के 'झांसी की रानी' और 'मृगनयनी' आदि उपन्यासों में भले ही बुंदेलखंड का सामान्य जनजीवन अभिव्यक्त हुआ हो लेकिन देवेश जी उसे प्रादेशिक उपन्यास मानते हैं, आंचलिक नहीं। उनका कहना है कि 'आंचलिक संस्कृति अथवा स्थानीय रंगत का मात्र पुट किसी भी कृति को आंचलिकता का वैशिष्ट्य प्रदान नहीं कर सकता।'[5] देवेश जी ने आंचलिकता और प्रादेशिकता को दो परस्पर भिन्न तत्व माना है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में लिखे गए आंचलिक उपन्यासों को देवेश जी ने दो वर्गों में वर्गीकृत किया है। पहले वर्ग में देवेश जी ने उन कृतियों को लिया है जिनमें आंचलिकता का संस्पर्श एवं स्थानीय रंगत का वैशिष्ट्य है किंतु उनकी आत्मा आंचलिक नहीं है

और दूसरे वर्ग के अंतर्गत उन उपन्यासों को लिया है, जिनमें आंचलिक तत्व अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं तथा कथा अथवा पात्र के स्थान पर अंचल विशेष की संस्कृति, व्यवहार-व्यापार और वहाँ का परिवेश विशेष रूप से अपनी समग्रता के साथ अभिव्यक्त होता है।

देवेश जी ने स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यासों की विकास यात्रा का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया है। उन्होंने आंचलिक उपन्यासों का वर्ण्य विषय, अंचल विशेष, प्रमुख पात्र, शिल्पगत विशेषता आदि की जानकारी दी है। आंचलिक उपन्यासों के वैशिष्ट्य के साथ-साथ उनकी कमियों का भी उल्लेख किया है। आंचलिक उपन्यासों के महत्व को रेखांकित करते हुए देवेश जी ने लिखा है 'आंचलिक उपन्यास स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य में विकसित एक नवीन विधा है और इसके द्वारा एक प्रकार से नवीन समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इनमें निहित यथार्थ का आज जन-जीवन से बड़ी निकटता से संबंध है। इसके द्वारा जीवन के अनदेखे अनजाने आयामों का उद्घाटन हो रहा है। इनसे पाठकों की चेतना विकसित हो रही है और चिंतन की दिशाएँ उर्ध्वगामी बन रही हैं।'[6] इसके साथ आंचलिक उपन्यास आंचलिक जनजीवन, संस्कृति, परंपरा और समस्या आदि का तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, इस ओर भी देवेश जी ने संकेत किया है।

'मैला आँचल' कथावस्तु और शीर्षकः

इस खंड के अंतर्गत देवेश जी ने मैला आँचल की कथावस्तु को विस्तार से विवेचित किया है । उनका कहना है- 'मैला आँचल की कथावस्तु को बहुत स्पष्ट और सीधे रूप से प्रस्तुत करना आसान नहीं है। 'मैला आँचल' की कोई अधिकारी कथा नहीं है। एक अंचल विशेष मेरीगंज में रहने वाले लोगों के जीवन की भिन्न-भिन्न उपकथाओं और घटनाओं को ही कालखंड और परिवेश में अभिव्यक्ति मिली है। यह परिवेश ही उस नितांत स्वतंत्र कथानक को परस्पर जोड़ने का कार्य करता है। अतः 'मैला आँचल' की कथावस्तु मूलतः व्यक्ति-चरित्रों की विशिष्ट कथा न होकर मेरीगंज अर्थात परिवेश की कथा हो गई है।'[7] देवेश जी ने इसे अंचल विशेष की कथा माना है और इसीलिए इसका नायक कोई व्यक्ति न होकर अंचल ही है। 'मैला आँचल' केवल मेरीगंज की कथा नहीं है। रेणु जी ने इस उपन्यास के माध्यम से भारत के ग्रामीण जीवन की वास्तविकता को दशार्या है। 'मैला आँचल' उपन्यास के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में व्याप्त जातिवाद, अंधविश्वास, राजनीति, भ्रष्टाचार, धार्मिक आडंबर आदि को अभिव्यक्त किया गया है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है- 'मैला आँचल जैसा कि रेणु ने भूमिका में माना है एक गाँव की ही कथा नहीं है बल्कि पिछड़े ग्राम का प्रतीक भी है। इस उपन्यास को पढ़कर बरबस यह लगता है कि अभी हमारे देश में कितना सारा काम करने को है। इसका परिवेश पाठक के मन को एक उदासीन भावना और ग्लानि से भर देता है।'[8] देवेश जी ने 'मैला आँचल' में चित्रित स्त्री-पुरुष संबंधों की भरमार की विशेष रूप से चर्चा की है इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- 'गाँव भर में व्याप्त अनुचित स्त्री पुरुष संबंधों को उसने अभिव्यक्ति तो अवश्य दी है लेकिन अभिव्यक्ति में उसने रस नहीं लिया। अज्ञेय, जैनेंद्र और भगवती चरण वर्मा आदि व्यक्तिवादी साहित्यकारों द्वारा प्रस्तुत सेक्स

संबंधों से तुलना करने पर यह बात और भी स्पष्ट होती है।'[9] देवेश जी ने कथानक की विशेषताओं के साथ-साथ उसके कुछ दोषों पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार कथानक पहला दोष है कि 'मैला आँचल' का पूर्व भाग सुगठित है लेकिन मध्य के लगभग सौ पृष्ठों के कथानक में कसाव कम हो गया है। अंत में गति आई है लेकिन पूर्ववर्ती प्रसंग बदल गए हैं। और दूसरा दोष यह बताया है कि कृति का आरंभ समाजपरक है लेकिन अंत तक आते-आते यह व्यक्तिपरकता की ओर उन्मुख होने लगी है। लेकिन देवेश जी इसे कोई बड़ा दोष नहीं मानते वे इसका कारण वह रेणु की मानवीयता को मानते हैं। रेणु जी की अतिशय मानवीयता के कारण ही कृति अंत में व्यक्तिपरकता की ओर उन्मुख हुई है, ऐसा देवेश जी का मानना है।

देवेश जी ने 'मैला आँचल' इस शीर्षक को सफल और सटीक माना है क्योंकि उपन्यास में चित्रित अंचल विषमताओं विद्रूपता और समस्याओं से ग्रस्त है और पूरी तरह मैला हो गया है। रेणु जी ने इस कुरूपता का चित्रण पूरी ईमानदारी से, तटस्थता से किया है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है- 'लेखक का मन गाँव की कुरूपता को चित्रित करने में ही अधिक रमा है। लेखक ने इसे दायित्व के रूप में स्वीकार किया है। इसलिए शीर्षक के रूप में 'मैला आँचल' नामकरण बहुत ही सार्थक लगता है। हम समझते हैं इस कथ्य के लिए यह शीर्षक नवीन बोध का प्रस्तावक तो है ही, साथ ही उतना ही व्यंजना पूर्ण और सटीक भी है।'[10]

कतिपय विशेषताएँ :

इस खंड के अंतर्गत देवेश जी ने 'मैला आँचल' की विशेषताओं को विस्तार पूर्वक विश्लेषित किया है। लेखकीय दृष्टिकोण को समझने के लिए देवेश जी इन विशेषताओं का अनुशीलन आवश्यक मानते हैं। इनमें प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डाला है :

1. संक्रमणकालीन ग्रामीण जीवन और मानसिकता की अभिव्यक्तिः

प्रस्तुत उपन्यास में रेणु जी ने 1946 से गांधी जी की हत्या तक का समय चित्रित किया है। इस संक्रमण काल की ग्रामीण मानसिकता को 'मैला आँचल' में रेणु जी ने बखूबी अभिव्यक्त किया है। मेरीगंज के लोगों की फूहड़ता, अशिक्षा, अंधविश्वास और अज्ञान आदि को रेणु जी ने विविध प्रसंगों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। लरसिंघ दास और रामदास के माध्यम से धर्म की आड़ लेकर गाँवों में फैली हुई चरित्रहीनता, अनाचार और पाखंड का पर्दाफाश किया है। गाँधी जी का नाम लेकर अपना उल्लू सीधा करने वाले बलदेव के माध्यम से राजनातिक भ्रष्टाचार को दर्शाया है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है- 'लेखक ने लक्ष्य किया है कि इस समस्त दुर्व्यवस्थाओं का आरम्भ आजादी के दिनों के साथ ही हो गया था। इसलिए 'मैला आँचल' का परिवेश इतना मैला, गलित और भ्रष्ट चित्रित किया गया है।'[11] गाँव में मलेरिया और चरखा सेंटर का खुलना संक्रमणकालीन विकास और प्रगति का सूचक है। रेणु जी ने संक्रांतिकाल में पनप रहे नए और पुराने के बीच का संघर्ष, वर्ग संघर्ष आदि के साथ-साथ गांधीवाद के प्रभाव को भी दर्शाया है। देवेश जी 'मैला आँचल' में चित्रित परिवेश को संक्रमण कालीन परिवेश का प्रतिरूप मानते हैं।

2. परिवेश का नायककत्वः आंचलिकता का सफल संयोजन :

रेणु जी ने 'मैला आँचल' में समाज का बहुरंगी चित्र प्रस्तुत किया है। इसका कथानक किसी व्यक्ति विशेष पर आधारित न होकर अंचल विशेष पर आधारित है। आंचलिक परिवेश को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने विविध चरित्र, उनके क्रियाकलापों तथा व्यवहारों की सहायता ली है। इसके पीछे रेणु जी का उद्देश्य आंचलिक परिवेश को प्रस्तुत करना रहा है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है 'लेखक ने इस मैले परिवेश को प्रस्तुत करने के लिए उस परिवेश के बीच जीने वाले लोगों के चरित्रों की, उनके क्रिया-कलापों - विश्वासों-व्यवहारों की सहायता ली है। लेखक का लक्ष्य इस सब के द्वारा मूलतः परिवेश पर रोशनी डालना रहा है। इसको गहरा और वास्तविक रंग देने के लिए उसने वहाँ के सामान्य जीवन के अनेक व्यवहारों और घटनाओं की योजना की है। उसकी इस योजना में वास्तविकता के रंग भर गए हैं जिससे आंचलिक जीवन का सफल संध्योजन हो सका है।'[12] रेणु जी ने आंचलिक जीवन और लोक तत्वों को उद्घाटित करने के लिए लोकगीतों उत्सव आदि का भी सफल संध्योजन किया है।

3. युग चेतना का निरूपणः

'मैला आँचल' में रेणु जी ने संक्रमणकालीन अंचल को धीरे - धीरे जागृत होता दिखाया है। गाँव में चरखा सेंटर खुलने से गाँव की महिलाएँ आत्म निर्भरता की ओर अग्रेषित होती है। मलेरिया सेंटर खुलने के मंत्र-तंत्र और टोटके पर विश्वास करने वाले भी डॉक्टर के पास जाने लगे हैं। उपन्यास में सामाजिक के चेतना के साथ-साथ राजनीतिक चेतना विकसित होती दिखाई देती हैं। गाँव वालों के सामने गांधीवाद का नकली मुखौटा पहनने वाले खद्दरधारी बलदेव की पोल खुल गई है। अब गाँव के लोग यह जान गए हैं कि समाज सेवा की आड़ में इस तरह के अवसरवादी नेता केवल अपना स्वार्थ साधने के लिए तिकड़म करते हैं। दूसरी ओर सोशलिस्ट पार्टी के कालीचरण और उसके साथी सामान्य लोगों के सुख-दुख की बात करते हैं। उनके छीने गए अधिकार वापस दिलाने के लिए प्रयास करते हैं। संथालों और किसानों में भी अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता आई है। संथालों द्वारा भूमि के लिए किया गया संघर्ष उनकी जागरूकता को दर्शाता है। कालीचरण और वासुदेव जैसे कार्यकर्ता संथालों का मार्गदर्शन करते हैं। 'मैला आँचल' में अभिव्यक्त युगचेतना की अभिव्यक्ति के विषय में देवेश जी ने लिखा है 'मैला आँचल में संभवतः पहली बार इस स्तर पर युग चेतना को अभिव्यक्ति मिली है। वैसे प्रेमचंद की कुछ कृतियों में जैसे कर्मभूमि आदि में शोषण के विरुद्ध वर्गीय संघर्ष के संकेत मिलते हैं। रेणु द्वारा उसी संघर्ष को अधिक ठोस और यथार्थ भूमिका पर प्रस्तुत किया गया है और संघर्ष की अभिव्यक्ति आंचलिक भूमिका पर प्रतिष्ठित होने से और भी अधिक महत्वपूर्ण बन गई है।'[13]

4. जातीय वैमनस्य, धार्मिक पाखंड और वर्गीय शोषण की प्रस्तुतिः

'मैला आँचल' में जातीय वैमनस्य, धार्मिक पाखंड तथा वर्गीय शोषण को रेणु जी ने प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। मैला आँचल की रचना प्रक्रिया में देवेश जी ने हर मुद्दे पर स्वतंत्र रूप से प्रकाश डाला है ।

जातिगत वैमनस्यः

रेणु जी ने मैला आँचल में जातिगत विद्वेष को यथार्थ के धरातल पर अभिव्यक्त किया है जो कई प्रसंगों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। मेरीगंज में कई जाति-वर्ग हैं- राजपूत और कायस्थों में पुश्तैनी दुश्मनी है। ब्राह्मण इस दुश्मनी को बढ़ाने का काम कर रहे थे। कायस्थों की टोली और राजपूतों की अनबन हो जाने पर ब्राह्मण टोली के पंडित उन्हें कहते हैं -'जब-जब धर्म की हानि हुई है राजपूतों ने ही उनकी रक्षा की है और कलिकाल उपस्थित है। राजपूत अपनी वीरता से धर्म को बचा ले'[14] 'मैला आँचल' में जातिगत विद्वेष की भावना पंच और पंचायत के स्तर पर भी देखने को मिलती है। रेणु जी ने इस बात को अच्छी तरह जाना था कि जातिवाद का आधार लेकर खड़ी हुई राजनीति समाज के हित में कभी सफल नहीं हो सकती। रेणु जी की इस वैचारिकता को स्पष्ट करते हुए देवेश जी ने लिखा है- 'संक्रांति काल में एक ओर राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित भारतीय समाज एक स्वर में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध खड़ा उठ खड़ा हुआ था। दूसरी ओर स्वयं नगर ही नहीं, ग्राम्य और आंचलिक स्तर पर भी जातिवाद का बीज विकास पा रहा था। जिससे व्यक्ति व्यक्ति के बीच मतभेद की खाई गहरी हो रही थी और व्यक्ति, समाज जातिगत आधार पर अलग-अलग समूह में विभाजित और विच्छिन्न होकर परस्पर द्वेष, ईर्ष्या और शत्रुता के भाव को बढ़ाता हुआ राष्ट्र शक्ति एकता और उदात्त मानवीयता के आदर्शों को धूमिल कर रहा था। रेणु ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ इस विरोधाभास को लक्षित किया है। उन्होंने इस प्रकार बहुत पहले ही लक्षित कर लिया था कि जातिवाद का आधार लेकर खड़ी हुई राजनीति समाज के हित साधन और स्वस्थ उद्देश्यों की पूर्ति में कभी सफल नहीं हो सकती।'[15]

धार्मिक पाखंड :

हमारे अविकसित पिछड़े अंचलों में धर्म के नाम पर पाखंड और व्यभिचार होना कोई नई बात नहीं है। 'मैला आँचल' में इसी वास्तविकता को रेणु जी ने बखूबी अभिव्यक्त किया है। इस विषय में देवेश जी ने कहा है- 'मैला आँचल में महंतो, संतों और ज्योतिषियों के चरित्र उद्घाटन द्वारा लेखक ने धर्म के इसी गर्हित रूप का परिचय देना चाहा है। महंत सेवादास, रामदास नरसिंह दास ,बूढ़े ज्योतिखी (ज्योतिषी), नागा बाबा यह सभी चरित्र धार्मिक पाखंड के नामांकित नमूने हैं।'[16] धर्म का नाम लेकर अशिक्षित, आंविश्वासी जनता को ठगने का काम कुछ निठल्ले स्वार्थी और हीन प्रवृत्ति वाले धर्म के ठेकेदार अक्सर करते हैं। ऐसे पाखंडी लोगों का असली चेहरा 'मैला आँचल' में दिखाया है।

वर्गीय शोषणः

मेरीगंज अंचल के माध्यम से रेणु जी ने हमारे समाज में व्याप्त वर्गीय शोषण को अभिव्यक्त किया है। मेरीगंज में शोषित वर्ग का प्रतिनिधित्व संथालों ने किया है। उन्होंने अपने मेहनत से मेरीगंज की सैकड़ों बीघे जमीन खेती करने योग्य बनाई लेकिन फिर भी उनको गाँव में बसने का अधिकार नहीं दिया जाता। उन्हें पास के जगलों में ही बसना पड़ा। गाँव में रहने वाले मजदूरों की स्थिति भी बहुत दयनीय है। जमींदारों द्वारा उनका भी शोषण किया जाता है। उन्हें जो मजदूरी मिलती है, इससे एक व्यक्ति का पेट भरना

भी मुश्किल है। महाजन और सरकारी अधिकारी भी किसानों और मजदूरों का शोषण करते हैं। रेणुजी ने शोषण के विरुद्ध विद्रोह और चेतना को भी अभिव्यक्त किया है। इस विषय में देवेश ठाकुर जी ने लिखा है- 'निर्धन संथालों और धनी और संपन्न जमींदारों के बीच संघर्ष की यह योजना लेखक की मानवीय उदारता से प्रस्तुत कल्पना है जिससे वह निकट भविष्य में पूरा होने का सपना देखता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लेखक ने मेरीगंज के अंचल में व्याप्त उसी अस्वस्थ, निष्प्राण रूढ़ियों के अनिष्टकारी परिणामों को लक्ष्य किया है जिससे हर मनुष्य की महिमा पर आघात लगता है और स्वस्थ जीवन यापन की संभावनाएँ धूमिल हो सकती हैं। इन बिंदुओं का सप्रसंग विवेचन करते हुए लेखक ने दानवीरता के प्रतीक इस शोषित और उपेक्षित वर्ग के प्रति अपनी अमिट संवेदना प्रस्तुत की है।'[17]

5. स्त्री पुरुष संबंधः

रेणु जी ने मैला आँचल में स्त्री-पुरुष संबंधों पर व्यापक प्रकरण डाला है। देवेश जी का कहना है कि 'मैला अंचल'शीर्षक की सार्थकता को स्पष्ट करने के लिए गाँव के स्त्री-पुरुष संबंधों के गलत संबंधों की कथाएं चित्रित की गई है। इस संदर्भ में उन्होंने लिखा है- 'नैतिक दृष्टि से अवांछित इन समस्त संबंधों को निरूपित करने के पीछे लेखक का उद्देश्य मेरीगंज के आंचल में व्याप्त रुग्णता को उभार कर प्रस्तुत कर देना है इस योजना के द्वारा लेखक ने जैसे यह कहना चाहा है कि अशिक्षा और कुसंस्कार और असंस्कृत परिवेश में इस शब्द का होना बहुत स्वाभाविक है। लेकिन स्वाभाविक होते हुए भी यह गलत है।'[18]

6. लोकगीत और प्रकृति :

'मैला आँचल' में आंचलिक परिवेश को व्यक्त करने के लिए लोकगीतों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया है। मैथिली लोकगीतों के माध्यम से अंचल का लोकजीवन व्यक्त हुआ है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है 'मैथिली के इन लोकगीतों का विस्तृत संध्योजन एक ओर जहाँ लेखक की भाव प्रवणता रुचि और संवेदना को प्रकट करते हैं वही इनके माध्यम से मेरी गंज के जनजीवन के विविध पक्षों को भी बड़ी सजीवता के साथ प्रस्तुत किया गया है।'[19] रेणु जी ने इन लोकगीतों के माध्यम से अंचल के लोक व्यवहार, वहाँ के उत्सव पर्व, संस्कृति, सामाजिक तथा राष्ट्रीय चेतना से साथ मानवीय संबंधों की झांकी प्रस्तुत की है। देवेश जी ने उदहारण स्वरूप 'मैला आँचल' में प्रयुक्त कई लोकगीत उद्धृत किए हैं। रेणु जी ने प्रकृति चित्रण के माध्यम से अंचल विशेष के भौगोलिक परिवेश को यथार्थ धरातल व्यक्त किया है लेकिन जितनी प्रचुर मात्रा में लोकगीतों का प्रयोग किया है, उतना विस्तार प्रकृति चित्रण को नहीं मिला है।

7. मानवीय भूमिका :

'मैला आँचल' में रेणु जी का मानवतावादी दृष्टिकोण वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तर पर परिलक्षित होता है। रेणु जी ने वैयक्तिक स्तर पर डॉ. प्रशांत बलदेव तथा लक्ष्मी आदि पात्रों को अपनी संवेदना प्रदान की है। सामाजिक स्तर पर रेणु जी को शोषित अभावग्रस्त और सताए हुए लोगों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है। इस संदर्भ में देवेश जी ने लिखा है-'मैला आँचल की आधार भूमि में मानवतावादी तत्वों का समावेश है। रेणु की

साहित्यिक दृष्टि मानवता के उदात्त आदर्शों से संयुक्त है। 'मैला आँचल' में जिस अंचल विशेष का चयन किया गया है और वहाँ जिन विषमताओं और समस्याओं की योजना हुई है तथा उनके समाधान के लिए जिन प्रयासों का उल्लेख हुआ है उन सब के पीछे लेखक की मानवतावादी दृष्टि ही विशिष्ट है।'[20] देवेश जी ने 'मैला आँचल' में प्रस्तुत कई घटना और प्रसंगों के उदाहरणों द्वारा रेणु जी के मानवीयता पूर्ण दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि रेणु जी की मानवीय संवेदना ने ही इस कृति को गरिमा प्रदान की है। विषय में उन्होंने लिखा है 'यह कथा वस्तुतः देश के एक 'मैला आँचल' की ही कथा नहीं है वरन यह मानवीय संवेदना की प्रतिष्ठा त्रिकथा भी है जिसके द्वारा लेखक की अपने लेखन धर्म के प्रति प्रतिबद्धता भी प्रमाणित होती है और व्यक्ति समाज के प्रति उदार चेतना भी।'[21]

8. भाषा शिल्प का आंचलिक स्वरूपः

इस के अंतर्गत देवेश जी ने 'मैला आँचल' की भाषा तथा शिल्प विधान का विस्तृत विवेचन-विश्लेषण किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने शब्दों का स्वरूप, संवादों में प्रयुक्त भाषा, भाषा का लोक प्रचलित रूप मुहावरे और लोकोक्तियाँ, लेखकीय भाषा का स्वरूप, शैलीगत विविधता आदि मुद्दों के अंतर्गत मैला आँचल में प्रयुक्त भाषा एवं शिल्प के आंचलिक स्वरूप को स्पष्ट किया है। 'मैला आँचल ' में प्रयुक्त आंचलिक भाषा की क्लिष्टता की ओर इशारा करते हुए देवेश जी ने लिखा है- 'मैला आँचल के शिल्प ने जहां इस कृति के आंचलिक स्वरूप को निखारा है। वहाँ अनेक स्थलों पर इसकी भाषा ने उसे दुरूह बना दिया है। ऐसे स्थलों पर कथ्य सहजता के साथ संप्रेषित नहीं हो पाता आंचलिक भाषा के प्रयोग की बात संवादों में ग्राह्य और बोधगम्य हो सकती है लेकिन जब लेखक पात्रों के चिंतन को भी उसी आंचलिक भाषा में उतारने का प्रयत्न करने लगता है तो कठिनाई उत्पन्न हो जाती है।'[22] देवेश जी ने भाषा- शिल्प की अस्पष्टता और क्लिष्टता के साथ-साथ उसके गुणों की सराहना करते हुए उन्होंने लिखा है 'भाषा -शिल्प ने जहाँ कतिपय स्थलों पर स्पष्टता और क्लिष्टता की अवधारणा की है वहीं अधिकांश स्थलों पर आंचलिक सौंदर्य और आकर्षण से भर दिया है। साथ ही भाषा के रूप परिवर्तन आंचलिक उक्तियों, लहजों और शब्द-परिवर्तनों - प्रयोगों से भी पाठक के ज्ञान को समृद्ध किया है, लोक जीवन की छवि को उसके सहज, स्वाभाविक रूप में जो प्रस्तुति प्राप्त हुई है, उसमें इसके भाषा शिल्प का योग महत्वपूर्ण और विशिष्ट है इससे इनकार नहीं किया जा सकता।'[23]

चरित्रांकनः

इस प्रकरण के अंतर्गत देवेश जी ने 'मैला आँचल' के प्रमुख पात्रों तथा उनके चरित्र पर प्रकाश डाला है। 'मैला आँचल' में पात्रों की भरमार है, इसमें सौ से अधिक पात्र हैं। देवेश जी ने इनमें से केवल प्रमुख स्त्री और पुरुष पात्रों का ही चरित्र-चित्रण किया है। पुरुष पात्रों के अंतर्गत डॉ प्रशांत, बलदेव, विश्वनाथ प्रसाद, जोतखी जी, रामदास, प्यारू, सुमरितदास, रामकिरपाल सिंह ,खेलावन सिंह यादव, कालीचरण, बावनदास, महंत सेवादास तथा चलित्तर आदि पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डाला है। तथा नारी पात्रों के अंतर्गत लक्ष्मी, पुलिया, कमला, मंगला, राम पियरिया तथा ममता आदि पात्रों का चरित्र-

चित्रण किया है। 'मैला आँचल' में पात्रों की संख्या भले ही अधिक हो किंतु रेणु जी ने किसी भी पात्र को नायक तत्व प्रदान नहीं किया है। उनका उद्देश्य पात्रों के माध्यम से आंचलिक संस्कृति, वहाँ के लोकजीवन को रेखांकित करना रहा है। इस विषय में देवेश जी ने लिखा है-'यह ठीक है कि 'मैला आँचल' में पात्रों की भरमार है और आंचलिक उपन्यास में ऐसा होना बहुत स्वाभाविक भी है लेकिन इसमें से एक भी पात्र ऐसा नहीं है जो पूरे उपन्यास के कथ्य को अपने साथ लेकर चलता हो। सब पात्र अपनी-अपनी विशिष्टता को लिए आते हैं। ऐसी विशिष्टताओं से अंचल जीवन और परिवेश की तस्वीर उभरती है, स्पष्ट होती है और फिर बीच में खो जाती है। अपनी व्यक्तिगत विशिष्टताओं से परिवेश विविधता को स्वर देते हैं।'[24] देवेश जी का मानना है कि आंचलिक कृति में पात्रों का महत्व परिवेशगत विविधता को साकार करना होता है और प्रस्तुत उपन्यास में पात्रों ने इस आवश्यकता को बखूबी पूरा किया है।

समन्वित अनुशीलन महत्व और प्रदेयः

इस प्रकरण में देवेश जी ने 'मैला आँचल' की रचना प्रक्रिया के सभी प्रकरणों का समन्वित रूप में अनुशीलन कर उसके महत्व और प्रदेय को रेखांकित किया है। देवेश जी की दृष्टि से इस कृति का महत्व इसलिए अधिक है क्योंकि हिंदी का यह पहला उपन्यास है जिसमें आंचलिकता को रेखांकित किया गया हैं। इस विषय में उन्होंने लिखा है- 'आंचलिक उपन्यासों की श्रृंखला में ऐसा प्रथम उपन्यास है जिसके प्रकाशन के बाद से हिंदी में आंचलिकता की खोज आरंभ हुई और उपन्यासों का नया प्रकार पाठकों के सम्मुख आने लगा। मैला आँचल ने अनेक युवा कथाकारों को आंचलिक जीवन की ओर उन्मुख होने की प्रेरणा दी।'[25] देवेश जी ने 'मैला आँचल' के दूसरे महत्वपूर्ण पक्ष का उल्लेख किया है वह है इसमें यथार्थ धरातल पर अभिव्यक्त आंचलिक जीवन एवं मानवीय संवेदना। इस विषय में उन्होंने लिखा है 'मैला आँचल का दूसरा महत्व इस बात को लेकर भी है कि रेणु ने इस नए आंचलिक जीवन के स्वस्थ और पुष्ट दोनों पक्षों का उद्घाटन किया है और मानव संवेदना के साथ इस बात का संकेत दिया है कि इन उपेक्षित आंचलों को भी शहरी सुविधा विकास और समस्त संपन्नता में अपना भाग मिलना ही चाहिए।'[26] देवेश जी ने 'मैला आँचल' अभिव्यक्त मानवीय संवेदना पर गांधीवाद तथा मार्क्सवाद के प्रभाव की भी चर्चा की है। इस विषय में उन्होंने लिखा है 'उनकी मानवीयता मात्र गांधीवाद आदर्शों तक सीमित नहीं है इसने कहीं न कहीं विरोध का दिखा स्वर भी विद्यमान है। स्वर का यह तीखापन कहीं न कहीं मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित है।' देवेश जी ने भाषा और शिल्प के स्तर पर भी रेणु जी के प्रदेय की चर्चा की है। इसी के साथ वैचारिकता और शिल्प इन दोनों स्तरों पर नवीनता को संप्रेषित और प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से भी रेणु जी और 'मैला आँचल' को देवेश जी ने श्रेष्ठ और सार्थक माना है।

निष्कर्ष :

इस तरह 'मैला आँचल' की रचना प्रक्रिया' में देवेश ठाकुर ने रचना प्रक्रिया के विविध आयामों का सम्यक मूल्यांकन किया है। इसके माध्यम से देवेश जी ने रेणु जी की रचनाधर्मिता के साथ मैला आँचल में निहित रेणुजी की वैचारिकता पर भी व्यापक

रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने मैला आँचल के कथानक एवं शीर्षक से लेकर उसकी प्रमुख विशिष्टताओं के साथ-साथ प्रमुख पात्रों का चरित्र -चित्रण तथा शिल्प विधान आदि मुद्दों को विस्तार पूर्वक विश्लेषित और विवेचित किया है। देवेश जी ने उपन्यास के प्रदेय और विशेषताओं के साथ-साथ सीमाओं पर भी प्रकाश डाला है। 'मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' द्वारा देवेश जी ने उपन्यास के सभी आयामों का समन्वित अनुशीलन कर पाठकों को 'मैला आँचल' को समझने की संतुलित दृष्टि प्रदान की है। देवेश जी की यह कृति केवल उल्लेखनीय ही नहीं है अपितु समीक्षा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट महत्व भी रखती है। 'मैला आँचल की रचना प्रक्रिया' द्वारा हमें देवेश ठाकुर के समीक्षात्मक गुणों के साथ-साथ उनके सामाजिक सरोकारों के भी दर्शन होते हैं।

सन्दर्भ :

1. मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, देवेश ठाकुर रचनावली खंड 5,पृष्ठ 340
2. वही, पृष्ठ 340, 3. वही, पृ.345,346, 4. वही, पृ.348, 5. वही, पृ. 346, 6. वही, पृ. 365, 7. वही, पृ. 366, 8. वही, पृ.37, 9. वही, पृ.373, 10. वही, पृ. 376, 11. वही, पृ.381, 12. वही, पृ. 387, 13. वही, पृ. 393
14. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु, पृ. 95
15. मैला आँचल की रचना प्रक्रिया, देवेश ठाकुर रचनावली खंड 5, पृ. 397
16. वही, पृ.396, 17. वही, पृ.402, 18. वही, पृ. 402, 19. वही, पृ. 404, 20. वही, पृ. 411, 21. वही, पृ.415, 22. वही, पृ.416, 23. वही, पृ. 428, 24. वही, पृ. 450, 25. वही, पृ. 452, 26. वही, पृ. 455.

व्याख्याता,
हिंदी विभाग,
श्रीमती मणिबेन एमपी. शाह विमेंस कॉलेज ऑफ आर्ट्स एंड कॉमर्स (स्वायत्त)
माटुंगा, मुंबई

साहित्य और मानवतावाद

(सन्दर्भ आधुनिक हिंदी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ)

- डॉ. तबस्सुम खान

डॉ. देवेश ठाकुर किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। उपन्यासों-कहानियों के अतिरिक्त अनेक समीक्षात्मक ग्रन्थों की एक लम्बी सूची उन्हें एक गंभीर आलोचक के रूप में स्थापित कर चुकी है। शोध-समीक्षा ग्रंथों की सूची में 'आधुनिक हिंदी साहित्य की मानवतावादी भूमिकाएँ' डॉ. देवेश ठाकुर की डी. लिट्. (१९७१) की उपाधि हेतु रचा गया शोध ग्रन्थ है, जो कि हिंदी साहित्य में मनतावाद पर किया गया प्रथम शोध-प्रबंध माना जाता है। हिंदी साहित्य में मानववाद एवं मानवतावाद की भिन्नता को रेखांकित करने का यह शोध प्रबंध एक गंभीर और सफल प्रयास कहा जा सकता है। हिंदी साहित्य की नब्ज पर हाथ रखते हुए लेखक ने हिंदी साहित्य का तटस्थतापूर्वक विश्लेषण करते हुए बड़े ईमानदाराना अंदाज में साहित्यकारों के मानवतावादी दृष्टिकोण का आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक जायजा लिया है। विश्व स्तर पर मानवतावाद पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने प्रगतिवादी दृष्टिकोण को उभारा है और योरोपीय मानवतावादी विचारारा के भौतिक पक्ष का भी गहराई से अध्ययन किया है । मानवतावादी विचारधारा के स्वरूप को स्पष्ट करने हेतु लेखक ने अन्य संबध विचारधाराओं जैसे 1.आदर्शवाद 2.अध्यात्मवाद 3.राष्ट्रवाद 4.यथार्थवाद ५.समाजवाद-साम्यवाद ६.मानववाद पर गंभीरता से विचार किया है। मानववाद व्यक्ति की संवेदनशील प्रवृत्ति व्यक्ति वैशिष्ट्य की प्रेरणा के रूप में मानता है, उसका क्षेत्र केवल व्यक्ति-समाज के उन्नयन तक ही सीमित माना है जबकि मानवतावाद का क्षेत्र व्यापक है, जिसमें व्यक्ति समाज के साथ-साथ समस्त जीवों के प्रति उदारता, संवेदना और सहानुभूति के भाव शामिल हैं जो जाति, धर्म, वर्ग, संप्रदाय से ऊपर उठकर लोकहित का पक्षपाती है। सच्ची मानवतावादी संकल्पना समस्त जीवों के प्रति दया और हित कामना की मूल भावना से निहित है तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम' की भावना से ओतप्रोत है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ कुल ९ प्रकरणों में विभाजित एक संजीदा और गहरे विषय पर चिंतन प्रधान ग्रन्थ है जिसका बारीकी से किया गया अध्ययन समुद्रतल की तह में पैठकर नायाब मोती बटोरने से कम अनुभव नहीं है। प्रथम प्रकरण मानवतावाद के स्वरूप और व्याख्या पर आधारित है। प्रकरण 2 में डॉ. देवेशजी ने मानवतावादी चिंतन की विदेशी परम्परा पर दृष्टिपात करते हुए यह नतीजा निकाला है कि विश्व के श्रेष्ठ साहित्यकार, चिन्तक, समाज सुधारक और दर्शनशाश्त्री मानवतावादी भावना से ही अनुप्राणित होते हैं और अपने विभिन्न कार्यक्षेत्रों में इसी भावना का प्रचार और प्रसार करते चले आये हैं। विभिन्न विदेशी मानवतावादी परम्परा का अवलोकन करते हुए लेखक ने इसे 3 भागों में विभाजित किया है- 1. विभिन्न धर्म और मानवतावादी आदर्श (1. यहूदी, 2. ताओ 3. कन्फ़्यूशियस 4.जर्दुस्त धर्म, ५. ईसाई धर्म व इस्लाम धर्म और सूफीमत) 2. मानवतावाद (नैतिक और सामाजिक परम्परा, नीति शास्त्रीय और समाजशास्त्रीय सन्दर्भ) 3. साहित्यिक ग्रंथों में मानवतावाद का स्वरूप निरूपण ग्रीक, हिब्रू, फ्रेंच रूसी, चीनी, अंग्रेजी इत्यादि भाषाओं में विशेषतः अंग्रेजी के कवियों

नाटककारों, उपन्यासकारों, गद्य रचनाकारों के सन्दर्भ में काफी गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है। अंततः सभी मानवतावादी विचारकों और धर्मप्राण संतों में मानवतावादी विचार सामान्य रूप से दिखाई पड़ते हैं। वह उनका व्यक्ति की सदाशयता पर अमित विश्वास है, यही विश्वास मानवतावादी आदर्श की आधारभूमि है। व्यक्ति की सदाशयता ही उसे रचनात्मक दृष्टि प्रदान करती है जो कठोर से कठोर व्यक्ति के हृदय में भी करुणा उत्पन्न कर देती है। हर युग में साहित्यकारों ने शोषितों के न्याय के लिए आवाज उठाई है और शोषण का प्रतिकार किया है। भौतिकवाद, उद्योगवाद और राजनीतिक क्रांतियों की परम्परा तथा परस्पर विभिन्नता धार्मिक राजनीतिक और सामाजिक मान्यताओं के बावजूद व्यक्ति की मानवीयता पर विश्वास बनाये रखने की चेष्टा प्रशंसनीय रूप से होती आई है, जिससे प्राणी मात्र के बीच भावना और विश्वास का सूत्र बना रहे।

लेखक ने तीसरे प्रकरण में भारतीय जीवन प्रणाली और रगों में बहते संस्कृत साहित्य में मानवतावादी चिंतन की प्राचीन परम्परा और प्रतिष्ठा की बात की है। उन्होंने आचार्यों द्वारा इस उदात्त चेतना की अभिव्यक्ति का कारण मनुष्यमात्र में सात्विक गुणों का विकास तथा उसे अध्यात्म की ओर प्रेरित करना करार दिया है। सर्वप्रथम मानवतावादी आदर्श के दर्शन उपनिषदों में नजर आते हैं। समीक्षक ने ऋगवेद में सब प्राणियों की समानता और परस्पर प्रेम भाव, मैत्री भाव और अहिंसा के आदर्शों की अनेक प्रसंगों में अभिव्यक्ति को विविध उदाहरणों के साथ सिद्ध किया है। यजुर्वेद में परस्पर मैत्री और समभाव के उच्च आदर्श को प्रस्तुत किया गया है। अथर्ववेद में दानशीलता, क्षमा, अद्वेष की भावना पर जोर देते हुए मानवतावाद में प्रेम तत्व को महत्त्व प्रदान किया गया है। सारगर्भित विवेचन के पश्चात् लेखक इस इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भले ही वैदिक साहित्य में 'मानवतावाद' शब्द का प्रयोग नही हुआ है, मगर जिन उदात्त आदर्शों की यहाँ प्रतिष्ठा की गयी है, वे सब व्यक्ति के विकास से ही सम्बंधित है। आगे चलकर डॉ. देवेशजी ने बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा और प्रचार के लिए प्रयुक्त पालि साहित्य में मानवतावादी आदर्श के स्पष्ट रूप से दर्शन करवाए हैं। लेखक ने बौद्ध में महाकरुणा के साथ सात्त्विक प्रवृत्ति की विशेषता को भी उभारा है। यहाँ व्यवहार की उदात्तता के सन्दर्भ में शरीर, वाणी और मन के आर्माचरण, काया की कसौटी, गृहस्थ के कर्त्तव्य, कर्म कलेश तथा चित्त के माम्मलों का विवेचन करते हुए मानवतावादी दृष्टि की ही प्रतिष्ठा को उदाहरणों सहित समझाया है। प्राकृत साहित्य में मानवतावादी चिंतन को प्रकाशित करते हुए डॉ. देवेश जी कहते हैं कि तीर्थंकर महावीर के प्रवचन प्राकृत भाषा में हुआ करते थे। उनके द्वारा प्रसारित जैन धर्म समभाव के आदर्श में लक्षित होता है। समभाव के अंतर्गत सभी जीवों, प्राणियों के प्रति समान भाव रखना, उन्हें अपने जैसे ही समझना अहिंसा के आदर्श को प्रतिष्ठित करता है।

विवेच्य कृति का चौथा प्रकरण भारतीय जीवन दर्शन में मानवतावादी भावना को आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने के तथ्य को सामने लाता है। आत्मा और परमात्मा की परस्पर सम्बद्धता का सूत्र लेकर जिस व्यापक और उदार आदर्श को संयोजित किया गया है, उसके उपकरण प्रायः हर भारतीय भाषा के साहित्य में विद्यमान हैं। इसी आधार पर समीक्षक इस नतीजे पर पहुँचता है कि अहिंसा में दृश्यमान मानवतावादी भावना भी

इस अध्यात्मवाद से जुड़कर ही विकसित हुई है ताकि व्यक्ति अपनी असत प्रवृत्तियों पर संध्यम रख सके और सत्-असत का ज्ञान प्राप्त कर सके। इसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए पूजा और भक्ति के विधान की कल्पना की गयी है। आगे शरीर की नश्वरता और आत्मा की अमरता का विश्वास भी इसी श्रृंखला की कड़ी है। वीरगाथाकालीन साहित्य में आश्रयदाताओं की प्रशंसा हेतु चित्रित धर्मवीरता, दानवीरता और दयावीरता में लेखक ने मानवतावादी भावना को ही निहित देखा है। सिद्ध एवं नाथ साहित्य ने विषम परिस्थितियों में मनुष्य को शुद्धता का पाठ पढ़ाया है जैसे कि गोरखनाथ ने कहा है 'अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा।' आगे मध्ययुगीन भक्ति साहित्य का विश्लेषण करते हुए लेखक ने बताया है कि कृष्ण भक्त के साथ-साथ संतों और सूफियों ने भी अपनी वाणी द्वारा ब्रह्म की सर्वव्यापकता को सिद्ध करते हुए समन्वय भावना पर ही बल दिया है। 'रामचरित मानस' में तुलसी ने 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' कहकर मानवता का ही पाठ पढ़ाया है। सूर, तुलसी, कबीर, मीरा इत्यादि के काव्य का गहन अध्ययन और सोदाहरण विश्लेषण करने के पश्चात् डॉ. देवेशजी ने अंततः समन्वय के आदर्श की स्थापना की ओर इंगित करते हुए मानवतावादी भावना के विकास में उसके योगदान को उभारा है।

पांचवें प्रकरण में आधुनिक हिंदी साहित्य में मानवतावादी दृष्टि के विशिष्ट विकास पर दृष्टिपात किया गया है, जहाँ केवल देश ही नहीं बल्कि समस्त विश्व स्तर पर सामाजिक नैतिक तथा धार्मिक दृष्टिकोण परिवर्तित हो रहे थे, डॉ. देवेश जी ने भारत वर्ष में मानवतावाद के प्रचार-प्रसार के लिए प्रेरक तत्त्वों का बड़ी सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण करते हुए निम्लिखित कारणों की चर्चा की हैः

1.शिक्षा का विकास, पाश्चात्य शिक्षा तथा साहित्य का प्रचार-प्रसार तथा अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क

2.राष्ट्रीय भावना का विकास

3.समाजसुधार आन्दोलन तथा सामाजिक वैषम्य की सच्ची अनुभूति

4.अध्यात्मवादी दर्शन का सरलीकरण

5.गाँधीवादी दर्शन का प्रभाव

6.वैज्ञानिक प्रगति, विश्व युद्ध और उनके परिणाम

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अंत में लेखक ने यह नतीजा निकाला है कि आधुनिक युग की मानवतावादी दृष्टि आस्था से अधिक तर्क और बौद्धिकता पर पनप रही है। यहाँ यथार्थ की भूमि पर सामाजिकता तथा सामयिकता से संपृक्त होकर ही इसका विकास हुआ। अब मनुष्य के भौतिक विकास के साथ उसका मानसिक विकास भी हुआ और व्यक्ति चेतना ने उदारता को ग्रहण करते हुए सर्वत्र एकता, सहयोग, संवेदना को फैलाने का बीड़ा उठा लिया। स्वार्थ प्रवृत्ति ने इन उपलब्धियों का शोषण आरंभ किया और फलस्वरूप राजाराम मोहन रॉय, दयानंद, विवेकानन्द, गाँधी और रामकृष्ण परमहंस इत्यादि ने क्रन्तिकारी आन्दोलनों की शुरुआत कर दी।

विवेच्य पुस्तक के छठें प्रकरण में संक्रमण कालीन (१८६५-१९००) साहित्य की मानवतावादी भूमिकाओं पर सुविधानुसार विचार करने हेतु उसे खण्डों में विभाजित करते

हुए गहराई से विचार किया गया है- 1.संक्रमण कालीन भारतीय परिवेश 2. विभिन्न भूमिकाओं पर मानवतावादी प्रवृत्तियों का अध्ययन करते-हुए यह निष्कर्ष निकाला गया है कि संक्रमण काल के साहित्यकार सात्त्विक भावना से ओतप्रोत थे। इसलिए विभिन्न धार्मिक-भाषिक सांप्रदायिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर लोगों में मानव धर्म की ओर प्रेरित करने का सफल प्रयास किया था। देशप्रेम की भावना को हृदय में जगाकर उन्होंने अंग्रेजों के विरोध में भारतीय मानस को एक मंच पर एकत्रित कर उनमें सामंजस्य स्थापित कर दिया था। शिक्षा का प्रचार, नारी मुक्ति, आर्थिक विडम्बनाओं का पुरजोर विरोध लेखक के अनुसार मानवतावादी दृष्टिकोण के ही विभिन्न पहलू है। प्रकरण ७ 'जागरण कालीन (१९०१-१९२०) साहित्य में मानवतावाद का स्वरूप' के अंतर्गत तत्कालीन भारतीय परिवेश में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पारिवेश का भरपूर अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर भी समीक्षक ने विभिन्न भूमिकाओं पर मानवतावादी प्रवृत्ति का अनुशीलन करते हुए भारत की प्राचीन संस्कृति की भूमिकाओं का उद्घाटन करने का सफल प्रयास किया है। जागरणकाल की सामाजिक भूमिका पर दृष्टिपात करते हुए लेखक ने महावीर प्रसाद द्विवेदी जयशंकर प्रसाद इत्यादि महानुभावों के योगदान को उदाहरण सहित प्रस्तुत किया है। इन कवियों ने अशिक्षा, नारी विडम्बना, दरिद्रता और कुरीतियों का करुण चित्र उपस्थित किया है। गुप्तजी की हृदय विदारक पंक्ति को भला कौन भूल पायेगा 'हा देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को। फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं बाल्य वृद विवाह को।' (भारत-भारती) इस दौर के काव्य में प्रकृति-प्रेम संबंधी काव्य का लेखक ने विशेष उल्लेख किया है जो व्यक्ति में सात्त्विक भाव उत्पन्न करता है, जो उसके व्यक्तिव को निर्मल कोमल और आकर्षक बना देता है। इस क्रन्तिकारी परिवर्तन का श्रेय डॉ. देवेश ने श्रीधर पाठक को दिया है जिन्होंने अपने प्रकृति प्रेम काव्य द्वारा सामाजिक चेतना को जगाने का भरपूर प्रयास किया था। महावीर प्रसाद द्विवेदी और गुप्तजी जैसे कवियों का हिन्दू संस्कृति के प्रति अविस्मर्णीय योगदान है, जिन्होंने राष्ट्रीयता के साथ-साथ जातीय उत्थान पर भी बल दिया ताकि विदेशी आकर्षणों में खोये पथभ्रष्ट साधारण पाठक की आँख खुल सके। अतीत के गौरव को जगाने की लालसा अधिक होने के बावजूद इस युग में मानवीयता का उदात्त स्वरूप काफी पुष्ट रहा।

विवेच्य पुस्तक का आठवाँ प्रकरण विकासकालीन (१९२१-१९४२) साहित्य में मानवतावाद के स्वरूप निरूपण के अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन में तिलक-गाँधी और कांग्रेस की भूमिका का विशेष उल्लेख लेखक ने किया है। असहयोग आन्दोलन द्वारा कैसे नवीन चेतना देश में फूँक दी गयी इसका विस्तृत वर्णन लेखक ने पेश किया है। सामाजिक परिवेश में मची उथल-पुथल का चित्रण करते हुए प्रेमचंद के गद्य साहित्य (कफन / कायाकल्प) से उद्धृत उदाहरणों के जरिये समीक्षक ने समाँ बाँध दिया है। नारी दुर्दशा का करुण चित्र उभारने हेतु लेखक ने महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों से भी उदरण प्रस्तुत किये हैं। नारी की इसी दुखद स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्र निराला ने भी उकेरा है- 'वह इष्ट देव के मंदिर की पूजा सी...' (विधवा) इस प्रकार के कई उदाहरण लेखक जुटाते हुए दरअसल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि नारी को भी मानवी होने का दर्जा

दिलाने के लिए बुलंद की गयी आवाज का इसे आरंभ कहा जा सकता है। कृषकों की दयनीय अवस्था और उनकी समस्याओं पर प्रेमचंद ने यथार्थवादी कलम उठाई थी, जो प्रगतिवाद भले ही कहलाये मगर है वह मानवतावादी मूल्यों की स्थापना की माँग मात्र। प्रसाद की राष्ट्रीयता से ओतप्रोत नाटकों का भी वर्णन लेखक ने अपने शोध प्रबंध में प्रस्तुत करते हुए अतीत के गौरव के साथ परस्पर एकता को उभारकर विषमता का अंत करते हुए लिखा है 'मेरा देश मालव नहीं गंधार भी है। यही क्यों समग्र आर्यावत है।' यह एकता समन्वय की भावना तत्कालीन चिंतनप्राान युग में आस्था और आयात्मिकता की भी जोत जलाये हुए थी, जिसका ज्वलंत उदाहरण महादेवी वर्मा की कई रचनाएँ हैं, जिनका सटीक उदाहरण लेखक ने दिया है। यही करुणा, संवेदना और आत्मीयता पन्त, निराला, प्रसाद जैसे कवियों के यहाँ भी परिलक्षित होती है। पन्त ने दरिद्र भारत के हृदय स्पर्शी चित्र को करुण वाणी में उकेरते हुए लिखा है- 'घर-घर के बिखरे पन्नों में नग्न क्षुधार्त कहानी / जनमन के दयनीय भाव कर सकती प्रकट न वाणी (ग्राम्या)। लेखक ने अन्य आलोचकों के सामान ही मानवतावादी साहित्य में प्रेमचंद को अग्रणी स्थान दिया है जिनकी रचनाएँ मानवीय करुणा से सराबोर हैं और दयनीय समाज के प्रति मन में बरबस मानवतावादी भाव उत्पन्न करती हैं। इस दौर में भी प्रकृति चित्रण का बोलबाला रहा विशेषतः छायावाद में प्रकृति प्रेम के उदात्त स्वरूप का चित्रण मानवीयता के उच्चतर आदर्श की अभिव्यक्ति में सहायक रहा। इस दौर में कवियों ने शुद्र प्रकृति के साथ प्रतीकों और उपमाओं व्दारा मानवीय उदात्त भावों को चित्रित किया है। प्रसाद ने रचना 'लहर' में अतुल्य शांति के लिए प्रकृति की गोद को पुकारा है' ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक! धीरे-धीरे।' पद्य के सामान गद्य में भी रचनाकारों ने सांकृतिक उदात्तता के परिवेश में मानवतावादी भाव की अभिव्यक्ति की है। प्रसाद ने उपन्यास 'तितली' और प्रेमचंद ने 'रंगभूमि' तथा 'कर्मभूमि' में जनवादी संस्कृति का उदात्त रूप प्रकट किया है। वस्तुतः विकासकाल बुद्धिवाद के विकास का काल रहा। मगर साहित्यकारों ने लोक मंगल की कामना से परिपूर्ण बुद्धिवाद में भी परस्पर हित की भावना की खोज की है। प्रकरण ९ हिंदी साहित्य में नव्यकालीन युग(१९४३-१९६०) में मानवतावादी आदर्शों की परम्परा का स्वरूप चित्रित कर रहा है जहाँ अज्ञेय और अन्य कई नए कवि जुड़ते हैं। लेखक ने विवेचना करते हुए आगे स्पष्ट किया है कि अज्ञेय की रचनाओं में मानवतावाद की उदात्त भावना और सदाशयता पूर्व कवियों के सामान प्रखर नहीं रही।

जीवन के शाश्वत मूल्यों को लेकर चलने वाला रचनाकार ही शास्वत रचनाएँ दे सकता है, ऐसा लेखक का कड़ा विश्वास रहा है। औद्योगिक प्रगति, शहरीकरण, परिवारों की टूटन जैसे अनेकों कारण थे जिन्होंने मानवीय संवेदना को जर्जर बना दिया और स्वार्थ के बीज अंकुरित होने लगे। आदर्शवाद के स्थान पर अब व्यवस्था के प्रति एक नपुंसक आक्रोश और छटपटाहट घर करने लग गयी और मानवतावादी कोमल सोच कुम्हला कर रह गयी। बहरहाल जब-जब मानव या मानवता पर संकट आये है साहित्यकारों ने अपनी बेबाक कलम अवश्य उठाई है, केवल लिखने और कहने का लहजा बदला है, कुछ शब्द नयी सज्जा के साथ शामिल हो गए हैं और समझबूझ का तानाबाना थोडा सुलझ गया है। मीडिया की शक्ति ने मानवतावादी भावना को कहीं गर्ल

नेक्स्ट डोर की तरह बोलना सिखाया तो कहीं चौराहे पर सिसकने के लिए छोड़ दिया है। आशा है भारतीय संस्कृति की अनमोल धरोहर मानवतावादी भावना सदा साहित्य और साहित्यकारों के लिए आकाशदीप बनी रहेगी ।

अध्यक्ष, हिंदी विभाग,
रॉयल महाविद्यालय, मीरा रोड, थाने।

साहित्येतिहास लेखन की एक नई दृष्टि और अंतरानुशासन

(संदर्भ : हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन)

– डॉ. सतीश पांडेय

मनुष्य अपने इतिहास का ही नहीं इतिहास-विधायक दृष्टिकोण का भी निमार्ता होता है। बदलते परिपेक्ष्य में उसकी दृष्टि परिवर्तित होती रहती है। साहित्य के संदर्भ में भी यह बात सही है। परिणामतः साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता बार-बार अनुभव की जाती रही है। इसीलिए आचार्य शुक्ल ने जहाँ एक तरफ यह माना है कि 'प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ के जन मानस का चित्तवृत्तिमूलक मूल्यांकन होता है' तथा 'इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा के साथ साहित्य का सामंजस्य दिखलाना साहित्य का इतिहास' कहलाता है; वहीं वे यह भी मानते हैं कि 'चित्तवृत्तियों के परिवर्तन के साथ साहित्य के इतिहास में भी परिवर्तन होता है।'[1]

जनमानस की चित्त्वृत्ति के अनुरूप साहित्य के इतिहास में आने वाला बदलाव हमारी जागरूकता का द्योतक होता है। वैचारिक धरातल पर हमारी यह सजगता हमें अपनी साहित्यिक धरोहर को नए संदर्भों में समझने के लिए प्रेरित करती है। इसे ही डॉ. रामविलास शर्मा अपने अस्तित्व की पहचान करना मानते हैं। उन्होंने लिखा है- 'किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उसके उपलब्धियों को सँजोए रखने का साधन है। अपनी स्मृतियों के सहारे मनुष्य अपने व्यक्तित्व को पहचानता है; इसी तरह साहित्य के इतिहास द्वारा जाति अपने अस्तित्व को पहचानती है। इस सहित्य के प्रति जागरूकता जाति की जीवंतता का प्रमाण है।'[2]

साहित्य-सृजन के केन्द्र में मनुष्य जीवन की बेहतरी का संकल्प होने के कारण चिंतन के केन्द्र में भी मनुष्य जीवन ही होता है। इसीलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के इतिहास के मूल में भी मनुष्य को ही माना है। उनके अनुसार- 'साहित्य का इतिहास पुस्तकों, उनके लेखकों और कवियों के उद्भव व विकास की कथा है। ग्रंथ और ग्रंथकार, कवि और काव्य-संप्रदाय और उसके आचार्य इस परम शक्तिशाली प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा कर सकते हैं लेकिन वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है मनुष्य।...जो प्राणधारा नाना अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाओं से बढ़ती हुई हमारे भीतर प्रवाहित हो रही है, उसे समझने के लिए हम साहित्य का इतिहास पढ़ते हैं।[3]

इस तरह साहित्य के इतिहास से तात्पर्य सिर्फ अतीत की रचनाओं और रचनाकारों की सूची प्रस्तुत करना नहीं है। यह रचनाओं और रचनाकारों संबंधी घटनाओं और उनकी तिथियों का कोश भी नहीं है। इसमें न तो अतीत की प्रशंसा होती है न वर्तमान की उपेक्षा। इतिहासकार किसी रचना को अपने समय का यथार्थ चित्रित करने का साधन मात्र मानकर ही संतुष्ट नहीं होता। साहित्य के इतिहास का संबंध सिर्फ रचनाओं की अंतर्वस्तु या उनके रूपों के उल्लेख मात्र से नहीं होता। वह सामाजिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय या सौंदर्यशास्त्रीय साहित्यानुशीलन

का सार-संग्रह मात्र भी नहीं होता। डॉ. मैनेजर पांडेय के शब्दों में कहें तो 'साहित्य के इतिहास का आधार है साहित्य के विकासशील स्वरूप की धारणा। सहित्य की निरंतरता और विकाशशीलता में आस्था के बिना साहित्य का इतिहास-लेखन असंभव है।[4] इस परिप्रेक्ष्य में डॉ. देवेश ठाकुर के 'हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : 'अंतरानुशासनों का अनुशीलन' पर विचार करने से पूर्व विभिन्न हिंदी साहित्येतिहासों पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा। बदलते दृष्टिकोण के कारण साहित्येतिहासों के स्वरूप में भी बदलाव आता रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में लिखे गए हिंदी साहित्य के इतिहास संग्रह मात्र हैं। गार्सा-द-तासी ने वणार्नुक्रम से सत्तर कवियों का संग्रह प्रस्तुत किया तो 'शिवसिंह सरोज' में एक हजार कवियों का संक्षिप्त जीवन वृत्त प्रस्तुत करते हुए उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण भी दिए गए। ग्रियर्सन ने 'शिवसिंह सरोज की सामग्री का उपयोग करते हुए उसे कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। इन साहित्येतिहासों में न तो कोई ऐतिहासिक दृष्टि है और न ही ईमानदारी। तासी के 'इतिहास' में तो उन का उपनिवेशवादी और साम्प्रदायिक दृष्टिकोण साफ झलकता है। ग्रियर्सन का दृष्टिकोण भी एकांगी है। इसीलिए उन्होंने भक्ति आन्दोलन को ईसाइयत की देन माना। इसके बाद 'मिश्रबंधु विनोद' में पाँच हजार कवियों का वृत्तसंग्रह किया गया। इसमें भी ढंग तो वही पुराना रखा गया परंतु यह दिखाया गया कि हिंदी साहित्य का इतिहास किसी साहित्य से हीन नहीं है और इसमें ऐसे नवरत्न भी हैं जो ऊँचाई में उन्नीस नहीं हैं।[5]

कवि-परिचय को इतिहास मानने की परंपरा सबसे पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने तोड़ी। उन्होंने सामग्री तो 'मिश्रबंधु विनोद' से ही ली किंतु उसमें नए शोधों से प्राप्त जानकारी के अनुसार संशोधन करते हुए एक युग तथा एक प्रकार की रचना करने वालों की विशेषताओं के आधार पर प्रवृत्तियों तथा युगों का विभाजन किया और साहित्यिक प्रवृत्तियों को तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक घटनाओं से संबद्ध करने का प्रयास किया। प्रवृत्ति-साम्य और युग के अनुसार कवियों का मूल्यांकन करते हुए उन्होंने जीवन-वृत्त या रचनाओं का परिचय देने से आगे बढ़कर उनके साहित्यिक सामर्थ्य का परिचय भी दिया। इस तरह उन्होंने काल-विभाजन तथा और मूल्यांकन के साथ-साथ इतिहास लेखन की ऐसी शुरूआत की जिसकी नींव पर ही आज के साहित्येतिहास भी लिखे जा रहे हैं। इस कड़ी में दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयास आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किया। बदलते समय के साथ ऐतिहासिक दृष्टिकोण में होने वाले परिवर्तनों के कारण शुक्ल जी के इतिहास की कुछ सीमाएँ नजर आने लगी थीं। इन सीमाओं की ओर संकेत करते हुए द्विवेदी जी ने इतिहास-दृष्टि का एक नया रूप प्रस्तुत किया। उन्होंने शुक्ल जी द्वारा उपेक्षित साहित्य का मानवतावादी दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन करते हुए नए प्रतिमानों की खोज की। उन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य को भारतीय भाषा और साहित्य की परंपरा से जोड़कर उसे भारतीय चिंतन धारा का स्वाभाविक विकास माना। इस तरह द्विवेदी जी ने परंपरा की निरंतरता को महत्त्व देने वाली इतिहास-दृष्टि से हिंदी साहित्य का सांस्कृतिक इतिहास लिखने का प्रयास किया। हिंदी साहित्य को भारतीय परंपरा की निरंतरता में देखने के कारण ही द्विवेदी जी ने भक्ति काल के उद्भव का कारण मुस्लिम आक्रमणकारियों के आतंक से उत्पन्न हताशा और पराजित मानसिकता न मानकर दक्षिण में उपजी भक्ति का क्रमिक विकास

माना। आगे चलकर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने के अनेक प्रयास हुए लेकिन शुक्ल जी एवं द्विवेदी जी के उस ढ़ाँचे को ही बार-बार दुहराया गया। कहने के लिए तो आलोचनात्मक इतिहास, वैज्ञानिक इतिहास, बृहत इतिहास, दूसरा इतिहास या आधा इतिहास लिखने के तमाम प्रयास हुए लेकिन घूम फिर-कर बैताल उसी डाल पर पहुँचा। डॉ. बच्चन सिंह के शब्दों में 'मौलिकता के नाम पर किसी ने उनके काल-विभाजन की तिथियों में मामूली हेरे-फेर कर दिया तो किसी ने कुछ कवियों की जन्म-मृत्यु संवतों तथा जाति बिरादरी में कुछ संशोधन कर गौरव का बोध किया। कोई शुक्ल जी द्वारा सुझाए गए किसी काल के वैकल्पिक नाम को अपनी ओर से नया कहकर पेश करने लगा तो कोई शुक्ल जी के अनुकरण पर इतिहास में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक व्यौरों की थिगलियाँ जोड़ने लगा।'[6] हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखन की इस परंपरा में एक नया प्रयास डॉ. देवेश ठाकुर का 'हिन्दी साहित्य तथा साहित्येतिहास : अंतरानुशासनों का अनुशीलन' है। इसमें सुधी लेखक ने विभिन्न अनुशासनों (इतिहास, राजनीति, समाज, अर्थव्यवस्था, धर्म-संस्कृति, दर्शन और मनोविज्ञान) के संदर्भ में हिन्दी साहित्य और हिंदी साहित्य के इतिहासों का विवेचन - विश्लेषण किया है। वस्तुतः यह साहित्य और साहित्येतिहासों में विवेचित विभिन्न अनुशासनों के वस्तुपरक अनुशीलन का संभवतः पहला प्रयास है। इस संदर्भ में लेखक की मान्यता है कि अनुशासनों के अंतर्गत इन विधाओं का अध्ययन करने से साहित्य के विभिन्न कालखंडों में विभिन्न अनुशासनों का प्रमाण, व्यक्ति समाज में होनेवाली गतिविधियों का ज्ञान और विशिष्ट अनुशासनों के प्रभाव में रची गई रचनाओं की जानकारी ही नहीं मिलती, बल्कि उस युग विशेष के रचनाधर्मियों की मानसिकता तथा उनकी रुचि का परिचय भी प्राप्त होता है।'[7]

साहित्य के इतिहास लेखन के बारे में डॉ. देवेश ठाकुर की यह धारणा रही है कि 'साहित्येतिहास लेखन में केवल रचनाकारों की कृतियों का विवेचन-विश्लेषण ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् एक विशेष कालखंड में एक विशेष प्रकार की रचनाधर्मिता के कारणों की विस्तृत और गहरी पड़ताल भी आवश्यक हो जाती है। इस पड़ताल के लिए काल विशेष की सीमा में अंतरानुशासनों की यथार्थ स्थिति और साहित्य पर पड़ने वाले उनके विशिष्ट प्रभावों का अनुशीलन भी अपेक्षित हो जाता है। हालाँकि यह अनुशीलन साहित्येतिहास लेखन की अपनी मानसिकता और दृष्टि से संचालित होता है फिर भी इससे जो निष्कर्ष सम्मुख आते हैं, वे एक समय विशेष की रचनाधर्मिता और उसकी दृष्टि को समझने में एक अहम भूमिका का निर्वाह करते हैं।'[8]

हिंदी साहित्य और साहित्येतिहास का अंतरानुशासनों के संदर्भ में अनुशीलन करने के लिए डॉ. देवेश ठाकुर ने इसे चार खंडों में विभाजित किया है। प्रथम खंड में आदिकाल का विवेचन-विश्लेषण किया गया है। दूसरा खंड मध्यकाल से संबंधित है, जिसमें पूर्व मध्यकाल व उत्तर मध्यकाल को अलग-अलग विवेचित किया गया है। तीसरा और चौथा खंड आधुनिक काल का विवेचन विश्लेषण करता है। तीसरे खंड में सन् 1850 से सन् 1947 तक के साहित्य को आधार बनाया गया है जिसे पूर्व आधुनिक कालीन साहित्य से अभिहित किया गया है। चौथे खंड में सन् 1947 से 1997 तक के सहित्य को उत्तर आधुनिककालीन साहित्य के रूप में विवेचित किया

गया है। इन सभी खंडों में डॉ. ठाकुर ने एक समान रूपरेखा के तहत संबंधित काल-खंड का इतिहास ग्रंथों के आधार पर परिवेश-चित्रण किया है। तत्पश्चात साहित्येतिहासों में अंतरानुशासनों के विवेचन पर भी विचार किया गया है। इस तरह इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ में न सिर्फ हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में विवेचित विभिन्न अनुशासनों की पड़ताल की गई है बल्कि उस काल-खंड के हिन्दी साहित्य का विभिन्न अनुशासनों के परिप्रेक्ष्य में वस्तुपरक अध्ययन भी किया गया है। इन दोनों का एक साथ प्रस्तुतीकरण इतिहासग्रंथों की वस्तुपरकता की असलियत स्वयं सिद्ध कर देता है। हर इतिहास ग्रंथ इस दृष्टि से कितना सक्षम है, इसकी कलई अपने आप खुल जाती है। इसी प्रकार इसमें युगीन परिवेश का विस्तृत विवेचन किया गया है। इसके लिए लेखक ने बड़े श्रमपूर्वक इतिहास ग्रंथों में वर्णित काल-खंड विशेष का व्यापक परिवेश प्रस्तुत किया है। और उसके समानांतर साहित्येतिहासों में प्रस्तुत परिवेश का विवेचन-विश्लेषण भी किया है। इस संदर्भ में लेखक की मान्यता यह रही है कि 'विभिन्न काल-खंडों का परिवेश स्पष्टता से परिलक्षित हो सके, इसके लिए हमने इतिहास-ग्रंथों और साहित्येतिहासों में प्रस्तुत परिवेश को स्वतंत्र रूप से प्रस्तुत किया है। इस संदर्भ में लेखक के कुछ निष्कर्ष बड़े ही आश्चर्य जनक हैं। उसके अनुसार साहित्येतिहासकारों ने जो साहित्येतिहास सातवें-आठवें दशकों में लिखे हैं, उनमें भी स्वतंत्रता काल का परिवेश नहीं दिया गया है। इतना ही नहीं, किसी भी साहित्यकार ने परिवेश-प्रस्तुति के नाम पर किसी भी काल-खंड की आर्थिक वस्तु स्थिति पर कोई विचार नहीं किया है।'[9] इस तरह इस कृति की महत्ता साहित्य और साहित्येतिहासों में उपलब्ध विभिन्न अनुशासनों का व्यवस्थित अध्ययन करने को लेकर तो है ही, साथ ही साहित्य के परिवेश की विस्तृत प्रस्तुति के लिए भी यह एक उल्लेखनीय प्रयास है। इस समूचे अध्ययन-विश्लेषण के लिए लेखक ने आरंभिक इतिहास-ग्रंथों तथा शुक्ल जी के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के अतिरिक्त जिन अन्य लेखकों के साहित्येतिहासों को आधार बनाया है, उसमें डॉ.रामकुमार वर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. गणपतिचंद्र गुप्त, डॉ. नगेन्द्र (संपादित), डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और डॉ. ब्च्चन सिंह प्रमुख हैं। आरंभ में विषय-विवेचन करते हुए डॉ. ठाकुर ने साहित्य और समाज के अंतःसंबंधों का निरूपण, साहित्य और अंतरानुशासन, साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन, इतिहास और साहित्येतिहास आदि विषयों पर विस्तृत चर्चा भी की है। साथ ही साहित्येतिहास के पुनर्लेखन का वैज्ञानिक आधार सुनिश्चित किया है। इसी संदर्भ में इन्होंने हिन्दी साहित्य के काल-विभाजन और नामकरण पर विचार करते हुए विशिष्ट साहित्येतिहासों का सामान्य परिचय भी दिया है। आदिकालीन साहित्य का अध्ययन विवेच्य ग्रंथ के पहले खंड में किया गया है। इसमें सबसे पहले इतिहास ग्रंथों के आधार पर आदिकालीन (सन् 650 ई. से 1315 ई. तक) राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश का विवेचन किया गया है। राजनीतिक परिवेश का चित्रण करते हुए लेखक ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि भारतीय शासक आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण मुस्लिम आक्रमणकारियों के समक्ष नहीं ठहर सके और मुस्लिम आक्रांता धीरे-धीरे भारत में स्थापित हो गए। ऐसी मारक स्थिति में भारतीय समाज भी स्थिर न रह सका। समाज जातियों-उपजातियों में विभाजित था।

नारी समाज कुरीतियों से ग्रस्त था। राष्ट्रीय उत्साह की कमी थी। सुरक्षा का दायित्व केवल क्षत्रिय समाज का मान लिया गया था। आर्थिक दृष्टि से सामंतीकरण की प्रक्रिया प्रचलित थी। करों की बढ़ोत्तरी के कारण बेगार और दासता जैसी कुरीतियाँ प्रचलित थीं। सामंतों के उत्पीड़न से कुछ लोग जंगलों में बस रहे थे। हिंदू धर्म नाना धाराओं में प्रवाहित हो रहा था। जनता धार्मिक मतों के जंजाल में फँसी थी। आगे चलकर हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय की प्रक्रिया भी चल रही थी। एक संश्लिष्ट संस्कृति का उदय हो रहा था। इसके समानांतर हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में प्रस्तुत आदिकालीन परि-वेश का विवेचन करते हुए लेखक का निष्कर्ष है कि इन साहित्येतिहासकारों की दृष्टि तत्कालीन धार्मिक-सांस्कृतिक तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही अधिक केन्द्रित रही है। आर्थिक परिवेश का उल्लेख नहीं के बराबर हुआ है। आदिकालीन साहित्य में अंतरानुशासनों का अनुशीलन करते हुए लेखक ने यह महत्त्वपूर्ण संकेत दिया है कि इस युग के साहित्य में भी आर्थिक पक्ष अछूता ही है। इतना ही नहीं, विवेच्य युग के साहित्य में राजनीतिक पक्ष को भी योग्य अभिव्यक्ति नहीं मिल पाई है। राजनीति तथा राजधर्म संबंधी कुछ पंक्तियाँ स्वयंभू, पुष्पदंत तथा विद्यापति की रचनाओं में प्राप्त होती हैं। साहित्येतिहास में विवेचित आदिकाल का अंतरानुशासनों की दृष्टि से अनुशीलन करते हुए इतिहास और राजनीति, समाज और सामाजिक जीवन, धर्म और संस्कृति, अध्यात्म और दर्शन तथा मनोविज्ञान संबंधी दर्शन प्रस्तुत किया गया है। इस संदर्भ में लेखक का निष्कर्ष अधिक समीचीन लगता है कि साहित्येतिहासों में विवेचित आदिकालीन साहित्य के अंतर्गत एक ओर जहाँ इतिहास, समाज, धर्म, अध्यात्म-दर्शन की विस्तृत विवेचना हुई है तो दूसरी ओर आर्थिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्षों को अपेक्षित महत्त्व नहीं मिल पाया है। इसका कारण भी है। धर्म-प्रधान जीवन में आर्थिक पक्ष उपेक्षित रह जाता है। आदिकालीन काव्य में भी ऐसा ही हुआ है। दूसरे मानसिक द्वंद्व और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण आज के बुद्धिप्रधान युग की देन है। आदिकालीन चरित्र-नायक बाह्य द्वंद्वों के बीच जीते थे। तब अंतर्द्वंद्वों के लिए अवकाश ही नहीं था। वैसे रासो काव्य में प्रणय, विरह, बारहमासा, युद्ध आदि अवसरों पर नारी मनोविज्ञान की कतिपय सुंदर झाँकियों का विवेचन, प्रसंगवश ही सही, साहित्येतिहासों में बड़ी आत्मीयता के साथ उपलब्ध होता है।'[10] दूसरे खंड में मध्यकाल (सन् 1325 से सन् 1850) का परिवेश और अंतरानुशासनों के संदर्भ में तत्युगीन साहित्य का विवेचन दो भागों का विभाजन - पूर्व मध्यकाल व उत्तर मध्यकाल के रूप में किया गया है। पूर्व मध्यकाल का परिवेश इतिहास ग्रंथों के आधार पर भी दिया गया है और साहित्येतिहासों के आधार पर भी। इतिहास ग्रथों के आधार पर लेखक ने इतिहास और राजनीति, प्रशासनिक व्यवस्था, समाज-दर्शन, आर्थिक पृष्ठभूमि तथा धार्मिक-सांस्कृतिक परिवेश का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। साहित्येतिहासों में प्रस्तुत परिवेश के संदर्भ में उसकी यह मान्यता अधिक महत्त्वपूर्ण है कि 'कतिपय इतिहासकारों में पूर्वाग्रह और हिन्दू दृष्टि उभरकर सामने आई है। ... डॉ. कृष्ण लाल हंस, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा तथा गणपतिचंद्र गुप्त के विवेचन में यह पूर्वाग्रह अधिक स्पष्टता से मुखर हुआ है।'[11] इस दृष्टि से इन्होंने हिन्दी साहित्य के बृहत् इतिहास और लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के इतिहास को अधिक संतुलित माना

है। साहित्येतिहासकारों ने तत्कालीन परिवेश को आर्थिक दृष्टि से संतोषपूर्ण कहा है। हालाँकि उन्होंने निम्न श्रेणी के लोगों की दयनीय दशा को भी रेखांकित किया है। लेखक ने यह स्वीकार किया है कि साहित्येतिहासकारों ने इस काल की आर्थिक स्थिति की प्रस्तुति में कोई विशेष रुचि नहीं ली। उनका ध्यान सामान्यतः धार्मिक तथा सामाजिक विषयों पर ही अधिक रहा है क्योंकि यह काल बहुत करके धर्मप्राण ही अधिक था। इस संदर्भ में लेखक की एक और टिप्पणी गौर करने लायक है - 'साहित्येतिहासकारों ने मूल इस्लाम धर्म की विवेचना प्रसंगवश ही की है। उसके समग्र दर्शन का विवेचन नहीं के बराबर है। और प्रसंगवश भी जो कुछ कहा गया है, उससे इस्लाम धर्म की कट्टरता ही सामने आती है। उसके उदार पक्ष को जाने-अनजाने उपेक्षित किया गया है। हाँ, इस्लाम के एक अन्य रूप - सूफी मत के विवेचन में इन्होंने अपेक्षाकृत उदारता से काम लिया है।'[12] पूर्व मध्यकालीन साहित्य में अंतरानुशासनों का अनुशीलन करते हुए लेखक ने स्पष्ट संकेत किया है कि तत्कालीन कवियों ने सामंती समाज के यथार्थ को वाणी न देकर जन सामान्य के सरोकारों को वाणी दी है। राजाश्रय को स्वीकारने व दीन-हीन और भ्रमित जनता को जीवन जीने की दिशा देते हुए भक्ति के माध्यम से मानवीय आदर्शों को प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन सामाजिक यथार्थ को लेकर इतिहासकारों ने जो कुछ लिखा है, वह सब इन कवियों की रचनाओं में न्यूनाधिक रूप में मिलता है। सामाजिक-सांस्कृतिक स्थितियाँ ही नहीं, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक स्थितियों के प्रस्तुतीकरण में भी इन कवियों को सफलता मिली है। साहित्येतिहासों में भी समाज, धर्म, दर्शन और संस्कृति का विस्तृत विवेचन किया गया है। इन कवियों ने राजनीति में प्रत्यक्ष कोई रुचि नहीं ली है तथापि राज के अपेक्षित गुणों का विवेचन करने के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक अस्थिरता के अनेक संकेत मिल जाते हैं। दूसरे खंड के दूसरे उपविभाग में उत्तर मध्यकालीन (सन् 1650 से 1850 ई. तक) परिवेश का इतिहास ग्रंथों और साहित्येतिहासों के आधार पर विवेचन हुआ है। साथ ही अंतरानुशासनों के संदर्भ में इस युग के साहित्य का मूल्यांकन किया गया है। लेखक ने इतिहास ग्रंथों के आधार पर राजनीतिक-ऐतिहासिक परिवेश, प्रशासनिक व्यवस्था, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक परिदृश्य का विस्तृत विवेचन किया है। उत्तर मध्यकालीन परिवेश को अपेक्षाकृत संक्षेप में प्रस्तुत किया है। कतिपय साहित्येतिहासों में परिवेश-प्रस्तुति की उपेक्षा भी की गई है। जिन साहित्येतिहासकारों ने परिवेश का विवेचन किया भी है, उन्होंने आर्थिक पक्ष को छोड़ ही दिया है। वहाँ सिर्फ समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति की दृष्टि से विचार किया गया है। उत्तर मध्यकालीन साहित्य में अंतरानुशासनों का विवेचन करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि तत्कालीन इतिहास और राजनीतिक स्थितियाँ मुख्यतः भूषण के काव्य में मिलती हैं। सामाजिक जीवन का भी एक ही पक्ष - संपन्न एवं विलासी पक्ष - चित्रित हुआ है। राज्याश्रयिता के कारण मध्यवर्ग और सामान्य वर्ग की जीवन-स्थितियाँ इनके काव्य में नहीं आई हैं। धार्मिक और भक्तिपरक रचनाओं की एक क्षीण अंतधार्रा इन कवियों में दिखाई देती है। इनके सांस्कृतिक संदर्भों में भी सामंती मानसिकता और विलास तथा प्रणय का भाव ही अंतर्निहित है। दार्शनिक भाव की अभिव्यक्ति में भी रीति परंपरा की छाया परिलक्षित होती है। इस काल-खंड के

साहित्य में आर्थिक संपन्नता को बादशाहों-सामंतों के विलासी जीवन के माध्यम से व्यक्त किया गया है। लेकिन सामान्य जन-जीवन की आर्थिक विपन्नता, अभाव और शोषण को ये कवि उद्घाटित नहीं कर पाए हैं। मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इन कवियों ने एकांगी रूप में किया है। सिर्फ प्रेम मूलक मनोवृत्ति की ही भरमार दृष्टिगत होती है। साहित्येतिहासों में इतिहास और राजनीति का विवेचन शिवाजी, छत्रसाल, जसवंत सिंह और हम्मीर देव के शौर्य की गाथाओं को केन्द्र में रखकर हुआ है। इन कवियों के हिंदू गौरव, हिंदू राष्ट्रीयता, हिंदू संस्कृति आदि की अभिव्यक्ति संबंधी विवेचन ही साहित्येतिहासों में विस्तार से मिलता है। सामाजिक जीवन के विवेचन में साहित्येतिहासों में अपेक्षित सामग्री का अभाव है। दरबारी वैभव और विलासिता की प्रवृत्ति का विवेचन अधिक हुआ है। भक्ति का विवेचन परंपरागत रूप में चली आ रही भक्ति की क्षीण धारा के रूप में किया गया है। भक्ति के साथ में नीति के दोहों की भी चर्चा की गई है। प्रसंगवश साहित्येतिहासकारों ने दर्शन, संस्कृति, और मनोविज्ञान आदि अनुशासनों पर भी विचार किया है। विलास और श्रृंगार के युग में सामान्य सामाजिक जीवन के यथार्थ तथा उनकी समस्याओं और विषमताओं पर कुछ नहीं लिखा गया है। बादशाहों, राजाओं और सामंतों की विलासिता में समाज की समृद्धि के बिंब मिलते हैं लेकिन बहुसंख्यक सामान्य वर्ग की आर्थिक स्थिति स्पष्ट नहीं होती। वस्तुतः इस युग के साहित्य में भी आर्थिक पक्ष सूना है, इसलिए साहित्येतिहासों में भी इस विषय का विवेचन नहीं के बराबर हुआ है। विवेच्य पुस्तक का तीसरा खंड पूर्व आधुनिक काल के विवेचन से संबंधित है जिसका समय सन् 1850 से सन् 1947 तक माना गया है। इस कालखंड में ऐतिहासिक-राजनीतिक परिवेश, ब्रिटिश प्रशासन तथा राष्ट्रीय आंदोलन की विस्तृत चर्चा की गई है। साथ ही, इस युग का आर्थिक परिप्रेक्ष्य तथा धार्मिक-साम्प्रदायिक परिवेश भी विश्लेषित किया गया है। साहित्येतिहासकारों ने भी अन्य कालखंडों की अपेक्षा इस कालखंड के परिवेशगत विवेचन में अधिक रुचि दिखाई है तथा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक-दार्शनिक गतिविधियों का ऐतिहासिक विवेचन किया है। डॉ. ठाकुर के अनुसर साहित्येतिहासकारों ने यद्यपि अपने विवेचन में स्थान-स्थान पर इस काल की साहित्यिक कृतियों को भी सम्मिलित किया है लेकिन ऐसा करते हुए उनका प्रयास तत्कालीन परिवेश को तथ्यपरक प्रसंगों के सहारे अभिव्यक्ति देने का रहा है। इसीलिए उनकी परिवेशपरक प्रस्तुति में इतिहासों में उल्लिखित तथ्य ही व्यक्त हुए हैं। आधुनिक युगीन साहित्य आदिकाल और मध्यकाल की तुलना में अधिक व्यापक रूप में सामाजिक सरोकारों से संपन्न एवं परिणाम में अत्यंत व्यापक है। इसीलिए डॉ. देवेश ठाकुर की मान्यता रही है कि इस युग का साहित्य अनेक अनुशासनों को अपने में समाहित कर और भी समृद्ध हुआ है। समाज , राजनीति, धर्म, दर्शन मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र आदि अनुशासनों को और भी व्यापक रूप से साहित्य में प्रवेश मिला है जिसके कारण भारतीय समाज के यथार्थ को विस्तार से व्यक्त होने का अवकाश मिला है। लेखक ने माना है कि अनुशासनों की अभिव्यक्ति के परिपेक्ष्य में गद्य और पद्य विधाओं के साहित्य की इस बहुलता का विस्तृत विवेचन न तो संभव है और न योग्य और अपेक्षित ही। इसीलिए उसने संक्षेप में आधुनिक हिंदी साहित्य में विवेचित साहित्य पर विहंगम दृष्टि डाली है

और इतिहास, राजनीति, समाज, अर्थ, संस्कृति, धर्म, दर्शन और मनोविज्ञान जैसे अनुशासनों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इतिहास और राजनीति के चित्रण में अंग्रेजी सरकार की शोषण नीति और देश की दुर्दशा को अभिव्यक्त किया गया है। साथ ही राष्ट्रीय चेतना और गाँधीवादी आदर्शों को मुख्य रूप से प्रस्तुत किया गया है। रचनाकारों की दृष्टि मध्यवर्ग एवं सामान्य वर्ग पर विशेष रही है। इन रचनाकारों ने नारी की वस्तु-स्थिति और अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए किए गए उसके संघर्ष को विशेष रूप से उभारा है। डॉ. ठाकुर ने इन स्थितियों के विवेचन के साथ-साथ यह भी स्पष्ट किया है कि विदेशी शासन की आर्थिक नीति, शोषण, अर्थिक दुर्दशा और वैषम्य को भी इस युग के रचनाकारों ने अभिव्यक्त किया है। इसके साथ ही संस्कृति के उदात्त रूप, सांस्कृतिक पतनशीलता, धार्मिक एकता और औदार्य, भक्ति, दर्शन और मनोविज्ञान आदि का विवेचन भी इन रचनाकारों ने शिद्दत के साथ किया है। साहित्येतिहासकारों द्वारा भी इन अंतरानुशासनों का पर्याप्त विवेचन-विश्लेषण किया गया है। आरंभ में ब्रिटिश शासन के शोषण और दमन का विरोध मिलता है। तो बाद की राजनीतिक परिस्थितियों में युग की राजनीतिक चेतना को देखा-परखा गया है। साहित्येतिहासों में समाजगत यथार्थ की भी प्रस्तुति की गई है। तमाम सामाजिक समस्याओं के साथ-साथ वर्गीय स्थितियों और नारी जीवन के बहुआयामी स्वरूप का विवेचन भी इन में हुआ है। सामाजिक, राजनीतिक स्थितियों के साथ-साथ आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक विवेचन द्वारा साहित्येतिहासकारों ने आधुनिक काल में मनुष्य जीवन का सम्यक स्वरूप प्रस्तुत किया है। चौथे खंड में उत्तर आधुनिक काल (सन् 1947 से सन् 1997 तक) का परिवेशगत अध्ययन और अंतरानुशासनों का विवेचन किया गया है। स्वातंत्र्योत्तर परिवेश के अंतर्गत स्वतंत्रता प्राप्ति, देश का विभाजन तथा उस दौरान की गई नृशंसता, संविधान का निर्माण, देशी रियासतों के भारत में विलय, राज्यों के पुनर्गठन, पंचवर्षिय योजनाएँ तथा विकास के अन्य कार्यक्रम, विदेशी नीति, आरोपित युद्ध, आर्थिक भ्रष्टाचार तथा कतिपय अन्य घटनाओं का विवेचन करते हुए लेखक ने यह संकेत दिया है कि इस दौर में भौतिकवादी दृष्टि के कारण जीवन मूल्यों और सांस्कृतिक आदर्शों का हनन हुआ है। सामाजिक, आर्थिक परिवेश का अनुशीलन करते हुए मोह भंग की स्थिति, वर्गीय विषमता तथा धार्मिक, सांस्कृतिक स्थितियों और अंतर्विरोधों का भी विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। डॉ. देवेश ठाकुर के अनुसार हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इस युग के परिवेश को प्रस्तुत करने के प्रति कोई विशेष रुचि नहीं दिखाई देती। डॉ. नगेन्द्र, डॉ. बच्चन सिंह, डॉ. गणपति चंद्र गुप्त, धीरेन्द्र वर्मा तथा विजयेन्द्र स्नातक के साहित्येतिहास इसी तरह के हैं। परिवेश की चर्चा जहाँ हुई भी है तो सामान्य, सतही स्तर पर। सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश को बहुत थोड़े में निपटा दिया गया है। आर्थिक परिवेश की चर्चा इस कालखंड में अधिक प्रासंगिक थी लेकिन उसका स्पर्श-मात्र किया गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के उत्तरार्ध में साहित्य के सभी आयामों, अनुशासनों और विधानों को रचनाकारों ने अपना कथ्य बनाया। इस कालखंड में एक तरफ नगरीकरण की स्थितियाँ हैं तो आंचलिक क्षेत्रों की ओर भी रचनाकारों का ध्यान गया है। पाश्चात्य साहित्यिक आदर्शों और सिद्धांतों की

प्रयुक्ति भी साहित्य में हुई है। जीवन के सभी क्षेत्रों की वस्तु स्थितियाँ, समस्याएँ और असंगतियाँ इस युग के साहित्य में प्रस्तुत हुई हैं। सामाजिक जीवन का कोई भी पक्ष इन रचनाकारों से अछूता नहीं रहा है। आर्थिक पक्ष पर इन रचनाकारों की दृष्टि विशेष रूप से गई है। धर्म, संस्कृति और दर्शन को व्यक्त करने वाली रचनाएँ अपेक्षाकृत कम लिखी गई हैं। मनोवैज्ञानिक विवेचन-विश्लेषण की प्रवृत्ति भी इस युग में प्रमुख रही है। इतने व्यापक पैमाने पर लिखे गए साहित्य में विभिन्न अनुशासनों का विवेचन कर पाना कठिन है। अतः लेखक ने संक्षेप में इन रचनाओं का परिचय मात्र दिया है। लेखक ने एतिहासिक तथ्यों की प्रस्तुति, वर्तमान राजनीति में व्याप्त विद्रूपताएँ, राजनीतिक उठा-पटक, अवसरवाद, गरीबी को दूर करने के लिए किए गए छद्म प्रयास, धन का दुरुपयोग, धर्म और जाति, सम्राज्यवादी व पूँजीवादी नीति आदि मुद्दों को विवेचित किया है। सामाजिक परिदृश्य में वर्गीय स्थिति का निरूपण, रूढ़ियों, परंपराओं तथा अस्वस्थ मान्यताओं का विरोध, नारी की त्रासद स्थितियाँ, नारी स्वातंत्र्य, कामकाजी नारी, नारी का विद्रोही रूप, स्त्री-पुरुष संबंध आदि के साथ-साथ सांप्रदायिकता की समस्या, नई पीढ़ी का संघर्ष, महानगरीय जीवन की विद्रूपताएँ आदि अनेक पक्ष भी विवेचन का विषय बने हैं। इसी तरह इस कालखंड की रचनाओं में आर्थिक वस्तुस्थिति का निरूपण तथा धर्म, संस्कृति और दर्शन के स्वरूप की भी विवेचना हुई है। इसके साथ ही लेखक ने मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण को भी विवेचित किया है। इन विभिन्न अनुशासनों का निरूपण साहित्येतिहासों से भी विस्तार से किया गया है। डॉ. देवेश ठाकुर ने इस ओर संकेत किया है कि साहित्येतिहासकारों ने राजनीति और समाजपरक अनुशासनों पर अधिक गंभीरता से विचार किया है। इन साहित्येतिहासों में साहित्य में व्यक्त विषयों की चर्चा तो की ही गई है, उनका विश्लेषण भी किया गया है। इस विश्लेषण में उनकी मनोभूमि, उनकी रुचि और साहित्य में उपलब्ध सामग्री को अपनी तरह से प्रस्तुत करने की उनकी प्रवृत्ति स्पष्ट हो जाती है। साहित्येतिहासकारों ने इस काल की प्रमुख घटनओं का संदर्भ देकर अपना विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया है। विभाजन, दंगे, भ्रष्टाचार लिप्तता आदि अनेक संदर्भों का विवेचन साहित्येतिहासों में उपलब्ध होता है। इनका ध्यान सामाजिक सरोकारों पर विशेष रूप से रहा है। इसीलिए सामाजिक परिदृश्य प्रस्तुत करने में ये साहित्येतिहासकार अन्य युगों की अपेक्षा अधिक सक्रिय हैं। वर्गीय स्थिति, व्यक्तिवाद, आधुनिक जीवन की जटिलताएँ, आधुनिकताबोध, नारी की वस्तु स्थिति, स्त्री-पुरुष संबंध, ग्रामांचल की अभिव्यक्ति के साथ-साथ बदलते मूल्यों आदि का भी अच्छा, सविस्तार विवेचन हुआ है। इन सामाजिक प्रसंगों के विवेचन में व्यापकता एवं सूक्ष्मता दिखाई देती है। इसके साथ ही धर्म, संस्कृति, दर्शन, मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण आदि अनुशासनों का अनुशीलन और विश्लेषण भी विस्तार से हुआ है। इस तरह देवेश ठाकुर ने अपनी वस्तुपरक दृष्टि और विवेकपूर्ण चिंतन द्वारा करीब डेढ़ हजार वर्षों के हिन्दी साहित्य में विभिन्न अनुशासनों का विवेचन-विश्लेषण बड़ी ही गंभीरता से किया है। इतने व्यापक विषय पर गहन अध्ययन करते हुए इन विभिन्न अनुशासनों का विवेचन करना बड़ा ही श्रमसाध्य कार्य है। आधुनिक हिंदी साहित्य में विधाओं की विविधता एवं विपुल मात्रा में लिखे गए साहित्य का अंतरानुशासनों के संदर्भ में एक साथ अध्ययन अत्यंत कठिन कार्य है। इसे

अलग-अलग काल खंडों और विधाओं के रूप में विवेचित करने के लिए अलग शोध-कार्य की आवश्यकता है। प्रस्तुत अनुशीलन इस गंभीर अध्ययन के लिए एक पृष्टभूमि निर्मित करता है। हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में अंतरनुशासनों की दृष्टि से किया गया यह प्रयास एक नई जमीन निर्मित करता है, जिससे शोध और अध्ययन की नई दिशाएँ तैयार होंगी। दूसरे, इस कालखंड का सम्यक परिवेश विस्तृत रूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है। यह इसकी एक अन्य विशेषता है। अंत में लेखक ने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की अनेक कमियों को दिखाते हुए इसके पुनर्लेखन पर बल दिया है। इनके अनुसार कुछ साहित्येतिहासकार चर्चित रचनाकारों से इतने आक्रांत रहे हैं कि उन पर पृष्ठ के पृष्ठ रंग दिए हैं और कई विशिष्ट रचनाकारों का नामोल्लेख तक नहीं किया है। कई चर्चित रचनाकारों की उन कृतियों को जानबूझकर छोड़ दिया गया है जिनसे उनकी रुग्ण मानसिकता का प्रकाशन होता है। डॉ. ठाकुर की मान्यता है कि साहित्येतिहासकार की ऐसी पक्षधरता वस्तुपरक आकलन में बाधा डालती है। इसीलिए उन्होंने साहित्येतिहास का स्वरूप-विवेचन करते हुए इसके लेखन की समस्याओं पर भी विस्तार से विचार किया है। साहित्येतिहास की समस्याओं पर लिखी गई पुस्तकों में चर्चित समस्याओं के विवेचन के साथ-साथ इन्होंने डॉ. रामदरश मिश्र, डॉ. ललित शुक्ल और डॉ. बी सत्यनारायण से की गई चर्चा के आधार पर भी अनेक समस्याओं का जिक्र किया है। डॉ. रामदरश मिश्र के अनुसार कालविभाजन और नामकरण की समस्या सबसे बड़ी है। खासतौर पर आधुनिक काल जब एक ही काल-खंड में कविता में छायावाद, कथा में प्रेमचंद युग, नाटक में प्रसाद युग तथा आलोचना और निबंध में शुक्ल युग कहलाता है। फिर भी कुछ कवियों के अलग मिजाज के कारण एक अलग धारा - राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य धारा - का नाम भी रखना पड़ता है। इतना ही नहीं अल्पजीवी आन्दोलनों एवं गुटों से अलग रहकर समर्थ लेखन करने वालों का नाम पूरी तरह छूट गया है। डॉ. सत्यनारायण के अनुसार अल्पज्ञात साहित्यकारों के साथ साहित्येतिहासकारों ने न्याय नहीं किया है। दूसरे, हिन्दीतर प्रदेशों के हिंदी रचनाकारों की उपेक्षा की गई है। यहाँ तक की परिवेशगत विवेचन में दक्षिण को एक सिरे से उपेक्षित रखा गया है। अंत में डॉ. ठाकुर ने साहित्येतिहास लेखन के कतिपय आधारों की चर्चा की है जिसमें निष्पक्ष वस्तुपरक लेखन के साथ-साथ प्रवृत्तिगत आधार पर काल विभाजन पर जोर दिया गया है। इन्होंने हर कालखंड की पृष्ठभूमि का विवेचन भी आवश्यक माना है। साथ ही, सभी उपभाषाओं और हिन्दीतर प्रदेशों तथा विदेशों में लिखे गए हिन्दी साहित्य को भी साहित्येतिहास में स्थान दिये जाने की आवश्यकता अनुभव की है। इस तरह डॉ. देवेश ठाकुर ने साहित्येतिहास लेखन को न सिर्फ विभिन्न अनुशासनों के संदर्भ में देखने का एक अनूठा प्रयास किया है बल्कि साहित्येतिहास लेखन की नई दृष्टि भी सुझाई है। अपनी तरह के अनूठे प्रयास के कारण साहित्येतिहास लेखन के लिए डॉ. देवेश ठाकुर का शोध-प्रबंध मील का पत्थर साबित होता है।

'समीचीन' के लिए शुभकामनाओं सहित

श्रीमती सुनीता गुप्ता

पूर्व हिंदी विभागाध्यक्ष
एल. एस. रहेजा कॉलेज
सांताक्रुज (पश्चिम),
मुंबई - 400 054

Reg. No. MAHHIN / 2008 / 26222

समीचीन

(साहित्य-समाज-संस्कृति और राजनीति के खुले मंच की अर्द्ध वार्षिक-अव्यावसायिक पत्रिका)

कुछ महत्वपूर्ण विशेषांक